

॥ अथ सम्पादकोक्तिः ॥

—००००—

अथ यद्यपि प्रथमकाण्डानन्तरं क्रमप्राप्त द्वितीयकाण्डसम्पादनमेव युक्तम्, परं द्वितीयकाण्डभाष्यस्य सङ्गृहीतादर्शपुस्तकेभ्योऽपर मेकमपि विशुद्ध पुस्तकं सङ्गृहणीयं तच्च कालसापेक्ष मिति धिया क्रममुल्लङ्घ्याप्यस्य द्वितीयकाण्डस्य सम्पादने प्रवृत्तोऽभव मितौद मेवैवंविधक्रमव्यासस्य निदानम् ।

तस्यैतद्वितीयकाण्डस्य पाठान्तरादिसम्पादनाय सङ्गृहीताना मादर्शपुस्तकाणा मेव नामधेयानि कल्पितानि—

- क = १६४-पत्रात्मकम्, १६०३-संवत्स्रिखितम्, पूर्णम् ।
 ख = ४८-पत्रात्मकम्, १६०५ (१)-संवत्स्रिखितम्, पूर्णम् ।
 ग = डा०-वेबर-सम्पादितम्, ख०-१८४६-वर्णिमुद्रितम्, पूर्णम् ।
 घ = अजमेर-वैदिकपन्थालये १८५६-संवत्स्रिखितम्, पूर्णम् ।
 ङ = १८५-पत्रात्मकम्, १६६१-संवत्स्रिखितम्, पूर्णम् ।
 च = ३२-पत्रात्मकम्, १८२६-ख०-लिखितम्, पूर्णम् ।
 छ = डा०-वेबरेणालुताक्षराणि विचित्र समाहित ग-मुद्रितम् ।
 ज = श्रीरामपुरकलेजीयं ख०-१८९८-लिखितम्, पूर्णम् ।

एष्वष्टसादर्शपुस्तकेभ्यो चतुष्कं मूलस्यापरं तु चतुष्कं भाष्यस्य । तच्च ग-धयोरेक्य समुपलभ्यते, समुपलभ्यते च ङ-घ-जाना मेकादर्शवीजत्वम्, तत्रापि जस्य परित्याज्यतैव सम्पन्ना ।

अस्मिन् द्वाव्येऽभिष्टोमसंख्यस्य सोमयागास्य शाखानिर्माणादि-सोमाभिषवान्तानि कर्माणि विहितानि । तच्च दीक्षणीया, प्रायणीया, आतिथ्या, उपसद्, अधिप्रणयणीया, आश्रयीणीया, सत्या चेति प्रधानाङ्गकर्माणि ; तेभ्येद ऋग्विष्णुश्रुत्यादीनि विष्णुप्रायश्चित्तभिरुत्तरीमस्यहव्यान्तानि प्रत्यङ्गकर्माणि समाश्रितानीति विवेक ।

एकाह्यादीनसन्नेतिचैविध्य मापमाना सर्वेषा मेव सोमयागाना प्रकृतिभूतस्याभिष्टोमस्याध्वरस्यादिभूताङ्गप्रत्यङ्गकर्मणा शाखानिर्माणादीना मित्र विधान मासात् मितौदं काण्ड सम्भूत मित्याप्तते । “सम्भूत मिति

पञ्चनाम, ध्वरतिर्द्विसाहस्रम्, तत्प्रतिषेधः”—इत्याह हि यास्क (निर० १. ३. ३) । यद्यप्यत्रैव काण्डे पशुसञ्ज्ञपन विहितम्, तथाप्यस्याध्वरत्वं न विद्यन्ते, अग्नौघोमौघपशुसञ्ज्ञपनस्याध्यापविहितत्वेन द्विसात्ताभावात् । तथाह्युक्तं भगवता यास्केन— “याम्नायवचनादद्विसा प्रतीयेत”—इति (निर० १. ५. २) । एवमेव सिद्धान्तितं मौमासादर्शनेऽपि महासुनि-
जैमिन्यादिभिः । तदेव “दृष्टवदानुश्रविक, स द्वाविशुद्धि”—इति (सा० त० कौ० २ का०) साङ्ख्याचार्यसिद्धान्तो जलमध्यस्थमसौक्ष्मोदवत् किं न विस्तिष्ठति इति सुधीभिर्विभाष्य मेव ।

इह काण्डे यावन्त्याख्यानानि श्रुतानि, तेषु “सौपर्ण्यकामव” नाम (११६, ३६२ प०) प्रधानं मन्यतेऽस्माभिः । वस्तुतस्त्वेतदाख्यानं स्याच्छत-
पद्याम्नायाश्च पूर्वतनम्, कथं मन्यथा ह्युपपद्येताञ्च ब्राह्मणे तद्वाख्यानम् । एतस्याख्यानस्याधिपक्ष्याख्यानतोऽधिदैवत (वैज्ञानिकं) व्याख्यानं सुतृ, एतत्तन्म, श्रेयं तु तद् गुरुपदेशादिभिः ।

एतदेवाख्यानं रामायण—महाभारत—भागवतमभिपुराणादिषु वज्रधा-
प्रपञ्चितं मतिमल्लवितम् । तत्त्वतस्त्विदं मुपाख्यानं किञ्चिदुपदेशदानाय,
वक्तव्यविषयस्य गौरवपरिहाराय च कविकल्पनाप्रसृतं सर्वं मन्वत मेव ।
तदिदं मस्य यच्चौयथाख्यानतोऽपि सुप्रतीयते, तथाच “वागैव सुपर्ण्यं, इयं
कद्रू”—इत्यादिकं (३६१ प०) मृष्टम् । वैतिरीयकेऽप्येवमेव—“इयं
कद्रू, यसौ सुपर्ण्यं, हन्दासि सौपर्ण्येया”—इति (स० ६. १. ६. २) ।
अतएवोक्तं मभिपुराणेऽपि—“गायत्र्यादौमि हन्दासि सौपर्ण्येयानि
पत्तिष्य”—इति । वैदिकाख्यायिकाणां मेधैव गतिं प्राप सर्वचोप-
कथ्यते । उक्तं चैतन्मौमासादर्शनेऽतिसुव्यक्तम्—“यसद् वृत्तान्तान्वाख्या-
नम्”—इत्यादि (जै० सू० १. २. १०. ३० भा०) । एवञ्चैतन्मूलक-
महाकाण्डेतिहासपुराणग्रन्थानां मयि सर्वेषां मेवमेव गतिं सर्वे श्रेयुषो-
मद्भिः सौकार्येणैव किमु वक्तव्यं मस्तौति श्रम् ॥

काशीकोठा-नाम राजन्वती । } श्रीसत्यव्रतशर्मा ।
स १८६१ । ख० १८०५ । } (व्यावसय, सामन्त्रभो, आचार्य्य)

॥ अथमूलशुद्धिपत्रम् ॥

| अथमूल | अथमूल | प्र० प्रा० क० | पृष्ठे |
|--------------------|--------------------|---------------|--------|
| सुखं ... | सुखं ... | १. २. १४. ... | १५ |
| पुष्पमिति ... | पुष्पमिति ... | १. २. २०. ... | १७ |
| पुष्पमिति ... | पुष्पमिति ... | १. २. २०. ... | १७ |
| चेन्नै ... | चेन्नै ... | १. २. २१. ... | १७ |
| मुत्तरं ... | मुत्तरं ... | १. ५. ११. ... | ६० |
| मित्येत्ततो ... | मित्येत्ततो ... | १. ५. ३१. ... | ६४ |
| मुद्राचंयमो ... | मुद्राचंयमो ... | १. ५. ३८. ... | ६६ |
| कुरुपञ्चालवा ... | कुरुपञ्चालवा ... | २. २. १५. ... | १०५ |
| तद्विरुद्धाणां ... | तद्विरुद्धाणां ... | २. ३. १. ... | ११८ |
| वेदुगा ... | वेदुगा ... | २. ३. ४. ... | ११८ |
| वृत्त्यसुरिति- ... | वृत्त्यसुरिति- ... | २. ४. २. ... | १२८ |
| वृत्त्यं ... | वृत्त्यं ... | १. ६. ७. ... | १६६ |
| सुभूता ... | सुभूता ... | २. ६. ८. ... | १६६ |
| वृत्त्यं ... | वृत्त्यं ... | २. ६. ११. ... | १६७ |
| यदुन्दोभ्य- ... | यदुन्दोभ्य- ... | १. २. ८. ... | २१० |
| वे ... | वे ... | १. ४. ८. ... | २४३ |
| अज्ञाना मोषधि* | अज्ञाना मोषधि | १. ४. १३. ... | २४४ |
| निजुवोरदु ... | निजुवोरदु ... | १. ४. २०. ... | २४६ |
| वाप्ति ... | वाप्ति ... | १. ५. ११. ... | २५८ |

(ख)

| अक्षरम् | — | अक्षरम् | प्र० प्रा० क० | पृष्ठे |
|----------------|-----|----------------|---------------|--------|
| दुरीहसौ | ... | दुरीयसौ | ४. १. ११ | २७३ |
| मेतुद्दिग्भ्यो | . | मेतुद्दिग्भ्यो | ४. १. ४२. | २७६ |
| हैवास्या | .. | हैवास्या | ४ २. १५. | २८८ |
| ध्रुवेय | .. | ध्रुवेय | ५ ४. १६. | २८८ |
| युद्धै | ... | युद्धै | ५. २. १. | २७६ |
| मुघ्ये- | .. | मुघ्ये- | ४ ५ १४. | ३१९ |
| सुग्धालुब्धता | ... | सुग्धालुब्धता | ५. ४. २२. | ३१४ |
| यूप शकल | .. | यूपशकल | ५. ४. ३०. | ३१५ |
| एत | ... | एतं | ५. ५. २ | ३३३ |
| ॥ ११ ॥ | ... | ॥ १२ ॥ | ६. २ १२. | ३५४ |
| ऽसिन् | ... | ऽसिर्नु | ६. २. १२. | ३६६ |
| ऽसिन् | ... | ऽसिर्नु | ६ ३ १२ | ३६६ |
| रेतुनस्तोकान् | ... | रेतुनस्तोकान् | ६. २. २२. | ३६८ |
| सुन्दधत्ते | ... | सुन्दधते | ६. २. ३०. | ३७० |
| भूतोऽनर्थाः | ... | भूतोऽनर्थाः | ६. ४. १५. | ३८४ |
| मसुरित्यु | ... | मसुमुरित्यु | ७ ४. ३१. | ५५९ |

स्वादेव मन्योऽन्योऽपि आशुद्धपाठ शोधकदृष्ट्यादिस्तोषत ।

शतपथब्राह्मण-तृतीयकाण्डस्य

सूचीपत्राणि ।

॥ अथ प्रपाठकसूची ॥

| | | | |
|----------------------|-----------------------------------|-----|-----|
| अथ प्रथमः प्रपाठकः | (देवयजनं १थ० १ब्रा०) | ... | १४० |
| अथ द्वितीयः प्रपाठकः | (वार्चं यच्छति २थ० २ब्रा०) | ... | ८१ |
| अथ तृतीयः प्रपाठकः | (गौडे कृष्णाग्नि ३थ० ३ब्रा०) | ... | १८१ |
| अथ चतुर्थः प्रपाठकः | (तद्य एष पूर्वाङ्गी ४थ० १ब्रा०) | ... | २७२ |
| अथ पञ्चमः प्रपाठकः | (विनामानो वैवास्य ५थ० २ब्रा०) | ... | ३६१ |
| अथ षष्ठः प्रपाठकः | (पाशं कृत्वा ७थ० ३ब्रा०) | ... | ४४१ |
| अथ सप्तमः प्रपाठकः | (सोऽत्युपयनति ८थ० ४ब्रा०) | ... | ५१३ |

॥ अथाध्यायसूची ॥

| | | | |
|-------------------|--|-----|-----|
| अथ प्रथमाध्यायः | (देवयजनं १प्र० १ब्रा०) | ... | १४० |
| अथ द्वितीयाध्यायः | (दक्षिणेनाहवनीयं १प्र० ४ब्रा०) | ... | ५८ |
| अथ तृतीयाध्यायः | (सप्त प्रदान्यनु- २प्र० ३ब्रा०) | ... | १३६ |
| अथ चतुर्थाध्यायः | (शिरो वै यज्ञस्यातिथिं ३प्र० २ब्रा०) | ... | २०६ |
| अथ पञ्चमाध्यायः | (तद्य एष पूर्वाङ्गी ३प्र० १ब्रा०) | ... | २७२ |
| अथ षष्ठाध्यायः | (उदर मेवास्य सदः ४प्र० ४ब्रा०) | ... | ३४१ |
| अथ सप्तमाध्यायः | (अग्निं मादते ५प्र० ३ब्रा०) | ... | ४०८ |
| अथाष्टमाध्यायः | (तद्यैतम् प्रष्टो ६प्र० १ब्रा०) | ... | ४५१ |
| अथ नवमाध्यायः | (प्रजापतिर्वै प्रजा ७प्र० २ब्रा०) | ... | ५२१ |

॥ अथ ब्राह्मणसूची ॥

| पङ्क्ता | ब्राह्मणनाम | प्रपाठकस्य | अध्यायस्य | श्लो |
|---------|----------------------------|------------------|----------------|------|
| १ | देवयजनब्राह्मणम् ... | १प्र० १ब्रा० ... | १अ० १ब्रा० ... | १ |
| २ | दौक्षाब्राह्मणम् ... | १प्र० २ब्रा० .. | १अ० २ब्रा० ... | १२ |
| ३ | आप्रावैष्यवेष्टिब्राह्मणम् | १प्र० ३ब्रा० ... | १अ० ३ब्रा० ... | २६ |
| ४ | शौद्रभग्नब्राह्मणम् . | १प्र० ४ब्रा० ... | १अ० ४ब्रा० ... | ४४ |
| ५ | अजिनदौक्षादिब्राह्मणम् | १प्र० ५ब्रा० ... | २अ० १ब्रा० ... | ५८ |
| ६ | दौक्षितव्रतब्राह्मणम् | २प्र० १ब्रा० ... | १अ० २ब्रा० ... | ८१ |
| ७ | प्रायणीयेष्टिब्राह्मणम् | २प्र० २ब्रा० ... | २अ० ३ब्रा० ... | १०३ |
| ८ | सोमाख्यानब्राह्मणम् | २प्र० ३ब्रा० . . | २अ० ४ब्रा० ... | ११६ |
| ९ | सोमश्रयणीब्राह्मणम् | २प्र० ४ब्रा० . | ३अ० १ब्रा० ... | १३६ |
| १० | सोमोपनहनब्राह्मणम् | २प्र० ५ब्रा० | ३अ० २ब्रा० ... | १५१ |
| ११ | सोमपयनब्राह्मणम् | २प्र० ६ब्रा० ... | ३अ० ३ब्रा० ... | १६४ |
| १२ | सोमपर्याणहनब्राह्मणम् | ३प्र० १ब्रा० ... | ३अ० ४ब्रा० ... | १८१ |
| १३ | आतिथ्येष्टिब्राह्मणम् | ३प्र० २ब्रा० ... | ४अ० १ब्रा० ... | २०६ |
| १४ | तानूगम्जनब्राह्मणम् ... | ३प्र० ३ब्रा० ... | ४अ० २ब्रा० ... | २२६ |
| १५ | अवान्तरदौक्षाब्राह्मणम् | ३प्र० ४ब्रा० ... | ४अ० ३ब्रा० ... | २४१ |
| १६ | उपसदिष्टिब्राह्मणम् | ३प्र० ५ब्रा० ... | ४अ० ४ब्रा० ... | २५० |
| १७ | वेदिनिम्नागब्राह्मणम् | ४प्र० १ब्रा० ... | ५अ० १ब्रा० ... | २७३ |
| १८ | अभिप्रययनब्राह्मणम् | ४प्र० २ब्रा० ... | ५अ० २ब्रा० ... | २८५ |
| १९ | यक्षपुरुषब्राह्मणम् ... | ४प्र० ३ब्रा० ... | ५अ० ३ब्रा० ... | ३०५ |
| २० | सोमाभिवचब्राह्मणम् | ४प्र० ४ब्रा० ... | ५अ० ४ब्रा० ... | ३२५ |
| २१ | सदोब्राह्मणम् ... | ४प्र० ५ब्रा० ... | ६अ० १ब्रा० ... | ३४१ |
| २२ | धिर्य्यब्राह्मणम् ... | ५प्र० १ब्रा० ... | ६अ० २ब्रा० ... | ३६१ |
| २३ | वैश्वर्जनब्राह्मणम् ... | ५प्र० २ब्रा० ... | ६अ० ३ब्रा० ... | ३७० |

| शब्दा | प्राक्शब्दानाम् | प्रपाठकस्य | अध्यायस्य | शब्दे |
|-------|------------------------|----------------|---------------|-------------------|
| २४ | यूपमानब्राह्मणम् ... | ५५० | इत्रा० ... | इत्य० ४३० ... ३६४ |
| २५ | यूपनिधानब्राह्मणम् | ५५० | ४३० ... | इत्य० १३० ... ४०८ |
| २६ | सूपैकादशिनौब्राह्मणम् | ५५० | ५३० ... | इत्य० २३० ... ४२६ |
| २७ | पशुपाकराजब्राह्मणम् | ५५० | इत्रा० ... | इत्य० ३३० ... ४३२ |
| २८ | पशुसंक्षेपब्राह्मणम् | इत्रा० १३० ... | इत्य० ४३० ... | ४४१ |
| २९ | आप्रोब्राह्मणम् ... | इत्रा० २३० ... | इत्य० १३० ... | ४५१ |
| ३० | पशुवसानब्राह्मणम् ... | इत्रा० ३३० ... | इत्य० २३० ... | ४६३ |
| ३१ | पशुपुरोडाशब्राह्मणम् | इत्रा० ४३० ... | इत्य० ३३० ... | ४८१ |
| ३२ | प्रयानालुयागब्राह्मणम् | इत्रा० ५३० ... | इत्य० ४३० ... | ५०४ |
| ३३ | उपयाजब्राह्मणम् ... | ७५० | १३० ... | इत्य० ५३० ... ५१३ |
| ३४ | पञ्चैकादशिनौब्राह्मणम् | ७५० | २३० ... | इत्य० १३० ... ५२१ |
| ३५ | वसतीवरीब्राह्मणम् | ७५० | ३३० ... | इत्य० २३० ... ५३२ |
| ३६ | सत्याब्राह्मणम् ... | ७५० | ४३० ... | इत्य० ३३० ... ५४४ |
| ३७ | अधिवयवब्राह्मणम्... | ७५० | ५३० ... | इत्य० ४३० ... ५७३ |

॥ अथ कण्डिकासूची ॥

| कण्डिकाप्रतीकम् | शब्दे | कण्डिकाप्रतीकम् | शब्दे |
|----------------------------|-------|-----------------------------|-------|
| अग्नये स्वा रायस्योषदे ... | २११ | अत्र दैके । द्यौं वा ... | १५५ |
| अग्निं त्वेन्द्रागरं ... | ५१३ | अथ इतरस्याहुः ... | १२६ |
| अग्निर्ब्रह्मेति ... | ८३ | अथ क्षण्यविषाणाः ... | ६१ |
| अग्नीधोमौ वै देवानाः ... | २५८ | अथ खनति । प्राश्न ०—० | |
| अतिच्छन्दसा भिमोते ... | १५२ | उपरेण ... | ४०८ |
| अतिघेरातिथ्य भसि ... | २११ | अथ खनति । प्राश्न ०—० | |
| अत्र दैके । अङ्गुलीय ... | ६५ | यजमानेन ... | ३४२ |
| अत्र दैके । उदयान ... | १८६ | अथ गृह्णाति । समुद्रस्य ... | ५५१ |

| कणिकाप्रतीकम् | श्लो |
|------------------------------|------|
| अथ यावाण्य मादत्ते ... | ५७४ |
| अथ यावृण्य उपावहरति | ३२० |
| अथ चतुर्थीं जुहोति ... | ४७ |
| अथ चत्वारो राजासन्दौ ... | १८८ |
| अथ चषाल मुदीक्षते ... | ४१९ |
| अथ चषाल सुभयतः ... | ४१० |
| अथ चात्वाले मार्जयन्ते ... | ४७० |
| अथ हृदिरधिनिदधाति ... | ३४५ |
| अथ जघनेन ह्यव्याजिने ... | ५८ |
| अथ जाघन्या पत्नीः ... | ५१४ |
| अथ जिह्वायै । सा ... | ४८५ |
| अथ जुहोति । उरु विष्णो | १८० |
| अथ जुहोति । त्वं सोम | ३७८ |
| अथ जुहोति । यथा ०—० | |
| या ते ऽयमे रज प्रया | २६१ |
| अथ जुहोति । यथा ०—० | |
| या ते ऽयमे हरिप्रया | २६१ |
| अथ जुह्वा एषदान्यस्योपपन्न | ४८८ |
| अथ जुह्वा एषदान्यस्योपपत्त्य | ४८२ |
| अथ ह्य मादायोपाकरोति | ४३४ |
| अथ दक्षिणतः प्रोक्षति ... | २६६ |
| अथ दक्षिणेन जानु ... | ५६ |
| अथ दर्भतण्डक मन्तर्दधाति | |
| ०—० क्षुरस्तयो ... | १४ |

| कणिकाप्रतीकम् | श्लो |
|------------------------------|------|
| अथ दर्भतण्डक मन्तर्दधाति | |
| ०—० परशुस्तयो ... | ३६६ |
| अथ दर्भतण्डके निदधाति | २१३ |
| अथ देवा । वीणा मेव ... | १२० |
| अथ द्वितीय माश्रावयति | ४४४ |
| अथ द्वितीया कुश्री ... | ३६३ |
| अथ न दीक्षित । काष्ठेन | ६४ |
| अथ नामिताय क्षुरं प्रयच्छति | १४ |
| अथ निग्राभ्या व्याहरति... | ५७५ |
| अथ निग्राभ्याभिरुपसृजति | ५७७ |
| अथ निग्राभ्याभ्यो यजान् | ५८१ |
| अथ निवृणक्ति ... | ४४२ |
| अथ नीवि मुद्रूहते ... | ६१ |
| अथ पत्नीभ्य पत्नीयूष ... | ४२७ |
| अथ पत्न्यै यदं प्रति ... | १४१ |
| अथ परिधीन् परिदधाति | २६८ |
| अथ परिणयति ... | ४१२ |
| अथ पर्युहति । ब्रह्मवनि त्वा | ३४४ |
| अथ पर्युषति । ब्रह्म दृष्ट्व | ३४४ |
| अथ पशुं विधाति ... | ४८१ |
| अथ पशुं सम्पृशति ... | ४८६ |
| अथ पशो प्राणान्द्वि ... | ४६४ |
| अथ पश्चात्परिक्रम्य ... | १८५ |
| अथ पश्चात्प्रोक्षति ... | २६६ |
| अथ पश्वेन वासिना ... | ४८६ |

| कण्डिकाप्रतीकम् | श्लो | कण्डिकाप्रतीकम् | श्लो |
|-------------------------------|------|-----------------------------|------|
| अथ पुनः प्रपद्य ... | ३०७ | अथ मिनोति । या ते ... | ४११ |
| अथ पुनरेत्याह्वनीय ... | ४५३ | अथ मुखं ब्विमृष्टे... .. | ५१३ |
| अथ पुनर्क्षीष्टं न्यस्यति ... | ८७ | अथ मेखलां परिहरते ... | ६० |
| अथ पुरस्तात् । उदीचीः | २७८ | अथ मैत्रावरुणचमसेनैता | ५५० |
| अथ पूर्वमोदतरस्याम् ... | २६८ | अथ य एष मध्यमः ... | ३४१ |
| अथ एषदान्यं गृह्णाति ... | ५०५ | अथ यक्षतुर्विंशतिविक्रमा | २७३ |
| अथ मौष्णम् । प्रशवो ... | ५२२ | अथ यजमानाय पदं ... | १४० |
| अथ प्रतिप्रस्थाता । अग्रेण | १८७ | अथ यत् त्रिंशत् | २७३ |
| अथ प्रतिप्रस्थाता । उत्तरं | ३१० | अथ यत्पक्षत्वः पण्यते ... | १६६ |
| अथ प्रक्षरे निरुवते ... | २४६ | अथ यत्पक्षत्वो गृह्णाति | २११ |
| अथ प्रहरिष्यन् । यं ... | ५७८ | अथ यत्पक्षत्वो मिमीते | ५७६ |
| अथ प्राङ्निवोदङ्गुत्नामति | १५ | अथ यत्पक्षत्वस्य | ३०६ |
| अथ प्रीयते । गर्भो वा ... | ६१ | अथ यत्पक्षुपस्पृशति ... | ४६४ |
| अथ वर्हीः वि ०—० | | अथ यत्पक्षादरीयसौ ... | २७३ |
| अस्या एतद् | ३४३ | अथ यत्र मेक्षन् भवति ... | ८६ |
| अथ वर्हीः वि ०—० | | अथ यत्र सुप्ता पुनरु ... | ८७ |
| अस्यैतद् | ४०६ | अथ यत् षट्त्रिंशत् | २७३ |
| अथ षाट्स्थत्यम् | ५२३ | अथ यत्समिधं मभ्यादधाति | ५४६ |
| अथ मदन्तोत्पस्पृश ... | २४३ | अथ यत्साक्षा खाहेति ... | ३२ |
| अथ मध्य उवाधारयति ... | २६८ | अथ यदक्षया | ४८६ |
| अथ मध्यमं कदिरप ... | ३११ | अथ यदधौ होष्यन्ति ... | ३६५ |
| अथ मध्येऽङ्गुल्याकारं ... | १५५ | अथ यदपा मन्ते क्रीयाति | १६६ |
| अथ मनोतायै हविषो ... | ४८४ | अथ यदि द्वे क्षणाग्निने ... | १८३ |
| अथ भारतम् । विश्वो वै | ५२४ | अथ यदुपमृत्वाद्यं ... | २५६ |
| अथ मिनोति । सुतागन्ता | ३४४ | अथ यद्वक्षत्वो मिमीते... | १५४ |

| कश्चिदाप्रतीकम् | २४ | कश्चिदाप्रतीकम् | २४ |
|---------------------------|-----|-----------------------------|-----|
| अथ यद्वीक्षित । अथवा वा | ८८ | अथ या प्रोक्षणा परि- | |
| अथ यद्वीक्षित । अथवा वा | | शियन्ते । ता ऽव्यवटे | |
| यजुर्वा साम | ६५ | ऽवनयति ... ३४३, ४०६ | |
| अथ यद्वीक्षितायाभिहरन्ति | ८८ | अथ या आप परिशियन्ते | ४६४ |
| अथ यद् भुवाया माज्यं ०—० | | अथ यान्यपभ्यवदानानि | ४८८ |
| तज्जुह्वा यतुष्कालो ... | १२० | अथ या पञ्चमौऽक्षुषा . . | ४८ |
| अथ यद् भुवाया माज्यं ०—० | | अथ यावेतौ जघनेनाग्नौ... | ३०६ |
| तज्जुह्वा मानयति ... | ४८ | अथ यास्तदेवा । जुष्टास्तनू | |
| अथ यद् ब्राह्मण इत्याह... | ६६ | ०—० तत्साह्वैऽक्षुषे | २३९ |
| अथ यद्यु परिशियन्ते ... | ४८६ | अथ यास्तदेवा । जुष्टास्तनूः | |
| अथ यद्वपया प्रघर्ष्य ... | ४८१ | ०—० तदिन्ध्रे सन्नयदधतैष | २३० |
| अथ यद्वसाहोमस्य ... | ४८६ | अथ युगति । उखावेत ... | १८४ |
| अथ यदाधं यच्छति ... | ६६ | अथ यूपशकल मवगूहति | ४१३ |
| अथ यद् उषोस्तुका ... | २६६ | अथ यूपशकल मादत्ते ... | ४५२ |
| अथ यद्विप्राभ सुपैति ... | ५०६ | अथ यूपशकलं प्रास्यति ... | ४०६ |
| अथ यवमत्तः प्रोक्षणी ... | ३४२ | अथ रराथा सुपस्पृश ... | ३११ |
| अथ यस्मात्सोमो नाम ... | ५८० | अथ राजान मादत्ते ... | १६० |
| अथ यस्मात्स्वरुगाम ... | ४१३ | अथ राजानमादापोत्तिष्ठति | १६८ |
| अथ यस्मादातिथ्यं ... | २०६ | अथ राजानमादापारोहण | १६८ |
| अथ यस्माद्यज्ञो नाम ... | ५८० | अथ राजान मुपावहरति | ५४४ |
| अथ या प्रोक्षणा परि- | | अथ कस्पृज्या ०—० इन्द्रस्य | ३४६ |
| शियन्ते । तद्ये ... | २६० | अथ कस्पृज्या ०—० विष्णोः | ३११ |
| अथ या प्रोक्षणा परि- | | अथ व्वा मुत्विहदन्ति ... | ४६६ |
| शियन्ते । ता ऽव्यवटे- | | अथ व्वाहोमं ऋकाति... | ४८५ |
| अवनयति | ३२६ | अथ व्यृतं व्यृतयति ... | ८५ |

कण्डिकाप्रतीकम्

४८

| | |
|--------------------------|-----|
| अथ व्यतं व्यतयित्वा ... | ८५ |
| अथ वाचं यच्छति... | ५७५ |
| अथ व्याचयति । परि ... | १६८ |
| अथ व्याचयति । प्राची... | ३०६ |
| अथ व्याचयति । भग्नो ... | १८५ |
| अथ व्याचयति । देवति ... | ४५३ |
| अथ व्याचयति मन्तत ... | ५२५ |
| अथ व्यासः । द्विगुणं ... | १५३ |
| अथ व्यासः परिधत्ते ... | १५ |
| अथ वृश्चदेवम् ... | ५२३ |
| अथ शमितारः ... | ४८१ |
| अथ शम्याश्च स्फवच्च ... | २७७ |
| अथ शरीरं मेवाम्बवहन्ति | १८६ |
| अथ सप्तमं पदं ... | १३६ |
| अथ समिधं मभ्यादधदाह | ५४६ |
| अथ सम्येयति । मैत्रावत- | |
| स्य चमसाध्वर्यवेहि | ५४८ |
| अथ सम्येयति । सोमोप- | |
| नहन माह्वर ... | १५१ |
| अथ सारस्वतम् ... | ५२२ |
| अथ सावित्रम् ... | ५२५ |
| अथ सुमन्त्राणां माह्वयति | १८६ |
| अथ सोमक्रपणानुदिशति | १६७ |
| अथ सोमपण्याहनेन ... | १८२ |
| अथ सोमविक्रमिष्य मभि | १६६ |

कण्डिकाप्रतीकम्

४८

| | |
|---------------------------|-----|
| अथ सोमोपनहनस्य ... | १५५ |
| अथ सोमम् ... | ५२२ |
| अथ स्तोत्रायै ज्वेदेः ... | ४५३ |
| अथ स्नाति । अमेधो वै... | १४ |
| अथ स्फव मादाय ... | १४० |
| अथ सुवेणोपस्पृशति ... | ३६५ |
| अथ सुवेणोपहृत्वाज्यम् । | |
| अग्निं मभिजुहोति ... | २१४ |
| अथ सुवेणोपहृत्वाज्यम् । | |
| अवटं मभिजुहोति ... | ४१० |
| अथ सुवेणोपहृत्वाज्यम् । | |
| अध्वर्युर्वपा मभिजुहोति | ४६८ |
| अथ सुवेणोपहृत्वाज्यम् । | |
| विष्टपं मभिजुहोति ... | ३४५ |
| अथ हरति ... | २७८ |
| अथ हविर्ज्ञानियोः... | ३४६ |
| अथ हिरण्यं मपोद्धरति... | १२१ |
| अथ हिरण्ये व्याचयति ... | १६६ |
| अथ हृदयमूलं प्रपच्छति... | ५१४ |
| अथ हृदयमूलेनावष्टयं ... | ५१४ |
| अथाह्वावानति ... | २८ |
| अथाग्नये परिदाय ... | ८७ |
| अथाग्निं मभ्याहृत्य... | ८२ |
| अथाहुषोन्वांघ्रति ... | ३१ |
| अथाग्नेयं राजानं ... | १५२ |

| कणिकाप्रतीकम् | शब्दे | कणिकाप्रतीकम् | शब्दे |
|------------------------------|-------|------------------------------|----------|
| अयापेण शाला तिरुन्नभ्यङ्गे | २७ | अयानुसृज्योपतिष्ठते । | |
| अयाजायां प्रतीचीन मुख्यां | १६६ | बिन्वास्वा | ५४५ |
| अयाज्य सुपस्तृणीते । अथ | ३६६ | अयाम उपनिनयति | १४०, १४३ |
| अयाज्य सुपस्तृणीते । जुह्वां | ३८३ | अयापरं चतुर्गृहीत मान्यं | |
| अयातः समवष्टशस्येव ... | २२६ | गृहीत्वा । अन्वारभक्ष | १२२ |
| अयातो गृह्णात्येव । आप- | | अयापरं चतुर्गृहीत मान्यं | |
| तये त्वा मरिपतये ... | २२६ | गृहीत्वा । उदङ् प्रयन् | ५४८ |
| अयातो गृह्णात्येव । इवि- | | अयापरं चतुर्गृहीत मान्यं | |
| कृतोरिमा आय इति... | ५२३ | गृहीत्वा । उपनिष्क्रामति | १०८ |
| अयातो व्यसोपसदा ... | २६१ | अयापरयोर्दक्षिणे ... | ३२६ |
| अयातो होमस्येव... | ३६ | अयासवे द्वितीया ... | ३७८ |
| अयायुपयजति | ५०७ | अयाप्रीभिश्चरन्ति ... | ३५१ |
| अयाजापोर्युते | १६८ | अयाभिमन्त्रयते | ५१५ |
| अयाधरारणिं निदधाति... | २१३ | अयारणौ पाणौ हात्वा ... | ४ |
| अयाधिभवयं | ३३० | अयावटं परिलिखति | ३४२, ३०८ |
| अयाधिभवये पर्युपविशन्ति | ५०३ | अयावचन मभिजुहोति... | ३६० |
| अयाधिभवये षणके ... | ३३० | अयाश्रिया मारभं ... | ३१ |
| अयाध्वर्युरात्मान सुपस्तृणति | १४१ | अयाश्राय न होतारं ... | २५८ |
| अयाध्वर्युरारोहयं ... | १८८ | अयासाद्य सुध' | ३८१ |
| अयाध्वर्युश्च | ३२८ | अयास्याऽऽ हिरण्यं ... | १५१ |
| अयानवावाजन्ति ... | १८४ | अयासौ दण्डं प्रयच्छति ... | ६५ |
| अयानुवेद्यन्तम् | २७८ | अयासौ ज्वतं प्रदास्यन्नप ... | ८५ |
| अयानुव्यूहति | २७६ | अयासौ ज्वतं प्रयच्छति ... | ८५ |
| अयानुसृज्योपतिष्ठते । | | अयासौ ज्वतऽऽ अपयन्ति... | ८३ |
| एतत् त्वं | ३८१ | अयाह पर्यमयेज्जु ... | ३५३ |

| कण्डिकाप्रतीकम् | प्रश्ने | कण्डिकाप्रतीकम् | प्रश्ने |
|--------------------------|---------|----------------------------|---------|
| अन्तरतो देवाना | ५१४ | आददते या य | ३७६ |
| अन्तरिद्य गच्छ साहेति | ५०६ | आददे रावासीति | ५७५ |
| अन्तरेयाद्धर्षा | ४८७ | आदित्य चक्ष प्रायणीय | १०१ |
| अन्तरेयेषु उपपादहरति | ५४४ | आन्त मन्त्रिणा मन्त्रि | ४११ |
| अप प्रणीय । आत्मावैष्णव | ०६ | आश्ववाल प्रस्तर | २१२ |
| अप एवाभवेत् | ५१४ | आसाद्य हवीः पृथग्नि | २१३ |
| अपराहेदीक्षेत । पुरा केश | १२ | आसीदद्विधा भुवनानि | १८२ |
| अभि मादसे | ४०८ | | |
| अमिमौत व्वरिमाय | १८२ | इद वै पशो सञ्ज्ञप्यमाणस्य | ४४३ |
| अयुक्ता अयुक्ता एकधना | ५५७ | इद मह त ०—० सजातो | ४२८ |
| अर्वाक त्वा परेभ्यो | ३६५ | इद मह त ०—० सबन्धुर | ४२७ |
| अवच्छितो हि वै पुरुष | १५ | इद मह त ०—० समानो | ४२७ |
| अथारत्नि परिवासयेत | ३६८ | इष्टा मभ्यादधति | २६५ |
| अथौ ह वै पुषा अदिते | २६ | इन्द्रागच्छेति | १८६ |
| असुरा ह वा ऽथये | ४८ | इन्द्राणाध्याक्षयेति | १२३ |
| अस्य हविषस्तमना | ४५४ | इन्द्रो ह वा ऽइन्द्राक्षके | ६३ |
| अहोरात्रे गच्छ साहेति | ५०७ | इमे वै प्राणा | ८४ |
| | | | |
| आकुत्यै ०—० आत्मना वा | ४६ | उदर मेवाम्य सद | ४०६ ३४१ |
| आकुत्यै ०—० नात एकच | ४६ | उदीचो मेव दिशम् | १०५ |
| आतिथ्येन वै देवा इष्टा । | | उद्धते प्रऽजगे षण्णके | १८४ |
| ०—० चतुर्धा अद्वान् | २२६ | उद्यच्छन्तीधाम् | ३७८ |
| आतिथ्येन वै देवा इष्टा । | | उभयतो दारः हविर्ज्ञान | ३०६ |
| ०—० तानूनयुजे | २४१ | उग्निगो व्वरिमायति | |

| कण्डिकाप्रतीकम् | श्लो | कण्डिकाप्रतीकम् | श्लो |
|-------------------------------------|------|--------------------------------|------|
| ऊर्द्धा मेव दिशम् ... | १०५ | गन्धो हैवास्य ... | २८६ |
| ऊग्रगो व्यधिषदिति ... | ४८६ | गभीर मिम मध्वरं कृधौति | ५७४ |
| ऋणः ह वै पुरुषो ... | ३६४ | गुदं चेधा करोति... | ४८५ |
| ऋतवो सुग्धा व्यासन् ... | १०४ | गुदो वै यशुः । मेदो ... | ५०५ |
| ऋत्वजो है व देवयजनम् | २ | गुम्यै वा ऽएताः परिङ्गियन्ते | ५३५ |
| एकादशारत्निं परिवासयेत् | ३८८ | गोपीधाय ता ऽएता ... | ५३६ |
| एतद् वै विश्वेदेवा ... | ५३३ | गोर्वै प्रतिधृक् । तस्यै ... | १६५ |
| एतद्वाचयेत् ... | ३१० | योवा वै यशस्योपसदः ... | २५० |
| एतया सर्वाभिः ... | १५४ | चतुर्गृहीत मान्धं गृहीत्वा | ३०८ |
| एताभिर्वै देवा ... | २५० | कुन्दाऽसि मच्छ स्वाहेति... | ५०७ |
| ऐक्ष्यौ विद्युतौ ... | २१२ | जुष्टा विद्याव इति ... | १२१ |
| ऐन्द्रः प्राणः । अङ्गे ऽव्यङ्गे ... | ४८६ | तं वा इति हरन्ति ... | १६८ |
| औदुम्बरो भवति ... | १८८ | तं वै पूर्वार्द्धे मिनोति ... | ४१४ |
| औदुम्बरो भवति ... | ६५ | तः सप्तभिः सप्तभिः ... | ३० |
| कार्श्र्ण्यमयाः परिधयः ... | २१२ | तः ह स्मैतं देवा ... | ४१४ |
| कार्श्र्ण्यमयौ वपाश्चपय्यौ... | ४६७ | त ऽव्याप्याययन्ति... | २४५ |
| कौशिकं ब्राह्मण ... | १८६ | त ऽव्यायन्ति । तः होता | ५५१ |
| खदिरेण ह सोम माषखाद | २६३ | त ऽव्यायन्ति । प्रत्युपतिष्ठते | ५५१ |
| | | त ऽउदसो निष्कामन्ति ... | ५४८ |
| | | त ऽउपसथ्यैव यन्तून् ... | ४६४ |

| कण्डिकाप्रतीकम् | श्लो | कण्डिकाप्रतीकम् | श्लो |
|-------------------------------|------|--------------------------------|------|
| त उज चैत उज्जु । देवा | २६ | तदाज । पुनरेतदुल्लुक् | ४५२ |
| तच्छासा वा विमित वा | ३ | तदाज पूर्वोऽतीत्य ... | २०६ |
| त जघनेन चात्वाल | ४८३ | तदाज । यदेव प्रायणीये | १०६ |
| ततो देवा एत व्यच | ४३३ | तदाज । यस्मा ऽएतदा . | २४३ |
| ततो याणि औणि खुवेण | ४५ | तदिहान्त भवति | ०१४ |
| तत्परिधत्ते । दीक्षातपसोस्तनु | १७ | तदु तथा न कुर्यात् । अभिष्ठ | ४०० |
| तत्परिधयन्ति | ३४५ | तदु तथा न कुर्यात् । काम | १०६ |
| तत्रैता मपि वाच सुवाद | ५८१ | तदु तथा न कुर्यात् । यथा वै | ४५२ |
| तत्रैता मपि वाच मूदु | ६३ | तदु तथा न कुर्यात् । विमुच्चैव | २१० |
| तथेति देवा अम्रवन् । तवैव | १०३ | तदु तथा न कुर्यात् । सार्द्ध | ३७८ |
| तथेति देवा अम्रवन् सोम- | ३६४ | तदुदोचीनवः॥३॥ सदा भवति | ३४५ |
| तथो ऽएवैष एतत् । उपसजीव | ४३४ | तदुपास्याभितिष्ठति | ४६६ |
| तथो ऽएवैष एतत् । यूपशकल | ४१५ | तदु चैक व्याहृ | ५४६ |
| तथो ऽएवैष एतत् । सचैव | ५४६ | तदु होवाच याज्ञवल्क्य .. | २ |
| तदायत्सु व्याचयति । अग्ने नय | ३७६ | तदेव निदधति ग्रात्य | ३८० |
| तदायत्सु व्याचयति । एव ते | १५२ | तद्वैके । व्यादित्येभ्यश्च .. | २६ |
| तदाज । अक्ते . . | २४६ | तद्वैके । व्याहवगोया .. | १८७ |
| तदाज । अम्रवैता ... | ४६ | तद्वैके । शिव मैत्रावरुणममसे | ५५१ |
| तदाज । उतरवेदे | ३१० | तद्वैके । अग्निरवेदेरनु ... | २६६ |
| तदाज । एता मेवैका . | ४६ | तद्वैके । अतुर्धा कुर्वन्ति .. | ३०७ |
| तदाज । क प्रातरनुवाकस्य | ५४६ | तद्वैक । गद्यव दृष्टा ... | ८२ |
| तदाज । कि तदाज्ञे . | ५०४ | तद्वैके । प्रथमे व्यत उजभौ | ८४ |
| तदाज । मैत्र यजमानेनाम्ना- | | तद्वैके । प्रथमे व्यते सर्वो- | ८४ |
| रभ्यो . . . | ४५३ | तद्वैके । सर्वे ऽएव व्यपन्ते | १३ |
| तदाज । गोपाकुर्यामाभि | ४४४ | तदा एव पूर्वार्द्धे, . . . | २०२ |

| कण्डिकाप्रतीकम् | प्रष्ठे | कण्डिकाप्रतीकम् | प्रष्ठे |
|--------------------------------|---------|----------------------------------|---------|
| तद्यत् क्रूरीकुर्वन्ति ०—० | | तद्याः पूर्वाह्नेऽनुवाक्या ... | २५७ |
| नेदेत- | ४६५ | तद्यावेतौ मूर्खौ | १२६ |
| तद्यत् क्रूरीकुर्वन्ति ०—० | | तद्यर्ग्यं सत् समष्टं स्यात् ... | १ |
| सन्धत्तः | ४६५ | तद्वा ऽव्यन्यतर एव | २०६ |
| तद्यत् क्रूरीकुर्वन्ति ०—० | | तद्वा ऽव्यहृतं स्यात् | १६ |
| सन्धत्तस्तत्ते | ४६५ | तद्वा ऽकृषीणा मनुश्रुत | |
| तद्यत्पञ्चद्वयं व्यागृह्णी ... | २६ | मास । ०—० यदेतानि | ४५ |
| तद्यत् पृच्छति प्रदत्तं वै ... | ४८२ | तद्वा ऽकृषीणा मनुश्रुत | |
| तद्यत् पृच्छति प्रदत्तेन .. | ४८२ | मास । ०—० यो दीक्षते | ८१ |
| तद् यत् पौष्ण मनु ... | ५२१ | तद्वा ऽकृषीणा मनुश्रुत मास । | |
| तद्यत्रैतत् प्रदत्तो होता ... | ४५१ | ० —० सम्मत एवं ६०, २४५ | |
| तद्यत्रैतं निविध्यन्ति ... | ४५४ | तद्वा ऽकृषीणा मनुश्रुत मास । | |
| तद्यत्रैतं विविशन्ति ... | ४५४ | ०—० सम्मत एव ... | ८३ |
| तद् यत् सारस्वत मनु ... | ५२२ | तद्वा ऽएकं स्यात् | १० |
| तद्यदन्तरेण... .. | ४८८ | तद्वा ऽएतदुभयं | १२० |
| तद्यदाप्याययन्ति | २४४ | तद्वा ऽएतदेकं कुर्वन् ... | २६० |
| तद्यदैन्द्र मनु भवति ... | ५२४ | तद्वा ऽएतदेको द्वाभ्या ... | ५०६ |
| तद्यद्विरण्याग्रकलावभितो | | तद्वा देवा अस्पृण्वत । त | |
| ०—० भवतः | ४८६ | एताभिर् | २५७ |
| तद्यद्विरण्याग्रकलावभितो | | तद्वा देवा अस्पृण्वत । त | |
| ०—० भवत व्याश्रयाच्च | ४६६ | एतैः क्षत्र्यां | १२६ |
| तद्यद् मार्हस्पत्य मनु ... | ५२१ | तद्वा देवा अस्पृण्वत । त | |
| तद्यदपया चरन्ति | ४०० | एतैः सर्वाः | १४२ |
| तद्यद् वैश्वदेव मनु... .. | ५२४ | तद्वा देवा अस्पृण्वत तेऽस्यैतेन | ५७७ |
| तद्यन्मैत्रावरुणधमसेन ... | ५५० | तद्वा नवनीतं भवति । द्रुतं | २० |

| कण्डिकाप्रतीकम् | श्लो | कण्डिकाप्रतीकम् | श्लो |
|-----------------------------------|------|--------------------------------|------|
| तनूनपत्रे शाकुरायेति ... | २२६ | तस्मान्नित्तदक्षिणा ... | २७७ |
| तं त्वा जुषामहे . . . | ३६५ | तस्मान्मध्यमाच्छद्मो . . . | ... |
| तन्न सर्वं ऽह्वाभिप्रयच्छेत् ... | ३ | उदङ् द्वादश ... | २७३ |
| तं दिदधाति . . . | ४२६ | तस्मान्मध्यमाच्छद्मो . . . | ... |
| तन्मध्य ऽमौदुम्बरी ... | ३४१ | उदङ् पञ्चदश . . . | २७२ |
| तपसा वै लोकं जयन्ति . . . | २६२ | तस्मान्मध्यमाच्छद्मो . . . | ... |
| त मभिमिमौते । घ्नन्ति वा | ५७६ | दक्षिणा द्वादश ... | २७२ |
| त मभिमृशति । यत्ते सोम | ५७७ | तस्मान्मध्यमाच्छद्मो . . . | ... |
| त मभ्यर्गति । शीर्षतोऽग्न्य ऽव्या | २८ | दक्षिणा पञ्चदश ... | २७२ |
| त मादत्ते । देवस्य त्वा ... | ५७४ | तस्मान्मध्यमाच्छद्मो . . . | ... |
| त मिन्द्राग्नौ मनु . . . | ३६३ | प्राङ् षड्विंशतं ... | २७९ |
| त मुञ्चयति । उञ्चयस्य ... | ६५ | तस्मिन् वाचयति ... | १८७ |
| त मेव मभिमृश्य ... | ३६५ | तस्मै क मेकादशिन्या ... | ५२१ |
| तं परिवासयति ... | ३६८ | तस्य ते पवित्रपत इति ... | ३१ |
| तं प्रयवमान मनु ... | ३६६ | तस्य यन्निखातम् ... | ४१७ |
| तं प्राक्षं पातयेत् ... | ३६६ | तस्य रुक्म पुरस्ताद् ... | २७६ |
| तथो समयवृत्तयोः ... | ३७७ | तस्य वा ऽणतस्य व्याससः ... | १६ |
| तयोरन्यतरां कुशौ भाविच्छेद | ३६३ | तस्य सप्तदश सामिधेन्यो भवन्ति | २७ |
| तस्मादाहुः । मगो देवा ... | २२८ | तस्या माघारयति ... | २६८ |
| तस्मादु ष ऽ प्रतीचीनशिराः | ३ | तस्यावाद् मेधः पपात ... | ४८२ |
| तस्मादु ष न स्ता ... | २२७ | तस्यै गन्धर्वाः । वेदानेव ... | ११६ |
| तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम् ... | २२८ | ता यथैवादो देवाः । प्राक्षिणव- | ... |
| तस्माद् दौक्षिता ... | ३६४ | न्तोम मच्छ सैनान् ... | १२४ |
| तस्माद् ब्रह्मचारिण्य ... | ३६४ | ता यथैवादो देवा । | ... |
| तस्माद्यदि यूपैकादशिनो | ५२५ | प्राक्षिणवन्तोम मच्छैव | १२१ |

कश्चिकाप्रतीकम्

शब्दे

| | |
|--------------------------------|-----|
| ता यथैवादो देवाः । व्यङ्ग्यन्त | १२४ |
| ता वा ऽद्यनुयुभा जुहोति । | |
| वाग्वा अनुयुप्... | ४८ |
| ता वा ऽद्यनुयुभा जुहोति । | |
| सैषानुयुप् ... | ४९ |
| ता वा ऽज्जाना मिव ... | ६४ |
| ता वा ऽएता परिश्रमन्ति | ९ |
| ता वाचयति । नमस्त ... | ४६३ |
| ता वै युगमाचौ | २७९ |
| ता वै युगशब्देन ... | २७७ |
| ता षट् सम्प्रद्यन्ते ... | २६० |
| ता आहृत्य जघनेन ... | ५३५ |
| तानि वा ऽएतानि ... | ५३६ |
| तानि वै यच्च जुहोति ... | ४५ |
| तान्स्मृन्मयोधयन्ति ... | ५४४ |
| ता देवा । असुरेभ्यो ... | ६३ |
| तान् देवा प्रतिस्मैत्यत ... | ३४७ |
| तां नेष्टा व्याचयति ... | १४१ |
| तान् प्रादेशमात्रं ... | ३०६ |
| तान् बाहुमाश्रान् | ३२८ |
| तान्यत्र निविध्यन्ति ... | ५२५ |
| तान्यचोदीधो नयन्ति ... | ५२५ |
| तान् यथाखात मेवावमर्शयति | ४२८ |
| तान् यथाखात मेकोत्थिति | १२८ |
| तान् यथापरिलिखित ... | ४२० |

कश्चिकाप्रतीकम्

शब्दे

| | |
|-----------------------------------|-----|
| ता मद्भिरेभ्युक्षति ... | २७९ |
| ता मन्तरेण यथाभिं ... | ४६७ |
| ता ममिष्टयति ... | १८८ |
| ता मस्तमिते व्याचं ... | ८२ |
| ता मुञ्चयति । उद्भिः ... | ३४३ |
| ता परिवासयति ... | ४६७ |
| ता परिहरते ... | ६१ |
| तां प्रतिपश्यान्मृश्यावेष्ट्या... | ६३ |
| तावनुषिञ्चत । नमस्त ... | ४६५ |
| ता वा ऽद्याद्यहविषो ... | १५८ |
| ता वा ऽएता । पञ्च ... | १०४ |
| ता वै सर्वेषु सवनेषु ... | ५३२ |
| ता वै स्यन्दमानानां ... | ५३३ |
| ताद्यतुर्विष्टयति ... | २६० |
| ते ऽद्यभिमन्त्रयते ... | ६१० |
| ते गन्धर्वा अन्वागत्यानुवन् | ११९ |
| तेऽग्निनैव त्वचं ०—० अग्निर्वै | २४१ |
| तेऽग्निनैव त्वचं ०—० तपो वा | २४१ |
| ते देवा । जुष्टान्तू ०—० | |
| कम्योयमष्टुगिति ... | २२० |
| ते देवा । जुष्टान्तू ०—० | |
| तदेवा अप्येतर्हि ते होसुर् | २२८ |
| ते देवा । जुष्टान्तू ०—० | |
| ऽपैत ऽथाप्यान्तेव ... | २२८ |
| ते देवा अभ्युं ममूवन् ... | ४१५ |

कण्डिकाप्रतीकम्

श्रुते

| | |
|-------------------------------|-----|
| ते देवा अम्रुवन । गौर्वा ऽइद५ | १५ |
| ते देवा ईक्षाक्षकिरे | ६२ |
| ते देवा यज्ञ मम्रुवन | ६१ |
| तेन देवा अययन्त | ३६४ |
| तेन पुरस्तादनुयाजेषु | ५०६ |
| तेनानुयाजेषु चरति | ५०५ |
| ते निज्जुवते एष्टा | २४६ |
| तेऽन्य मेव प्रति | २७५ |
| तेभ्यो गापन्तो सोम | ११६ |
| तेभ्यो व्याघ | २७५ |
| तेभ्यो ह व्याघ सुक्रोध | २७६ |
| तेऽवच्छाय पुरयम् । गच्छेता | १५ |
| ते वा ऽएत ऽएकादश | ४५१ |
| ते वा ऽएते । सोमस्यैव | ३६५ |
| ते वा मारभ ऽइति | ५६ |
| तेऽविदु । अय वै | २४२ |
| तेऽविदु । पापीया५सो | २२७ |
| ते वै दिशमानो भवन्ति | ३६६ |
| ते वै बह् भुत्वाप्यापयन्ति | २६५ |
| तेषा पत्र व्यवभि | ५२५ |
| तेषा वा ऽथर्ज्ञानुपकिरन्ति | ३६५ |
| ते समवगच्छन्ति | २३० |
| ते समववर्त्तयन्ति | ३०७ |
| ते सह पत्नीभिरीयु | ५४६ |
| ते ह देवा उचु । इय सु | ५४८ |

कण्डिकाप्रतीकम्

श्रुते

| | |
|------------------------------|-----|
| ते हऽर्त्तीयमाने ऽऊचतु | ३६१ |
| ते हऽदित्या उचु | २७४ |
| ते होचु । अपीत्यन्त्वा | २४२ |
| ते होचु । अस्या मेव | १०३ |
| ते होचु । उपैव • • | |
| सा हास्मै निपलाश | ६२ |
| ते होचु । उपैव •—• | |
| सा हैन जुजवे | ६२ |
| ते होचु । कि गच्छत | ४६४ |
| ते होचु । न वा अन्येन | २७४ |
| ते होचु । न वा ऽइमेऽस्य | ४६६ |
| ते होचु । यज्ञ, त्वय्येव | १०२ |
| ते होचु । यन्त्वस्या | १०३ |
| ते होचु । योषित्कामा वै | |
| गन्धर्वा व्याघ मेवैभ्य | ११६ |
| ते होचु । योषित्कामा वै | |
| गन्धर्वास्महेव पत्नीभिर | ५४६ |
| ते होचु । हन्त य | ३४६ |
| ते होचु । हन्तेद तथा | २२७ |
| तेर्यं प्रधरन्ति | ५२६ |
| त्रयोदशारत्नि परिवासयेत | ३६८ |
| त्रिवृता परित्ययति | ४१२ |
| त्रोष्टि ह वै पश्चोरेकादशानि | ५०४ |
| त्रैककुद भवति | २८ |

| कण्विकाप्रतीकम् | श्लो | कण्विकाप्रतीकम् | श्लो |
|------------------------------|------|----------------------------|------|
| दक्षिणा मेव दिशः ... | १०५ | देवा ह वै यज्ञं ०—० ता | |
| दक्षिणेनाहवनीयं ... | ५८ | दक्षिणतो ... | ३४६ |
| दिवा गृह्णीयात् पश्यन् ... | ५३३ | देवा ह वै यज्ञं ०—० वक्षो | ३०८ |
| दिवि वै सोम आसीत् | | देवाना मु ह स्म ... | २४२ |
| ०—० तद्विष्णुणा ... | ११८ | द्यावापृथिवी गच्छ ... | ५०७ |
| दिवि वै सोम आसीत् | | दयं वा ऽध्यभुपरवा ... | ३२५ |
| ०—० ज्वानेव सुपर्णीयं | ३६१ | दय्यो ह वा ऽहव ... | २७७ |
| दिवे त्वा सूर्याय त्वेति ... | ५४५ | द्वादशारत्नं परिवासयेत् | ३८८ |
| दिव्यं नभो गच्छ ... | ५१३ | | |
| दिशो सुग्धा आसन् ... | १०५ | धर्मा मानुष इति ... | ४४१ |
| दीक्षायै तप्तसेऽग्नये ... | ४६ | | |
| देवः सवितारं गच्छ ... | ५०६ | न पुरस्ताद्विवयजन्मात्र | |
| देव त्वष्टृर्बस इमेति ... | ४३५ | मतिरिच्येत ... | २ |
| देवयजनं नोमयन्ते ... | १ | नवकपाल पुरोडाशो ... | २१२ |
| देवस्ता देवयज्यायै ... | ३८५ | नवारत्नं परिवासयेत् ... | ३८८ |
| देवा ब्रह्माण्य आगच्छतेति | १८६ | न वै तदवकल्पते ... | २१० |
| देवाश्च वा ऽध्यसुराश्च । | | नाभिदग्धा भवति ... | १८८ |
| ०—० एषु लोकेषु ज्ञात्वा | ३२६ | नासिक्ता ह वा यथा ... | २७७ |
| देवाश्च वा ऽध्यसुराश्च । | | नोढे क्षणाजिन मानुषाति | १८१ |
| ०—० एषु लोकेषु पुरश्च | २५७ | नैन मन्यन् चरन्त मभ्यन्त- | |
| देवाश्च वा ऽध्यसुराश्च । | | मियात् ... | ८८ |
| ०—० ततो देवेषु सर्वा | ३४२ | नो दान्ते गोमंम स्यात् ... | १६ |
| देवा ह वै यज्ञं ०—० तयतद् | १६८ | | |
| देवा ह वै यज्ञं ०—० तद् | | पञ्चदशारत्नं परिवासयेत् | ३८८ |
| य यतद् ... | ४७६ | पञ्चाशत् परिवासयेत् ... | ३८८ |

| कण्डिकाप्रतीकम् | श्रुते | कण्डिकाप्रतीकम् | श्रुते |
|-----------------------------------|--------|---------------------------------|--------|
| पद समुप पाणौ | १५१ | मेघायै मनसेऽग्रे ०—० | |
| पलाशशाखया प्राजति | १८४ | ते वस्येते | ४४ |
| पशुश्च वै यूपश्च | ४३३ | | |
| पाशं कृत्वा प्रतिमुखति | ४४१ | यज्ञेन वै देवा । इमा जिति | ४५, |
| पुरास्तमयादाह | ८८ | ८९, ८३, ८८, २४४, ४१४ | |
| पुरुषो वै यज्ञ | ४०५ | यज्ञ वै देवा । अग्रे पशु मा | ४८३ |
| पूषाभनस्यात्विति... .. | १२३ | यज्ञ वै देवा । अमररक्षसाणि | ९८ |
| पूषो रक्षा इति | ४८६ | यज्ञ वै यज्ञस्य शिरोऽच्छिद्यत । | |
| प्रच्छिद्योदमाने प्रास्यति | १४ | ०—० त मद | ५४० |
| प्रजामतिर्वै प्रजा | ५२९ | यज्ञ वै यज्ञस्य शिरोऽच्छिद्यत । | |
| प्रतीची मेव दिशम् | १०५ | ०—० त मेते गन्धर्वा | ५४८ |
| प्राची मेव दिशम् | १०५ | यज्ञ वै यज्ञस्य शिरोऽच्छिद्यत । | |
| प्रोक्षणीरध्वर्युरादत्ते । स इह्य | ३८० | ०—० तेनैवैतदसेनाप | ५४९ |
| प्रोक्षणीरध्वर्युरादत्ते । स पुर- | २६६ | यदास्य परिश्रिय | ४८४ |
| | | यदा प्राह सञ्ज्ञत | ४६३ |
| | | यदेव गृहं चेधा करोति | ५०५ |
| मधु सारश्च मिति... .. | २४४ | यदेवैता माहुति जुहोति | ४८९ |
| मासः स वैवास्य | २६६ | ०—० मासश्चे त मयो | |
| मुख मेवास्याहवनीय | ३०६ | यापति याभ्य उ | ५४० |
| मुखसन्मितो भवति | ६५ | यदेवैता माहुति जुहोति | |
| मुह्यवशेनान्वक्ता | ६० | ०—० मासश्चे याभ्य उ | ५४८ |
| मित्रत्वा यदि बभूता | १२३ | पशु ऽएक भवति | ५८ |
| मित्रावरुणौ गच्छ. | ५०६ | यशु ऽएतदुभय | ५४४ |
| मेघायै मनसेऽग्रे ०—० | | यद्युक्थः स्यात् | ५५२ |
| तद्यदेशाच्च | ४६ | | |

| कण्डिकाप्रतीकम् | श्लो | कण्डिकाप्रतीकम् | श्लो |
|---------------------------------|------|----------------------------------|------|
| यद्यु द्वादशोपसद उपेयात् | २६० | शक्रन ऽद्योजिष्ठावेति ... | २२६ |
| यद्यु पञ्चेकादशिनौ ... | ५२५ | शफेन ते क्रौञ्चानीति ... | १६५ |
| यद्युष्णीषं ब्बिन्देत् ... | १५१ | शरीरं चैवास्या ... | २६८ |
| यद्वाह । यत्र देवासो अशुषन्त | ४ | शरेषौकयानक्ति ... | २६ |
| यद्देव ज्यैसर्जिनानि ... | ३७७ | शिर एवास्य हविर्ज्ञानं ... | १०६ |
| यद्देव ज्यैष्णयर्चा ... | ३८० | शिरो वै यच्चस्यातिथ्यम् १०६, २०६ | |
| यद्देव ज्यैष्णव्या शुद्धोति ... | ३६४ | श्रेणाय त्वा सोमभृत इति | ५७६ |
| यद्देवोदाचं न्याचं मिमीते । | | श्रेणाय त्वा सोमभृते विष्णवे | २११ |
| इमा एवैतन्नागावीर्याः | १५४ | श्रेणो भूत्वा परापतेति ... | १८५ |
| यद्देवोदाचं न्याचं मिमीते । | | यदरलिं परिवाचयेत् ... | ३६८ |
| विराज मेवैतदब्जाचौघ | १५४ | संवत्सरो ज्यघः ... | २५६ |
| यद्देसर्जिनानि शुद्धोति ... | ३७६ | संवत्सरो हि ज्यघः ... | २५६ |
| यावतो वै ज्येदिस्तावतो ... | ४२६ | स आग्नेयं प्रथमं पशु ... | ५२२ |
| या वै प्रजा यज्ञे ... | ३६६ | स आनक्ति । ज्वृत्स्यासि... | २६ |
| यूपं ब्रह्मन् वैष्णयर्चा ... | ३६४ | स आत्राव्याह ... | ४५१ |
| रक्षोह्वयं वनमङ्गल मिति | ३२७ | स व्याह । चन्द्रं ते ... | १६५ |
| राधाऽसौत्सम्पन्नागा- | ४४४ | स व्याहातिकामप्रप्रये ... | २५६ |
| रैवती रमध्व मिति ... | ४२५ | स इन्द्रोऽग्नवीत् । सर्व ... | ५७७ |
| व्याचं यच्छति ... | ८१ | स उच्छ्रयति ... | ४११ |
| व्यातस्य त्वा प्राग्या ... | ४८६ | स उत्तरेण निष्कामति ... | ५३५ |
| व्विशामानो देवास्य धिग्ग्या | ३६१ | स उपयजति । समुद्रं गच्छ | ५०६ |
| व्विप्रा व्विप्रस्य बृहतो ... | ३०७ | स उपयजति । यात्रा स्य | ५७८ |
| व्विश्वेतानि व्वरुणस्य ... | १८२ | स उपावहरति ... | ५४५ |

| कथिकाप्रतीकम् | श्लो | कथिकाप्रतीकम् | श्लो |
|------------------------------|------|------------------------------------|------|
| स उपैति । प्रागपागुद ... | ५७८ | स पर्यायच्छति ... | १८५ |
| स ऐक्षत प्रजापति ... | ५२१ | सप्तदशारत्निर्वाणपेये ... | ३८८ |
| स ऐक्षतारिच्छहम् ... | ५२१ | सप्त पदान्यनुनिकामति ... | ११८ |
| स गृह्णाति ... | २११ | स प्रहरति । मा मेर्मा ... | ५७८ |
| स जुहोति । अतस्त्वं ... | ३८७ | स प्रहरति । विदेदमिर् ... | २७८ |
| स जुहोति । अदित्यास्त्वा ... | १७० | स प्रास्यति अग्ने ... | ७०८ |
| स जुहोति । हत ... | ७८८ | स प्रोक्षति । अज्ञस्त्वौषधीभ्य ... | ७७२ |
| स जुहोति । नूरसौत्येतद् ... | १२१ | स प्रोक्षति । दिवे ०—० | |
| स जुहोति । देवीरापो ... | ५७८ | त्वेति ज्वस्यो वै यूप एषा ... | ७०८ |
| स जुहोति । यया द्विरेक- | २६१ | स प्रोक्षति । दिवे ०—० | |
| स जुहोति । पुञ्जते मन ... | ३०७ | त्वेतोमानेदैतस्त्रोकान् ... | ३७३ |
| स जुहोति । ब्रिज्यो ... | ७८ | स प्रोक्षति । रक्षोघ्नो ... | ३२८ |
| स जुहोति । इत्योत्पमि ... | ५७७ | स प्रोक्षते ... | ६१ |
| स हव्य मादत्ते ... | ७३७ | स मज्यति । गायत्रेश्च ... | २१३ |
| स दक्षिणः सक्त्यजुषा ... | २८ | स मिमौते । अग्निं त्वं ... | १५३ |
| स दक्षिण मेवाग्र आगति ... | २८ | स मिमौते । इन्द्राय त्वा ... | ५७६ |
| स दक्षिण मेवाग्ने गोदानं | | सम्यगग्नि मभिष्ठा ... | ७११ |
| वितारयति ... | ११ | सम्यद्धान्ते भवत' ... | ५८ |
| स दक्षिण मेवाग्ने गोदान | | स य उत्तरोऽभिष्ठात् ... | ७२७ |
| समभ्युनक्ति ... | १३ | स यत्नवरति ... | २६१ |
| स दक्षिणस्य हविर्दानस्य ... | ३८१ | स यत् समानश्च ... | २५८ |
| स दक्षिणेन निष्क्रामति ... | ५३५ | स यत् सायम्प्रातः ... | २६० |
| स निक्षिप्ते जुहोति ... | ३७८ | स यदग्नौ जुहोति ... | २६६ |
| स परिनिक्षिपति ... | १७० | स यदादित्यं ... | १०३ |
| स परिवायति ... | ७१३ | स यदाह । ते वा मारुभ ... | ५८ |

| कण्डिकाप्रतीकम् | श्लो | कण्डिकाप्रतीकम् | श्लो |
|-----------------------------------|------|--------------------------------|------|
| स यदाह । या मा ... | ३६७ | स ललाटे समनक्ति ... | ४४३ |
| स यदाह । स्वाहा यज्ञं ... | ३९ | स वा ऽच्यनेनैवाजा ... | १६७ |
| स यदि खुवा जुहोति ... | ४६४ | स वा ऽच्यन्तेनैव ततो ... | २१० |
| स यदेव गुदं चेधा करोति | ५०५ | स वा अष्टावेव ... | २५८ |
| स यद्द्वार्यमाणोऽप्रौ ०—० | | स वा ऽच्यष्टाभिर्भवति ३६६, ४१४ | |
| प्राप्नोति यद्वेषा ... | २६७ | स वा ऽच्यष्टौ क्षत्वो ... | २५८ |
| स यद्द्वार्यमाणोऽप्रौ ०—० | | स वा ऽजदाश्च न्याचं ... | १५४ |
| प्राप्नोति वाग्धेषा ... | २७६ | स ज्वेद्यन्तात् | २७८ |
| स यद्यग्निद्योम' स्यात् ... | ५५१ | स वै जघनार्द्धं इवैवाग्र ... | ५६ |
| स यद्वसतीवरीरश्चैति ... | ५१२ | स वै तिष्ठ उपसद ... | २६० |
| स यं प्रथमं प्रकला ... | १६६ | स वै त्रिरभियुज्योति ... | ५७६ |
| स यवानावपति ०—० | | स वै दिक्षुषो भवति ... | १८७ |
| यन्मुर्मेध्य मेवैतत् ... | ४०८ | स वै धीक्षते ... | ६० |
| स यवानावपति ०—० | | स वै गखान्येवाग्रे निहन्तते | १३ |
| यन्मुर्मेध्या मेवैतत् ... | ३४३ | स वै न सर्वेणैव संवदेत ... | ३ |
| स यस्याग्नौताभ्यस्त मियात् | ५३३ | स वै पञ्च प्रायण्यौघे ... | १०७ |
| स यानुपकिरन्ति | ३६६ | स वै राजानं पश्यते ... | १६४ |
| स यो ज्वर्षिष्ठः ... | ४२७ | स वै व्याघ्र एव ... | १३६ |
| सरस्वत्यै पूज्योऽग्नये स्वाहेति । | | स वै सत्वरमाय इव ... | २१० |
| ०—० पशवो वै पूषा | ४६ | स सङ्क्रामयति ... | १४१ |
| सरस्वत्यै पूज्योऽग्नये स्वाहेति । | | स समिध मभ्यादधाति .. | २४३ |
| ०—० सास्येषात्मन् ... | ४७ | स खाति । व्यापो ... | १५ |
| सर्वं वा ऽण्योऽभि दीक्षते | ३७६ | स ह त्वेव पशु माणमेत ... | ५०५ |
| सर्वाणि ह वै दीक्षाया ... | ४४ | स ह संवत्सरे जायमान ... | ६३ |
| सर्वं ह स वा ऽण्येते ... | ३४७ | स ह स वाङ्म ... | ४६६ |

| कण्डिकाप्रतीकम् | श्लो |
|-----------------------------|------|
| स हिरण्य मवदधाति ... | १२० |
| स हृदय मेवाग्रेऽभिघारयति | ४८२ |
| स हृदयस्यैवाग्रेऽवयति .. | ४८४ |
| स होवाच । अग्निं ह्या ... | २०५ |
| स होवाच । राध्रवाग्मे ... | २० |
| सा देवानुपावर्त्य न्युवाच . | २०६ |
| सा न सुपाचौ | १२३ |
| सा यत् सुपयुवाच ... | ३६२ |
| स यत्राच्छति । यत . | ४६६ |
| सा या प्रजातामि .. | ४६६ |
| सा या बभू मिक्काक्षौ | |
| सा सोमक्षयणी यत्र ... | १४१ |
| सा या बभू मिक्काक्षौ | |
| सा सोमक्षयणी स्याद् .. | १४२ |
| सा या बभू मिक्काक्षौ | |
| सा सोमक्षययय या... | १४२ |
| सा विद्या निमीते | १५३ |
| सा वै बिबृहयति | ६० |
| सा वै प्राणी भवति ... | ६० |
| सा स्याद् प्रवीता . . . | १४२ |
| सा च कद्रुवाच | ३६२ |
| सा च सुपर्णी मपात . | ३६२ |
| सा च सुपयुवाच । अस्य | ३६२ |
| सा च सुपयुवाच । रुद्रोर्द | ३६२ |
| सा होवाच । अन्यतरा ... | ४८७ |

| कण्डिकाप्रतीकम् | श्लो |
|-------------------------------------|------|
| सा होवाच । मय्येव ... | १०३ |
| सैषा देवताभि ०—० पाङ्क्तो | ४८ |
| सैषा देवताभि ०—० विश्वो | ४८ |
| सोऽग्निनैव त्वत्वं विपत्त्यङ्गयते । | |
| अग्निर्वै मिथुनस्य ... | २४२ |
| सोऽग्निनैव त्वत्वं विपत्त्यङ्गयते । | |
| तपो वा अग्निसु ... | २४१ |
| सोऽनुपयजति | ५१५ |
| सोऽग्निमश्वत्थं शकल ... | २१३ |
| सोऽभ्यु । यूपशकल मेवा- | |
| नुचोत् | ४१५ |
| सोऽनक्ति । देवत्वा . . | ४१० |
| सोऽनुमहरति | २१४ |
| सोऽपराहे ज्वेदि ... | ३०० |
| सोऽपस्मशति । ज्वाच ते ... | ४६४ |
| सोऽपोद्धरति ... | १२९ |
| सोऽपोऽभि नुचोति ... | ५४८ |
| सोऽभिघारयति | ४८२ |
| सोऽभिन्दशति | १५२ |
| सोऽभ्युक्षति | २८० |
| सोऽग्नि मादत्ते । देवस्य ३२६, ३४१ | |
| सोमं गच्छ खाद्येति . | ५१३ |
| सोम राजन्विद्यास्य ... | ५४५ |
| सोमस्य तनूरग्नि | २११ |
| सोऽय यज्ञो ज्वाच मभिदध्यौ | ६३ |

| कण्डिकाप्रतीकम् | श्लो | कण्डिकाप्रतीकम् | श्लो |
|---------------------------|------|--------------------------|------|
| सोऽर्घञ्छाम्यस्वचार ... | ५२१ | हविष्मान् देवोऽध्वर ... | ५२४ |
| सोऽवनयति .. | ३२६ | हव्या ते खदन्ता मिति ... | ४२५ |
| सोऽवस्तृणाति ... | ३३० | हिरण्ययोर्हं कुशो रन्तर् | ३६३ |
| स्तुप एवास्या यूय ... | ३०६ | ऊत्वा व्यपाऽ समीची ... | ४६६ |
| सर्गस्यो ह्येय लोकस्य ... | ४१३ | ऊत्वा व्यपा मेवाये ... | ४६८ |
| हविष्मांश्च यस्तु सूर्य | ५२५ | हृदय मु वै पशु ... | ४८४ |

॥ अथ विषयसूची ॥

(१ प्र० १ भा०)

अथ श्रालानिर्माणाया देवयजनपरिग्रहविधि । तत्र देवयजनप्रदेशे प्रथम प्राचीनवर्गश्रालानिर्माणम्*, तत उदीचीनवर्गश्रालानिर्माणम् । ततस्तत्र दीक्षितस्य ग्रामे नियमविशेष, सर्वतः परिश्रयश्च । तत्र त्रै-
वर्णिकाणां गृहादीनां सभिप्रातिनिषेध, दीक्षितस्य सर्वैर्वाग्यवहारनिषेध,
दीक्षितस्य श्रालाप्रवेशश्चेति ।

(१ प्र० २ भा०)

अथ दीक्षाविधि । तत्र प्रथम दीक्षाकाण्डनिरूपणम् । तत
क्षौरार्घ्यं परिश्रयणम्, जमात् गच्छन्तिष्ठन्तम्, केशघ्नधुवनम्, घानम्,
वासं परिधानम्, पुनः श्रालाप्रवेशश्चेति ।

* इत्येवमिदं विधानं विधिग्रन्थे सर्वत्र कृतम् ।

(१ प्र० ३ ब्रा०)

अथ दीक्षाङ्गभूताया आघातवैष्णवेष्टे प्रयोगविधि । तत्र प्रथम मप प्रत्ययनम् । तत समृद्धिफलकामस्य आदित्यचरविधानम्, आदित्यपरि-
चायकमन्त्रोदाहरणम्, तस्य व्याख्यानञ्च । तस्या मित्यौ सामिधेनीप्राञ्च
दश्ये प्राप्ते तस्याप्तदशविधि, तस्या प्रत्नीसयानान्तत्यविधानपूर्वक समिष्ट
यजुर्निधेधश्चेति ।

अथ दीक्षितस्य अभ्यङ्गविधि । अक्षोरप्लवप्रकारादिकम्, दर्भे
पावनम्, प्रसङ्गतो वाग्वादीनां पविषत्वादिवर्णनम्, अङ्गुलीना न्यञ्चकरणम्,
मुष्टीकरणम् वाग्यमनञ्च । ततस्तस्य दीक्षाङ्गत्वं प्राणाप्रवेश, तत्र
तत्सञ्चरप्रकारोपदेश, ततस्तस्य गर्भं इति अपदेशश्चेति* ।

(१ प्र० ४ ब्रा०)

अथ दीक्षाङ्गुतिविधि । दीक्षाङ्गोमस्यास्य थौङ्गमण्यनामकरणम् ।
तद्धोमोपस्य प्रथमस्य मन्त्रस्य व्याख्यानम्, द्वितीयस्य तात्पर्यान्वाख्यानम्,
तृतीयस्य जप्यत्वविधानम्, चतुर्थस्य च व्याख्यानम्, पञ्चमस्य छन्दोद्वारा
प्रशसनञ्च । तत एकाङ्गतिप्रक्षोपन्यास । तत पूर्णाङ्गतिविधानम्, अक्षर-
सङ्ख्याद्वारा मन्त्रप्रशसनश्चेति ।

(१ प्र० ५ ब्रा०)

अथ छण्णाजिनदीक्षाविधि । तत्र छण्णाजिनद्वयान्तरणम्, एक
छण्णाजिनपक्षप्रशसनम्, छण्णाजिनदीक्षार्थं मुपवेशनप्रकारः, तन्मन्त्र
व्याख्यानम्, उदृक्शब्दार्थनिर्णयश्च । तत छण्णाजिनारोहणम्, छण्णाजिन
प्रशसनम्, तत्पश्चाद्भागे एव प्रथमोपवेशनविधानश्चेति ।

* मानुष्येचपरित्यागश्च दीक्षापञ्चारण्य देवदेवीत्यन्तकृष्णता दीक्षितो गर्भं भा ।

अथ मेखनादौक्षाविधि । तदुपादानद्रव्यकथनम्, तस्या मुष्णमिश्रितत्वाख्यानम्, केशवेणोवन्निर्माणम्, प्रसन्नवित्त्वेन माद्वेदेवयत्वम्, अप्रसन्नवित्त्वेन पिष्टदेवयत्वम्, तद्वन्धनमन्त्रस्य विधियाख्याने च ।

अथ वाससाच्छादनविधि । तादृशसस्कृतस्य दौक्षितस्य विष्णु-तुल्यत्वाख्यानश्चेति ।

अथ वस्त्रान्ते कृष्णविषाणबन्धनविधि । तत्र प्रथम कृष्णविषाणो-त्पत्त्याख्यायिका, प्रसङ्गाद् गर्भवर्णनम्, वागवर्णनञ्च । तद्वन्धने ऊर्ध्वमुखत्व-विधानम्, बन्धनप्रकारोपदेश, तन्मन्त्रस्य विधियाख्याने च । तेनैव कृष्ण-विषाणेन कण्डूयनविधानम्, अन्येन कण्डूयननिषेधश्चेति ।

अथ दण्डदौक्षाविधि । तत्र दण्डकाष्ठनिरूपणम्, दण्डप्रमाणम्, दण्डोद्भयम्, तस्य दर्भे प्रावणश्चेति ।

अथ मुष्टीकरणवाग्यमनविधि । गृहीतवचस पुनर्वाग्यवहादे प्राय-श्चित्तम्, वाग्यमनस्य प्रयोजनान्वाख्यानश्चेति ।

अथाध्वर्युकर्तृकदौक्षितावेदनविधि । तत्रावेदनवाक्यगतस्य ब्राह्मण-पदस्य प्रयोजनवर्णनश्चेति ।

(२प्र० १ब्रा०)

अथ वाग्बिसर्जनकालविधानम् । तत्रादौ वाग्यमनविधानार्थाख्या-यिका । वाग्बिमोककालविषये पक्षान्तरुपन्यास, तन्मन्त्रविषये च पक्षान्तरुपन्यास, वाग्बिमोकस्याग्निसुखकर्त्तव्यत्वम्, तन्मन्त्रपदव्याख्यानम्, प्रसङ्गतो वनस्पतेर्यच्चार्यत्वोपपादनश्चेति ।

अथ व्रतश्रवणविधानम् । तत्रात्महोमस्य पुरावृत्ताभिधानेन प्रश-सनम्, दौक्षितस्याप्यमितुल्यत्वाख्यानम्, शरीरस्याग्ना वागादीना मण्यमग-दिदेवरूपत्वकथनञ्च । प्रथमव्रतविषयकपक्षद्वयोपन्यास देवमानुषकालयो-र्विभागश्चेति ।

अथ यज्ञमानकर्तृक मुदकस्पर्शनम्, नाभ्युपस्पर्शनञ्च । दीक्षितस्य मूत्रोत्सर्गे विशेषोपदेशः, तत्र मन्त्रः, तद्वाख्यानम्, गृहीतलोष्टस्य पुनः प्रक्षेपे मन्त्रादिविधानञ्चेति ।

अथ दीक्षितस्य,—स्वापकाले अग्नये परिदानविधिः, स्वापानन्तरं प्रबोधे पुनर्निद्राया अप्राप्तौ मन्त्रजपविधिः, अथर्वस्य क्रोधादेश्यागविधिः, तत्प्रायश्चित्तमन्त्रविधिश्च । तस्यैव यज्ञार्थगवादिघ्नलाभे वाच्यमन्त्रस्य विधानम्, अक्षमयोदयकालयोः प्रतिदिवसं मध्ययुक्तर्तृक दीक्षितस्य सम्प्रेषणम्, दीक्षितस्यानियमितसञ्चारस्वापनिषेधः, प्रसङ्गाद् दीक्षितशब्दनिर्वचनञ्चेति ।

(१३० २ ब्रा०)

अथ प्रायणीयेष्टिविधानम् । तत्राख्यायिका । ततः पञ्चासृत्ति-देवताकस्य, प्रथमयागस्य द्वितीयस्याग्नेयस्य, तृतीयस्य सौम्यस्य, चतुर्थस्य सावित्रस्य, पञ्चमस्यान्तिमस्यादिति देवताकस्य च क्रमेण विधानम् । तत्पञ्च-सङ्ख्याप्रशसा, ऋतुपरिज्ञानहेतुत्वेन पुनः पञ्चसङ्ख्याप्रशसा, दिक्षोद्गतिहेतुत्वेनापि पञ्चसङ्ख्याप्रशसा च । तत्र प्रथमदेवतया उदीच्या दिशः प्रज्ञानोपपादनम्, द्वितीयदेवतया प्राच्या दिशः प्रज्ञानोपपादनम्, तृतीयदेवतया दक्षिणाया दिशः प्रज्ञानोपपादनम्, चतुर्थदेवतया प्रतीच्या दिशः प्रज्ञानोपपादनम्, पञ्चमदेवतयोर्द्धाया दिशः प्रज्ञानोपपादनञ्चेति ।

अथातिथ्याया इष्टे सोमाभ्यरशिरोरूपत्वेन वर्णनम्, प्रायणीयोदयणीयोस्तु वाङ्मयरूपत्वेनेति ।

अथ प्रायणीयेष्टे शयन्तत्वम्, न तु पत्नीसंयान्तत्वमिति निरूपयञ्चेति ।

(१३० ३ ब्रा०)

अथ सोमकयविधानार्थाख्यायिका । ततः सोमकमप्राक्कालिक-सोमस्य विधानम्, तन्मन्त्रविधिः, तद्वाख्यानञ्च । ततो हिरण्यस्यापोद्धार-

विधानम्, तत्प्रशंसनम्, तथा व्यपोद्धारमन्त्रविधिव्याख्याने च । अथान्वारम्भ-
विधानम् । ततः सोमकयण्यवस्थापनम्, तस्या अभिमन्त्रणम्, तदभि-
मन्त्रशवाक्याना तात्पर्यान्वाख्यानम्, ततस्तस्या श्वोदकप्रायश्वविधानश्चेति ।

(२ प्र० ४ ब्रा०)

अथ सोमकयण्या अनुनि क्रमशविधिः । तत्र प्रथमं तन्मन्त्र, तद्व्या-
ख्यानं च । ततो होमाय हिरण्यनिधानप्रशंसा, आज्यप्रशंसा च । ततः
समन्त्रकहोमविधानम्, तन्मन्त्रव्याख्यानञ्च । ततः सोमकयण्योपादस्य परि-
लेखनविधि, तन्मन्त्रञ्च । ततस्तत्सप्तमपदपांसोः स्थात्या समन्त्रकं स्थापनम्,
यजमानाय तत्प्रदानम्, तस्य स्थाण्योपादपांसो यजमानकर्तृकं समन्त्रकं
गृहणम्, अध्वर्योश्च समन्त्रक मात्मोपस्पर्शनम्, ततः पत्न्यै तत्प्रदानम्,
नेष्टृकर्तृकञ्च तत्र मन्त्रवाचनम्, तथा सोमकयण्यौपदशंश्चेति ।

अथ सोमकयण्यास्त्रिविधस्वरूपाभिधानम्, तत्र मुख्यानुकल्पमेदोम-
देश्च, श्वेतास्याः सोमकयण्यौत्वनियेधश्च । ततः अङ्गविकृत्यादिदोषदुष्टायाः
सोमक्रमण्या गोर्वर्जनीयत्वविधानम्, तस्या वागात्मकत्वनिर्णयश्चेति ।

(२ प्र० ५ ब्रा०)

अथाध्वर्यो पात्रे तत्पदपास्तप्रक्षेपविधि, ततो हन्तप्रक्षालनविधा-
नञ्च । अध्वर्योः स्नाहुल्या हिरण्यवन्धनविधिः, सोमोपगृहणाय समीपविधा-
नम्, उथोपवस्त्रविकल्पविधानञ्च । अध्वर्युयजमानयोरन्यतरस्य सोमोप-
गृहणादागकर्तव्यताख्यानम् । प्राचीनवशस्य पुरोदेशे उपरवप्रदेशेऽनुपादे-
याश्रयापनयनम्, निहितोदकुम्भस्य समीपे सोमविक्रयिण्य स्थापनिर्दे-
शश्च । ततः क्रयदेश समागच्छत् ऋत्विग्यजमानेषु अध्वर्योयंजमानवाचनम्,
सोमं प्राप्य प्राङ्मुखोपवेशनम्, ततः सोमाभिभर्शनम्, सोमविघ्नन्वनञ्च ।
आस्तृते वासवि सोमोन्मात्रम्, तन्मन्त्रस्य विधानम्, तस्य च मन्त्रस्य

देवताद्वारा कन्दोद्वारा च प्रशसनञ्च । सोमोन्मानप्रकारप्रदर्शनम्, मान
गतदशसङ्ख्याप्रशसनम्, सोमाद्यप्रसारितस्य वस्त्रस्य पर्यन्तप्रदेशानेक
सङ्घोषोष्णोष्णं यन्त्रिकरणम्, तद्व्यभिचारे समन्तक सुधिरकरणञ्चेति ।

(१ प्र० ६ ब्रा०)

अथ सोमक्रयविधिं तत्प्राग्व्यवहार । तत्र प्रथमं गो कर्त्तव्या
सोमक्रयप्रस्ताव अथैव गोमहत्त्वक्रयणाय प्रासङ्गिक दशविधगोवीर्यं
वाचनञ्च । ततो गो श्रजेन तत्क्रयप्रस्ताव, ततो गोपदा क्रयप्रस्ताव,
ततो गोऽर्द्धेन क्रयप्रस्ताव, ततो गवा क्रयप्रस्ताव पञ्चम, तत्रैव गोवप
प्रश्नञ्च । पश्चनपूर्वक्रयस्य प्रशसा । तत एकहायन्या सोमक्रयण्या सह
देयम् हिरण्यादिषु दशमध्ये मध्ये हिरण्ये दीयमाने यजमानप्राण
मन्त्रदिविधि, ततोऽजादिषु च तथैव ।

अथ सामस्य ग्रहणम्, स्थापनम्, अनुदेशनम्, व्याख्यादनञ्च । अथैव
धिष्ण्याना वर्यनम् । ततोऽभ्यर्चयमानवाचनम् । अथ सोम मादायोत्या-
नम्, शिरसि धृत्वा शकटसमीपे गमनादिकञ्चेति ।

(१ प्र० १ ब्रा०)

शकटमध्ये सोमस्थापणाय समन्तक छण्याजिनास्तरणम्, तत्सृष्टां
अपरमन्त्रवाचनम्, तस्य व्याख्यानञ्च । तत शकटेन सह सामस्य वाससा
बन्धनम्, तत्र मन्त्रविधानम्, तद्व्याख्यानञ्च ।

यदि दोष्ताया द्वे छण्याजिने खीकृत स्याताम्, तयोरेकस्य तत्र
भ्यञ्जरूपेण व्यवहारविधानम्, यद्येकम् तत्छण्याजिनयोवाद्य मेवावहत्य
भ्यञ्जविधि । तत्र मन्त्रस्तत्रप्रशसा च । धिबुकप्रमाणोद्धतफलकपोरन्तरेण
सुमधुरकर्मक मण्डदृश्यप्रेषणम्, सुमधुरस्य तस्याधस्थितिविधानम्,

पलाशशाखया तस्याजनविधिश्च । तयोरनहुहो पर्जन्यवर्षताया प्राशस्या-
भिधानम्, तत समन्वकं तयो श्रकटे योजनम्, तन्मन्त्रव्याख्यानञ्च ।
तत श्रकटस्य पश्चात्पश्चाद् गमनादिकम्, तत्तन्मन्त्रविधिव्याख्याने च ।
तत सुब्रह्मण्याज्ञानम्, तदाज्ञाननिगदव्याख्यानञ्च ।

अथ प्रतिप्रस्थाता अग्नीषोमीय पशु मादाय, शालाया पुरोदेशे
गच्छत सोमस्याभिमुख स्थापयेदिति विधि, तस्य च पशोर्देहव्यादि-
प्रशसनम्, तत्र स्थापने मन्त्रविधानञ्च ।

अथाध्वर्योक्तश्वकटोपलम्भनविधि, तन्मन्त्राख्यानम्, तद्व्याख्यानञ्च ।
ततोऽध्वर्यादोना चतुर्णा ऋत्विजा राजासन्धानयनम्, तदासन्धा ओदुम्ब-
रीत्वनाभिदहत्वविधानम्, मन्त्रेण तदभिमर्शनम्, मन्त्रेणैव तदुपरि क्षया
जिनाक्षरणम्, तत्र समन्वक सोमासादनम्, तस्य मन्त्रपाठपूर्वक शाला-
प्रवेशनम्, तत्समीपे उदपात्रस्थापनश्चेति ।

(३ प्र० २ ब्रा०)

अथातिथ्येष्टिविधि । तत्र प्रथमं सोमस्यातिथिस्वरूपत्वाख्यानम्,
ततोऽतिथिसत्कारव्यवस्थापनञ्च । ततो हविरासादनम्, तत्रावपनादिकम्,
नवकपालपुरोडाश, कार्पायमया परिधय, आश्ववाल प्रस्तर, ऐक्षथो
विष्टतो चेति विधानानि ।

अथान्नामिमश्वनविधि । तत्राधिमश्वनश्वकलनिरूपणम्, दर्भतद्व्य-
कयोर्विधानम्, अधरारणिकधनम्, अरख्योराव्यविलापन्योश्चोर्वश्याद्यात्मक
तया प्रशंसनञ्च । ततो मश्वविधि, अनुप्रहरणविधि, अनुप्रहृतेऽग्नौ
होमविधिश्च । अस्या इत्येतिहान्तत्वविधानम्, अन्नानुयाजनिषेधश्चेति ।

(३ प्र० ३ ब्रा०)

अथ तानून्पुविधि । तत्रार्यायिका, तत्र मन्त्रमानप्रदर्शनादिकञ्च ।
तानून्पुत्रार्थाव्ययह्व्यादिविधानम्, तानून्पुत्र माज्य सर्वे स्युः मपि तत्

यजमानाद्यैव दातव्य मिति निर्णय, यजमानेन क्रियमाणस्य सामोपायस्य देवै छतं सामैव मूल मित्वाख्यानञ्चेति ।

(३प्र० ४ब्रा०)

अथावान्तरदौक्षाख्यप्रायश्चित्तविशेषविधि । तत्र प्रथम माख्यायिकया तस्यावतारणम्, ततोऽवान्तरदौक्षाकल्पनप्रकार, ततस्तद्विधानम् । तत्र समिदाधानम्, तत्र चाख्यानम्, समिदभ्याधानम्, इह्यापि दौक्षा-
ऊतिवत् व्याज्जप्यनन्तर मङ्गुल्यादिसमश्चनस्य कर्त्तव्यतावगमनञ्च ।

अथ मदन्त्युपस्पर्शनपूर्वकराजाप्यायनविधि । तत्र चानुष्ठेयपदार्थक्रम विषये ब्रह्मवादिषोद्योदाहरणम्, आप्यायनप्रश्नसूत्रम्, विशेषतस्तस्य सारघ मधुकल्पनया मतसारत्वपरिहाराद्यात्मना च, प्रश्नसूत्रम्, तदाप्यायन-
मन्त्रव्याख्यानञ्च ।

अथ निज्जवविधि । तत्कालनिर्णय, तन्मन्त्रविधिथ्याख्याने च । ततो-
ऽध्वर्युकर्तृकप्रैषादिविधानञ्चेति ।

(३प्र० ५ब्रा०)

अयोमसदिष्टविधि । तत्र प्रथम तत्कालविधानम्, तत्राख्यायिका च । तत प्रधानपात्रयार्थान्वयग्रहणप्रकारोपदेशादिकम्, उपसदा त्रित्वविधानम्, तत्रप्रश्नसूत्रम्, तन्मन्त्रत्रयविधानञ्च । ततो दादशोपसत्यच्छे कर्त्तव्य-
विधानादिकञ्चेति ॥

(४प्र० १ब्रा०)

अथ वेदिनिर्माणविधि । तत्र स्थाननिरूपणम्, वेद्या थ्योद्विदयप्रमा-
णम्, आप्यायनस्य पश्चाद्भागावधिप्रदर्शनम्, प्राधोनावधिप्रदर्शनम्, अंसदय-

निरूपणम्, पञ्चान्मानप्रशंसनम्, प्रागायामेयतानिर्द्धारणम्, श्राद्धभाग-
स्योरुत्वविधानम्, चंसभागस्य ह्रस्वत्वविधानञ्चेति ।

अथोत्तरवेदिनिर्माणविधिः । तत्रोत्तरवेदिद्याधारणविध्यर्थाख्यायिका,
तद्विधानञ्च । तन्मानादिसाधनद्रव्यविधानम्, तत्प्रसङ्गात् कश्चिन्नियम-
विधिश्च । ततश्चात्वालनिर्माणप्रकारोपदेशः, तत्र खाताया मृदश्चात्वाला-
दुत्तरवेदिं प्रति चतुर्द्वारस्य विधानम्, ततोऽनुव्यञ्जनम्, तन्मन्त्रस्य
तात्पर्याख्यानम्, वेद्या अद्भिरभ्युक्ष्यम्, तत्र सिकताप्रकिरणम्, तथोत्तर-
वेदेर्गच्छिष्यद्वयप्रक्षालना प्रश्नादनविधिञ्चेति ।

(४ प्र० २ ब्रा०)

अथोत्तरवेद्या भूमिप्रणयनप्रयोगविधिः । तत्रेध्वाभ्याधानम्, इध्वाभ-
स्याध उपयमन्मुपयमनादिकम्, प्रोक्षण्यादानम्, निनयनम्, तन्मन्त्रे विशेष-
विधानम्, व्याधारणानि, परिधौना परिधानञ्चेति ।

(४ प्र० ३ ब्रा०)

यज्ञभूमेः पुनराकारत्ववर्णनम् । हविर्ज्ञानप्रवर्तनाभ्यनुज्ञापनाय सावित्र-
होमविधिः, तन्मन्त्राख्यायानञ्च । ततोऽक्षधुरां प्रक्ष्याः समञ्जनम् । तत-
प्रतिप्रस्थातुः उत्तरहविर्ज्ञानस्य दक्षिणवर्त्तन्या हिरण्याधानपूर्वकं चतु-
र्द्वारैताज्यहोमविधानम्, हविर्ज्ञानयोः प्रवर्त्तनकाले मन्त्रवाचनम्, तत्तात्प-
र्यान्वाख्यानञ्च । ततो हविर्ज्ञानयोः स्थापनस्थाननिर्णयः, तत्र स्थापनानन्तरं
तयोः क्रमादभिमन्त्रणे उपसक्तमन्त्रमेष्यमहमश्नुदिर्निधानानि, कृदिर्निधान-
मन्त्रस्याधियज्ञपरयया व्याख्यानञ्च । ततो रराश्रुपस्पर्शनम्, सूचीसम्बद्धया
रज्ज्वा तत्सौवनम्, तत्र यग्यिकरणम्, तदभिमर्शनञ्चेति ।

(४ प्र० ४ ब्रा०)

अथ सोमाभिषवाचोपरवखननविधिः । तत्र प्रथमं तत्खननस्य प्रयो-
जनद्वयाख्यानम्, ततस्तत्खननाय अभ्यादानादिकम्, चतुर्थां खातानां

चत्वारो मन्त्रा, मृदुत्करणम्, खननप्रमाणम्, खातावमर्शनञ्च । ततोऽभ्यर्चयन्मानयोर्मिथो हस्तसम्मर्शनम्, अष्टप्रोक्षणम्, अष्टेषु प्रोक्षणौ-
 शेषावनयनप्रश्नम्, तेषां मवटानां मुपरि बर्हिंराच्छादनञ्च । ततोऽधि-
 षवणफलकयोरुपधानम्, पर्यूहनम्, परिवृत्तम्, परिकर्तनञ्च । तत-
 स्तदुपरि अधिषवणचर्मस्थापनम्, तत्र ग्राह्या निधानञ्चेति ।

(४ प्र० पूजा०)

अथौदुम्बरीविधि । तत्र प्रथमं तस्य सदोमध्ये स्थाननिरूपणम्, ततो
 ऽष्टखननार्थं मभ्यादानम्, अष्टपरिलेखनम्, तत्खननम्, तत्राष्टप्राग्देशे
 औदुम्बरां स्थापनम्, बर्हिभिस्तस्याच्छादनञ्च । तत औदुम्बरीप्रोक्षण-
 साधनानां मया यवसाहित्यविधानम्, ताभिस्तत्प्रोक्षणम्, प्रोक्षणौशेषस्योद-
 कस्य तत्राष्टेऽवनयनम्, तदुपरि बर्हिंरास्तरणञ्च । तत औदुम्बरां उच्छ्र-
 यम्, अष्टमध्ये प्रक्षेपणम्, पर्यूहनम्, पर्यूषणम्, अथा मुपनिनयनञ्च ।
 ततस्तां मभिषद्य यजमानवाचनम्, होमविधानम्, तद्दोममन्त्रव्याख्यानञ्च ।
 ततस्तत्र छदिर्निधानम्, छदिषा नवसङ्ख्यात्वेन प्रश्नश्नञ्चेति ।

अथ सदोनिर्माणादिविधि । तत्र प्रथमं सदस उदगायतत्वविधानम्,
 सदोनिर्माणप्रकारोपदेश, सदस परिश्रपणम्, तन्मन्त्रव्याख्यानम्, तत
 सदसो द्वादशाखादीनां सोवणादिविधानञ्च । ततस्तत्र प्रथमं माघौह्न्य
 स्थाननिरूपणं, व्याघ्रीह्न्यस्तिर्परिहारहेतुत्वेन प्रश्नश्नञ्चेति ।

(५ प्र० १ भा०)

अथ धिष्ण्याविधि । तत्र प्रथमं सोमर्षीकादवाख्यानम्, तददृष्टान्तमुखेन
 सोमयागस्यातिकर्तव्यताप्रतिपादनाय पृथक्स्य ऋणवययुक्ताभिधानम्,
 ततो धिष्ण्यानां सोमरक्षकत्वाभिधानम्, प्रसङ्गात् सोमयागस्य देवमनुष्य-
 पिष्टदारेण सर्वजगत्स्थितिहेतुत्ववर्णनञ्चेति ।

(५ प्र० २ ब्रा०)

अथ वैसर्जनहोमविधिः । तत्र प्रथम मग्नीषोमीयप्रयोगविधानम् । तत्र अग्नीषोमीयान्यष्टदशयोर्यज्ञस्य विधानादिकम् । तत आहवनीये वैसर्जनहोमविधानम्, तन्मन्त्रात्पर्यंकथनम्, पूर्वोक्तेभ्योयमनादीना मति-
देशनम्, प्रैषवैकल्याभिधानम् । ततो यावादीनां सम्भाराणां माग्नीध्रे
समुपस्थापनम्, तदायत्तु मन्त्रवाचनादिकम्, अध्वर्योरिध्माप्रोक्षणादिकम्,
तुरीयवैसर्जनहोमम् ।

अथोत्तरवेदेः पश्चाद्देशे वर्हिषि खुष आसाद्य हविर्जानस्य प्रवेशन-
विधिः । तत्र दक्षिणहविर्जानस्य परिश्रुते मध्यपदेशे छायाजिनस्योपरि
सोमनिधानम्, तदुपस्थानम्, ततो हविर्जानप्रदेशात् निष्क्रमणम् । तत
आहवनीये समिदभ्याधानम्, प्रसङ्गाद् दक्षिणामभोजननामग्रहणपो-
र्वैसर्जनहोमं यावत् निषेधश्चेति ।

(५ प्र० ३ ब्रा०)

अथ यूपनिर्माणविधिः । तत्र प्रथमं यूपं ह्येत्यग्नाहवनीये होम, ततः
कुशतरुणकेन संवेष्ट्या तत्काष्ठस्य छेदनम्, प्रथमच्छिन्नस्य शकलस्य यूपावटे
प्रक्षेपार्थं ग्रहणम् । ततो यूपस्याध पातने प्रागादिदिक्त्रयविकल्पनम्,
प्रत्यवमानस्य तस्यानुमन्तुणम्, तदैवाप्रचनहोमविधिस्तत्प्रसंगः । अत्रैव
यूपमानस्य वज्रविकल्पविधानम्, यूपस्याष्टाश्रितविधानश्चेति ।

(५ प्र० ४ ब्रा०)

अथ यूपस्थापनविधिः । तत्र प्रथमं भवटनिर्माणार्थे मभिस्रवणम्,
यूपशकलस्यावटे स्थापनम्, शकलप्रासनहोमस्य । ततो यूपान्नम्, अवाल-
प्रतिमुञ्चनम्, अग्निरिष्टान्नम्, यूपोऽग्नयणम्, यूपमानम्, तन्मन्त्रस्याधियज्ञ-
परतया आख्यानम्, यूपपर्युहणम्, यूप मन्वारभ्य मन्त्रस्य वाचनम्, तन्म-

नस्य तात्पर्याख्यानञ्च । ततश्चमालोदीक्ष्यम्, तन्मन्त्रतात्पर्यान्वाख्यानञ्च ।
ततो रश्मनापरिचयनम्, तथा यूपशकलावगूहनम्, खरुनामनिर्वचनञ्च ।
ततो लोकत्रयत्रयात्मना यूपस्य प्रशसनम्, यूपपूर्वाङ्गमानादिकथनम्, यूप-
स्याष्टाश्रित्वाभिधानम्, यूपे निगूढस्य खरोरुत्तरत्र प्रतिपत्तिकर्मत्वेन यूप-
प्रतिनिध्यात्मना होमस्याभिधानञ्चेति ।

(५ प्र० ५ ब्रा०)

अथ यूपैकादशिनोविधि । तत्र प्रथमं तदुपोद्घातः, रक्षोनाशकत्वे-
नोपशयप्रशसनम्, उपशयनिधानम्, अग्निसुप्रमुखानां सर्वेषां मेव यूपानां
मेकस्य बोध्ययणं मिति विचारञ्च । ततो एकादशिनोपक्षे यूपोच्छ्रयण-
कमसिद्धान्तादि, प्रसङ्गात् प्राज्ञोक्तपशुप्रयोगविधानञ्चेति ।

(५ प्र० ६ ब्रा०)

अथ पशुपाकरणविधि । तत्र प्रथमं पशुनियोजनाय यूपस्य कर्त्तव्य-
ताख्यापनार्थाख्यायिका । ततोऽग्नीषोमीयपशोर्यूपे नियोगादिविधानम्,
ततः सार्धवादोपाकरणविधानञ्चेति ॥

(६ प्र० १ ब्रा०)

अथ पशुपाशविधि । तत्र प्रथमं पशोर्नैवनाय पाशकरणम्, तन्मन्त्र-
तात्पर्याख्यानञ्च । ततस्तस्यैव पशोर्लोच्यम्, उपोच्यम्, कलाटाङ्गनञ्च ।
ततो जुह्वमभृतो सादनम्, प्रवरायाश्रावणम्, पुनराश्रावणम्, यजमान-
प्रवरनिगदार्थान्वाख्यानञ्चेति ।

(६ प्र० २ ब्रा०)

अथ पशुसज्जपनप्रयोगः । तत्र प्रथमं होतुर्होद्विदने उपवेशन-
विधानम्, प्रयाजविधिः, तदेकादशलविधानादिकञ्च । तत्र आख्यायिकाभ्यां

यूपशकलाभ्या पशोर्नेलाटोस्पर्शनादिविधानम्, पशो पर्यग्रीकरणविधिश्च । तत आघ्रीङ्गप्रतिप्रस्थाचध्वर्युयजमानानां श्रामित्रप्रदेशगमनस्य विधानम्, अध्वर्योस्तृणद्वयग्रहणादिविधि, मैत्रावरुणप्रैषविधि, अध्विगुप्रैषविधानम् । ततो विश्वसनप्रदेशेऽध्वर्युर्कूर्त्तकट्यास्तरणादिविधानम्, सञ्चपनप्रकारविधानश्चेति ।

(६ प्र० ३ ब्रा०)

अथ पत्नीकर्मविधि । तत्र प्रथम सञ्ज्ञते पशौ पत्नीवाचनम्, तन्मन्त्रतात्पर्याख्यानञ्च, तत पशो प्राणमुखनासाचक्षुरादीना पत्न्या प्रक्षालनादिकञ्च ।

अथ यशुवयोत्खेदविधि । तत्र प्रथम वपान्त्रपख्यो कार्क्षर्यमयत्नविधानम्, तस्या परिवासनादिकञ्च । ततो वपायागप्रकारोपदेश, वपायुप्रासनम्, वपायागप्रशसा चेति ।

(६ प्र० ४ ब्रा०)

अथ यशुपुरोडाशविधि । तत्र यशुपुरोडाशस्य देवताविधानम्, वपानन्तर्यप्रशसा च । ततो शमितु यशुविश्वसनम्, शमित्सश्रासनञ्च । अत्राप्ये हृदयाभिधारणम्, अवदानक्रमविधानादिकम्, प्रसङ्गात् मनोतामसनिर्वचनञ्च । ततो वसाहोमविधानम् । ततो वनस्पतिपागविधानम्, खिलकृत्स्नयोगप्रकाराख्यानञ्च । ततो वसाहोमशेषेण दिग्याधारणम्, पशोऽन्मर्शनम्, तन्मन्त्रव्याख्यानश्चेति ।

(६ प्र० ५ ब्रा०)

अथोपयाजविधि । तत्रैकादशप्रयाजा, एकादशानुयाजा, उपयाजाश्चैकादश इति पशोस्त्रीष्यैकादशानीत्यादीनां विधानम्, अथानुयाजार्घ्यपृषदाभ्ययह्नविधानञ्च । विहिताना अनुयाजाना मुपरिष्ठात् पुर-

स्ताघोपयाजप्रशसनम्, उपयाजनामनिर्वचनम्, उपयाजमन्त्राणामन्वाख्या-
नम्, प्रतिमन्त्र प्रतिवधट्कार तद्धोमविधानञ्च । ततोऽन्युपयाजनामकानां
चतुर्णां मुपयाजानां विधानादिकञ्चेति ।

(७प्र० १ ब्रा०)

अथ तदन्युपयाजमन्त्राणां व्याख्यानानि । ततो जाघन्या पश्चा
सयाजविधानम् । ततो हृदयशूलेनावभ्यसमनम्, परिकर्मिणे तद्भृदय-
शूलसमर्पणम्, तन्निगूहणम्, तदभिमन्त्रणम्, विषयविशेषे तच्छूकोपगूहण-
निषेधञ्चेति ।

(७प्र० २ ब्रा०)

अथ पञ्चेकादशिनोविधानाख्यायिका । तत एकादशिनोनां प्रशूनां
क्रमविधानम्, अथ तेनां मुदङ्गयने, निविन्धने, वपाप्रचारे च तत्क्रम-
स्यैवातिदेशविधिञ्चेति ।

(७प्र० ३ ब्रा०)

अथ वसतीवरीयहणविधि । तत्र प्रथम माख्यायिकाख्यानम् । ततो
वसतीवरीयहणार्थं जमनविधानम्, गृहीतानां तासां मया सवननयार्थं
विभजनविधानम्, गृहीतस्थानां च गुणसमर्पणम्, ततो वसतीवरीयहण-
कालनिर्णयादिकम्, तन्मन्त्रविधानम्, तद्व्याख्यानञ्च । ततस्तदासादनम्,
सर्वतः परिहरणस्योत्तरवेदेरपरिहरणस्य च प्रशसनम्, उत्तरश्रोणित-
थादाय आपोद्गमण्डपे तत्सादनम्, एतत्प्रसङ्गाद् वसतीवरीशब्दनिर्वचना-
दिकञ्च । ततो वसतीवरीयहणप्रभृतौनां माघोद्गसादनान्तानां मन्त्रार्थां
सप्तसङ्ख्याकत्वेन शकरोत्पसम्पत्त्या प्रशसनञ्चेति ।

(७प्र० ४ ब्रा०)

अथ सवनीयपञ्चम्यप्रयोगविधि । तत्र प्रथम सोमोषावहरणम्, तन्मार्गनिरूपणम्, तन्मन्त्रविधानम्, तद्वाख्यानञ्च । तत उपावहृतस्य सोमस्योपस्थानञ्चेति ।

अथ प्रातरनुवाकप्रयोगविधि । तत्र प्रथम प्रातरनुवाकस्य सम्यैव-
काकनिरूप्य, प्रातरनुवाकस्य तत्प्रतिगर्विषये मतान्तरोपन्यास, समिदा-
धानञ्च । तत एकघनानयनार्थं होमविधानम्, तद्धोममन्त्र, तद्वाख्यानञ्च ।
ततश्चतुर्था प्रैषाणा विधानम्, तद्वाख्यानञ्च । होत्रादीना मेकघनानयनार्थं
मार्गनिरूपणम्, तद्वाख्यानाख्यानञ्च । तत प्रचरणीयृद्धीतस्याज्यस्यासु
होमविधानम्, तन्मन्त्रविधि, तद्वाख्यानञ्च । ततो हुताया आहुत्या अम-
सारणादिकम् । मैत्रावरुणचमसेनोपनयनम्, तत्र विचारश्च । ततोऽसुम्भर-
णान्तर तेषा मेव होत्रादीना देवयजने पुनरागमनविधानम्, तत
आग्नीङ्गहस्तस्य होष्टचमस मध्युरादाय निग्राभ्यासु आवनार्थं पूर्वद्वुराहुता
वसतीवरीर्गृहीयादिति विधानञ्चेति ।

(७प्र० ५ ब्रा०)

अथ सोमाभिवषप्रयोगविधि । तत्र प्रथम दासमयपलकयोरुपरि
प्रदुपवेशनम्, अथर्वोर्गार्वादानम्, तन्मन्त्रविधानम्, तस्य व्याख्यानञ्च ।
ततो वाग्यमनम्, सोमोन्मानम्, तत्सङ्ख्याविधानम्, सोमाभिमर्शनम्,
निग्राभ्योदकैः सोमसेधनम्, प्रसङ्गात् निग्राभ्यश्चन्दनिर्वचनम्, सोमोम-
सर्जनम्, निग्राभ्यासिञ्चनम्, सोमप्रहरणम्, तन्मन्त्रविधानम्, तस्य व्याखा-
नञ्च । एव चिरभिवषणम्, त्रिसम्भरणम्, त्रिसन्निधीदनम्, मन्त्रजपश्च ।
ततो निग्राभ्योपायनम्, प्रसङ्गाद् यज्ञनामनिर्वचनम्, सोमप्रार्थनारूपो
मन्त्रसवादश्च । अथ निग्राभ्याभ्यो होष्टचमसेन ग्रहाणा ग्रहयोपक्रम-
विधानञ्चेति ।

॥ अथ स्मर्तव्यालोच्यवचनसूची ॥

“अग्निं मयित्वाऽग्नावग्निं बुद्धवाम” ५ ६ ४ ५, ६ ।

“अग्निरु वै यज्ञ” ५ ४ १६

“अग्निरेतस वै हिरण्यम्” २ ४ १ २ ५ २, ७ ५ १ ।

“अग्निरेव देवानां ब्रूत आस, सहस्रं ह्यसुरस्य स मसुराणाम्” ५ १ २१

“अग्निर्ब्रह्माग्निर्व्यंश” २ १ ७

“अग्निर्वा अह, सोमो रात्रि, अथ यदन्तरेण तद् विष्णु, एतद्वै परिश्रव-
मानं सवत्सरं करोति” ५ ५ १५

“अग्निर्वै गायत्री” ७ ५ १०

[२ ६

“अग्निर्वै देवतानां मुखं प्रजगयिता स प्रजापति, स उ एव यजमान” ७

“अग्निर्वै यज्ञ” २ ४ १६

“अग्निर्वै सर्वा देवता” १ २ १

“अग्निर्वै सर्वा देवता अग्नौ हि सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहति” १ २ १६

“अग्निर्हि रक्षसा मम हन्ता” ६ २ ६

“अग्निर्होव ब्रह्म” २ १ ६

“अग्निर्होव यज्ञ” २ १ ६

“अग्ने नय सुपथा राये ०-० इत्यग्निं मेवैतत् पुरस्तात् करोति” ५ २ ११

“अग्नेर्वा एतद् वैश्वानरस्य भक्ष्यं यतः सिकता” ४ १ २६

“अङ्गानि वै विश्वानि धामानि” २ १ १४

“अथ देवा वीणां मिव शृङ्गा वादयन्तो बिभाषन्तो निषेदुरिति वै ते वयं
मास्याम इति त्वा प्रमोदयिष्यामह इति” २ २ ६

“अथ पुनरेत्याहवनीयं मभ्याहृत्यासते । नेदस्य सञ्जप्यमानम्याध्यक्षा
असामेति । तस्य न कूटेन प्राप्नोति मानुषं हि तत् । नो एव
पथात्कथं पिष्टदेव्यं हि तत् । अपि गृह्यं वैव मुखं तमयन्ति,

वेष्क वा कुर्वन्ति तत् । नाहं जहिं मारयेति, मानुषं हि तत्” ६. २. १५.

“अथ यत् पुरा नाश्रन्ति, यथा हविषोऽद्भुतस्य नाश्रीयादेव तत्, तस्माद् दौक्षितस्य नाश्रीयात्” ५. २. २१ [२४.

“अथ यद्दौक्षितोऽवत्यं वा व्याहरति, क्रुध्यति वा तन्निध्याकरोति” २. १.

“अथानवाहावाजन्ति, तौ यदि लघ्व्यौ स्यातामन्यतरो वा लघ्व्यस्तत्र विद्याद् वर्विध्यत्येषम पर्जन्यो दृष्टिमान् भविष्यतीत्येतद् विज्ञानम्” १. १. ११

“अथाभयेनानाद्रेण यन्तु नयन्ति, त वषाश्रपयौभ्या प्रतिप्रस्थातान्धारभते, प्रतिप्रस्थातार मध्वर्यु, अध्वर्यु यजमान । तदाहु, — नैय यजमानेनान्धारभ्यो नृत्यवे छेनं नयन्ति, तस्मान्नान्धारभेतेति । तदन्वारमेत, न वा एत नृत्यवे नयन्ति, यं यज्ञाय नयन्ति” ६. २. १०.

“अथैभ्य सूर्ये दक्षिणा माभयन्, तं प्रत्यगृह्णन्” ४. १. १६

“अयोक्षिखति सुसस्या लघोऽकृधोति” १. ५. ३०

“अध्वर्यु पृच्छति,— यजमान ! किं मचेति, भद्रं मित्याह ; तस्मै सहेत्युपान्नाध्वर्यु । ०—० यजमान पृच्छति,— अध्वर्यो ! किं मचेति, भद्रं मित्याह, तन्न इति यजमान ” ४. ४. १७

“अनिन्द्यस्य हतो नापक्रामेत्” ४. १. १७.

“अनृतं हि वदेगुरेकं ह वै देवा व्रतं चरन्ति सत्यमेव, तस्मादेवा जितमनपजय्यं, तस्माद्यज्ञः । एवं ह वा अस्य जितमनपजय्यमेवं यज्ञो भवति, य एव विद्वान्सत्यं वदति” ३. २. ८.

“अन्तरिक्षं वा अथु रक्षश्चरत्यमूलं सुभयत परिच्छिन्नं, यथाय पुत्रघोऽमूलं उभयत परिच्छिन्नोऽन्तरिक्षं मनुचरति । तद् वातेनैवं सविदानान्तरिक्षाद् गोपायेत्येवैतदाह यदाहोरोरन्तरिक्षात् सजूर्दधेन वातेनेति (वा० सं० ६. ११. २.)” ६. २. १२

“अन्नं वा ऊर्गुदुम्बर.” ३. १. २७.

“अन्नं वै क्षत्रियस्य विट्” २. ५. ८

“अन्नं वै सोम” ७. २. ८, ९.

“अन्नं सोम” ३. १. २८

“अमूलं वा इदं मुभयतः परिक्षिन्नं रक्षोऽन्तरिक्षं मनुचरति, यथाय
पुण्योऽमूलं उभयतः परिक्षिन्नोऽन्तरिक्षं मनुचरति” ६. १. १५.

“अमृतं मायुर्हिरण्यम्” ६. ४. २६.

“अमृता ह्याप” ७. ५. १६.

“अमैथ्यो वै पुरुषो यदमृतं वदति” १. ३. १८.

“अयं (मासू) रक्षोऽद्यमानो न क्षीयते” ६. ४. ३०.

“असि वै प्राक्त इत्याचक्षते” ६. २. ४.

“असुर्या वा एषा वाग् या अक्षे, नेदिहासुर्या वाग् वदात्” ४. ३. १७

“अस्य सर्वस्य ब्राह्मणो मुखम्” ७. २. १४.

“अस्य सलिलस्य पादेऽश्वं श्वेतं स्यादौ सेवते (अस्यार्थ —) वेदिर्वै
सलिलं ०—०, अग्निर्वा अश्वं श्वेतः ०—०, यूपं स्यात् ०—० ।
तस्य बालो न्यवज्जितं मनु वातो धुनोति ०—० । (अस्यार्थ —)
रसना ह्येष सा” ५. १. ४, ५.

“आत्मानं वै त्वानैव दिव्यसौ सोमस्तं देवेभ्य आत्मानं निष्कीर्णोऽवेति”

“आत्मा वै मनो हृदयम्, प्राण एषदाज्यम्” ६. ४. ८. [५. १. ८.

“आधीतयन् धीत्याचक्षते” १. ४. ११, १४

“आपो देत” ७. १. १.

“आपो वै प्राणा” ६. ३. ४.

“आपो वै यज्ञ” ७. १. १.

“आपो वै समुद्र” ६. ५. ११.

“आपो वै समुद्रोऽप्तेवैतदक्षितिं दधाति, तस्मादाप एतावति भोगे
मुग्रमाने न क्षीयन्ते” ७. ४. २०.

“आपो ह वा व्योषधीना रसन्तस्मादोषधयः केवल्य खादिता न धिग्वन्ति,

चोषधय उ हापा रसस्तस्मादापः पीताः केवल्यो न धिन्वन्ति ;
यदेवोभय्य संख्यता भवन्त्यथैव धिन्वन्ति, तर्हि सा सरसा भवन्ति”

४. ५. ७.

“आपो ह वै वृषं जग्नस्तेनैवैतद्वोर्येषामः स्यन्दन्ते” ७. ५. २५.

“आसीनं वा एन मेघ आगच्छति ; स आगत उत्तिष्ठति, तन्मिथ्या-
करोति” २. ६. १३.

“इदं हि यदा वर्षत्यचोषधयो जायन्ते, चोषधौजंश्चापः पीत्वा तत एव
रसः सम्भवति रसाग्नेत, रेतस पशवः ; तद् यत एव सम्भवति,
यतश्च जायते, तत एवैतन्मेध्यं करोति” ६. १. ४.

“इदं ह्याहुस्मिन्तो यजमान इति” ३. ३. १५.

“इन्द्रः सर्वा देवताः” ३. ३. २.

“इन्द्रश्चेष्टा देवा” ३. ३. २

“इन्द्रागच्छ हरिव आगच्छ मेधातिथेर्मध वृषत्पश्वस्य मेने । गौगवस्तन्दि-
महल्यायै जारेति (व० ब्रा० १. १. २.) । तद्यान्येवास्य चरणानि,
तैरेवैन मेतत् प्रमुमोदयिषति” ३. १. १८

“इन्द्रापी हि विश्वे देवा” १. ३. १४.

“इन्द्रियं वीर्यं मिन्द्र” ७. २. १८.

“इन्द्रियं वै वीर्यं मिन्द्र इन्द्रियेणैव तद्वोर्येण” ७. २. १५.

“इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता” ३. ३. १८ ; ५. ४. १० ; ७. ५. ५.

“इमां प्रजा पुनरभ्यावर्षा प्रजायन्ते” ६. ५. १८.

“इयं वा अदितिः — उद्धा ह्येतस्यै दिक्” २. २. १८.

“इयं वै एधिबो पूषा” २. ३. १८.

“इयं वै एधिषाभिर्वैश्वानर” ७. १. ४.

“इयं वै एधिष्यदिति” ७. ४. ४.

“इयं वै एधिष्यदितिः सेयं प्रतिष्ठा” ३. १. १.

“इयं ह्येवादिति” २. २. ६.

“उत्तानेव वै योनिर्गमे विमर्त्ति” १. ५. २६.

“उदीची मेव दिशम् पथ्याया खस्या प्राज्ञानंस्तस्मादन्नोत्तरा हि वाग्
वदति कुरुपञ्चालवा वाग्ध्येषा निदानेनोदीची ह्येतया दिशं प्राज्ञा-
नमुदीची ह्येतस्ये दिक्” २. २. १५.

“उदीची वै मनुष्याणा दिक्” ४. ५. २३.

“उदीची हि मनुष्याणा दिक्” २. ३. २२.

“उर्वशी वा अश्वरा, पुररवा पति, अथ यत् तस्मान्निधुनादजायत
तदापुरेव” ३. २. २२.

“उष्णीष माहरेति” २. ५. ३.

“उष्णीषेण विद्यन्नाति —•—• अथ मध्येऽङ्गुल्याकाशं करोति” २. ५. १६.

“ऋणं ह वै पुरुषो जायमान एव मृत्योरात्मना जायते” ५. १. १६.

“ऋषिणाभ्यनूतम्—‘मनसा सङ्कल्पयति, तदात मपि गच्छति । वातो
देवेष्व आचष्टे, यथा पुरुष ते मन’—इति” ३. ३. ७.

“एवं ह वै देवा त्रतं चरन्ति सत्य मेव, तस्मादेषा जित मनपण्यं, तस्मा-
द्यज्ञ । एवं ह वा अस्य जित मनपण्य मेवं यज्ञो भवति, य एवं
विद्वानसत्यं वदति” ३. ३. ८.

“एको ह्येवायं पवते सोऽय पुरुषेऽन्तः प्रविष्टस्तेषा विहित, प्राण उदागो
व्यान इति” १. ३. २०.

“एतद्वाख्यानं सौपर्णीकादवम्” ५. १. ७.

“एतावान् वै पुरुष” १. ४. २३.

“एते गन्धर्वा सोमरक्षा क्षुरापरिमे धिष्ण्या इमा द्यौषा” ५. १. ६.

“एते वै पवितारो यत् सूर्यस्य रश्मया” १. ३. २२.

“एष वा अनेन्द्रो भवति यद्यजमान” २. ६. १०.

“एष वा इन्द्रो य एष तपति” ३. ३. १५.

“एष वै प्रजनयिता यमुष्कर” ५. ५. ८.

“एष वै सविता य एष तपति —०—० प्रतीचो ह्येतस्य दिक्” २. २. १८.

“कः प्रातरनुवाकस्य प्रतिगर इति, जाग्रद्वैवाध्वर्युंरुपासीत, स यन्निमिषति
य चैवास्य प्रतिगरः; तदु तथा न कुर्याद्, यदि निद्रायादपि कामं
लप्यात्” ७. ४. ११.

“किं तद् यद्ये कियते वेग प्राण सर्वेभ्योऽङ्गेभ्य शिव इति” ६. ५. २.

“क्षत्रं वा इन्द्रः” ७. २. १६, १८.

“क्षत्रं वै सोम” ७. ४. ३.

“क्षत्रं वै सोमो विहन्ता व्योषधय.” २. ५. ८.

[७. ४. ७.]

“क्षत्रिय मायन्त मिमा प्रजा विश्व प्रत्यवरोहन्ति त मधस्तादुपासते”

“गर्भो वा एष भवति यो दीक्षते” २. ६. १२.

“मृहा वै पञ्चै प्रतिष्ठा” २. ४. १०.

“चन्द्रं ते, वस्त्रं ते, क्लागा ते, धेनुस्ते, ‘मिथुनौ ते गावौ, तिष्ठस्ते-
ऽन्याः’ २. ६. ४.

“तं (सोमं) वै दशभिरेव कौण्डिण्यान्नादशभिः” २. ६. १८.

“तत् (त्वाष्ट्रं पशुं) न संस्थापयेत्, पर्यग्नित्व मेवोत्सृजेत्” ५. ५. ८.

“तदाहुः । नोपाकुर्यान्नाभिं मश्रेद्, रश्मिना मेवादायाध्वसोपपदेत्याभिघ्राय
नियुष्मगादिति । तदु तथा न कुर्याद् यथाधर्मं तिरस्त्रया चिकीर्षदेवं
तत् । तस्मादेतदेवानुपरीयातू” ५. ६. ७.

“तदु ह याज्ञवल्क्यं धरकाध्वर्युरनेत्यार्षेणार, — एवं कुर्वन्तं प्रायं वा व्यप

मन्तरगादध्वर्युं प्राण एन ह्यस्यतीति, स ह स्म बाहु व्यन्ववेष्टाह,—
इमौ पक्षितौ बाहु क्खिद ब्राह्मणस्य वधो बभूवेति न तदादि-
वेत” ६. ३. २५.

“तद्विग्नाना ब्राह्मणे व्याख्यायते सौपर्णीकादिव यथा तदास” २. ९. ९.

“तद्वै वयसा भोजिष्ठ बलिष्ठ यच्छेन” ३. १. १५.

“तपसा वै लोकं जयति । तदग्न्यैतत् पर पर एव वरीयस्तपो भवति,
पर-पर श्रेयास्त लोक जयति” ३. ५. २०.

“तपसो ह वा एसा प्रजापते सम्भूता यदजा” २. ६. ८

“तस्मादप्येतर्हि ०—० घोषा ०—० य एव नृत्यति, यो गायति, तस्मिन्ने-
वैता निमिषतमा इव” २. ३. ६

“तस्मादाहु पुण्यलोक ईजान इति” ५. १. १५

“तस्माद् भोऽप्येतर्हि चेधा सहस्र व्याकुर्यादेकैवातिरिच्येत” २. ४. १६.

“तस्य यन्निखात, तेन पिष्टलोक जयति, अथ यदूर्ध्व निखातादा रश्म-
नापै, तेन मनुष्यलोक जयति, अथ यदूर्ध्व रश्मनाया का चमालात्,
तेन देवलोकं जयति; अथ यदूर्ध्व चमालाद् ह्यङ्गुलं वा न्यङ्गुलं वा,
साध्या इति देवास्तेन तेषा लोक जयति” ५. ४. २५.

“तस्य हि न हन्तास्ति न बधो वेनेद सर्व मास्पृत तस्मा विश्वा भुवनानि
सम्पादिति” ३. १. ४. '

“तस्यै गन्धर्वा वेदानेव प्रोचिर इति वै वय विद्येति वय विद्येति” २. ९. ५.

“तस्यैवैतत् प्रायश्चित्तिं कुर्वते, सोऽग्निर्नैव त्वर्च विपस्यङ्गयते” ३. ४. ९, ९

“तिर इव वै गर्भा” ३. १. ६.

“तेजो वा अग्नि” ७. २. १६.

“ते (द्यावापृथिव्यौ) रसवत्या उपजीवनीये इमा प्रजा उप-
जीवन्ति” ४. ५. २९.

“ते विदुरथ वै नो विरत्तस्तमोऽस्यैव रूप मसाम” ३. ४. ८

“तेऽसुरा आनवधसो हेऽनावो हेऽनाव इति वदन्त परावभूवुः” १. ५. २३.

“त्वष्टा वै पशूना मिष्टे” ५. ६. ११.

“त्वष्टा वै सिक्तं रेतो विकरोति” ५. ५. ८.

“दश वा इमे पुरुषे प्राणा ध्यात्वैकादशो यस्मिन्नेते प्राणाः प्रतिसृता एता-
वान् वै पुरुषः” ६. २. ३.

“दिवि हि सोमः” ७. ५. २.

“दौक्षिता राजानं गोपायन्ति, नेम्रोऽपहरानिति” ५. १. १४.

“देवाश्च वा असुराश्चोभये प्राजापत्याः, प्राजापतेः पितुर्दाय मुपेयुर्मन एव
देवा उपायन् वाच मसुराः” १. ५. १८.

“देवो वै सोमः” ७. ५. २.

“देवो वै सोमो दिवि हि सोमः” २. ४. १३.

“दैव्यो ह्याय.” ७. ४. २५.

“दैव्यो वा एता विप्रो यत् पशवः” ५. ६. ६.

“इयं वा इदं न द्वितीय मस्ति सत्यं चैवानृतश्च; सत्य मेव देवा धन्दतं
मनुष्याः” २. ५. २ ; [“सत्यं वै”] ७. ५. १.

“इयं वा इदं सर्पिश्चैव दधि च, इदं वै मिथुनं प्रजननम्, — मिथुन
मेवैतत् प्रजननं क्रियते” ६. ५. ७.

“धेन्वन्हुहयोर्गोऽग्नीयात्” १. २. २१.

“धेन्वन्हुहयोर्गोऽग्नीयात् । तदु होवाच याज्ञवल्क्योऽग्न्यान्वेवाह मः सत्तं चेद्
भवतीति” १. २. २१.

“न त्वदन्यो मध्वद्रस्ति महितेन्द्र त्रवोमि ते वचः (वा० सं० ६. ३७.)”

“न दौक्षितः काष्ठेन वा नखेन वा कण्डूवेत” १. ५. २१. [७. ५. २४.]

“न प्रतीचीनशिराः शयीत” १. १. ७.

“न ब्राह्मणो क्षेप्सेत्” १. ५. २४.

“नवाक्षरा वै गायत्री , अष्टौ तानि यान्यन्वाह, प्रथमो नवम ” २. २ १५

“न वै देवा सर्वस्यैव सवदन्ते” १ १. १०

“न वै देवा स्वपन्ति” २ १ २२.

“न वै यच्च प्रत्यक्ष मिवारभे यथाय दृष्टो वा वासो वा , परोक्ष वै देवा
परोक्ष यच्च” १ ३ २५

“न स्ता ऋतोयेरन् , य यथा परस्तरा मिव भवति, स रजाननुव्यवैति , ते
प्रिय द्विभता कुर्वन्ति, द्विभज्यो रथ्यन्ति, तस्मान्नर्तोयैरन्” ३ ३ ३

“न हस्तिन प्रतिगृह्णीयात्, पुष्यानागो हि हस्तीति” १ ३ ४

“नाभिदग्ना भवति, अथ वा अग्न प्रतितिष्ठति” ३ १ २८

“नाभिदग्ना भवति, अथो एव देतस आश्रय” ३ १. २८

“निवृत्तदक्षिणा न प्रतिगृह्णीयात्” ४ १ २५

“नैव मन्थन चरन्त मभ्यस्त मिधात्, न स्वपन्त मभ्युदिधात्” २ १ २०

“नो हान्ते गोर्नम स्यात्” १. २ १७

“यच्च वा ऋतव सवत्सरस्य” ७ ५ ११

“यविष वा व्याप” १ २ ११

“प्रथमो वै पूषा” ७ २ १०, १२

“प्रथमो वै राप” २ ४ ८

“प्रथमो वै वसु” ५ ६ ११, १३

“पथो प्राणानग्नि यन्मुपसृष्टति, —, तदस्मिन्नेतान् प्राणान् दधाति,
तथैतज्जीव मेव देवावा हविर्भवत्यमृत ममृतागाम्” ६ ३ ४

“पखादरोयसो एयुशोयिरिति वै योषा प्रथमन्ति” ४ १ ११

“पितृदेवस्य सोम — दक्षिणा ह्येतस्य दिक्” २ २ १०

“पुत्रो वै नौर” २ ४ १२

“पुरश्चक्रिरे,— अयस्यो मेवास्मिन्नोके, रजता मन्तरिक्षे, हरिण्यो
रिवि” ३ ५ ३

“पुण्यसन्धितो यज्ञः” १. ४. २३.

“पुण्यो यज्ञः” १. ४. २२.

“प्रजापतिर्यज्ञः” २. १. ४.

“प्रजापतिर्वै ०—० सवसोयानैवेद्वाभवत्” ७. २. १—४.

“प्रजा वा अरो” ७. ५. २१.

“प्राची हि देवाना दिक् ०—० उदीची हि मनुष्याणा दिक्, ०—०,
अथो प्रत्यक्ष दक्षिणायै ०—० यथा वै दिक् पितृणाम्” ५. ३. १२.

“प्राची हि देवाना दिक् ०—० उदीची हि मनुष्याणा दिक् ०—० यथा
(दक्षिणा) दिक् पितृणाम्” १. १. २.

“प्राची हि देवाना दिक् ०—० या दक्षिणा दिक् सा पितृणा ०—० या
प्रतीची सा सर्पाणा ०—० योदीची सा मनुष्याणाम्” १. १. ७.

“प्राची ह्येतस्य (अग्ने) दिक्” २. ३. १६.

“प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ” ४. ५. १६.

“प्राणो वै पशुर्यावज्जैव प्राणेन प्राणिति तावत् पशुरथ यदस्मात् प्राणो-
ऽकामति दार्वेव तर्हि भूतोऽनर्थं श्येते” ६. ४. १५, ६. ५. ५.

“प्राणो वै हृदयम्” ६. ४. १५.

“प्रावृता वै गर्भा अव्वेनैव जरामुखेव” २. ६. १२.

“वज्रो वै यमुज्वाधी” ४. २. ११; ५. १७.

“ब्रह्मचारिण आचार्यं गोपायन्ति, गृहान् पशून् नेत्रोऽपहरा-
निति” ५. १. १५.

“ब्रह्म वै बृहस्पतिर्ब्रह्म यज्ञः” १. ४. १५

“ब्रह्म वै बृहस्पतिः” २. ४. २, ५. ६. १२; ७. २. ११, १४.

“ब्राह्मणोऽन्तश्चामाने द्वितीयं नाम कुर्वीत, शप्नोति ह्येव य एवं विद्वान्
द्वितीयं नाम कुर्यात्” ५. १. १४.

“ब्राह्मणो वैव राजन्यो वा वैश्यो वा ते हि यज्ञिया” १. १. ६.

“मनुष्यान्तु पशव, देवान्तु वयास्योषधयो वनस्पतयः” ५ १ १६

“मनो देवा मनुष्यस्याजानन्ति” ३ ३ ६

“महास्तेव गोर्महिमेत्यध्वर्युं गोर्वै प्रतिधुक्, तस्यै श्रुत, तस्यै शरस, तस्यै दधि, तस्यै मस्तु, तस्या घातघ्न, तस्यै नवनीत, तस्यै घृत, तस्या आमिच्छा, तस्यै वाजिनम् ०—० एतान्येव दश वीर्याणि” २ ६ २, ३ २ ५ १, ३

“मदितो वै सोमो देवो हि सोम” २ ६ ४

“निध्या वा व्याधा” १ १ १०

“य सर्वासा मोषधीना रस आसीत स यवेष्वदधु तस्माद् यजान्ता षोषधयो ह्यायन्ति, तदेत मोदमाना वर्जन्ते” ४ ५ १०

‘य इमे श्रोत्रेणैवात्वार कूपा इमावय द्वा विमौ दौ’ ४ ४ १

“यजमानो वा अग्निष्ठा” ५ ४ १६

‘यज्ञो वै विष्णु’ ५ ३ २, ६

“यज्ञो वै विष्णु । स देवभ्य इमा विक्रान्ति विचक्रमे येषा भिय विक्रान्ति रिद मेव प्रथमेन पदेन पस्पाराधेद मन्तरिच द्वितीयेन दिव मुक्त मेन” ५ २ ३

‘यज्ञो हि शष्वा, स य स यज्ञस्तत कृष्णाजिनम्” १ ५ २०

“यज्ञो हि विष्णु” ५ २ १६

‘यत् ते सोम दिवि न्योतियत् सधिया यदुरावन्तरिचो ०—० स एता स्त्रिषस्तनूरेषु लोकेषु विन्यधत्” ७ ५ १२

‘यत् नैककुद भवति यच्छुष्येवैतश्चतुर्दधाति” १ ३ १२

‘यत् वा अर्हन्त आगत नापघायन्ति कुप्यति वै स तप्त तथा द्वापघिता भवति” ३ २ ३

“यथा रात्र आगतायोदक माहरेदेव मेतदिति” ३ १ ३१

“यथा रात्रे वा ब्राह्मणाय वा महौघ वा महाज वा पचेत्, तदह मानुष हवि” ३ २ २

“यथा राज्ञोऽराज्ञानो राजकृतं सूतग्रामण्य, एव मस्य कृन्दास्यभित
साधयानि” ३. २. ७.

“यथा वा अङ्गारोऽग्निना श्वात स्यात्” ७. ४. २६.

“यदग्नौ जुहोति, तद्देवेषु जुहोति, तस्माद् देवा सन्ति । यत् सदसि
भक्षयन्ति, तन्मनुष्येषु जुहोति, तस्मान्मनुष्या सन्ति । अथ यद्भवि-
र्ज्ञानयोर्नारायणः सीदन्ति, तत् पित्र्य जुहोति ; तस्माद् पितरः
सन्ति” ५. १. २५

“यदा वै स्त्रियै च पुंसश्च सन्तप्यतेऽथ रेतः सिध्यते, तत् ततः प्रजायते,
परागुपानक्ति पराग्येव रेतः सिध्यते” ४. ३. १६.

“यदि दीक्षितं मार्त्तिर्विन्देद् येनैवात कामवेत तेन भिषज्येद् यथाव्रतेन
भिषज्येदिति” २. १. १५.

“यद् गायत्री ष्येनो भूत्वा दिवः सोम माहरत्, तेन सा ष्येन
सोमभृत्” ७. ५. १०.

“यद्दीदं किञ्चान्नन्यद् एवेदं सर्वं प्रतितिष्ठति” ४. ५. १.

“यद्वै प्रतिलुप्तं तच्छिष्यम्” १. ४. ५.

“यद्वै शुक्लं यज्ञस्य, तदाग्नेयम्, — यदा चार्धं यज्ञस्य, तत्
सौम्यम्” २. २. ८, १०.

“या प्रोक्षणा परिशिष्यन्ते ता अयटे अवनयति,—‘शुन्यन्तां लोकां पित्र-
यदना इति ; पित्रदेवतो वै क्रूय खात” ५. ४. ६.

“या ते धामान्युशसि गमद्वा — इत्येतया त्रिष्टुभा मिमोति” ५. ४. १५.

“यावती वै वेदिस्तावती एषिवी” ५. ५. १.

“यावद्देव प्राग्येन प्राणिति, तावत् पशु, अथ यदास्मात् प्राग्योऽपक्रामति,
दर्वेव तर्हि भूतोऽनर्था येते” ६. ५. ५.

“यद्य एव पशु माणभन्ते, नर्त्ते यूपात् कदाचन” ५. ६. २ ।

“ये वै ब्राह्मणाः शुश्रूवासोऽनुचानास्ते विधा” ४. ३. १२.

“यो दीक्षते तस्य हिरिषान् इवात्मा भवति” ६. २. २.

“यो दीक्षते, स विष्णुश्च यजमानश्च” १. ५. १७.

“यो दीक्षते स देवाना मेको भवति १. १. ८, १०, २. १. १६, २९.

“यो न्वेवेम मानुषं ब्राह्मणं हन्ति स न्वेव परिचक्षते” ७. ५. १७.

“यो ब्रह्मणो यो यज्ञाज्जायते तस्मादपि राजन्म वा वैश्वं वा ब्राह्मण
इत्येव ब्रूयात् ब्रह्मणो हि जायते यो यज्ञाज्जायते । तस्मादाजर्ण
सवनकृतं हन्यादेनस्यौ ह्येव सवनकृतेति” १. ५. ४०.

“यो वै गर्भस्य काष्ठेन वा गलेन वा कण्डूयेदपास्यन् भ्रियेत्” १. ५. ३९

“यो वै ज्ञातोऽनूचान स समृद्ध” ७. ५. २६

“यो वै विष्णु सोमः स” १. १. २१, ५. २. १६.

“योषा दिष्ट” ७. ५. २१.

“योषापै वा इमा प्रजा प्रजायन्ते” ७. ५. २५.

“योषा वा अन्ना” ७. ५. २१.

“योषा वा ऋक्” ७. ५. २५

“योषा वा ऋग्वेदा” ७. ५. २५.

“योषित्वा मा वै ग्रन्थर्वा” ७. ४. २०.

“रक्षसा ह्येष भागो यदहक” ६. ३. १४.

“रश्मयो ह्यस्य विष्टे देवा” ७. ३. ६, १२.

“रसो वै वसा — रसोऽद्यमानो न क्षीयते” ६. ४. ३०.

“रसो वै वसाहोम” ६. ४. ३५.

“रेत सोम” २. ५. १, ३. १. २८, ३. ४. ११.

“रेतो वै सोम” ७. १. २.

“रेवन्तो हि पश्य” ५. ६. १३

“लस्यून्या स्पन्दया प्रसीव्यति” ४. २. २५.

“नेजयेव हि य — व्यभिर्ह्येतच्छ्रयति” ६. ४. ३०.

“वधो वा आन्यम्” २. ४. ३; २. ५. १; ३. ५. ६; ४. ३. १५.

“वधो वा आन्यम् रेत सोमो नेद् वक्ष्याज्येन रेतः सोमं हिनसा-
नीति” ५. २. १०; ७. ४. २६.

“वधो हि वा आपः” १. २. ६.

“वनस्पतयो हि यज्ञियाः; न हि मनुष्या यजेरन् यद् वनस्पतयो
न स्युः” २. १. १०.

“वनेषु अन्तरिक्षं ततानेति । वनेषु = वृक्षाद्येषु, वीथं वै वाजाः, पुमांसो-
ऽवन्तः, हस्तु ह्ययं क्रतुर्मगोजवः, विष्णु = प्रजापति, दिवि ह्यसौ सूर्यो
द्विता, गिरिषु हि सोमः” ३. १. ७.

“वहण्या वा एषा यद्वज्रः” २. ३. १८; ६. १. १.

“वागेव सुपर्णौ, इयं कद्रूः” ५. १. २.

“वागेवाग्निः, प्राणोदानौ मित्रावरुणौ, चक्षुरादित्यः, ओत्रं विश्वे
देवाः” २. १. १३.

“वाग्निं यज्ञः” ४. १. २३.

“वाग् वै पथा सतिः ०—० उदोची द्योतस्यै दिक्” १. २. ८, १५.

“वाग् वै देवतौ, सा यद् वाग् बह्व वदति तेन वागेवतौ” ६. २. १२.

“वाग् वै सरस्वती” ७. २. ७, ८.

“वाचे हि धीक्षते, यज्ञाय हि धीक्षते, यज्ञो हि वाग्, धीक्षितो ह वै
नामैतद् यद् दधीक्षत इति” २. १. ३०.

“विद्वांसो हि देवाः” ५. ६. १०.

“विश्वो यावाणः” ७. ४. ३.

“विश्वो विश्वे देवाः” ७. २. १६, १८.

“विश्वो वै महतो भूमो वै विट्” ७. २. १७.

“विष्णुः पराङ्मः” १. ३. १.

“वृत्रो वै सोम आसीत्, तस्यैतच्छरीरं यद् गिरयो यदग्रान्तच्छरीरे-
त्येवैन मेतत् समर्ह्यति हस्त्यं करोति” ७. ५. ७.

“हृत्तो वै सोम आसीत्, तस्यैतच्छरीरं यद् गिरयो यदश्मान स्तदेधो-
 ऽश्नानामौषधिर्जायत इति ह स्माह श्वेतकेतुरौदात्तिक” ३. ४. १३
 “वृद्धं वै तद् यज्ञस्य यन्मातुषम्” ३. १. ३१.

“शरीरं हेवास्य (अग्ने) पीतुदात्त ०—० मासं हेवास्य गुग्गुलु ०—०
 गन्धो हेवास्य सुगन्धितेजनम्” ४. २. १८.

“श्रीर्ष्वा वीजं हरन्ति, अग्नसोदावहन्ति” २. ६. १७.

“श्वेताक्षा आशा नेधात्, सा स्यादप्रवीता ०—० अवष्टाकूटाशायाकर्णा-
 लक्षितासप्तशपा” २. ४. १५.

“सर्वत्सरो वै प्रजापति” २. १. ४.

“स इन्द्र एव गर्भो भूवैतन्मिथुनं प्रविषेत्” १. ५. २६.

“स एव श्रीर्वन् भन्तिष्कोऽनूक्यश्च मज्जा तस्मात् स वान्त इव त्वष्टा ह्येत
 मभ्यवमत् तस्मात् तं नाग्रीयात् त्वष्टुर्ह्येतदभिवान्तम्” ६. ४. ११.

“सत्यं वै शुक्रम्” ७. ४. २५.

“समानजन्म वै प्रयश्च (आश्वश्च) हिरण्यश्च, उभय ह्यग्निदेत-
 सम्” २. १. ८.

“सत्यन्वान्ताविव ह्रीमौ लोकौ” १. ५. २.

“स यानुपक्षिरन्ति, तेनास्मिन्नलोके प्रत्यक्षं भवन्ति, अथ याननुदिशन्ति
 तेनामुष्मिन्नलोके प्रत्यक्षं भवन्ति” ५. १. २३.

“सर्वे वै विश्वे देवा.” ७. २. १३.

“सर्वा हि वै देवता यशु मातृभ्यमान भुपसङ्गच्छन्ते मम नाम यदोष्यति
 मम नाम यदोष्यतीति, सर्वासा हि देवतानां हवि यशु-
 स्तासा सर्वासा देवताना यशौ मनाम्योतानि भवन्ति तान्येदेतत्
 प्रीणाति” ६. ४. १४.

“सर्वे हि वा एते सप्तसोऽपक्रामन्ति प्राक् एव न” २. १. २३.

“सविता वै देवानां प्रसविता” २. ५. १०; ४. २. १०; ७. २. २०;

४. १४; ५. २.

“स हिरण्यं पदे निधाय जुहोति; न वा अग्न्यावाहुतिर्ह्वयेते; अग्निरेतसं

वै हिरण्यम्, तथो ह्यस्यैवाग्निमग्न्येवाहुतिर्ज्ज्वा भवति” २. ४. २.

“सा यत् त्रिः संवत्सरस्य विजायते, तेन प्रजापतेर्वर्णः” २. ६. ८.

“सुवासा एव बुभूषेत्” १. २. १६.

“स्योन स्योन मिति, शिवः शिव मित्येवैतदाह” २. ६. १०.

“स्नान आजाह्वारे बम्भारे हस्त सुहस्त ह्यष्टागवेते वः सोमकपयाः ०—०

एतानि वै धिष्ण्यानां नामानि” २. ६. ११.

“हविर्वा एष देवानां भवति यो दोक्षते; तदेन मन्तर्जम्भ आदधाते,
तत्पशुनात्मानं निष्क्रीणीते” २. १. २१.

॥ अथ कर्मसूची ॥

| कर्मनाम | प्र० पा० व० | कर्मनाम | प्र० पा० व० |
|-------------------|-------------|-----------------------|-------------|
| अग्निप्रणयनम् ... | ४. २. १. | आग्नावैष्णवेष्टिः ... | १. १. १. |
| अग्निमन्थनम् ... | २. २. १६. | आज्ययज्ञम् ... | ५. २. ६. |
| अग्निलोमः ... | १. १. १. | आतिथ्येष्टिः ... | २. २. १. |
| अनुपयाजयागः ... | ७. १. १. | आश्विनहोमः ... | ५. २. १५. |
| अधियवयम् ... | ४. ४. १. | आसन्दोकरयम् ... | २. १. २६. |
| अनुनिःक्रमयम् ... | २. २. १. | | |
| अनुयाजयागः ... | ६. ५. ८. | उत्तरवेदियाचारयम् | ॥ १. २२. |
| अपाम्मययनम् ... | १. २. १. | उपयाजयागः ... | ६. ५. ११. |
| अवान्तरदोष्टा ... | २. ४. १. | उपसर्दिष्टिः ... | २. ५. १. |

| कर्मानाम | प्र० प्रा० क० | कर्मानाम | प्र० प्रा० क० |
|-----------------------|---------------|---------------------|---------------|
| औदुम्बरीनिधानम् | ४. ५. १. | प्रयाजयागा ... | ६. २. १. |
| औदयभयहोम . | १. ४. १. | प्रवराभ्रावणम् ... | ६. १. ५. |
| ह्य्याजिनदौक्षादीनि | १. ५. १. | प्रातरनुवाक ... | ७. ४. ७. |
| तानूगपूजम् | ३. ३. १. | प्रायश्चीयेष्टि ... | २. २. १. |
| दौक्षाकृकर्मणि ... | १. २. १. | यूपनिधानम् ... | ५. ४. १. |
| दौक्षिताप्यजनम् .. | १. ३. १०. | यूपप्रखनम् ... | ५. ३. १. |
| दौक्षिताभ्यजनम् . | १. ३. ७. | यूपैकादशिनोकरणम् | ५. ५. १. |
| दौक्षितावेदनम् ... | १. ५. ३६. | राजाप्यायनम् ... | ३. ४. ११. |
| धिष्ण्यानिर्माणम् ... | ५. १. १. | वपायाग ... | ६. ३. १६. |
| निग्राभ्योपायनम् | ७. ५. २०. | वसतीवरीयश्चयम् ... | ७. ३. १. |
| निहवनम् ... | ३. ४. १६. | वसाहोम ... | ६. ४. ३०. |
| पत्नीपान्नेजनम् ... | ६. ३. १. | वाग्यमनम् ... | १. ३. २७. |
| पत्नीसंयाज .. | ५. १. ६. | वाग्विसर्जनम् ... | २. १. १. |
| पशुपुरोडाशप्रयणम् | ६. ४. १. | व्रतदावम् ... | २. १. १६. |
| पशुसंख्यपनम् ... | ६. २. १५. | व्रतप्रयणम् ... | २. २. १०. |
| पशुपाकरणम् .. | ६. १. १. | वेदिनिर्माणम् ... | ४. १. १. |
| पशुपालभवनम् ... | ५. ६. १. | वैसर्जनहोम ... | ५. २. २. |
| पश्वैकादशिनोकरणम् | ७. २. १. | शालानिर्माणम् ... | १. १. १. |
| एषदाश्वयज्यम् ... | ६. ५. ७. | शालाप्रवेशः ... | १. १. ११. |
| | | सद परिश्रयणम् ... | ३. ५. २४. |

| कर्मनाम | प्र० प्रा० क० | कर्मनाम | प्र० प्रा० क० |
|-----------------------|---------------|----------------------------|---------------|
| सदोनिर्माणम् ... | ४. २. १. | सोमाभिषव | ७. ५. १. |
| सवनोपपशुकर्म्म ... | ७. ४. १. | सोमासादनम् ... | २. १. २०. |
| सामिधेनोप्रयोग ... | १. ३. ६. | सोमोन्मानम् .. | २. ५. १. |
| सुव्रक्षणाद्यानम् ... | ३. १. १७. | सोमोपनहनम् ... | २. ५. १८. |
| सोमकयणम्... | २. ६. १०. | | |
| सोमजघन्यवस्थापनम् | १. ३. १. | हविर्ज्ञाननिर्माणम् | ४. ३. ७. |
| सोमनिधानम् ... | ४. २. १८. | हविर्ज्ञानप्रवर्त्तनम् ... | ४. ४. १०. |
| सोमपयणम्... | २. ६. १. | हविर्ज्ञानप्रवेशनम्... | ५. २. १७. |
| सोमपर्यायहनम् | ३. १. ७. | | |

॥ अथर्पिनामादिस्तूची ॥

| नाम | प्र० प्रा० क० | नाम | प्र० प्रा० क० |
|--------------------|-------------------------------|-------------------------|--------------------|
| अक्षिरवः | १. ५. १०, १४ ; ४. १. १३ इ० | कङ्कू ... | २. ३. १ ; ५. १. २. |
| अक्षराः (उर्वशी) | ३. २. २२. | कुवप्रक्षालना | .. २. २. १५. |
| अहल्या .. | ३. १. १८. | कौशिक (ब्राह्मण) | ३. १. १६. |
| आदित्या ... | ४. १. १३ इ० | गन्धर्वः (विश्वावसुः) | २. ३. २. |
| उर्वशी (अक्षरा) | ३. २. २२. | गन्धर्वाः (सोमरक्षा) | ५. ४. ६. |
| अपय | १. ४. ४, २१ ३, १२, २६. इ० | गौतम .. | ३. १. १६. |
| | | गौरावस्तन्दी... | ३. १. १८. |
| | | परकाध्वयं | .. ६. ३. २४. |
| | | निककुद (गिरि) ... | १. ३. १२. |

| नाम | प्र० प्रा० क० | नाम | प्र० प्रा० क० |
|--|---------------|---------------------------|---------------|
| पुरुषरवा (पति) | ३. २. २२. | वाङ्मयं. | १. १. ४. |
| ब्राह्मण १. १. १०, १. ५. ४०. ६० | | विश्वावसु (गन्धर्व) | २. ३. २. |
| ब्राह्मणाः (विश्वगोत्रा) ४. ३. ५. ६० | | हृषणश्च ... | ४. १. १८. |
| मेधातिथि | २. १. १८. | वैश्य १. १. १०, १. ५. ४०. | |
| क्षेत्र | १. ५. २४. | शूद्र | १. १. १०. |
| याज्ञवल्क्य | १. १. ४. ६० | समुद्र | ६. ५. ११. |
| रक्ष' | ६. २. १५. | सात्ययज्ञ | १. १. ४. |
| राजन्व १. १. १०, १. ५. ४०. | | सुपर्णा २. ३. १, ५. १. २. | |
| | | सोमरक्षा (गन्धर्वाः) | ५. १. ६. |

॥ अथ सर्वसूची ॥

| अथ | प्र० | अथ | प्र० |
|----------------------|------|-----------------------------|------|
| अथ सम्पादकोक्ति ... | अ, आ | अथ कण्डिकासूची ... | १ |
| अथ मूलशुद्धिपत्रम् . | क, ख | अथ विषयसूची ... | २६ |
| अथ प्रपाठसूची ... | १ | अथ स्मर्त्तव्यालोप्यवचनसूची | ३८ |
| अपाधायसूची ... | १ | अथ कर्मसूची ... | ५३ |
| अथ ब्राह्मणसूची ... | २ | अथ विविङ्गामादिसूची ... | ५५ |

शतपथब्राह्मणम् ।

अथ

तृतीयकाण्डम् ।

॥ अथ प्रथमः प्रपाठकः ॥

। प्रथम ब्राह्मणम् ।

॥ अपि वा प्रथमाध्याये प्रथम ब्राह्मणम् ॥



॥ हरिः ॐ ॥

देवयुजनं जोषयन्ते । स युदेव व्वर्धिष्ठः स्यात्
तुज्जोषयेरन्यदन्यद्भुमेर्नाभिश्यीता*तो वै देवा दिव
सुपोदक्रामन् देवान् वा ऽएषु ऽउपोत्क्रामति यो दूक्षते
स सुदेवे देवयुजने यजते स युद्धान्यद्भुमेरभिश्यीता†वर-
तर ऽइव हेष्टा स्यात् तुस्माद्युदेव व्वर्धिष्ठः स्यात् तुज्जो-
षयेरन् ॥ १ ॥

तद्वर्षं सुत् समुः स्यात् । समः सद्विभ्रश्शि स्यादु-

*, † 'तिश्यीता'—इति सा०-सम्मत इति डा०-वेबर ।

विभ्रंशि सत् प्राक्प्रवणः स्यात् प्राची हि देवानां
दिग्गुथो ऽऽदक्प्रवण मुदीची हि मनुष्याणां दिग्दक्षि-
णतुः प्रत्युच्छित मिव स्यादेपा वै दिक् पितृणाः स
युद्दक्षिणाप्रवणः स्यात् क्षिप्रे ह युजमानोऽमुं लोक
मियात्तुथो ह युजमानो ज्योग् जीवति तस्मादक्षिणतुः
प्रत्युच्छित मिव स्यात् ॥ २ ॥

न पुरस्ताद्देवयजनमाच मुतिरिच्येत । द्विपुन्तः हास्य
तद् भ्रातृव्य मभ्युतिरिच्यते कामः ह दक्षिणतः स्यादेव
मुत्तरतु ऽएतद् त्वेव सुमृद्धं देवयजनं यस्य देवयजन-
माचुं पश्चात् परिशिष्यते क्षिप्रे ह वै न मुत्तरा देव-
यज्योपनमतीति नु देवयजनस्य ॥ ३ ॥

तदु होवाच याज्ञवल्क्यः । व्याण्युय* देवयजनं
जोपयितु मैम तत्सात्ययज्ञोऽब्रवीत्सर्वा वा ऽइयं पृथिवी
देवा देवयजनं युच वा ऽअस्यै क च युजुपैव परिगृह्य
याजयेदिति ॥ ४ ॥

अत्विजो ह वै देवयजनम् । ये ब्राह्मणाः शुश्रुवाः सो-
ऽनूचाना व्विद्वाः सो याजुयन्ति सैवाह्नलैतन्नेदिष्टतमा
मिध मन्यामह ऽहुति ॥ ५ ॥

* 'व्याण्युय'-इति ग ।

† 'याजुयेदिति'-इति ग ।

‡ 'नेदिष्टतमा'-इति ग ।

तच्छालां* वा विमितं वा प्राचीनवःशं मन्वन्ति ।
प्राची हि देवानां दिक् पुरस्ताद्दे देवाः प्रत्युच्चो मनु-
ष्यानुपावृत्तास्तस्मात्तेभ्यः प्राङ् तिष्ठन् जुहोति ॥ ६ ॥

तस्माद् नु प्रतीचीनशिराः शयीत । नेदेवानभि-
प्रसार्य शुया ऽहुति या दक्षिणा दिक् सा पितॄणां या
प्रतीची सा सर्पाणां युतो देवा उच्चक्रमुः सैपाहीना
योदीची दिक् सा मनुष्याणां तस्मान् मानुषु ऽदौची-
नवःशा मेव शालां वा विमितं वा मन्वन्त्युदीची
हि मनुष्याणां दिग्दक्षितुस्यैव प्राचीनवःशा नादीक्षि-
तस्य ॥ ७ ॥

तां वा ऽएतां पुरिश्रयन्ति । नेदभिवुर्पादिति न्वेव
वर्षा देवान् वा ऽएषु उपावर्त्तते यो दीक्षते सु देव-
ताना मेको भवति तिरु ऽइव वै देवा मनुष्येभ्यस्तिरु
ऽइवैतद्यत् पुरिश्रितं तस्मात् पुरिश्रयन्ति ॥ ८ ॥

तन्न सुर्वं ऽइवाभिप्रपद्येत । ब्राह्मणो वैव राजन्यो
वा वैश्यो वा ते हि यज्ञियाः ॥ ९ ॥

स वै न सुर्वेणैव संवदेत । देवान् वा ऽएषु उपावर्त्तते
यो दीक्षते सु देवताना मेको भवति न वै देवाः सुर्वे-
णैव संवदन्ते ब्राह्मणेन वैव राजन्येन वा वैश्येन वा ते

हि यज्ञियास्तुस्माद्युधेनः श्वद्रेण संवादो विन्देदेतेषा
मेवैकं ब्रूयादिम मिति विचक्षेम मिति विचक्षेत्येषु
उ तत्र दौक्षितुस्योपचारः* ॥ १० ॥

अथारुणी पाणौ कृत्वा† । शाला मध्यवस्यति सु
पूर्वाङ्घ्र्यः स्थणाराजु ममिपुद्यैतद्यजुराहेदु मगन्म देव-
यजनं पृथिव्या युच देवासो ऽञ्जुपन्त विवृश्व ऽहुति
तदस्य विवृश्व देवैर्जुष्टं भवति ये चेमे ब्राह्मणाः शुश्रु-
वाऽसोऽनूचाना यदुहास्य तेऽक्षिभ्या मौक्षन्ते ब्राह्मणाः
शुश्रुवाऽस्तदुहास्य तैर्जुष्टं भवति ॥ ११ ॥

यद्वाह । युच देवासो ऽञ्जुपन्त विवृश्व ऽहुति तदस्य
विवृश्वैर्देवैर्जुष्टं भवत्यृक्क्षामाभ्याः सन्तुरन्तो युजुर्भि-
रित्यृक्क्षामाभ्यां वै युजुर्भिर्यज्ञस्योदुचं गुच्छन्ति यज्ञस्यो-
दुचं गच्छान्त्येवैतुदाह रायस्योपेण सुमिया मदे-
मेति भूमा वै रायस्योपः श्रीर्वै भूमाशिष मेवैतदु-
शास्ते सुमिया मदेमेतीयं मदतीति वै तु माहुर्यः
श्रिय मश्नुते युः परमुतां गुच्छति तुस्मादाह सुमिया
मदेमेति ॥ १२ ॥ १ ॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् [१.१.] ॥

* 'चार -इति क, 'चारः -इति ग ।

† 'कृत्वा -इति ग ।

शालानिर्माणप्रभृति दीक्षाङ्गतिपर्यन्तं प्रतिपाद्यते । तत्रादौ शाला-
निर्माणार्थं देवयजनपरिग्रहं विधत्ते— “देवयजन जोषयन्त इति ।
देवा इज्यन्तेऽष्टा अत्रेति ‘देवयजनम्’ । अधिकरणे ल्युट् ।
प्राचीनवश्रसदोहविद्धानादिनिर्माणपर्याप्तं देवयजन स्यानम् । तत्
‘जोषयन्ते’ सेवन्ते । स्वार्थिको णिच् । परिगृहीयुर्यजमानपुरुषाः ।
तस्य विशेष माह— “स यदेव वर्षिष्ठ स्यात् तज्जोषयेरन्निति । ‘स.’
इति प्रसिद्धौ, यच्छब्दविशेषण मेतत् । प्रसिद्ध ‘यद्’ देवयजनम्,
‘तत्’ ‘वर्षिष्ठम्’ अतिशयेन वृद्धम्, उच्छ्रितम्, जोषयितव्यमित्यर्थः ।
वर्षिष्ठ मित्येतत् स्पष्टयति— “यदन्यदित्यादिना । यद्यस्या उपरि
गृहीतायाः ‘भूमे’ ‘अन्यत्’ परिमरस्वस्र (‘नाभिग्रथीत’) नाति-
ग्रथीत, अतिश्रयित मुच्छ्रित न च तद् वर्षिष्ठमित्यर्थः । उक्तञ्चणं
देवयजनं प्रशंसति— “अतो वा इति । ‘अतः’ अस्मात्, यदित्युक्त-
लक्षणात् ‘देवाः’ ‘दिवम्’ ‘उपोत्कामन्’ उत्कामानाः, प्राप्ताः ।
उत्कामन्तु नाम, ततः किमु ? इत्यत आह— “दिवाप्त्वा इति ।
यस्मात् ‘एष’ दीक्षितोऽपि ‘देवान्’ उपोत्कामति, तस्माद् यादृगेन

१— पा० सू० २. ३ ११३ ।

२— ‘देवयजनस्य नम्’-इति च । “देवयजनं वै वरं पृथिव्यै”-इत्यादि
ऐ० ब्रा० १. ३ २ । “प्राचीन माहवनीयात् प्रवक्ष्यं स्यात् प्रतीचीन माह-
वत्यादेतद्वै व्याकृतं देवयजनम्”-इति तै० सं० ६. २. ६. २५ ।

३— ‘शुभं परितर्क्ये’-इति घुरादि (१८३५ घा०), ‘परितर्क्य मघो
हिंसा वा’-इति तत्र द्योतितं । प्रीतिसेवनयोस्तु तुदादित्यात् शुभत इत्येव ।

४— ‘यद्यप्य’-इति च ।

५— ‘मुच्छ्रितं न म्यात्’-इत्येव च ।

देवयजनेन देवा दिवं गताः, तादृशं कुर्वन् 'सः' दीक्षितः 'मदेवे'
एव 'देवयजने' ('यजते') दृष्टवान् भवति । अनेवविधस्य परित्यहे
दोष माह— "स यदेति । निम्ने देवयजने 'दृष्टा' स्वय मेव
'अवरतर इव' अत्यन्त नीच एव 'स्यात्' । "तस्मादित्युपसहारः ।
अत्र कात्यायनः सौमिक मृत्विग्वरण मभिधायाह— "देवयजनं
जोषयन्त उच्चतमम्"—इति^१ ॥ १ ॥

अन्यानपि धर्मविशेषानाह— "तदर्थेति । 'वर्ष' उच्चतं 'सत्',
'तत्' देवयजनं 'समं स्यात्'; विषमस्य विसदृशदर्शनात् तदभावाय
तत् समं कर्तव्य मित्यर्थः । समत्वेन 'अविभ्रंशि' अपि स्थल प्राचीन-
प्रवणम् उद्दीचीनप्रवणं वा भवेत्, यद्यत्यन्तेन देवानाम्, यद्युत्तेन
मनुष्याणां च देवयजनसम्बन्धसम्भवात्, उभयसम्बन्धिनोर्दिगोरन्य-
तरस्थाः प्रवणत्वाभिधान मित्यभिप्रायः । उदक्प्रवणत्वे यदर्पसिद्धं
दक्षिणोन्नतत्वम्, तदाह— "दक्षिणतः प्रत्युच्छ्रित मिवेति । विपक्ष-
बाधमुखेन दक्षिणप्रवणत्वं निषेधति— "एषा वा इति । 'क्षिप्ते'
अचिरेणैव कालेन 'अमु' परलोकम्, 'तथो ह' पूर्वोत्तरप्रवणत्वपक्षे-
ऽप्यचिरकालम्^१ ॥ २ ॥

१— 'देवयजनं जोषयन्ते । उच्चतमम् । समम् । अविभ्रंशि । अभितो
देवयजनमात्रदेशम् । पुरस्तादङ्गम् । प्राक्प्रवणम् । उदग्वा । यत्किञ्चानू-
चानत्विज । उद्गतौषधिमूलेऽपरेऽन्ते विमितं कुर्वन्ति"—इति का० श्रौ० ७.
१. १०—२६ दश सूत्राणि दृष्टव्यानि ।

२— "दक्षिणत उन्नत मुदीचीनावनत प्राक्प्रवणं प्रागुदक्प्रवणं वा
देवयजनम्"—इति व्याप० श्रौ० सू० १०. २०. १ ।

अथ देवयजनप्राग्देशे^१ देवयजनान्तरपरिमितप्रदेशस्याधिक्य
निषेधति—“न पुरस्तादिति । स देशातिरेको यजमानभ्रातृ-
यातिरेकाय भवति । तथा चापस्तम्ब—“न प्राचीन देवयजनाद्
देवयजनमात्रं सुखिषेत्” इति^२ । दक्षिणोत्तरयोरतिरेकस्त्वैच्छिक^३
इत्याह—“काम इति । पश्चाद्भागं पुनरन्यस्य देवयजनस्य पर्याप्त
प्रदेशोपेत देवयजनं समृद्धिकरं मित्याह—“एतद्ध त्वेव समृद्धं मिति ।
प्रतिपाद्यं मर्थं निगमयति—“इति देवयजनस्येति । कृत्स्निरिति
शेषः । अथ कात्यायन—“समं नविभ्रष्टमभितो देवयजनमात्रप्रदेशम्
पुरस्तादूर्जम् प्राक्प्रवणं मुदम्वा”—इति^४ ॥ ३ ॥

अथाख्यानमुखेन देवयजनपदान्तरं माह—“तदु होवाचेति ।
वाष्पं^५ मृषि ‘वाश्वस्वस्य उवाच’ । यदा वयं देवयजनपरिग्रहाय
गताः, तदानीं ‘सात्ययज्ञ’ आह । “एतावती वै पृथिवी, यावती

१—‘देवयजनप्राग्देशे’—इति छ ।

२— आप० श्रौ० १०, २०, १० ।

३—‘स्वैच्छिक’—इति च ।

४— का० श्रौ० ८ १ १२-१० वट सूत्राणि पर्यालोच्यानि ।

५—‘वाष्पं’—इति सयकारः पाठः खोक्तलोऽत्र मूले भाष्ये च डा०-
वेबरेण । तत एवोद्भूतो रोष्-नोचलिङ्ग सङ्गृह्यते ‘वाटंभं’ कोवेऽपि । परं
मिदमेव पुरस्तादेकत्र (१ १ १ १०), परस्तादापरत्र (१४ ६ १० ८)
वृश्यते ‘वाष्पं’—इत्येव निर्यकारः । तथा तैत्तिरीयब्राह्मणेऽपि “गोवन्तो
वाष्पं”—इत्येव (३ ११ ६ ३) । अतोऽत्र मत्सङ्गृह्योत्पत्तिलिखित
पुस्तकानां मेव लेखः समावृत इह मूलभाष्ययोरिति ।

दिः”— इत्यादिश्रुतेः^१ वेद्युपलक्षितदेवयजनस्य देवतात्मकसमस्त-
थिवीरूपत्वम्; अतो ‘यत्र क च’ मन्त्रेण परिग्रहे सति तदुक्तलक्षण-
मेव भवेदित्यर्थः ॥ ४ ॥

याज्ञवल्क्यस्तु वक्ष्यमाणलक्षणैर्ऋत्विग्भिः परिग्रह एवोक्तलक्षणदेव-
यजनपरिग्रह इत्याह— “ऋत्विजो हैवेति । ‘शुश्रुवांसः’ श्रुतशास्त्राः,
अनूचानाः’ साङ्गप्रवचनाध्येतारः^२ । ‘अकृष्णाः’ दोषरहिताः । ऋत्विजो-
ऽपि श्रुताध्ययनादिसम्पन्ना भवेद्युरित्यस्य मर्योऽप्युक्तो भवति ॥ ५ ॥

यथोक्तदेवयजने यत् कर्त्तव्यं गृहं तत् प्राचीनवंशं कर्त्तव्य-
मित्याह— “तच्छालां वेति । ‘शालां’ दीर्घचतुरस्रं गृहं, ‘विमित’
सर्वतः समपरिमाणम्^३; अनयोरन्यतरत् ‘प्राग्वशम्’ मितुयात् ।
प्राग्दिग्गः प्रशसार्थं मर्धवाद माह— “प्राची हीति । यस्मात्
प्रत्यग्दिग्गतान्^४ ऋत्विग्यजमानान् प्रति पुरोदेशाद्विभाजनाः
प्रत्यङ्मुखोपावृत्ताः, ‘तस्मात्’ ‘तेभ्यः’ देवेभ्यः ‘प्राङ् तिष्ठन् जुहोति’ ।
तस्मात् प्राचीनवंशं सुपपद्यते^५ ॥ ६ ॥

प्रासङ्गिकं दीक्षितस्य ग्रथने कश्चिन्नियम माह— “तस्मादु

१— तै० सं० ७. ४. १८. ६ ऋक् इत्यस्या ।

२— ‘वेदार्थं श्रुतवन्तः’—इति (का० श्रौ० ७. १. ८ सू०) या० दे० ।

३— “विमितं चतुरस्रं स्यात् दशारत्निप्रमाणतः”—इतीह परिशिष्ट-
कारवचनम् । ‘द्वादशारत्निमानतः’—इत्यपि तत्र पाठान्तरम् ।

४— ‘प्राग्दिग्गतान्’—इति ड, घ ।

५— “प्राग्वंशं पुरस्तादुषं प्रतिदिग्दार मुदग्वर्जं वा”—इति का०

श्रौ० सू० ७. १. २०—२३ ।

हेति । ‘अभिप्रसार्थं’ पादावित्यर्थः । प्राग्दिकप्रशंसार्थं दिग्विभाग-
रूप मर्थवाद माह—“या दक्षिणेति । ‘यतो’ ‘देवा.’ यजमानादीन्
प्रति’ ‘उपचक्रमुः’, ‘सा’ प्राची ‘अहीना’ भग्नद्धा । उदीच्या मनुष्य-
सम्बन्धितया तेषां सुदग्वशां शाला^१ । निर्माणात् प्रसिद्ध मित्याह—
“तस्मान्मानुष इति । ‘मानुषे’ मनुष्यार्हं कर्मणि । ‘दक्षितस्थ’
प्राग्वश एव, अन्येषां तु उदीचीनवशत्वं मिति व्यवस्था ॥ ७ ॥

सर्वतः परिश्रयण विधत्ते—“तां वा एता मिति । दृष्ट्यादि-
परिहाराय परिश्रयणं कर्त्तव्यम्, दक्षितस्थेतरेश्चो व्यवधानाय च
परिश्रयणं कर्त्तव्यं मिति परिश्रयणश्रुतिः^२ ॥ ८ ॥

तत्राचैवर्णिकानां शूद्रादीनां भविष्यति निषेधति—“तत्र सर्वं
इवाभिपद्येतेति^३ ॥ ९ ॥

दक्षितस्थ सर्वैवांगव्यवहार निषेधति—“स वै नेति । सर्व-
शब्दस्य सङ्कोच माह—“ब्राह्मणेन वैवेति । ‘तस्माद्’ ब्राह्मणादि-
वर्णत्रयस्य यज्ञार्हत्वाद् । ‘यदि’ ‘शूद्रेण’ ‘संवादो’ ‘विन्देत्’
सम्बन्धेत्, ‘एतेषां’ चैवर्णिकानां मध्ये ‘एकम्’, ‘दमम्’ शूद्रम्
‘इति’ एवं मयेदानौ मुक्तप्रकारेण ‘विचक्ष’ ब्रूहीति स्वयं ‘ब्रूयात्’ ।

१—“शाला वा”—इति का० श्रौ० सू० ७. १. २४ । दीर्घचतुरस्रा
कुटी शालेति हरिश्चामी ।

२—“प्राचीनवंशं करोति पुरस्तादुन्नतं पश्चाद्विनतं सर्वतः परिश्रि-
तम्”—इति व्याप० श्रौ० सू० १०. ५. १ ।

३—का० श्रौ० ७. ४. ५ सूत्र प्रथमम् ।

वीक्षया^१ सर्वोऽपि वचनप्रकारः परिगृह्यते । ‘एषः’ ‘उपचारः’ व्यवहारः^२ ॥ १० ॥

मन्त्रकशालाप्रवेशं विधत्ते— “अथारणी पाणौ हृत्वेति । ‘अध्यवस्यति’ शालां प्रविश्य मन्त्रेणैतद् देवयजन मिति निश्चितु-
यादित्यर्थः । अध्यवसानप्रकार माह— “स पूर्वाह्णं मिति । ‘सूणा-
राजः’ मध्ये स्थितः^३ उन्नतस्तम्भः, तस्य ‘पूर्वाह्णम्’ ‘अभिपद्य’ गृहीत्वा
“एद मगन्म”—इति^४ ‘यजु’ ब्रूयात्^५ । अत्र कात्यायनः— “समा-
रोह्याग्नी शालास्तम्भं पूर्वाह्णं गृहीत्वारणिपाणिराहेद मगन्मेति”—
इति^६ । मन्त्रस्य द्वितीय पादं देवशब्दतात्पर्याभिधानेन व्याचष्टे—
“तदस्य विधैरिति । अताध्ययनवह्निर्माह्वणैः । ‘अक्षिभ्यां’ ‘यत्’
‘ईचन्ते’, ‘तत्’ ‘तैः’ विधैर्देवैः ‘जुष्टम्’ इत्यर्थः ॥ ११ ॥

“यद्वाहेति । तृतीय पाद व्याचष्टे— “शृक्कुसामाभ्या मिति ।

१— ‘वीक्षया’—इति ङ । वीक्षया—अताविह “इम मिति विधत्तेति
वाक्य द्वितया ब्रूयादिति यावत् ।

२— का० श्रौ० ७. ४. ५ सूत्रं द्रष्टव्यम् ।

३— ‘मध्योदित’—इति घ, ङ ।

४— “एद मगन्म देवयजन एधित्या यथ देवासो अशुबन्त विधे ।

शृक्कुसामाभ्या सनरन्तो यजुर्भौ रायस्योमेण समिधा मदेम ।”—

इति य० वा० सं० ४. ११ मन्त्रपाठः ।

५— ‘प्रागवश्यं मध्यमं सूणाराज मारभ्य जपनीति वाजसनेयकम्’—

इति व्याप० श्रौ० सू० १०. २. ४ ।

६— का० श्रौ० सू० ७. १. ३४ ।

‘यजुर्भिः’ क्रियमाणं यज्ञस्वरूपम् ‘ऋक्सामाभ्यां’ स्तोत्रशस्त्राभ्यां
‘तरन्तः’ पारं प्रापयन्तः इति तत्र भागस्य ‘उदृच’ परिसमाप्तिं
प्राप्नोमीत्युक्तवान् भवति । चतुर्थपादस्य प्रथमभागं व्याचष्टे—
“रायस्योषेणेति । ‘भूमा’ वृद्धभाव एव ‘रायस्योषो’ धनपुष्टिः,
स च ‘भूमा’ साक्षात् ‘अौ’ एव, तस्मात् ‘एतद्’ यागपाठे
‘आशिषम्’ एव आशास्ते । तद्वितीयभागस्य तात्पर्यं माह—“स
मिषेति । लोके यः श्रियं परमतां च गच्छति, तम् ‘इयम्’ अन्नं
‘मदति’ मोदत इत्याहुः, अतो मन्त्रे स मिषेति भागं माहे-
त्यर्थः ॥ १२ ॥ १ [१. १.] ॥

इति श्रीमाधवाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे प्रथमाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

(अथ द्वितीयं ब्राह्मणम्)

अपराह्णे दौक्षेत । पुरा केशश्मश्रुर्वुपनाद्युत् कामु-
येत तुदश्रीयाद्युदा सम्पुद्येत द्रुतुः ह्येवास्यातोऽश्नं
भुवति युद्यु नुशिशिपेदपि कामुं नाश्रीयात् ॥ १* ॥

अथोत्तरेण शालां परिश्रयन्ति । तदुदकुम्भं मुप-
निदधति तन्नापित उपतिष्ठते तत्केशश्मश्रु च व्यपते
नखानि च निहन्ततेऽस्ति वै पुरुषस्यामेध्यं युवास्यापो-
नोपतिष्ठन्ते केशश्मश्रौ च वा ऽअस्य नखेषु चापो नोप-
तिष्ठन्ते तद्यत्केशश्मश्रु च व्यपते नखानि च निहन्तते
मेध्यो भूत्वा दीक्षा ऽइति ॥ २ ॥

तद्द्वैके । सर्वं ऽएव व्यपन्ते सर्वं ऽएव मेध्या भूत्वा
दीक्षिष्यामह ऽइति तदु तथा न कुर्याद्यद्द्वै केशश्मश्रु च
व्यपते नखानि च निहन्तते तदेव मेध्यो भवति तस्मादु
केशश्मश्रु चैव व्यपेत नखानि च निहन्तेत ॥ ३ ॥

स वै नखान्येवाग्ने निहन्तते । दक्षिणस्यैवाग्ने सव्यस्य
वा ऽश्वग्ने मानुषेऽथैवं देवचाङ्गुष्ठयोरेवाग्ने कनिष्ठिकयोर्वा
ऽश्वग्ने मानुषेऽथैवं देवचा* ॥ ४ ॥

स दक्षिण मेवाग्ने गोदानं वितारयति । सव्यं वा
ऽश्वग्ने मानुषेऽथैवं देवचा ॥ ५† ॥

स दक्षिण मेवाग्ने गोदानं मभ्युनक्ति । इमा आयाः
शु मु मे सन्तु देवौरिति स यद्वाहेमा ऽआयः शु मु मे

सन्तु देवीरिति वृजो वा ऽआपो वृजो हि वा ऽआप-
स्तुस्माद्येनैता युन्ति निम्नं कुर्वन्ति युचोपतिष्ठन्ते निर्द-
हन्ति तत्तदेतु मेवैतद्वृजः शमयति तथो हैन मेघ वृजः
शान्तो नु हिनस्ति तुस्मादाहेमा आपः शु मु मे सन्तु
देवीरिति* ॥ ६ ॥

अथ दर्भतरुणकु मन्तुर्दधाति । ओपधे त्रायस्वेति
वृजो वै क्षुरस्तथो हैन मेघ वृजः क्षुरो नु हिनस्तथ
क्षुरेणाभिनिदधाति स्वधिते मैनः द्विःसीरिति वृजो
वै क्षुरस्तथो हैन मेघ वृजः क्षुरो नु हिनस्ति ॥ ७ ॥

प्रच्छिद्योदपात्रे प्रास्यति । तूष्णीं मेवीत्तरं गोदुान
मभ्यनुत्ति तूष्णीं दर्भतरुणकु मन्तुर्दधाति तूष्णीं क्षुरे-
णाभिनिधाय प्रच्छिद्योदपात्रे प्रास्यति ॥ ८ ॥

अथ नापिताय क्षुरं प्रयच्छति । सु केशश्मश्रु व्यपति
सु यदा केशश्मश्रु व्यपति ॥ ९ ॥

अथ स्नाति । अमेध्यो वै पुरुषो यदुन्तं व्यदति
तेन पूतिरन्तरतो मेध्या वा ऽआपो मेध्यो भूत्वा दीक्षा
ऽडुति पवित्रं वा ऽआपः पवित्रपूतो दीक्षा ऽडुति तुस्माद्वै
स्नाति ॥ १० ॥

सु स्नाति । आपो अस्मान्मातुरः शुन्ध्यन्वित्येत-
 द्वाह शुन्ध्यन्विति घृतेन नो घृतघः पुनन्विति तद्वै
 सुपूतं यं घृतेन पुनंस्तुस्मादाह* घृतेन नो घृतघः पुन-
 न्विति विश्वः हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीरिति यद्वै विश्वः
 सुर्वं तद्युदमेध्युः रिप्रं तत्सुर्वं† ह्यस्मादमेध्यं प्रवहन्ति
 तुस्मादाह विश्वः हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीरिति† ॥ ११ ॥

अथ प्राडिबोदङ्कुक्रामति । उद्दिदाभ्यः शुचिरा पूत
 ऽएमीत्युद्दिदाभ्यः शुचिः पूत इति† ॥ १२ ॥

अथ व्यासः परिधत्ते । सर्व्वत्वायैव स्वा मेवास्मिन्नेतत्तुचं
 दधाति या ह वा ऽद्वयं गोस्त्वक् पुरुषे द्वैप्राय ऽआस ॥ १३ ॥

ते देवा अनुवन् । गौर्व्वा ऽद्वयं सुर्व्वं विभर्त्ति
 हुन्तु येयं पुरुषे त्वग् गव्येतां दुधाम तुयैषा व्यर्पन्तं तुया
 हिमं तुया घृणिं तितिक्षिष्यत ऽइति ॥ १४ ॥

तेऽवच्छ्राय पुरुषम् । गुव्येतां त्वच्च मदधुस्तुयैषा व्यर्पन्तं
 तुया हिमं तुया घृणिं तितिक्षते‡ ॥ १५ ॥

अवच्छितो हि वै पुरुषः । तुस्मादस्य युचैव क च

* 'घृतेनापुनस्तुस्मादाह'-इति ग ।

† 'रिति'-इति ख, 'रिति'-इति ग ।

‡ 'इति'-इति ख, 'इति'-इति ग ।

१ 'तितिक्षते'-इति पाठो दृष्ट A-शामयुक्तके डा०-वेबरेट् ।

कुशो वा युद्धा विवृणुति तुत एव लोहित मुत्पतति
 तुस्मिन्नेतां त्वच मदधुर्व्वास एव तुस्मान्नान्यः पुरुषाद्वासो
 विभर्त्येताः ह्यस्मिंस्त्वच मदधुस्तस्माद् सुवास एव
 वुभूषेत् स्वया त्वचा समृद्धा ऽइति तुस्मादप्यश्नीलः
 सुवाससं दिदृक्षन्ते स्वया हि त्वचा समृद्धो भवति ॥ १६ ॥

नो हान्ते गोर्नमः स्यात् । वेद ह गौरधु मस्य त्वचं
 विभर्मीति सा विभ्यती चसति त्वचं म ऽश्वादास्यत
 ऽइति तुस्माद् गावः सुवासस मुपैव निश्रयन्ते ॥ १७ ॥

तस्य वा ऽएतस्य व्याससः । अग्नेः पर्यासो भवति
 व्यायोरनुच्छादो नीविः पितृणां सप्याणां प्रघातो
 विश्वेषां देवानां तुन्तव आरोका नुक्षत्राणा मेव हि
 वा ऽएतत् सर्वे देवा अन्वायत्तास्तस्माद्वैक्षितवुसनं
 भवति ॥ १८ ॥

तद्वा ऽश्रुहत् स्यात् । अयातयामतायै तद्वै निष्पेष्टवै
 ब्रूयाद्युदेवास्याचामेध्या कृणुति* वा व्ययति वा तुदस्य
 मेध मसदिति† युद्यु ऽश्रुहत् स्यादद्विरभ्युक्षेन्मेध मस-
 दित्युधो युदिदृः स्नातवस्यं निहित मपत्न्यूलनकृतं भवति
 तेनो ह्यपि दौक्षेत ॥ १९ ॥

* 'चामेधु माकृणुति - इति सा० सम्मत इति डा० वेदर ।

† 'मसदिति' - इति क, ग ।

तत्पुरिधत्ते । दीक्षातपसोस्तनूरसीत्युदीक्षितस्य वा
 अस्यैषाग्रे तनुर्भवत्येषा च दीक्षातपसोस्तस्मादाह दीक्षा-
 तपसोस्तनूरसीति तां त्वा शिवाऽऽशमां पुरिदध
 ऽइति तां त्वा शिवाऽऽसाध्वीं पुरिदध ऽइत्येवैतदाह
 भद्रं क्वर्षं पुष्पन्निति पापं वा ऽएषो ऽग्रे क्वर्षं पुष्यति
 यु ममु मुदीक्षितोऽप्याच भद्रं तुस्मादाह भद्रं क्वर्षं
 पुष्पन्निति ॥ २० ॥

अथैनः शुलां प्रपादयति । सु धेन्वे चानडुहश्च
 नाश्रीयाद् धेन्वनडुहौ वा ऽइदं सर्व्वम्बिभृतस्ते देवा
 अब्रुवन् धेन्वनडुहौ वा ऽइदं सर्व्वं विभृतो हुन्त
 युदन्येषां व्ययसां व्यौर्य्य तुङ्गेन्वनडुहयोरुधामेति स
 युदन्येषां व्ययसां व्यौर्य्य मासौत्तुङ्गेन्वनडुहयोरदधुस्तस्मा-
 द्देनृयैवानडांश्च भूयिष्ठं भुक्तस्तुङ्गेतत् सर्व्वं श्य मिव
 यो धेन्वनडुहयोरश्रीयादुन्तगतिरिव तः द्वाहुत मभि-
 जनितोर्जायायै गुर्भं निरवधीदिति* पापु मकदिति
 पापौ कौर्त्तिस्तस्माद्देन्वनडुहयोर्नाश्रीयात् तदु होवाच
 याज्ञवल्क्योऽश्राम्येवाहु मःसलं चेद्भवतीति ॥ २१ ॥ २ ॥

इति प्रथमप्रपाठके द्वितीयं ब्राह्मणम् [१० २०] ॥

अथ दीक्षाकाल^१ विधत्ते— “अपराह इति । ‘अपराहे’
अङ्गसृतीये भागे^२ । अथ दीक्षिताग्रविषये सर्वान्न मध्यनुजानाति—
“यत् कामयेतेत्यादिना । यथेष्टभोजने उपपत्ति माह— “व्रत
ह्येवास्यात इति । ‘अत’ असादुक्तभोजनादूर्द्ध्वकाले ‘व्रतम्’ ‘एव’
खलु केवल पय पान मेव, अत इदानीं यथेष्ट भुञ्जीत । तथापि-
पक्षम्— “तथाशित स्याद्यथा ततो दीक्षासु कनीय-कनीयो
व्रत मुपेयात्” इति^३ । इच्छया अग्रनाभावपक्ष मयाह— “यदीति ।
कात्यायन — ‘अन्नं सुपहरन्त्यस्मै हविष्य ममासम्०—०अपराहे-
ऽन्नातीष्ट सुपपन्नं वा न वेति” ॥ १ ॥

शालाया उत्तरभागे चौरार्यं परिश्रयण विधत्ते— “अथोत्तरे-
णेति । तत्रास्मिन्नुदकुम्भपरिवृते देशे ‘नापित’ निवसेत् । तत्र
केशश्रमयुवपन मखनिकर्त्तन च कुर्यात् । तत्रोदकुम्भस्यापनप्रयोजन
माह— ‘अस्ति वा इति । अमेध्याना केशनखाना निरवशेषेण
सुखच्छेदनाय उदकुम्भमन्निधानेन भवितव्य मित्यर्थ^४ ॥ १ ॥

१— ‘दीक्षाकाल’—इति च ।

२— ‘य कामयेत तपस्वी

स्यादिति त पूर्वाह्ने”—इति च व्याप० श्रौ० सू० १० १२ २ ।

३— अस्यापक्षमयस्य पूर्वापाठस्त्वेवम्— “यन्न मन्नाति सर्पिमधु
मिश्र, दधि, मधु वा, यदस्य मनस प्रिय तदन्नाति, तदेवास्यामुष्णिलोके
भवतीति विज्ञायते तथाशित म्याद् यथा ततो दीक्षासु कनीय-कनीयो
व्रत मुपेयात्, पुरस्तादा केशवपनादासस्यो वा परिधानाद् भोजन मेके
समामनन्ति”—इति व्याप० श्रौ० सू० १० ६ ०-१० ।

४— का० श्रौ० सू० ० २ २, ४, ५, ६ ।

५— “उत्तरेण बहिः प्राग्वशं परिश्रिते यजमान केशश्रमश्रू वापयते”—
इति व्याप० श्रौ० सू० १० ५ ६ ।

सर्वाङ्गवपनमुपन्यस्य निरासृष्टे— “तद्धैके सर्व एवेति । सर्व-
स्मिन्नपि देहे केशश्मश्रुनखेष्वेव प्राचुर्येण सृतत्वक् सर्वानाङ्गैर्जातेनैव
सर्वमपि मेधं भवतीत्यभिप्रायः । अत्र सूचम्— “उत्तरे परिवृत
उदकुम्भाभवत्यपु दीक्षा, नापित उपतिष्ठति”—इति^१ ॥ ३ ॥

मानुषत्वव्यावृत्त्युपन्यासमुखेन नखानां मेव, तत्रापि सव्यपादस्यैव,
तत्राप्यङ्गुष्ठयोरेवेति चयाणां प्राचम्य माह— “स वै नखान्येवे-
त्यादिना । ‘देवता’ देवेषु, देवसम्बन्धिकर्मणि एवं कर्तव्य
मित्यर्थः^२ ॥ ४ ॥

दक्षिणभागस्य प्राचम्य माह— “स दक्षिणमेवेति । ‘गोदानं’
नाम कर्णस्योपरि प्रदेशः^३, तं ‘वितारयति’ विभजेत्^४ । यस्य चामे
वपनम्, तस्यैव चोन्ममप्राचम्यं युक्तम्^५ ॥ ५ ॥

समन्तकं वपनमाह— “इमा आप इति^६ । ‘आपः शं
सन्तु’— इति शान्तिप्रार्थनायाः क्रौर्यप्रसङ्गं दर्शयति— “वज्रो वा
आप इति । एतत् प्राग् व्याख्यातम्^७ ॥ ६ ॥

१— का० श्रौ० सू० ७. २. ७, ८ क ।

२— “नखानि निहन्तव्यकुष्ठप्रभृतीनि दक्षिणदक्षतस्य प्रथमम्”—इति
का० श्रौ० सू० ७. २. ८ ख ।

३— ‘क्षपट्किमंवि एषिया दीयत इति गोदानम्’—इति का० वृत्तौ पा० ।

४— कङ्कतादिना तत्स्थानं केशान् विशदयन् कुर्णोदित्यर्थः ।

५— “दक्षिणं गोदानं वितार्योत्तरीमा व्याप इति”—इति का० श्रौ०
सू० ७. २. ८ । आप० १०. १. ८, ९, १० सूत्राण्यपि द्रष्टव्यानि ।

६— वा० स० ४. १. २ ।

७— १. १. २. १० (१ भा० २८ प०) द्रष्टव्यम् ।

चुरविदारणपरिहाराय केशाना सुपरि दर्भस्थापनं समन्त्र^१
माह— “अयेति । “दर्भतरुणक मित्यादि^२ । दर्भपाणिरित्यर्थ^३ ।
चुरस्य हिमकत्वात् ततः पाञ्चनप्रार्थना । तत्र समन्त्रक^४ चुरनिधान
माह— “अथ चुरेणेति^५ ॥ ७ ॥

“प्रच्छिद्येति । स्पष्टम् । उत्तरं गोदानोन्दनादिक समन्त्रक
मित्याह— “तूष्णी मेवेति^६ ॥ ८ ॥

“अथ नापितायेति । स्पष्टम्^७ ॥ ९ ॥

स्नान विधाय प्रशंसति— “अथ स्नातीति । एतत् व्रतोपाय-
नार्थवादवाक्यवद् व्याख्येयम्^८ ॥ १० ॥

१— मन्त्रस्तु वा० सं० ४ १ २ = ५. ४२. २ ।

२— ‘सूक्तं’ कुशाग्र दर्भतरुणक मिति हरिश्चामी ।

३— ‘यूपवत् कुशतरुणम्’—इति का० श्रौ० सू० ७. २. १० । यूप-
प्रकरणे तु विहितम्— “अथोषध इति कुशतरुणं तिरस्कृत्य सधित इति
परशुना प्रचरति”—इति ई १. १२, १३ सू० ।

४— तन्मन्त्रस्तु वा० सं० ४ १. ४ = ५. ४२. ३ ।

५— का० श्रौ० सू० ७. २. ११ ।

६— “एव मुत्तरं तूष्णीम्”—इति का० श्रौ० सू० ७. २. १२ ।

७— का० श्रौ० सू० ७. २. १३, १४ । “अश्रुशब्देन मुखजानि क्षोमा-
न्यभिधीयन्ते, सूचक्षुषा रोमाणि वर्जयित्वा”—इति तत्र या० दे० ।

८— का० श्रौ० सू० ७. २. १५ क इत्यथम् । “दृष्टार्थत्वाच्चोदकुम्भेनैव
स्नान मिति कर्क । “तडागादिस्थास्रप्स्वेव स्नानम्, उदकुम्भनिधानन्तदृष्टार्थं
मिति या० दे० । “स्यावरास्रस्र स्नाति—इति वागसनेयकम्”—इति
त्याह धाप० श्रौ० सू० १०. ६. १५, १६ ।

स्नानमन्त्र माह— “स स्नातीत्यादिना । “आपो अस्मानिति^१
 ‘मातरः’ ओषधिवनस्पत्यादिसकलनिर्मात्र्यः ‘यं हतेन’ वापयन्ति,
 तस्यैव सुपूतत्वाद् हतेन पुनर्निति प्रार्थनं युक्तं मित्यर्थः । द्वतीय-
 पादस्य तात्पर्यं माह— “विश्वं हीति । “रपो रिप्र मिति पाप-
 नामनी भवतः”-इति^२ निरुक्तम् । ‘यद् विश्वं’ तत् सर्वम् उच्यते,
 ‘यत् अमेध्यं’ ‘तत् रिप्रम्’ । अतो देहगतं मालिन्यं मातृगतं
 पापं सर्वं द्योतमाना आप ‘अस्माद्’ यजमानात् अपगमयति
 यतः, अत एव माह मन्त्र इत्यर्थः ॥ ११ ॥

उदिदाभ्य इति शरमपादस्य पृथग् विनियोग माह— “अथ
 प्राङ्निवोदङ्मुक्तामतीति । ‘आभ्यः’ अद्भ्यः सकाशात् इडङ् एव सन्
 उङ्ङ्कामीति तस्यार्थः^३ ॥ १२ ॥

वासःपरिधानं विधाय प्रशंसति— “अथ वास इति^४ । ‘परि-
 धानम्’ उपसंख्यानम्, तद्धारणं सर्वस्यैव दीक्षितस्य ‘सर्वत्वाद्यैव’; न
 त्वतिरिक्तः कश्चिद् विप्रेषोऽस्तीत्येवकारेणाह । अतो वासोधारणेन
 ‘त्वच मेव’ धृतवान् भवति यस्मात्, तत एतद्धारणवतः सर्वत्र
 मित्यर्थः^५ । उपरितनयन्यः सर्वोऽपि एतस्यैवोपपादकः । इदानीं

१— वा० स० ४. २. १ ।

२— निरु० ४. २. ५ ।

३— “उदिदाभ्य इत्युत्क्रामति”-इति का० श्रौ० सू० ०. २. १५ ख ।

मन्त्रस्य वा० स० ४. २. २ ।

४— ‘क्षौमं वस्त्रे’-इति का० श्रौ० सू० ०. १. १६ ।

५— ‘यस्मात् त्वच एव धारयम्, यतः सर्वत्र मित्यर्थः’-इति घ ।

गयाश्रिता (‘दयं’) त्वक् (‘अये’) पुरा ‘पुरुषे’ (‘आस’) स्थिता (॥ १३ ॥

“ते देवा इति ।) ‘देवाः’ किमर्थं मियं त्वक् पुरुषे वर्तन्ते, गोषु बह्वपकारवती, अतस्तां स्वर्गं तत आदाय गवि स्थापयामो वृष्टिहिमादिक परिहरन्विति पुरुषाद् गवि अधारयम् (॥ १४, १५ ॥

“अवच्छिन्न इति ।) पुरुषादपगमे क्षिप्त्वा माह— “तस्मादस्येति । कुशाद्युपघाते सति रक्तसावदर्शनाद् देवैस्त्वचो विकर्त्तनं सिद्धमित्यर्थः । तदा पुरुषाणां निस्त्वत्कपरिहाराय वस्त्रं सकल्पयन् । तस्मात् तेषां मेवासाधारणं मभूत् । मृतेन च सम्भूषितो भवति । तथा च लौकिका आहुः— ‘वस्त्रं पुरुषस्यास्तङ्कारः’-इति । लोके निन्दितं मपि सुशस्यं समाजादौ सम्यक् पश्यति ॥ १६ ॥

पुरुषस्य त्वचो गवि स्थापनं यदस्ति, तत् किमर्थं मिति प्रसङ्गात् कश्चित् कश्चित् पुरुषार्थनियमं माह— “नो हान्त इति । कदाचिदपि गोममीये विवासा न भवेत् । यस्मात्तु सा ‘अस्य त्वचं’ धारयामीति जानीतेत्यतो ‘न नश्वः स्यात्’ । जानातु नाम का शानिरित्यत आह— “सा विभ्यतीति । पुनस्त्वगपच्छेदभयात् ‘वसन्ती’ भीत्या कम्पते । “तस्मादिति । स्पष्टम् ॥ १७ ॥

विहितं वस्त्रं सर्वदेवतात्मकत्वेन प्रपश्यति— “तस्य वा इति । ‘तस्य’ वस्त्रस्य, परितः तिर्यक् अस्थत इति ‘पर्यायः’ तिर्यक्-तन्तु-मन्दर्भः । सः ‘अग्ने. भवति’ अग्निदेवताको भवति, सोऽभिमन्यत इत्यर्थः । ‘अनुष्कादः’ अनुलोम माच्छास्यत इति । सः ‘वायोः’

भवति । 'नीविः' आद्यन्तप्रदेशः । सः 'पितृणाम्' । 'प्रघातः'^१ सर्व-
हननस्थानं निविडौभूतप्रदेशः । सः 'सर्पाणाम्' । 'तन्तवः' स्वरूपेण,
'विशेषां देवानाम्' । 'आरोकाः' मध्यच्छिद्राणि^२ । तत् 'नक्ष-
त्राणाम्' । 'तस्मात्' सकलदेवत्यत्वात् 'दीक्षितवसनम्' अवश्यं
भवितव्यम् ॥ १८ ॥

तस्य वस्त्रस्य नवत्वं विधत्ते— "तदा अहत मिति । 'अथातया-
मतायै' अग्निधित्वाय 'तत्' 'अहतं' वस्त्रं 'निष्पेष्टवै' क्षालयितु
मन्यं 'ब्रूयात्' । 'अस्य' वस्त्रस्य 'घत्' 'अमेधं' 'आकृणोति' आकृ-
णोति, आच्छिष्टं करोति निर्माणकाले, सदैव 'वयति' च । 'अहतं'
चेत् अभ्युक्ष्य मेव कर्त्तव्यम्^३ । तत्प्रयोजनं 'मेध्यं मसदिति' मेधाहं
भवेदिति क्षालणम् ।

पश्चान्तरं माह— "अथो यदिद मिति । स्नातेन पुष्पेणा-
च्छाद्यं धार्यम्, 'अपत्पूजनकृत' चारद्रव्यसहितेनाधौतम्^४; प्रतिदिनं
प्रक्षाल्य यदेव धार्यते, तदित्यर्थः । तेन वा दीक्षेत ॥ १९ ॥

१ "प्रघातो दण्डेन शलाकोपधानेन वा प्रहारः"—इति तै० सं० १. २.
१, ६. १. १. सा० भा० ।

२— 'मध्ये किमाणि'—इति च ।

३— "निष्पेष्टवै ब्रूयादहतं चेदद्भिरभ्युक्ष्य"—इति का० श्रौ० सू० ७.
२. १० । 'अहतं मपरिहितं मरुतं च । अभ्युक्ष्यं त्वहतस्यैव । तस्याद्भिः
प्रक्षालितस्यापि अभ्युक्षणेन मेध्यता भवति'—इति तत्र या० दे० ।

४— का० श्रौ० सू० ७ २ १८ । 'अथवा—अभौप्रधौतं मरुजक-
प्रक्षालितं सत् परिधत्ते'—इति तत्र या० दे० ।

उक्तविधस्य वाससः समन्त्रक परिधानं विधत्ते— “तत् परि-
धत्त इति । “दीक्षातपसोस्तनूरसीति” । ‘आह’ मन्त्रभागः ।

‘अये’ प्राक् ‘अदीक्षितस्त्वैषा तनू’ आसीत्, ‘अथ’ इदानीं तु
दीक्षितदण्डकृष्णाजिनधारणनवनौताभ्यङ्गादिमाध्यः सस्कारः, तपो-
ऽग्निवर्जनादिजन्यक्लेशसहनात्मकम्, तदुभय मनेन प्राप्तत्वाद् ।
“दीक्षातपसोस्तनूरसी”—इति-शब्दस्य तात्पर्यं माह— “माध्वी
मिति । वस्तस्य तनुत्वाभिधानात् स्त्रीलिङ्गता । द्वतीयभाग मनुष्य
याचष्टे— “भद्र वर्षं पुष्यञ्जिति । भद्रत्वसमर्थनाय पूर्वचामद्रत्वं
प्रशंसति— “पापं वा एष इति ॥ १० ॥

अथ क्षीरानन्तर स्वातस्य मृतवाससः शाखाप्रवेश विधत्ते—
“अथैन मिति । ‘प्रपादयति’ गमयेद्ध्वर्यु” । अस्याप्यग्निमन्त्रकालत्वा-
देषाग्ने कश्चिन्नियम माह— “स धेन्वे वेति । धेनोः क्षीरादि-
कम्, अनडुह सम्बन्धि कर्षणमाध्यमित्यर्थः । तदुभय ‘नाम्नोऽप्यत्’
धेन्वनडुहयोः सर्वजगदुपकारकत्वात् तदीयाग्निप्रतियेध इत्यर्थः ।
एतदेवोपपादयति— “ते देवा इत्यादिना । अनयोः सर्वापकार-
कत्वं विज्ञाय देवैः ‘वयसाम्’ ‘अन्येषां’ (च) पशूनां ‘वीर्यं’ सारं
मादाय धेन्वनडुहयोः स्थापितत्वात् तदग्नौ सर्वाग्नि भवति । तस्य
च जायाया” गर्भसम्भवे सति तत् सर्वाग्नि ॥ रेतोरूपेण परिणत

१— “वा स० ४. २. ३ ।

२— “वाग्यतं प्रवेशयति”—इति का० श्रौ० सू० ७. ३. ११ ।

३— ‘वीर्यसार’—इति च ।

४— ‘जायाया’—इति च ।

‘गर्भे’ हिंस्यात् । तत् ‘पापकीर्त्तिः’^१ स्यात् । तदुभयोरन्नं ‘नाश्री-
यात्’ । अत्र याज्ञवल्क्यपक्ष माह— “तदु होवाचेति । यस्मादुभ-
याग्ने शरीरम् ‘असल’^२ भवति, तस्मात् ‘अश्राम्यह’ तयोरन्न
मश्रीया मेव । एकहायनप्रभृत्या पञ्चहायना गावो वयांसि, तथैवा-
पसम्बेनाभिधानात्^३ । अत्र कात्यायनः^४— “ध्वेन्वगुहयोर्नाश्रीयात्,
पुरुषपथमो वासम्भवात्, असलभोजन वा-दति^५ ॥ २१ ॥ २ [१.९.] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनग्रन्थपञ्चाङ्गभाष्ये

द्वितीयकाण्डे प्रथमाध्याये द्वितीय ब्राह्मणम् ॥

१— ‘पापो कीर्त्तिः’-इति मूलपाठ, स्यादेव तस्यैवार्थः ।

२— असौ विद्यते यस्यासार्वसलः । असौ च वाङ्मूले, सौ तु सर्व-
स्यापि भवत इति विशेषणानुपपत्तिः, अतोऽत्रासाभ्या बल लक्ष्यते । “वत्सा-
साभ्या कामबले”-इति हि (पा० सू० ५. २. ६८.) शब्द प्रत्ययः । “बलवान्
मासलोऽसल”-इति चामर २. ६. ४४ ।

३— “पठौहौ त्वन्तर्वती दद्यात्, सा हि सर्वाणि वशासि”-इत्यादि
तै० ब्रा० ३ १२. ५. ६ सा० भा० अपि द्रष्टव्यम् ।

४— का० श्रौ० सू० ७ २. २३, २४, २५ ।

५— ‘असलयोर्ध्वेन्वगुहयोर्मांसस्य भोजनं वा कर्तव्यम्, तदु—
वतीति श्रुते’ (३. १ २. २१) । स्थूल चेद्भेन्वगुहं भवति, ततोऽह मश्राम्ये
वेति याज्ञवल्क्य उवाचेत्यर्थः-इति का० श्रौ० ७ २. १५ सू० या० २० ।

(अथ तृतीय ब्राह्मणम्)

अपुः प्रणीय । आग्नावैष्णव मेकादशकपालं पुरो-
डाशं निर्व्वपत्यग्निर्व्वै सुर्वा देवता अग्नौ हि सुर्वाभ्यो
देवताभ्यो जह्वत्यग्निर्व्वै यज्ञस्यावरुद्धो* विष्णुः परुर्द्धा-
स्तत्सुर्वाश्चैतुदेवताः परिगृह्य सुर्व्वं च यज्ञं परिगृह्य
दीक्षा ऽहुतिं तुस्मादाग्नावैष्णव एकादशकपालः पुरो-
डाशो भवति ॥ १ ॥

तद्भुक्ते । आदित्येभ्यश्चरुं निर्व्वपन्ति तुदस्ति पुर्युदित
मिवाष्टौ पुत्रासो ऽश्रुदितेय्ये जातास्तुन्वस्पुरि । देवां २॥†
ऽउप प्रैत्सप्तभिः पुरा मार्त्ताण्डु मास्यदिति ॥ २ ॥

अष्टौ ह वै पुत्रा अश्रुदितेः । यांस्त्वेतद्देवा आदित्या
ष्टुत्याचक्षते सप्तु हैव तेऽविकृतः‡ हाष्टमुं जनयाञ्चकार
मार्त्ताण्डुः सन्देष्टो‡ हैवास यावानेवोर्द्धस्तावांस्तिर्य्यङ्
पुरुषसन्मित ऽहुत्यु हैक ऽआहुः ॥ ३ ॥

तु ऽउ हैतु ऽजचुः । देवा आदित्या युदस्मानन्वज-
निमा तुदमुयेव भूहुन्तेमुं व्विकरुवामेति तं व्विचक्रुर्यु-
थायं पुरुषो व्विकृतस्तुस्य यानि माः॥सानि सङ्कृत्य

* 'यज्ञस्यावरुद्धो'—इति सा०—सम्मत इति डा० वेबर ।

† 'देवां २॥'—इति क ।

‡ 'सन्देष्टो'—इति सा० सम्मत इति डा० वेबर ।

सन्ध्यासुस्ततो हस्तौ समभवत्तुस्मादाहुर्न हस्तिनं प्रति-
 गृह्णीयात्पुरुषाजानो हि हस्तौति यु मु ह तुद्विचक्रुः
 स विवस्वानादित्यस्तस्येमाः प्रजाः* ॥ ४ ॥

सु होवाच । राध्रुवान्मो सु प्रजायां यु एतु मादि-
 त्येभ्यश्चरुं निर्व्वुपादिति राध्रोति हैव यु एतु मादि-
 त्येभ्यश्चरुं निर्व्वुपत्यर्थं त्वेवाग्नावैष्णवः प्रज्ञातः ॥ ५ ॥

तस्य सप्तदश सामिधेन्यो भवन्ति । उपांशु देवते
 यजति पुञ्च प्रयाजा भवन्ति त्रयोऽनुयाजाः संयाजयन्ति
 पुत्रीः सर्व्वत्वायैव समिष्टयजुरेव नु जुहोति नेदिदं
 दीक्षितवसनं परिधाय पुरा यज्ञस्य सःस्थाय-श्रुतं
 गुच्छानीत्युन्तो हि यज्ञस्य समिष्टयजुः† ॥ ६ ॥

अथाग्रेण शुलां तिष्ठन्नुभ्यङ्गे । अरुर्वै पुरुषोऽव-
 च्छितो ऽनरुर्वैतुङ्गवति युदुभ्यङ्गे‡ गुवि वै पुरुषस्य
 त्वग्गोव्वा एतन्नुवनीतं भवति स्वयैवैन मेतुत्त्वचा
 समर्द्धयति तुस्माद्वा ऽश्रुभ्यङ्गे ॥ ७ ॥

तद्वै नुवनीतं भवति । घृतं वै देवानां पाण्डुं

* 'प्रजाः'—इति ऋ ।

† 'राध्रुवान्मो'—इति सा०—सम्मत इति डा० वेबरः ।

‡ 'यजुः'—इति ग ।

§ 'युदभ्यङ्गे'—इति ग ।

मनुष्याणां मयैतन्नादैव घृतं नो फाण्डः स्यादेव घृतः
स्यात् फाण्डः मयातयामुतायै तुदेन मयातयामैवायात-
यामानं करोति ॥ ८ ॥

तु मुभ्यनक्ति । शीर्षतोऽग्र आ पादाभ्यां मनुलोमं
महीनां पुयोऽस्यैति मुह्य इति ह वा एतुसा मेकं नाम
यद्गवां तुसां वा एत पुयो भवति तुस्मादाह महीनां
पुयोऽस्यैति व्वर्षोदा असि व्वर्षो मे देह्यैति नात्र तिरो-
हितं मिवास्ति ॥ ९ ॥

अथाख्यावानक्ति । अरुर्वै पुरुषस्याक्षि प्रशान्तमेति
ह स्माह याज्ञवल्क्यो दुरक्ष इव हास पूयो ह्येवास्य
दूषीका ते एवैतदुनरुष्करोति युद्धया*वानुक्ति ॥ १० ॥

युच वै देवाः । असुररक्षसानि जघ्नुस्तच्छुष्णी
दानवः प्रत्यङ् पतित्वा मनुष्याणां मुक्षीणि प्रविवेश सु
एष कनूिनकः कुमारकु इव पुरिभासते तुस्मा एवैतु-
द्यद्गु मुपप्रयुन्तसर्वतोऽग्नपुरां पुरिदधात्यग्ना ह्याञ्ज-
नम् ॥ ११ ॥

चैककुटं भवति । युच वा इन्द्रो वृच मुहंस्तस्य
यदद्यासीत् गिरिं चिककुटं मकरोत्तद्यत् चैककुटं भवति
चक्षुष्येवैतच्छुर्दधाति तुस्मात् चैककुटं भवति युद्धि

त्रैककुदं नु च्चिन्देदप्यत्रैककुद मेव स्यात्समानौ ह्येवा-
ञ्जनस्य बन्धुता ॥ १२ ॥

शरेपीकयानक्ति । वृजो वै शरो विरक्षुस्तायै
सुतूला भवत्यमूलं वा ऽद्भु सुभयुतः पुरिच्छिन्नः रुक्षो-
ऽन्तुरिक्ष मनुचरति युथायं पुरुषोऽमूल उभयुतः
पुरिच्छिन्नोऽन्तुरिक्ष मनुचरति तद्यत्सुतूला भवति
विरक्षुस्तायै ॥ १३ ॥

स दुक्षिण मेवाग्र ऽनानक्ति । सव्यं वा ऽग्र्ये मानुपे-
ऽथैवं देवचा* ॥ १४ ॥

स आनक्ति । वृचस्यासि कनीनक इति वृचस्य
ह्येषु कनीनकश्चक्षुर्दृष्टि अस्ति चक्षुर्मे देहोति नाच
तिरोहित मिवास्ति ॥ १५ ॥

स दुक्षिणः सद्यजुपानुक्ति । सकृत्तूष्णीं मथोत्तरः
सद्यजुपानुक्ति द्विस्तूष्णीं तदुत्तरं सेवैतदुत्तरावत्
करोति ॥ १६ ॥

तद्यत्पुञ्चकृत्व आनक्ति । संवत्सरुसम्मितो वै यज्ञः
पुञ्च वा ऽव्यतवः संवत्सरस्य तुं यञ्चुभिरामोति
तस्मात्पुञ्चकृत्व आनक्ति ॥ १७ ॥

अथैनं दर्भपवित्रेण पावयति । अमेध्यो वै पुरुषो

यदुद्धतं व्युदति तेन पुतिरन्तरतो मेध्या वै दर्भा मेधो
भूत्वा दीक्षा ऽहुति पवित्रं व्यै दर्भाः पवित्रपूतो दीक्षा
ऽहुति तुस्मादेनं दर्भपवित्रेण पावयति ॥ १८ ॥

तद्वा ऽणुकः स्यात् । एको ह्येवायं पुवते तुदेतस्यैव
रूपेण तुस्मादेकः स्यात् ॥ १९ ॥

अथो ऽश्रुपि त्रौणि स्युः । एको ह्येवायं पुवते
सोऽयं पुरुषेऽन्तः प्रविष्टस्त्रेधा विहितुः प्राण उदानो
व्यान इति तुदेतस्यैवानु माचां तुस्मात् त्रौणि
स्युः ॥ २० ॥

अथो ऽश्रुपि सप्त स्युः । सप्त वा ऽद्वमे शीर्षेन्द्राणा-
स्तुस्मात्सप्त स्युस्त्रिःसप्तान्येव स्युरेकविंशतिरुपैव
सम्पत्* ॥ २१ ॥

तुः सप्तभिः सप्तभिः पावयति । चित्पुतिर्मा पुना-
त्विति प्रजापतिर्वै चित्पुतिः प्रजापतिर्मा पुनात्वित्ये-
वैतुदाह व्याक्पुतिर्मा पुनात्विति प्रजापतिर्वै व्याक्पुतिः
प्रजापतिर्मा पुनात्वित्येवैतुदाह देवो मा सविता पुना-
त्विति तद्वै सुपूतं यं देवः सविता पुनात् तुस्मादाह
देवो मा सविता पुनात्वित्युच्छिद्रेण पवित्रेणेति यो वा
ऽअयं पुवत ऽणपोऽच्छिद्रं पवित्र मेतेनैतुदाह सूर्यस्य

रश्मिभिरित्येते वै पवितारो यत्सूर्यस्य रश्मयस्तस्मा-
दाह सूर्यस्य रश्मिभिरिति ॥ २२ ॥

तस्य ते पवित्रपत इति । पवित्रपतिर्हि भुवति
पवित्रपूतस्येति पवित्रपूतो हि भुवति युत्कामः पुने
तुच्छकेय मिति यज्ञस्योद्भूतं गच्छानीत्येवैतदाह ॥ २३ ॥

अथाशिषा मारम्भं व्वाचयति । आ वो देवास
ईमहे व्वामं प्रयुत्यध्वरे* । आ वो देवास आशिषो
यज्ञियासो हवामह इति तदस्मै स्वाः सतीर्द्धत्विज
आशिष्य आशासते ॥ २४ ॥

अथाङ्गुलीर्न्यचति । स्वाहा यज्ञं मनस इति द्वे
स्वाहोरोरन्तरिक्षादिति द्वे स्वाहा द्यावापृथिवीभ्या
मिति द्वे स्वाहा व्याताद्वारभ इति मुष्टीकरोति न वै
यज्ञः प्रत्यक्ष मिवारुभे युथायुं दण्डो वा व्वासो वा
परोक्षं वै देवाः परोक्षं यज्ञः† ॥ २५ ॥

स यदाह । स्वाहा यज्ञं मनस इति तन्मनस
आरभते स्वाहोरोरन्तरिक्षादिति तदन्तरिक्षाद्वारभते
स्वाहा द्यावापृथिवीभ्या मिति तदाभ्यां द्यावापृथि-
वीभ्या मारभते युयोरिदं सर्वं मुधि स्वाहा व्याता-
द्वारभ इति व्यातो वै यज्ञस्तु यज्ञं प्रत्यक्ष मारभते ॥ २६ ॥

‘परि’ परितः उत्पन्नाः, ‘अष्टौ पुत्राः’ अष्टौ पुत्राः, धाधादि-
विवस्वदन्ताः; तेषु मध्ये ‘सप्तभिः’ पुत्रैः सह ‘देवान्’ ‘उपमैत्’
उपागात्, ‘मार्त्तण्ड’ मृताण्डसमन्विन मष्टमम् ‘आस्यत्’ परि-
तत्याजेति^१ ॥ १ ॥

एतद् व्याचष्टे— “अष्टौ च वै पुत्रा इति । ‘सप्त इव’
विवस्वद्-व्यतिरिक्ताः । ‘अविकृतं’ करचरणादिविकाररहितम्
‘मार्त्तण्ड’ ‘जमयाश्चकार’ । व्यत्ययेनैकवचनम् । ‘सन्देह’ सन्देहः,
सम्यगुपचितदेहः, सर्वतः सम एवासीत् । केचित् पुरुषवदूर्ध्वत्वमात्र-
विशिष्टोऽभूत् ‘इत्याहुः’ ॥ २ ॥

“त उ हैत इति । अथ ‘ते’ सप्त पुत्राः, ‘अस्मान्’ पूर्वं सुत्पन्नान्
पादच्छिन्नान् न पश्येत्, किन्तु विकृतं करवामेत्युक्ता यथा
मनुष्यो विकृतः, तथाकुर्वन् । विकरणाय द्विजं मांसजातं ‘हस्ती’
सम्भूय, तस्याप्यविस्मृष्टावयवात् । अत एव ‘पुरुषाजानः’ पुरुष-
प्रकृतिकः, अनुष्ठानशेषेणोत्पन्नत्वात् हस्तिनः प्रतिपदं न क्षुर्यात् ।
स च ते विकारं गमितो विवस्वत्सन्तोऽभूत् । ततः सर्वाः ‘इमाः’
प्रजाः’ उत्पन्ना इति ॥ ३ ॥

उपोद्घात मुचकौपोद्घातिक मर्थ माह— “स होवाचेति । ‘स’

१— ‘मार्त्तण्ड’ ऋ० स० २ ३८. ४; १०. ७२. ८, ९ । सा० य०
ब्रा० २४. १२ ६ । महा० मा० १, ३, १३ सर्वसु । “न खल्वय मृतोऽण्डस्य
इति खेहादमायत । अक्षानात् कश्यपस्तस्मात्मांसण्ड इति चोच्यते”—इति
हरिवंशे । भाग० पु० ५ २०. ४४ । मार्क० पु०. ७० १, १०१. ११,
१०५. १८ ।

विवस्त्रान् 'मे' मम 'प्रजायां' प्रजासु मध्ये 'य' कश्चित् 'आदि-
त्येभ्यः' 'चरु' 'निर्वपात्' निर्वपेत्, 'स' तु 'राध्रवान्' भूयात् 'इति'
'उवाच' । अत एतस्यादित्यचरोर्निर्वोपयिता स्वयं मपि 'राध्रोति' ।
देवैः संवर्द्धितेन विवस्त्रता समृद्धियुतेन दत्तत्वादयं मपि चरु
समृद्धिफलक इत्यर्थः । अत एव समृद्धिफलत्वेन कान्यत्वादित्यभि-
प्रायः । अथाग्नावैष्णवस्योक्तचरुवैलक्षण्यं भाह— "अयं त्वेवेति ।
'प्रज्ञातः' सर्वैः प्रसिद्धः ॥ १ ॥

तस्या इष्टेष्टोदयतः सामिधेनीपाददशे प्राप्ते भाह— "तस्य
सप्तदशेति' । 'देवते' प्रधानमम्मन्थिन्यौ अग्नाविष्णू 'वपांशु' यजेत् ।
प्रयाजानुयाजयोरपि सामिधेनीवद् वैशेषिकसङ्ख्याप्रसङ्गाभाह—
"पञ्च प्रयाजा इति । दौचणीयेष्टेरवधि भाह— "संयाजयन्ति
पक्षीरिति । इष्टेरवैकल्याय पक्षीसंयाज मेव कुर्यात् ; तदुत्तरं तु
'समिष्टयजुर्न' जुहुयात्' । तदपि किं न क्रियत इति तत्रोपपत्ति
भाह— "नेदिति । दौषाकाले धृतस्य वसनस्य यज्ञसमाप्तिपर्यन्तं
धारणं कर्त्तव्यम्, मध्ये एव समिष्टयजुषि हुते सति यज्ञस्य समाप्ते-
स्तदानीं मेव वसनस्य त्यागः कर्त्तव्यो भवेत् ; तस्मिन् हुते सति
सोमयागसमाप्ते । अतः पुरा हस्तस्य यज्ञस्य समापनात् अन्त नैव
प्राप्नुयानीत्यभिप्रायेण समिष्टयजुर्न जुहुयात् । ननु समिष्टयजुषोऽव

१— व्याप० श्रौ० १० ४. ५ ।

२— का० श्रौ० सू० ७. २ ३०—३२ सूत्राणि, व्याप० श्रौ० सूत्राणि
च १०. ४. ८-११ इष्टव्याणि ।

३— का० श्रौ० सू० ७. २८, २९ । व्याप० श्रौ० सू० १०. ४. ७ ।

कथं यज्ञाद्भवत्, यस्मिन् ऊते यज्ञं समायेतेति, तच्चाह— “अन्तो हीति । अस्य सम्यगिष्टे एव यज्ञस्यावसानत्वादित्यभिप्रायः ॥ ६ ॥

अथ दौक्षितस्य स्वधर्मकं मभ्यङ्गं विधत्ते— “अथायेणेति । शास्त्रायां पुरोदेशे तिष्ठन्, सर्वाङ्गे नवनीताभ्यञ्जनं कुर्यादिति विशिष्टविधिः^१ । अभ्यङ्गप्रयोजनं भाह— अस्वा इति । ‘अवच्छिन्नः’^२ त्वचा निर्मुक्तः ‘पुरुषः’ ‘अस्वै’ प्रणाल्मकं खलु^३, तदेतेनाभ्यङ्गेन परिहरति । एतदेव विस्पष्टं मुपपादयति— “गवि वा इति । पुरुषत्वस्यो गवि धारणं वासपरिधानार्थवादे स्पष्टं युक्तम्^४ । गोर्नवनीतोत्पत्तिः सुप्रसिद्धा । अतो गोमन्वन्निनवनीतधारणेन स्वकीयत्वचैव समृद्धो भवति । अत एव त्वचः पुनः प्राप्तेरमण्यत्वं मस्याभ्यङ्गाय नवनीतं भवेदित्युक्तं भवति ॥ ७ ॥

नवनीताभ्यङ्गं प्रशंसति— “तद्वै नवनीतं मिति । एतदस्य योग्यं मित्याह— ‘एतं वै देवानां मिति । नवनीतभावात् प्रागवस्थापन्नं इत्थं फाण्डम्’ । यस्मात् नवनीतं फाण्डहतयोरन्तरालवर्त्तित्वात् तदन्यत् तदन्यच्च भवति^५, तस्मात् मनुष्यदेवताभ्यां मन्यस्यामन्यस्य च दौक्षितस्य तद् युक्तं मित्यर्थः । अत एव पूर्वोत्तरभावात् प्रच्यवा-

१— का० थौ० सू० ७ २ ३३ ।

२— अथपूर्वस्य ‘छो ह्येदेने’—इत्यस्य (दि० प०) निष्ठायां रूपम् । “शाच्छोरन्यतरस्याम्”—इति (पा० ७ ४ ४१ सू०) सिद्धम् ।

३— ‘अस्वर्त्तयात्मक’—इति च ।

४— पूर्वस्मिन् ब्राह्मणे १४—१६ कणिकासु (१५, १६ पृ०) ।

५— ‘फाण्डहतयोरन्तरालवर्त्ति, तस्मादन्यदन्यच्च भवति’—इति च ।

प्रच्यवादयातयामवता तेनाभ्यञ्जनेनाध्वर्युर्दीक्षित मपि 'अयात-
यामानं करोति' ॥ ८ ॥

अभ्यङ्गस्योपक्रमोपसंहारौ विधत्ते— "त मभ्यनकीति" । अधो-
मुखावस्थानादवरोहोऽभ्यङ्गे सति आनुलोम्यं स्यात् । तत्र मन्त्र
माह— "महीना मिति" । मन्त्रस्य पूर्वभागं व्याचष्टे— "मह्य
इतीति । "इडे रन्ते"—इत्युपक्रम्य, "महि विश्रुति"—इत्यन्तानि
"अग्नियेनामान्नीति तैत्तिरीयकश्रुतेर्गवां महीति नाम" । स्पष्ट
मन्यत् ॥ ९ ॥

अष्टणोरञ्जनं विधत्ते— "अथाष्ट्यावानकीति" । इतरावयव-
संस्पर्शासहिष्णुत्वात् 'अचि' 'अहः' ऋणो भवति । 'मम' 'प्रशान्'
प्रशान्येदित्यञ्जनं कर्तव्यमिति । 'याज्ञवल्क्यः' 'आह' ब्रूते इति ।
अष्टणोर्दूषणरूपतां सम्पादयति— "दुरचः"—इत्यादिना । नेच-
माक्षिन्य मेवारुः, तत्परिहारायाञ्जनमिति । 'दूषिका'^५ नेचयोः

१— का० श्रौ० सू० ७. २. ३३ । व्याप० श्रौ० सू० १०. ६. ११-१२ ।

२— वा० स० ४. ३. १ ।

३— "इडे रन्तेऽदिते सरस्वति प्रिये प्रेयसि महि विश्रुतेतानि ते
अग्निये नामानि"—इति तै० सं० ७. १. ६. १८ । "इडे रन्ते इत्ये काम्ये
चन्द्रे अग्नयेऽदिते सरस्वति महि विश्रुति । एता ते अग्नये नामानि"—इति
श्रुतेऽप्येतत्संहिताया (वा० स० ८. ४३. १.) यदिदं तैत्तिरीयानुस्मरणं
कृतम्, तत्र सप्तधास्याभ्यासबाहुल्यमेव वीजम् । एव मन्यत्रान्यत्र च ।

४— का० श्रौ० सू० ७. २. ३४ । व्याप० श्रौ० सू० १०. ७. १ ।

५— 'इषीका (१)'—इति च ।

मलम्, सा 'अस्य' पुरुषस्याच्छणोर्भूय एवेत्यच्चेर्दुरक्षत् मेव, ततो-
ऽञ्जनेन तच्चाश्रयतीत्यर्थः^१ ॥ १० ॥

अञ्जन प्रकारान्तरेण प्रशंसति— “यच्च वा इति । असुरवध-
समये 'शुष्ण' 'प्रत्यङ्' गत्वा, तद्गयात् पुरुषाणां मक्षिमध्य प्रविश्य,
कणीनिकारूपेण 'कुमारक' सन् वर्सते । 'तस्मै' तस्य 'यज्ञम्'
उपगच्छन् 'सर्वत'^२ अग्नपुरोरक्षार्थं^३ कृतवान् भवति । अग्न्यग्न्यर्थं
माह— “अग्न्या द्याञ्जन मिति । तद्विकारत्वात् ॥ ११ ॥

अञ्जन विशिष्टमिति— “चैककुद मिति । चिककुत् पर्वत,
तत्सम्बन्धि चैककुदम्^४ । शिष्टं स्पष्टम् । तदभावे चैककुदादन्यदपि
धाद्यम् । 'अञ्जनस्य बन्धुता' बन्धु ब्राह्मणम्, तद्भावो बन्धुता । सा
'समानौ' । “अहर्वै पुरुषस्याधि”—इत्यादिक^५ ब्राह्मणं चैककुदा-
चैककुदयोः समान मित्यर्थः^६ ॥ १२ ॥

तत्साधन विधन्ते— “शरेषीकयेति । शरसृणविशेषः, तस्य
मध्यमक्षाका 'इषीका'^७ । 'विरसस्तायै' विगतराससभावः, तस्मै,
तत्परिहाराय । सापि 'सतूक्षा' कर्त्तव्या । सतूक्षत्वस्य प्रयोजन

१— 'भूय (१) एव अर्त्ते (१) दुरक्षत् मेव ततोऽञ्जनेन चाश्रयति'—इति च ।

२— 'दौक्षित'—इति छ, च ।

३— 'अग्नपुरोरक्षार्थ'—इति च ।

४— 'सौवीर मिति यत् प्रसिद्धम्'—इति या० २० ।

५— अग्न्यैव दशमो ऋद्धो द्रष्टव्यः (१८८०) ।

६— का औ० सू० ७ २ ३३ । आप० औ० सू० १० ७ २ ।

७— 'तस्य मक्षाका इषीका'—इति च ।

माह— “अमूल मिति । ‘उभयतः’ मूले अये च, दिवि पृथिव्यां
चेत्यर्थः । ‘परिच्छिन्नम्’ इदं ‘रवः’ राक्षमजातिः, अमूल सन्
‘अन्तरिक्ष मनुषरति’ खलु, एवम् ‘उभयतः’ परिधिभ्यः ‘परि-
च्छिन्नः’, ‘अमूलः’ सन् ‘पुरुषः’ अपि ‘अन्तरिक्ष मनुषरति’ ।
तस्मात् पुरुषसमानदेशवर्तिरसोनिर्हरणाय श्रेयोका ‘अमूला’
कर्तव्याः ॥ १३ ॥

‘स दक्षिण मिति’ । ‘देवता’ देवेषु । एव दक्षिणप्रायस्य
मित्यर्थः ॥ १४ ॥

“स आनत्तीति । तत्र मन्त्र माह— ‘वृषस्येति’ । ‘कनीनिकः’
अचिमध्यकार्णम् । ‘वृषस्य स्येव कनीनिक’ । तथाचान्यत्र— “इन्द्रो
वृष महन्, तस्य कनीनिका परापतत्, तदाञ्जन मभवत्”—
इति ॥ १५ ॥

“स दक्षिण मिति । ‘यजुषा’ उक्तमन्त्रेण । उत्तरस्याष्टाष्टो
दक्षिणाक्षितोऽपि एकधाराधिकाकरणेन ‘उत्तरं’ यजुः ‘उत्तरावत्’
उत्कर्षवत् कृतवान् भवति ॥ १६ ॥

अष्टाष्टोराज्जनाष्टौ निक्षिप्त्वा प्रशंसति— “तद्यत् पञ्चहल
इति । हेमन्तशिग्रिरयोरैक्यात् संवत्सरः पञ्चर्तुः”, अत एव सङ्ख्या-
द्वारा संवत्सर मेवाप्नोति ॥ १७ ॥

१— का० श्रौ० सू० ७. २. ३३ ।

२— वा० सं० ४. ३. १ ।

३— तै० स० ६. १. १. १० ।

४— “हेमन्तशिग्रिरयो यमासेन”—इति ह्यैतरेयकम् १. १. १ ।

तस्य दर्भे पावन विधत्ते— “अथैन मिति । लोके ह्यपवित्र पविचौक्रियते, कोऽस्यापवित्रत्वप्रसङ्ग इति तद् दर्शयति— “अमेधो वा इति । दर्भे पावनसामर्थ्येन वाक्यस्य पावनेऽथान्तरशुद्धिर्भवति । दर्भान् स्तौति— ‘मेध्या वा इति । यज्जार्हत्वं मेध्यात्वम्, अशुद्ध्यानां शोधकत्वं पवित्रत्व मिति विवेकः १ ॥ १८ ॥

“तदा एक मित्यादि । पावनसाधनदर्भस्वेकादिपक्षा आचिष्या । ‘अथ’ वायु ‘एक’ एव ‘पवते’ पवतिर्गतिकर्मा^१, अन्तरिक्षे गच्छति^२ । ‘तस्मात्’ पवित्र मपि ‘एक’ स्यात् ॥ १९ ॥

“अथो अपीति । ‘स’ एव ‘अथ’ वायु ‘एक’ एव ‘पुरुषे’ ‘अन्तः प्रविष्ट’ प्राणादिभेदेन ‘वेधा’ विभक्त, अथ ‘चौणि स्युः’ ॥ २० ॥

“अथो अपि सप्तेति । ‘शीर्षन्’ शिरसि भवा, सुखादिच्छिद्र-गता, ‘एकविंशति स्युः’ इति । तच्च ‘त्रि-सप्तान्येव’ इति सप्त-सङ्ख्याया एकावृत्तौ ‘एवैव’ सप्तसङ्ख्याया उक्ति ‘सम्पद्’ इत्यर्थः । यदा ‘एवैव’ पुरुषरूपैव ‘सम्पत्’ इत्यर्थः, “दश सस्या अङ्गुलयो दश पाद्या आत्मेकविंश”-इति श्रुत्यन्तरात् ॥ २१ ॥

“त सप्तभिरिति । एकविंशतिपक्षे एकविंशति दर्भान् वेधा विभज्य ‘सप्तभि-सप्तभि’ “चित्पतिर्मा”, ‘वाक्पतिर्मा’, “देवो

१— ‘पवित्र पुनाते, मन्त्र पवित्र मुच्यते’, + + +, व्याप पवित्र मुच्यते -इत्यादि निरु० ५ २ १ इत्ययम् ।

२— निघ० २ १४ १०८ ।

३— “वायु पवित्र मुच्यते”-इत्यादि निरु० ५ २ १ ।

४— तै० स० ६ १ १ ८ ।

मा” इति^१ चिपु मन्त्रेषु, एकैकेन मन्त्रेण पावयेत् । “अच्छिद्रेण पवित्रेण”—इति मन्त्रशेषः सर्वत्रानुषज्यते । तत्राप्यय विभागः— सप्तभिः प्रथममन्त्रेण नाभितः आरभ्योर्द्धं मुञ्चन्मृज्यात्, पुनश्च सप्तभिर्द्वितीयमन्त्रेणाप्येवम्, अवशिष्टे सप्तभिर्द्वितीयेन मन्त्रेण नाभेरध आरभ्यावमृज्यात् । तथा च कात्यायन — “सप्तभिः-सप्तभिः प्रतिमन्त्र मच्छिद्रेणेति सर्वत्र द्विरुपरि नाभेरन्मृज्य प्रदक्षिण सप्तदर्वाङ्केन चिभिः सप्तभिरेकविंशतिभिर्वा”—इति^२ । आपस्तम्बस्तु चित्पतिस्त्वेति पावकस्य, चित्पतिर्मेति पाव्यमानस्य च विमज्ज्योभय मय्युक्तवान्^३ । सर्वशेषभूतस्याच्छिद्रेणेत्यस्यार्थं माह— “अच्छिद्रेणेति । सर्वदा सर्वत्र पवनात् ‘एष’ वायु ‘अच्छिद्र पवित्रम्’ ॥ २२ ॥

मन्त्रशेषं व्याचष्टे— “तस्य त इति । पवित्राणि रश्मयः, शोधकत्वात्” । अग्नि पवित्रपतिः^४, तत्पाठात् स्वरूप मपि ‘पवित्र-

१— वा० स० ४. ४. १, २, ३ ।

२— का० श्रौ० सू० ७ ३ १-४ । नेर्लिङ्गं मुद्रितपुस्तके तु ‘द्विरुपरि नाभ्युन्मृज्य’—इति पाठः, ‘एकविंशतिभिः’—इति पदस्याभावश्च ।

३— तथाहि— “अथैनं मुत्तरेण बहिः प्राग्वशात् दभेपुष्पौ पाव-
यति । + + + । एकविंशत्या जेधा विमज्जया सप्तभिः सप्तभिर्द्विर्द्वि
नाभेरन्मार्ष्टि सप्तदर्वाङ्कः । + + + । चित्पतिस्त्वा पुनात्वित्येते प्रतिमन्त्र
मच्छिद्रेण पवित्रेणेति सर्वत्रानुषजति । चित्पतिर्मा पुनातु वाक्पतिर्मा
पुनातु देवो मा सविता पुनात्विति पाव्यमानो जपति”—इत्यादि व्याप०
श्रौ० सू० १०. ७ ५-१४ ।

४— “रश्मयः पवित्रं मुच्यन्ते”—इत्यादि निरु० ४. २ १ ।

५— “अग्निं पवित्रं मुच्यते”—इत्यादि निरु० ५. २ १ ।

पतिर्भवति' खलु । स्पष्टं मन्यत् । 'उदृक्' उपरिभाविनी ष्टक्
उदृक् । अनेन च समाप्तिर्लक्ष्यते । तेन यजमानं प्राप्नुवानीत्यर्थः ।
असु मर्यम् 'एतत्' एतेन "तच्छकेयम्"—'इति' अनेन, मन्त्र^१
'आह' इत्यर्थः ॥ ११ ॥

"अथाग्निषा मिति । "आ वो देवास"—इति^२ मन्त्रस्य 'आग्निषा
मारम्भ' इति नाम भाष्याग्निषा मस्यारम्भरूपत्वात् । मन्त्रपाठस्य
प्रयोजनं माह— "तदस्मा इति । 'तत्' तेन आग्निषा मारम्भवाचनेन
सर्वासा माग्निषा मादावेव यजमानेन परिगृहीतत्वात् 'स्वा'
स्वकीया एव 'सती' ता एव 'आग्निष' 'सुलिज' तन्मन्त्रेषु
यजमानार्थं भाग्यते^३ ॥ १४ ॥

"अथाहुस्तीरिति । 'न्यसति' उद्गोचयतीत्यर्थः । तत्प्रकारं माह—
'स्वाहेत्यादिना' । एकैकेन मन्त्रेण हस्तद्वयेऽपि कमिष्ठिकादिक्रमेण
हे-हे^४ अहुस्ती न्यस्यतीत्यर्थः । एव करदयाहुस्तिन्यस्यनक्रमेणोत्तमेन
मन्त्रेण^५ पाप्मी मुष्टीकुर्यात्^६ । "उत्तमेन मुष्टीकृत्वा" इति सूत्रम्^७ ।

१— "चित्पतिर्मा पुनातु वाक्पतिर्मा पुनातु देवो मा सविता पुना
त्वष्टिर्देव पवित्रेण सूर्येण रश्मिभिः । तस्य ते पवित्रपते पवित्रपूत यत्काम
पुने तच्छकेयम्"—इति वा० स० ४ ४ १-३ ।

२— वा० स० ४ ४ १ ।

३— का० थौ० सू० ७ ३ ६ ।

४— वा० स० ४ ६ १-३ ।

५— 'हे'-इत्येव च ।

६— वा० स० ४ ६ ४ ।

७— का० थौ० सू० ७ १ ८ ।

— का० थौ० सू० ७ २ ८ क ।

तत्प्रयोजनं माह— “न वै यज्ञ इति । यज्ञस्य वासोदण्डादिवद्भस्ते
धारयितुं मशक्यत्वात्, अत एव परोक्षान्मन्त्रेण मुष्टिवन्धनमेव
प्रत्यक्षधारणमित्यर्थः ॥ १५ ॥

“स यदाहेत्यादि । मन्त्रस्य क्रमेण स्थाव्यानम् । स्पष्टम् ।
‘वातादारभे’-इति वातेन प्राणेन व्याप्रियमाणत्वात् ‘वातो
यज्ञः’ । ‘वै’-शब्देन “वातो यज्ञः प्रयुज्यताम्”-इत्यादिमन्त्रप्रसिद्धि-
र्द्योत्यते ॥ १६ ॥

“अथ यत्स्नाहेति । हविष्यागस्य यज्ञत्वात्, स्नाहाकारेण च
हविःप्रदानात्, स्नाहाकारस्य च यज्ञात्मकता । अनन्तरं वाग्यमन
विधत्ते— “अथ वाच यच्छतौति” । वाग्व्यवहारमन्त्ररूपेण यज्ञ-
निष्पत्तेः ‘वाक् यज्ञः’ । तस्या बहिर्निर्गमनं मन्त्रात् आत्मनि
नियमात् ‘यज्ञमेव’ आत्मनि दृतवान् भवति ॥ १७ ॥

शालाघाः फलोद्देशे यजमानस्याभ्यञ्जनादिकं मुक्तम्, तस्य
दीवाहृत्यर्थं शालाप्रवेशनं विधत्ते— “अथैनं मिति” । प्रविष्टस्य
तथा कर्मार्यं सञ्चरनिर्देशं माह— “स जघनेनेति । ‘आहवनीय
जघनेन’ तत्पश्चाद्देशे, ‘गार्हपत्यं मयेण’, तयोर्मध्यपथि कर्मार्यं
गच्छति” । अथ मेव ‘अस्य’ ‘सञ्चरो भवति” । वक्तुमञ्चरं प्रशंसति—

१— “स्नाहेत्युक्ता वाग्यत”-इति का० श्रौ० सू० ७. १. ६ ख ।

२— का० श्रौ० सू० ७. ३. ११ ।

३— का० श्रौ० सू० ७. ३. १२ ।

४— का० श्रौ० सू० ७. ३. १३ । “यत उद्धं यजमानस्य सञ्चरो
भवति”-इति व्याप० श्रौ० सू० १०. ८. २ ।

“अग्निर्वा इति । यस्मादुत्पद्यते स योनिः, आहुतिप्रदानात्मकस्य
 ‘यज्ञस्य’ ‘योनिः’ ‘अग्निः’ । मानुषदेहपरित्यागेन दीक्षासंस्कारेण
 देवदेहोत्पत्तेस्तत्संस्कृतो दीक्षितः ‘गर्भः’ । अतस्तत्र योनिगत्वेन तस्य
 तद्योरन्तराले सञ्चारो युक्तः । उक्तं मर्यं मिदानीन्तनगर्भवर्णनेन
 दृढयति— “तस्मादिमे गर्भा इति । तच्छब्द एकशब्दपर्यायः ;
 एकदेत्यर्थः । अथ वाच्यं मिदं चार्थं । ‘यत्’ यस्मात् ‘स’ गर्भ-
 संयुतो यजमानः ‘एजति त्वत्’ वसति च, ‘पर्यावर्तते त्वत्’ परि-
 भ्रमति च ; ‘तस्मात्’ इदानीन्तना गर्भा अप्येवं भवन्तीत्यर्थः ॥
 ९८ ॥ ३ { १. ३. } ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे प्रथमाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

(अथ चतुर्थं ब्राह्मणम्)

सुर्वाणि ह वै दीक्षाया युजूंष्यौद्ग्रभणानि । उद्-
 ग्रभणीते* वा ऽणोऽस्मास्योकादेवलोकं मभि यो दीक्षत
 ऽणतैरेव तद्यजुर्भिरुद्ग्रभणीते तस्मादाहुः सुर्वाणि
 दीक्षाया युजूंष्यौद्ग्रभणानीति तुत एतान्यवान्तरा

माचक्षते ऽश्वौद्ग्रभणानीत्याहुतयो ह्येता आहुतिर्हि
यज्ञः परोऽक्षं वै यजुर्जपत्यथैषु प्रत्यक्षं यज्ञो
यदाहुतिस्तुदेतेन यज्ञेनोद्ग्रभणीतेऽस्मात्सोकाद्देवलोक
मभि* ॥ १ ॥

ततो यानि त्रीणि सुवेण जुहोति । तान्याधीतय-
जूःषीत्याचक्षते सम्युद ऽएव कामाय चतुर्थं ह्रयतेऽथ
युत्पञ्चमुः सुचा जुहोति तुदेव प्रत्यक्ष मौद्ग्रभण
मनुष्टुभा हि तुज्जुहोति व्याग्यनुष्टुब् व्याग्धि यज्ञः ॥ २ ॥

यज्ञेन वै देवाः । इमां जितिं जिग्युर्येषा मिथं
जितिस्ते होचुः कथं न इदं मनुष्यैरनभ्यारोह्यः
स्यादिति ते यज्ञस्य रुसं धीत्वा युथा सधु मधुकृतो
निर्हुयेयुर्व्विदुह्य यज्ञं यूपेन योपयित्वा तिरोऽभवन्नुथ
यदेनेनायोपयंस्तस्माद्यूपो नाम ॥ ३ ॥

तदा ऽश्वयीणा मनुश्रुत मास । ते यज्ञः सुमभरन्
युथायं यज्ञः सुभृत एवं वा ऽएषु यज्ञः सुम्भरति युदे-
तानि जुहोति ॥ ४ ॥

तानि वै पुञ्च जुहोति । संवत्सरुसमितो वै यज्ञः
पुञ्च वा ऋतुवः संवत्सरस्य तुं पञ्चभिरामोति तस्मात्
पुञ्च जुहोति ॥ ५ ॥

अथातो होमस्यैव* । आकृत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहेत्या वा
ऽअग्ने कुवते युजेयेति तद्यदेवाच यज्ञस्य तदेवैतत्सम्भृ-
त्यात्मन् कुरुते ॥ ६ ॥

मेधायै मुनसेऽग्नये स्वाहेति । मेधया वै मुनसाभि-
गच्छति युजेयेति तद्यदेवाच यज्ञस्य तदेवैतत्सम्भृत्यात्मन्
कुरुते ॥ ७ ॥

दौष्टायै तपसेऽग्नये स्वाहेति† । अन्वेवैतदुच्यते नेत्तु
ह्ययते ॥ ८ ॥

सुरस्वत्यै पूष्णेऽग्नये स्वाहेति । व्याग्वै सुरस्वती
व्याग्यज्ञः पशुवो वै पूषा पुष्टिर्वै पूषा पुष्टिः पशुवः
पशुवो हि यज्ञस्तद्यदेवाच यज्ञस्य तदेवैतत्सम्भृत्यात्मन्
कुरुते ॥ ९ ॥

तदाहुः । अनुद्देवैता आहुतयो ह्यन्ते ऽप्रतिष्ठिता
अदेवकास्तुच नेन्द्रो न सोमो नाग्निरिति‡ ॥ १० ॥

आकृत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहेति । नात एकञ्च नाग्निर्व्या
ऽअद्देवाग्निः प्रतिष्ठितः स युदमौ जुहोति तेनैवैता
अद्देव तेन प्रतिष्ठितास्तस्माद् सुर्वास्वेवाग्नये स्वाहेति
जुहोति तुत एतान्याधीतयजूःपीत्याचक्षते ॥ ११ ॥

आकृत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहेति । आत्मना वा ऽअग्र
ऽआकुवते युजेयेति तु मात्मन ऽएव प्रयुक्ते युत्तनुते ते

ऽअस्यैते ऽआत्मन् देवते ऽआधीते भवत आकूतिश्च
प्रयुक् च ॥ १२ ॥

मेधायै मुनसेऽग्नये स्वाहेति । मेधया वै मुनसाभि-
गच्छति युजेयेति ते ऽअस्यैते ऽआत्मन् देवते ऽआधीते
भवतो मेधा च मुनश्च ॥ १३ ॥

सुरस्वत्यै पूष्णेऽग्नये स्वाहेति । व्याग् वै सुरस्वती
व्याग् यज्ञः सास्यैपात्मन् देवताधीता भवति व्याक्
पशुवो वै पूषा पुष्टिर्व्यै पूषा पुष्टिः पशुवः पशुवो हि यज्ञ-
स्तेऽस्यैते ऽआत्मन् पशुव आधीता भवन्ति तद्युदस्यैता
आत्मन् देवता आधीता भवन्ति तुस्मादाधीतयजूऽपि
नाम् ॥ १४ ॥

अथ चतुर्थीं जुहोति । आपो देवीर्ब्रह्मतीर्ब्विश्वश-
म्भुवो द्यावापृथिवी ऽउरो ऽअन्तरिक्ष । बृहस्पतये हविषा
ब्विधेम स्वाहेत्येषा ह नेदीयो यज्ञस्यापाः हि कीर्त्तय-
त्यापो हि यज्ञो द्यावापृथिवी ऽउरो ऽअन्तरिक्षेति
लोकानाः हि कीर्त्तयति बृहस्पतये हविषा ब्विधेम
स्वाहेति ब्रह्मा वै बृहस्पतिर्ब्रह्मा यज्ञ एतेनो हैषा ने-
दीयो यज्ञस्य† ॥ १५ ॥

अथ यां पञ्चमीः सुचा जुहोति । सा हैव प्रत्यक्षं
यज्ञोऽनुष्टुभा हि तां जुहोति व्याग्ध्यनुष्टुब् व्याग्धि
यज्ञः* ॥ १६ ॥

अथ युद्धूवाया माज्यं पुरिशिष्टं भवति । तुज्जुह्वा
मानयति चिः सुवेणाज्यविलापन्या ऽश्रुधि जुह्वां गृह्णाति
यत् तृतीयं गृह्णाति तत् सुव मभिपूरयति ॥ १७ ॥

सु जुहोति । विश्वो देवस्य नेतुर्मूर्त्तेर् व्वुरीत
सत्यम्† । विश्वो रायु इपुष्यति द्युम्नं व्वृणीत पुष्यसे
स्वाहेति‡ ॥ १८ ॥

सैषा देवताभिः पङ्क्तिर्भवति । विश्वो देवस्येति
वैश्वदेवं नेतुरिति सावित्रं मूर्त्तेर् व्वुरीतेति मैत्रं द्युम्नं
व्वृणीतेति बार्हस्पत्युं द्युम्नं हि बृहस्पतिः पुष्यस ऽहुति
पौष्णः५ ॥ १९ ॥

सैषा देवताभिः पङ्क्तिर्भवति । पाङ्क्तो यज्ञः पाङ्क्तः
पशुः पुञ्चर्त्तवः संवत्सरस्यैतु मेवैतुयाप्नोति युद्देवताभिः
पङ्क्तिर्भवति ॥ २० ॥

तां वा ऽअनुष्टुभा जुहोति । व्याग्वा ऽअनुष्टुब्
व्याग्यज्ञस्तुद्यज्ञं प्रत्यक्ष माप्नोति ॥ २१ ॥

* यज्ञ - इति ग ।

† सत्यम् - इति ग ।

‡ स्वाहेति - इति ग ।

५ 'पौष्णः' - इति ग ।

तदाहुः । एता मेवैकां जुहुयाद् युस्मै कामायेतरा
 ह्युन्त ऽएतयैव तं काम माप्नोतीति तां वै यद्येकां
 जुहुयात् पूर्णां जुहुयात्सुर्व्वं चै पूर्णः सुर्व्वं मेवैनयै-
 तदाप्नोत्यथ यत् सुव मभिपूरयति सुचं तदभिपूरयति
 तां पूर्णां जुहोत्यन्वेवैतदुच्यते सुर्व्वस्त्वेव ह्यन्ते ॥ २२ ॥

तां वा ऽअनुष्टुभा जुहोति* । सैषानुष्टुप्सत्येकचिःश-
 दक्षरा भवति दुश पाण्या अङ्गुलयो दुश पाद्या दुश
 प्राणा आत्मैकचिःशो युस्मिन्नेते प्राणाः प्रतिष्ठिता एता-
 वान्वै पुरुषः पुरुषो यज्ञः पुरुषसम्मिता यज्ञः स यावा-
 नेव यज्ञो यावत्यस्य मावा तावन्त मेवैनयैतदाप्नोति
 युदनुष्टुभैकचिःशदक्षरया जुहोति ॥ २३ ॥ ४ ॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके चतुर्थं ब्राह्मणम् [१०. ४.] ॥

अथ दीचाङ्गतीर्विधातु माह— “सर्वाणि ह वा इति । यजु-
 स्सम्बन्धात् दीचासम्बन्धिनी ‘यजूंषि औद्गमणानि’ । तदुद्गमणत्वं
 नेव कुत इति तद् दर्शयति— “उद्गम्लीते वा इति । ‘तत्’
 तदा ‘एतैः’ दीचाङ्गभूतैः सर्वैः ‘यजूर्मि.’ एव ; अतो ‘दीचायाः’
 प्रकरणानि ‘सर्वाणि’ अपि ‘यजूंषि’ ‘औद्गमणानि’ औद्गमणानीति ।

• ‘जुहोति’—इति ग ।

१— “औद्गमणानि जुहोति”—इति का० औ० सू० ७. २. १६ ।

“एषहोर्भ”-इति^१ भवम् । ‘ततः’ तेषु यजुष्यु मध्ये ‘एतानि’ एव दीक्षाङ्गतिसाधनानि आङ्गत्यादीनि ‘श्रौद्धमणानि’ उद्गृहणेऽत्यन्त सन्निहितानीत्यर्थः । तत् कथं मिति, उच्यते—“आङ्गतयो हीति । तावता श्रेष्ठ्यै किं भाषात मिति, तत्राह— ‘आङ्गतिर्हीति । जयाना होम्यानां च तारतम्यं माह— “परोक्ष वा इति ॥ १ ॥

एतासां मयुद्गृहणसाधनता विभज्य दर्शयन् प्रशंसति— “ततो घानीति । ‘यानि’ आदित ‘बीणि’ यजुषि ‘सुवेण जुहोति’, ‘तानि’ ‘आधीतयजुषि’ आधानलिङ्गकानि, तन्मन्त्रेष्वाधानव्यापार-
लिङ्गदर्शनात् । ‘सम्पदे कामाय’ । सम्पद्यत इति ‘सम्पत्’, काम्यत इति ‘काम’, सम्पादाय स्वर्गफलाय (चेत्यर्थः । अथ मभिप्राय—^२) यथा लोके किञ्चित् फलं सिषाधयिषु आदौ तत् ज्ञात्वा, पश्चात् कामयित्वा, तत्साधनं मनुष्यायान्ते तत्प्रभते, एव चिभिः स्वर्गफलं माध्याय, चतुर्थेन तत्साधनं मनुष्याय, पञ्चमेन तदुद्गृहीतवान् भवतीति । अत्र चतुर्थस्य होमसाधनानभिधानेनापि पञ्चमस्य विशेषितत्वात् चतुर्थं मपि सुवेणैवेति वेदितव्यम् । पञ्चमस्य साक्षादुद्गृहणसाधनत्वं तन्मन्त्रस्यानुष्टुप्ते सिद्धं मित्याह— “अनुष्टुभा हीति । ‘अनुष्टुभा’ वाचा, मन्त्रेण साध्यत्वात् ‘वाग् यज्ञ’ । “अनुष्टुपं चतुश्चरानि कृन्दास्तुदपादयत्”— इति सामवाङ्मणे-
ऽभिधानाद् वाचोऽनुष्टुप्त्वम् ॥ १ ॥

१— पा० ८ २ २२ सू० वा० १ ।

२— यं पुस्तके नास्त्येव पाठः ।

अथ पुरातनवृत्तान्तप्रदर्शनमुखेनैतेषां स्वर्गोद्घरणे साधनता
मुपपादयति— “यज्ञेन वा इति । एतत् प्रथमकाण्डे पञ्चम-
प्रपाठकादावाग्नेयपुरोडाशार्थवादे^१ व्याख्यातम् ॥ २ ॥

“तदा इति । “यथाय मिति । येन प्रकारेण देवानुष्ठित-
प्रकारं जानद्भिर्हविषिभिः ‘अयं यज्ञः’ औद्भरणहोमेन ‘सम्भृतः’,
‘एवम्’ एतेषां मनुष्ठानेन ‘एषः’ यजमानोऽपि ‘यज्ञः’ सम्भृतवान्
भवति ॥ ४ ॥

तद्गतयज्ञसङ्ख्यां शङ्कसति— “तानि वै यज्ञेति” ॥ ५ ॥

“अथातो होमस्यैवेति । मन्त्रा व्याख्यायन्त इति शेषः ।
‘अग्ने’ यागानुष्ठानात् पूर्वम् ‘आ कुर्वते’ खलु । ‘कुर्वन्’-शब्देन^२
तत्प्राग्भावो मनोव्यापारो लक्ष्यते । ‘यजेथ—इति सङ्कल्पयतीत्यर्थः ।
अतो ‘यज्ञस्य’ देवकर्त्तव्यं मङ्गजातं सर्वं ‘सम्भृत्य’ सङ्कल्प्यात्मनैकीकृत्य
स्वात्मनि ‘कुर्वते’ स्थापयति ॥ ६ ॥

द्वितीयमन्त्रस्य तात्पर्यं भाह— “मेधायै मनस इति । “मेधयेति ।
सङ्कल्पितस्यार्थस्य धारयित्री बुद्धिर्मेधा, तथा, ‘मनसा’ च साधनेन
उभाभ्याम् ‘अभिगच्छति’ । यथा कथित् प्रथमं मिदं सम्यगिति
सङ्कल्प्य तत्साधनप्रकारविशेषं भवबुद्ध्यते, तददित्यर्थः ॥ ७ ॥

१— पुरातनात् (१का० ई५० २३० १क०) ४०८ ए० दृष्टव्यम् ।

२— का० श्रौ० सू० ७ १ १६ ।

३— वा० सू० ४ ७ १-५ ।

४— ‘कुर्वन् शब्देन’-इति च ।

तृतीयस्य मन्त्रस्यापि होमसाधनत्वप्रसक्तौ जप्यता माह—
“दोषाया इति । ‘अनु उच्यते एव’—इति, एवकारतात्पर्यं
माह— “नेत्त्विति । अत एव कात्यायनः— “तृतीयं जपति”—
इत्युक्तवान्^१ ॥ ८ ॥

होमे तृतीयं मन्त्रं व्याचष्टे— “सरस्वत्या इति । “पञ्चवो वा
इति । पशूनां पूषत्वम्, पूषगतपुष्टिधर्मसद्भावात्; पूष्णोऽपि पोषक-
त्वम्, “पोषां अपुष्यत्”—इत्यादियुतेः^२ सिद्धम् । पशुगतचौरादि-
साध्यत्वात् ‘पञ्चवो यज्ञः’ ॥ ९ ॥

उक्तमन्त्रवर्ण्येऽपि ‘अग्नये’ यदस्ति, तचाग्नेः कः प्रसङ्ग इति तद्
दर्शयितुं माह— “तदाञ्जरिति । ‘अनङ्गेव’ अप्रत्यक्षं निव ‘एताः’
तिष्ठः ‘आऊतयः’ ‘ह्वयन्ते’ । अणु को दोष इति तच्चाह—
“अप्रतिष्ठिता इति । किमर्थं मप्रतिष्ठिततेति, तच्चाह— “अदेवका
इति । यद्यपि मन्त्राकृत्याद्याः, तथापि तासां देवतात्वेन प्रसिद्धा-
भावात् इन्द्रादिना भवितव्य मिति प्रदर्शयति— “तच्च नेन्द्र
इत्यादि ॥ १० ॥

तच्च प्रसिद्धदेवताना मभाव दर्शयितुं मनुवदति— “आकृत्या

१— ‘एवकारयावत् माह’—इति च ।

२— “तृतीयं जपयेव”—इति का० श्रौ० सू० ७. १. १० ।

३— तै० सं० ७. १. ८. १ । “दृषेय होत सवे दृष्यति यदिदं
विच”-इति चैत्रेयोपरिष्ठात् (१८. ८. ७. ७५.) । “यदग्निषोमं
दृष्यति तत् दृषा भवति”—इति पूष्यो निर्वचनम् । विच १७. ७. ५ ।
“दोषा यद्वत्”—इति चोपरिष्ठादिदेव (५. २. ५. ८) ।

इति । “नात एकस्मिन्नेति । ‘अतः’ अस्मात् आकृत्या इत्येव-
मादिकात् वाक्यात् एक मपि इन्द्रादिकं देवं नोपलभामहे । इति
वदतोऽय मभिप्रायः— तेषु मन्त्रेषु आकृतिभेदादेः प्रशंसितत्वेनाग्नि
मतिविहायाय भावेप इति । अनङ्गान्तपरिहार माह— “अग्निर्वा
इति । ‘सः’ यजमानः ‘यत्’ यस्मात् ‘अग्नौ’ प्रत्ययेण ‘जुहोति’, अत
एव ‘अग्निः’ ‘अद्वा इव’ प्रत्यक्ष मिथ, अत एव ‘प्रतिष्ठितः’ च, ‘तेन’
खलु ‘एताः’ स्त्रियोऽपि ‘अद्देव’, ‘प्रतिष्ठिताः’ च । “तत एता-
नीति । यत उक्तरीत्याम्यादिप्राधान्यम्, तत इत्यर्थः । इत्य मग्निं
प्रशस्यावशिष्टाकृतिप्रयुगाग्निदेवताचय माध्यानसम्बन्धेन प्रशंसति—
“तत एतान्याधीतयजूंषीति”—इति ॥ ११ ॥

“आकृत्यै प्रयुज इति । ‘अग्ने’ प्रथमम् ‘आत्मना’ बुद्धौव ‘यज्ञे-
येति’ ‘आ कुर्वते’ सकृन्पयति । ‘तम्’ तत् सकृन्पितम् ‘आत्मनः’
एव विस्तीर्य ‘प्रयुज्जे’ भवतः । प्रयुज्यत इति ‘प्रयुज्’ । उभयोरपि
बुद्धिविषयभावात् उभे अपि ‘देवते’ आकृतिप्रयुजौ, ‘अस्य’ यज-
मानस्य ‘आत्मन्’ आत्मनि ‘आधीते’ आध्यानेन विषयीकृते भवतः ।
आधीतप्रतिपादकत्वात् ‘आधीतयजूंषि’-इत्युच्यते ॥

एव मुत्तरवाक्यान्यपि^१ योज्यानि ॥ १२ ॥ १३ ॥

“सरस्वत्यै पूषा इति । अथ ‘पूषन्’-शब्दवाच्यानां पशूनां वज्रत्वात्
प्रयङ्निर्दिश्यते— “पशवो वा इत्यादि । प्राग् व्याख्यातम्^२ ॥ १४ ॥

इत्य माधीतत्वसमानधर्मसम्भवात् आहुतिचयं प्रयक् विधाय,

१— “मिधायै मनसेऽग्नये खाहेत्यादीनीति (१३ क०) यावत् ।

२— ५२ पृ० ५ पं० दृश्यम् ।

प्रशस्य च चतुर्थी माहुतिं तन्मन्त्रं च विधत्ते— “अथ चतुर्थी
मित्यादि । मन्त्रवाक्यानि क्रमेणोदाहृत्य व्याचष्टे— “एषा हेति ।
‘एषा’ ऋगित्यर्थः । ‘यज्ञस्य’ ‘नेदीयः’ अत्यन्तं सन्निहितम् ।
कथम् ? यस्मात् ‘एषा अपां कीर्तयति’, तस्माच्चेदीयः । तत्कीर्तनेन
यज्ञं प्रति कथं नेदीयस्त्व मिति तच्चाह— “आपो हीति ।
अभिषवसंयवनादिसाधनत्वात् अपां यज्ञत्वम् । स्पष्टं मन्यत् ॥

उक्ताहुतिचतुष्टयस्याज्यस्याख्याः सुवेण होमः । तथाच सूचम्—
“श्रौद्धभणानि जुहोति स्याख्याः सुवेणाहुतये प्रतिमन्त्रम्”—
इति^१ ॥ १५ ॥

“अथ यं पञ्चमी मिति । स्पष्टम् ॥ १६ ॥

पञ्चमस्य इत्थं माह— “अथ यद् भुवाया माज्यं परिशिष्ट
मित्यादिना । अयं मर्थः । दौचणीयेष्टे. सम्बन्धि ‘यदाज्यं’ ‘भुवायाम्’
अवशिष्टम्, ‘तत्’ पञ्चमाहुत्यर्थं ‘जुह्वाम्’ अवनयेत् । एतदेक
मवन्तम् । अथाज्यस्याख्याः सकाशात् ‘सुवेण’ जुह्वा उपरि ‘वि.’
निनयति^२ । एव चतुरवन्त भवति । तत्र ‘यत्’ ‘द्वतीयम्’, ‘तत्’
‘आज्यविलापन्या अधि’ जुह्वा उपरि उत्तानं सुवं निधाय यथा
पूर्वं भवति तथा सुवन्थाभित आज्येन पूरयेत् । तथाच सूचम्—
“जुह्वां ध्रौव मामिच्य दिश्य स्याख्याः सुवेण द्वतीयं सुव मभि
पूरयति”—इति^३ ॥ १७ ॥

१— का० थो० सू० ७ व १६ ।

२— ‘चिरान्याति’—इति च ।

३— का० थो० सू० ७ व १८ ।

पञ्चमस्य मन्त्र माह— “स जुहोति विश्वो देवस्येति^१ ॥ १८ ॥

त प्रशंसति— “सैषा देवताभिरिति । “पञ्चाक्षरा पङ्क्ति” —
इति^२—श्रुते पञ्चसङ्ख्यामन्त्रात् ‘एषा’ ‘पङ्क्तिर्भवति’ । तद्योजयति—
“विश्वो देवस्य”—इति विश्वदेवशब्दश्रवणात् ‘इदं’ मन्त्रवाक्य^३
‘वैश्वदेवम्’ । मयमस्य सवितृत्वापारत्वात् ‘नेष्ट’-शब्दश्रवणात्
‘सावित्रम्’ । “मर्तो वुरीत”—इत्येतेन मनुष्यैर्वरणीयत्वाभिधानात्
‘नैचम्’, मिचस्य हि वरणीयत्वं प्रसिद्धम् । वार्हस्पत्यमन्त्रेषु “द्रविण
धेहि चित्रम्”—इति धुन्नसमानार्थस्य द्रविणस्य दाने बृहस्पति-
सम्बन्धश्रवणात् ‘धुन्नं वृणीत’—इत्यनेन वार्हस्पत्यम् । “पुष्यसे”—
इति पोषणधर्मश्रवणात् ‘पोषणम्’ इति ॥ १८ ॥

“सैषेति । ‘देवताभि’ पङ्क्तिर्न भवति । तत किं मित्यत
आह— “पाङ्क्तौ यज्ञ इत्यादिना ॥ १० ॥

“अथ छन्दोदारा प्रशंसति— “तां वा अनुष्ठुमेति ॥ ११ ॥

इत्य पञ्चाना माङ्गतीना समुच्चयपञ्च मुक्ता पञ्चमौ मेवैका
जुहुयादिति केषाञ्चित् पञ्च माह— “तदाङ्गरिति” । इतराभ्यो
यत् फलं तस्यैकमेव मिद्धेरकामे ‘एता मेव’ ‘जुहुयात्’ । तथापि
‘पूर्णा’ क्त्वा ‘जुहुयात्’, पूर्णाङ्गति कुर्यादित्यर्थः । यत् ‘पूर्वं’

१— वा० स० ४ ८ १ । का० श्रौ० सू० ७ १ १८ ।

२— तै० ब्रा० २ ० १० २ ।

३— पूर्वस्यां ऋषिकृपायां (४८ २० ७ प०) इत्यमरम् (वा० स० ४ ८ १) ।

४— का० श्रौ० सू० ७ १ १८ इत्यमरं याज्ञिकेवद्वेता इतिद्विगता ।

तदन्यूनत्वेन 'सर्वम्', अतस्तेन सर्वफलं माप्नोति । 'यत्' यदा पूर्णाहुतिसमये 'सुवम्' अभि पूरयेत्, 'तत्' तदा, सुवेणैव होमं महत्वा आज्येन 'सुचम्' अभिपूरयेत् । तथा कृत्वा 'ताम्' आहुतिं पूर्णाहुतिं कृत्वा जुहुयात् । तथा च सूचम्— "एता मेव वा पूर्णां जुहुयात्"—इति^१ ॥ १२ ॥

अक्षरसङ्ख्याद्वारा तं मन्त्रं प्रगृह्णति— "त वा चतुष्टुमेति । "दश प्राणाः"—इति । ग्रीर्षगतसप्तच्छिद्रस्याः सप्त प्राणाः, अवाप्तौ द्वौ, इत्युपाधारणा नव, मुख्यप्राणस्त्वेकः, इति प्राणानां दशत्वम् । 'आत्मा' देहः । 'एकचिंशः' पुरुषः । 'एतावान्' एकचिंशात्मकः । 'पुरुषो यज्ञः'—इत्यस्योपपादनम्— "पुरुषसंमितो यज्ञ इति । यज्ञस्य पुरुष-संमितत्वं सुपरिष्ठाद् वक्ष्यते^२ । 'यावानेव यज्ञः'—इत्यस्य विवरणम्— "यावत्यस्य माचेति । 'अस्य' यज्ञस्य 'माचा' । मीयत इति माचा, अवयवसमष्टिः, एकचिंशदात्मिका, 'अनया' "विश्यो देवस्य"—इत्यनया^३ 'तावन्त मेव' यज्ञम् 'आप्नोति' ॥ १३ ॥ ३ [१. ३] ॥

इति श्रीनाथणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

तृतीयकाण्डे प्रथमाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

१— का० थौ० सू० ० १ १६ ।

२— अस्मिन्नेव काण्डे पञ्चमाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणं द्रष्टव्यम् ।

३— यथादशौ कण्डौ द्रष्टव्या (३८ पृ० ० पं०) ।

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।
पुमर्थाद्यतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ १ ॥

ब्रह्माण्डं गोमहंसं कनकहयतुलापूरुषौ स्वर्णगर्भम्,
सप्तार्धोन्^१ पञ्चसौरी^२ स्त्रिदशतद्वलताधेनुमौवर्णभूमौः ।
रत्नोत्तां रुक्माशजिद्विपमहितरथौ सायणिः भिन्नणार्थो,
थम्नाणीद्विचक्रं प्रथितविधिमहाभुतयुक्तं घटञ्च ॥
धान्याद्रिं धन्यजन्मा तिलभव मतुलः स्वर्णजं वर्णमुख्यं,
कार्पासीयं कृपावान् गुडकृत मज्जडो^३ राजतं राजपूज्यः ।
आज्योत्यं प्राज्यजन्मा^४ लवणज मनुष्यः शार्करं चार्कतेजाः,
रत्नाढ्यो रत्नरूपं गिरि मकृत मुदा पावसात्सिङ्गणार्थः ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्तक-
श्रीहरिहरमहाराजसाम्राज्यधुरन्धरेण
सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये
द्वितीयकाण्डे प्रथमाध्यायः समाप्तः ॥ १ ॥

१— 'पञ्चाधोन्'-इति ठ ।

२— 'सप्तसौरी'-इति ठ ।

३— 'मज्जडं'-इति ठ ।

४— 'प्राज्यजुद्धिर्'-इति ठ ।

[अथ द्वितीयाध्याये प्रथम ब्राह्मणम्]

दक्षिणेनाहवनीयं प्राचीनग्रीवे कृष्णाजिने ऽउपस्तृ-
णाति । तयोरेन मुधि दीक्षयति यदि द्वे भवतस्तुदनु-
योर्लोकयो रूपं तुदेन मनुयोर्लोकयोरुधि दीक्षयति ॥ १ ॥

सुम्बहान्ते भवतः । सुम्बहान्ताविव ह्रीमौ लोकौ
तर्जसमुते पश्चाद्भवतस्तुदिमावेव लोकौ मिथुनौकृत्य
तयोरेन मुधि दीक्षयति ॥ २ ॥

युधु ऽएकं भवति । तुदेपां लोकानां रूपं तुदेन मेपु
लोकेषुधि दीक्षयति यानि शुक्लानि तानि दिवो रूपं
यानि कृष्णानि तान्यस्यै यदि वेतरुथा यान्येव कृष्णानि
तानि दिवो रूपं यानि शुक्लानि तान्यस्यै यान्येव बभ्रू-
णौव हुरीणि तान्यन्तरिक्षस्य रूपं तुदेन मेपु लोकेषुधि
दीक्षयति ॥ ३ ॥

अन्तकु मु तुर्हि पश्चात् प्रत्यस्येत् । तुदिमानेव लोकान्
मिथुनौकृत्य तेष्टेन मुधि दीक्षयति ॥ ४ ॥

अथ जघुनेन कृष्णाजिने पश्चात् प्राङ् जान्वाक्
उपविशति । स युव शुक्लानां च कृष्णानां च सन्धिर्भवति
तुदेव मभिमृश्य जपत्यूक्सामयोः शिल्पे स्थ ऽडुति यद्वै

प्रतिरूपं तच्छिल्प मृचां च साम्रां च प्रतिरूपे स्थ इत्येवै-
तदाह ॥ ५ ॥

ते वा सारभ इति । गुर्भो वा एष भवति यो दीक्षते
स छुन्दांसि प्रविशति तस्माच्चक्षाङ्गुलिरिव भवति
न्यक्षाङ्गुलय इव हि गुर्भाः ॥ ६ ॥

स यदाह । ते वा सारभ इति ते वां प्रविशामीत्येवै-
तदाह ते मा पातु मास्य यज्ञस्योदचु इति ते मा गोपा-
यतु मास्य यज्ञस्य सःस्थायया इत्येवैतदाह ॥ ७ ॥

अथ दक्षिणेन* जानुनारोहति । शुर्मांसि शुर्मं मे
यच्छेति शुर्मं वा एतत् कृष्णस्य तदस्य तुन्मानुषः शुर्मं
देवचा तस्मादाह शुर्मांसि शुर्मं मे यच्छेति नुमस्ते अस्तु
मा मा हिःसौरिति श्रेयांसं वा एष उपाधिरोहति
यो यज्ञं यज्ञो हि कृष्णाजिनं तस्मा एवैतद्यज्ञाय निहृते
तथो हैन मेपु यज्ञो नु दिनस्ति तस्मादाह नुमस्ते अस्तु
मा मा हिःसौरिति ॥ ८ ॥

स वै जघनार्हुं इवैवाग्र आसीत् । अथ यदग्र एष
मुध्य उपविशेद्य एनं तुचानुष्ठा हुरेद् द्रप्स्यति वा मु वा
पतिष्यतीति तथा हैव स्यात् तस्माज्जघनार्हुं इवैवाग्र
आसीत् ॥ ९ ॥

अथ मेखुलां परिहरते । अङ्गिरसो ह वै दीक्षितान-
बुल्य मविन्दते* नान्यद् व्रतादशन मुवाकल्पयन्तु
ऽएतामुर्जं मपश्यन्सुमार्तिं तां मध्यतु आत्मन ऊर्जं
मदधत सुमार्तिं तया सुमाप्नुवंस्तुथो ऽएवैषु एतां मध्यतु
आत्मन ऊर्जं धत्ते सुमार्तिं तया सुमाप्नोति ॥ १० ॥

सा वै शाखी भवति । मृद्वसदिति न्वेव शाखी युष
वै प्रजापतिरुजायत गुर्भो भूत्वैतस्माद्यज्ञात्तस्य यन्नेदिष्ठ
मुख मासीत्ते शखास्तस्मात्ते पूतयो व्वान्ति युद्धस्य जरा-
व्यासीत्तुद्वौक्षितवसन मुत्तरं वा ऽबुल्वं जरायुणी
भवति तुस्मादेपान्तरा व्याससो भवति स युथैवातः
प्रजापतिरुजायत गुर्भो भूत्वैतस्माद्यज्ञादेव मेवैपोऽतो
जायते गुर्भो भूत्वैतस्माद् यज्ञात्† ॥ ११ ॥

सा वै चिवृद्धवति । त्रिवृद्भ्यन्नं पशुवो ह्यन्नं पिता
माता यज्जायते तुत् तृतीयं तुस्मात् चिवृद्धवति ॥ १२ ॥

मुञ्जवलग्रेनान्वस्ता भवति । वृजो वै शरो व्विरष्टु-
स्तायै स्तुकासुर्गः सृष्टा भवति सा युत् प्रसलवि
सृष्टा स्याद्यथेदु मन्या रुज्जवो मानुषी स्याद्यद्वपसलवि

* “दीक्षिता न बुल्य मविन्दन् ते”-इति सा० सम्मत इति वेदर ।

इहोपरिष्ठाद्यान्यत्रात्रैव दृष्टव्यम् (४ २ १, १ १, ६ १, २६) ।

† ‘यज्ञात्’-इति ग, घ ।

सृष्टा स्यात् पितृदेवत्या स्यात्तस्मात् स्तुकासुर्गः सृष्टा
भवति ॥ १३ ॥

तां परिहरते । ऊर्गस्याङ्गिरसीत्युङ्गिरसो ह्येता मूर्जं
मुपश्यन्मूर्गस्रदा ऊर्जं मुयि धेह्येति नात्र तिरोहित
मिवास्ति ॥ १४ ॥

अथ नौवि मुद्गूहते । सोमस्य नौविरसीत्युदीक्षि-
तस्य वा ऽअस्यैषाग्रे नौविर्भवत्यथाच दीक्षितस्य सोमस्य
तस्मादाह सोमस्य नौविरसीति* ॥ १५ ॥

अथ प्रोर्णुते । गुर्भो वा ऽएष भवति यो दूक्षते प्रा-
वृता वै गुर्भा उल्बेनेव जरायुणेव तस्माद्वै प्रोर्णुते ॥ १६ ॥

स प्रोर्णुते । विष्णोः शुर्मासि शुर्म युजमानस्येत्युभयं
वा ऽएषोऽच भवति यो दूक्षते विष्णुश्च युजमानश्च
यद्गृह दूक्षते तद्विष्णुर्भवति यद्युजते तद्युजमानस्तस्मा-
दाह विष्णोः शुर्मासि शुर्म युजमानस्येति† ॥ १७ ॥

अथ कृष्णविपाणाः सिचि वधीते । देवाश्च वा ऽश्रुसु-
राश्चोभये प्राजापत्याः प्रजापतेः पितुर्दाय मुपेयुर्मन एव
देवा उपायन् वाच मुसुरा यज्ञ मेव तुदेवा उपायन्
वाच मुसुरा अमू मेव देवा उपायन्निमा मुसुराः ॥ १८ ॥

ते देवा यज्ञ मब्रुवन् । योषा वा ऽइयं वागुपमन्त्रयस्व

ह्वयिष्युते वै त्वेति स्वयं वा हैवैक्षत योपा वा ऽद्वयं वा-
गुपमन्त्रयै ह्वयिष्युते वै मेति ता मुपामन्त्रयत सा हास्मा
ऽआरकादिवैवाग्र ऽआसूयत् तस्मादु स्त्री पुंस्तोपम-
न्त्रितारकादिवैवाग्रे ऽसूयति सु होवाचारकादिव वै म
ऽआसूयीदिति ॥ १९ ॥

ते होचुः । उपैव भगवो मन्त्रयस्व ह्वयिष्युते वै त्वेति
ता मुपामन्त्रयत सा हास्मै निपलाश मिवोवाद तस्मादु
स्त्री पुंस्तोपमन्त्रिता निपलाश मिवैव वदति सु
होवाच निपलाश मिव वै मेऽवादीदिति ॥ २० ॥

ते होचुः । उपैव भगवो मन्त्रयस्व ह्वयिष्युते वै त्वेति
ता मुपामन्त्रयत सा हैनं जुहुवे तस्मादु स्त्री पुमांसः
ह्वयत* ऽपुवोत्तमः सु होवाचाह्वत वै मेति† ॥ २१ ॥

ते देवा ईक्षुञ्चकिरे । योपा वा ऽद्वयं वाग्यदेनं नु
युवितुहैव मा तिष्ठन्त मभ्येहूति ब्रूहि तां तु न आगतां
प्रतिप्रब्रूतादिति सा हैनं तुदेव तिष्ठन्त मभ्येयाय
तस्मादु स्त्री पुमांसः सःस्कृते‡ तिष्ठन्त मभ्यैति ताः
हैभ्य आगतां प्रतिप्रोवाचेयं वा ऽआगादिति ॥ २२ ॥

* 'ह्वयन्त'-इति घ ।

† 'मेति'-इति ग, घ ।

‡ 'सस्कृते'-इति क, ख, वेबरदृष्ट्य ।

तां देवाः* । असुरेभ्योऽन्तरायंस्तुः स्वीकृत्यामावेव
परिगृह्य सर्वहूत मजुहवुराहुतिर्हि देवानाः स या
मेवाम् मनुष्टुभाजुहवुस्तुदेवैनां तुदेवाः स्व्यकुर्वत ते-
ऽसुरा आत्तवचसो हेऽलुवो हेऽलुव इति व्यदन्तः पुरा-
वभूवुः ॥ २३ ॥

तुचैता मुपि वाच मूदुः । उपजिज्ञास्याः स म्वेच्छ-
स्तुमान् ब्राह्मणो म्वेच्छेदसुर्या हैपा व्यागेवु मेवैपु
दिपताः सपुत्नाना मादत्ते व्याचुं तेऽस्यात्तवचसः पुरा-
भवन्ति यु एव मेतद्देदुः ॥ २४ ॥

सोऽयं यज्ञो व्याच मभिदध्यौ । मिथुन्येनया स्या
मिति ताः सुम्बभूव ॥ २५ ॥

इन्द्रो ह वा ईक्ष्वाञ्चके । महद्वा इतोऽभुं जनिष्यते
यज्ञस्य च मिथुनादाचुश्च युन्मा तुन्नाभिभुवेदिति स
इन्द्र एव गुर्भो भूत्वैतन्मिथुनं प्रविवेश ॥ २६ ॥

सु ह संवत्सरे जार्यमान ईक्ष्वाञ्चके । महावीर्या वा
इदं योनिर्या मा मुदीधरत यद्वै मेतो महदेवाभुं
नानुप्रजायेत युन्मा तुन्नाभिभुवेदिति ॥ २७ ॥

तां प्रतिपरामृश्यावेष्ट्याच्छिनत् । तां यज्ञस्य शीर्षन्
प्रत्यदधाद्यज्ञो हि कृष्णः स यः सु यज्ञस्तत् कृष्णाजिनं

यो सा योनिः सा कृष्णविपाणाथ यदेना मिन्द्र
 आवेष्ट्याच्छिनत्तुस्मादावेष्टितेव स युथैवात इन्द्रोऽजायत
 गुर्भो भूत्वैतस्मान्मिथुनादेव मेवैपोऽतो जायते गुर्भो
 भूत्वैतस्मान्मिथुनात्* ॥ २८ ॥

तां वा ऽउत्ताना मिव वभ्राति । उत्तानेव वै योनि-
 गुर्भं विभर्त्यथ दक्षिणां भ्रुव मुपर्युपरि ललाट मुप-
 स्पृशतीन्द्रस्य योनिरसीतीन्द्रस्य ह्येषा योनिरुतो वा
 ह्येनां प्रविशुन् विशत्युतो वा जायमानो जायते तुस्मा-
 दाहेन्द्रस्य योनिरसीति† ॥ २९ ॥

अथोक्षिषति । सुसस्याः कृषीस्कृधीति यज्ञ मेवै-
 तुज्जनयति यदा वै सुपुमं भुवत्यथालं यज्ञाय भवति
 युदो दुःपुमं भवति न तुर्ह्यात्मने च नालं भवति तुद्यज्ञ
 मेवैतुज्जनयति ॥ ३० ॥

अथ नु दीक्षितुः । काष्ठेन वा नखेन वा कण्डूयेत
 गुर्भो वा ऽएषु भवति यो दीक्षते यो वै गुर्भस्य काष्ठेन
 वा नखेन वा कण्डूयेदपास्यन्‡ म्रित्येत्ततो दीक्षितुः
 पामनो भुवितोर्दीक्षितं वा ऽश्रुनु रेतोऽसि ततो रेतोऽसि
 पामनानि जुनितोः स्वा वै योनी रेतो नु हिनस्येषा

* 'जात्'—इति ग, घ ।

† 'सीति'—इति ग, घ ।

‡ 'दुपाम्य'—इति क, ख, वेवशृष्टय ।

वा ऽएतस्य स्वा योनिर्भवति युत् कृष्णविषाणा तुथो हैन
मेपा नु हिनस्ति तुस्मादौक्षितुः कृष्णविषाणुयैव कण्डू-
येतु नान्येन कृष्णविषाणायाः ॥ ३१ ॥

अथास्मै दण्डं प्रयच्छति । वृजो वै दण्डो विरक्षु-
स्तायै ॥ ३२ ॥

औदुम्बरो भवति । अन्नं वा ऽजुर्गुदुम्बुर ऊर्जोऽन्ना-
द्यस्यावरुद्धौ तुस्मादौदुम्बरो भवति ॥ ३३ ॥

मुखसन्मितो भवति । एतावद् वै व्वीर्यं स यावदेव
व्वीर्यं तावांस्तुद्ववति यन्मुखसन्मितः ॥ ३४ ॥

त मुच्छयति । उच्छयस्व व्वनस्पत ऽजुर्गो मा पाच्यु-
हसु आस्य यज्ञस्योदुच इत्यूर्गो मा गोपायास्य यज्ञस्य
सःस्याया इत्येवैतदाह ॥ ३५ ॥

अत्र हेके । अङ्गुलीश्च न्युचन्ति व्वाचं यच्छन्त्यतो हि
किञ्च नु जपिष्यन् भुवतीति व्वदन्तस्तुदु तथा नु
कुर्याद्यथा पुराञ्च धावन्त मनुलिप्सेत तन्नानुलुभेतैव
ह सु यज्ञं नानुलभते तुस्मादमुचैवाङ्गुलीन्युचेदमुच
व्वाचं यच्छेत् ॥ ३६ ॥

अथ युदौक्षितः* । कृचं वा युजुर्वा साम वाभिव्या-
हुरत्यभिस्थिरु मभिस्थिर मेवैतद्यज्ञ मारुभते तुस्मादमु-
चैवाङ्गुलीन्युचेदमुच व्वाचं यच्छेत् ॥ ३७ ॥

अथ यद्वाचं युच्छति । व्याग् वै यज्ञो यज्ञं मुवैतदा-
त्मन् धत्तेऽथ यद्वाचंयमो व्याहरति तस्माद् द्वैप व्विस्वष्टो
यज्ञः पुराङ्गावर्त्तते तुचो व्वैष्णवौ मूर्चं वा युजुर्वा जपेद्
यज्ञो वै व्विष्णुस्तु यज्ञं पुनरारभते तस्यो द्वैपा प्राय-
श्चित्तिः ॥ ३८ ॥

अथैक उद्वदति । दक्षितोऽयं ब्राह्मणो दक्षितोऽयं
ब्राह्मण इति निवेदितं मुवैन मेतत्सुतं देवेभ्यो निवे-
दयत्ययं महावीर्यो यो यज्ञं प्रापदित्ययं युष्माकैको-
ऽभूत् तुं गोपायतेत्येवैतुदाह चिच्छ्रुत्व आह चिच्छ्रु
यज्ञः* ॥ ३९ ॥

अथ यद् ब्राह्मण इत्याहु । अनङ्गेव वा ऽस्युतः पुरा
ज्ञानं भवतीदृश् ह्याह रुक्षाऽसि योपितं मुनुसचन्ते
तदुत रुक्षाऽस्येव रुत आदधतीत्यथाचाहु जायते यो
ब्रह्मणो यो यज्ञाज्जायते तस्मादपि राजुन्यं वा व्वैश्यं
वा ब्राह्मण इत्येव ब्रूयाद् ब्रह्मणो हि जायते यो यज्ञा-
ज्जायते तस्मादाहुर्नु सवनकृतः हन्यादेनस्वी द्वैव
सवनकृतेति ॥ ४० ॥ ५ ॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके पञ्चमं ब्राह्मणम् [२. १.] ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निश्चितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्ममे, त महं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

दीक्षाजतीर्विधायाय कृष्णाजिनदीक्षा माह— “दक्षिणेनाहवनीय मिति । आहवनीयस्य दक्षिणे देशे हे कृष्णाजिने आसीत् ‘तयोरधि’ ‘एन’ यजमान’ ‘दीक्षयति’ । तद्व्रतं द्वित्वं प्रशंसति— “यदि द्वे भवत इति ॥ १ ॥

“सम्बद्धान्ते भवत इति । ते च परस्परं सम्बद्धपर्यन्तप्रदेशे भवतः, आक्षरणे । प्रकाशं कात्यायन आह— “आहवनीयं दक्षिणेन कृष्णाजिने मांससहिते सूतान्ते तर्घसु पश्चादासञ्जनवती निदधाति”—इति^१ । “तर्घसमुते”—इति । ययोमयोर्मांसप्रदेशयोः सम्बन्धो भवति, यथा च तर्दनप्रदेशेषु पश्चाद्भागो ‘उते’ ‘परस्परं’ सूते भवतः, तथैकस्योपर्यपरं मासृणुयात् । तथापस्तम्बोऽपि— “अन्तर्मांसस्यान्तर्हि लोमभ्याम्”—इति^२ ॥ २ ॥

एककृष्णाजिनपत्र मुक्ता प्रशंसति— “यद्यु एक मिति । ‘तत्’ ‘एकम्’ एव कृष्णाजिनं लोकचयात्मकम् ; अत एकेनापि दीक्षयेत् । ‘दिवः’ द्योतमानत्वेन शुक्लरोमांश्चक्षुर्द्रूपं भवति । पृथिव्याः शमत्वात् कृष्णानां तद्रूपत्वम् । “यदि वेतरथेति । भूलोकस्वलोकयोर्मनुष्यैः परिदृश्यमानापरिदृश्यमानत्वं मपेक्ष्य वैपरीत्योपन्यासः । “यान्येवेति । ‘यान्येव’ लोमानि ‘बभ्रूणि’ बभ्रुवर्णानि, ‘हरौषितानि’ हरित-

१— का० श्री० सू० ७. ३. २० ।

२— व्याप० श्री० सू० १०. ८. १२ ।

वर्णानि च दृश्यन्ते 'तानि अन्तरिक्षस्य रूपम्' "नील नभः" इति लोकप्रसिद्धे ॥ ३ ॥

"अन्तकं सु तर्हीति । 'तर्हि' तस्मिन्नेककृष्णाजिनपत्रे 'अन्तकं सु' अन्तप्रदेशे मेव 'पद्यात्' भागे 'प्रत्यस्येत्' सङ्कोचयेत्, सन्धिप्रदेशेन द्विगुणीकुर्यादित्यर्थः । तथा च सूत्रम्—'एकं चेत् पद्यात् पादद्विगुणम्'—इति^१ ॥ ४ ॥

कृष्णाजिनदीर्घार्थं सुपवेशनप्रकारं भाह— 'अथ जघनेनेति । कृष्णाजिनयोः पद्याङ्गागेन स्वयं अपि पद्यात् प्राङ्मुखो दक्षिण-जान्वाक्क उपविशेत् । 'जान्वाक्क' सङ्कुचितजानुक, आरुह्योपविष्टे इत्यर्थः । "दक्षिणं जान्वाच्यास्ते पद्यादेमयो"—इति^२ सूत्रम् । आसीनं तत्सन्धिस्थानं मित्यर्थः । "एव मभिमृश्य जपतीति । एव मित्यभिमर्शनप्रकारस्याभिनयः^३ ॥

मन्त्रस्य शिल्पपदं ध्यात्वाष्टे— "यदा इति । 'प्रतिरूपं प्रति-कृतिः । वै'-शब्देन लोकप्रसिद्धिरुच्यते । लौकिका हि हरितुरगादि-प्रतिरूपं शिल्पं मित्याहुः । शुक्लकृष्णयोरेव कर्त्तव्यमप्रतिरूपत्वं तैत्तिरीयके उक्तम्— "एष वा ऋचो वर्णो यच्छुक्लकृष्णाजिनस्यैष साधो यत् कृष्णम्"—इति^४ ॥ ५ ॥

१— का० श्रौ० सू० ७ ३ २१ ।

२— का० श्रौ० सू० ७ ३ २२ । 'जान्वाक्क' नीचं भूमिस्पृष्टं कृत्वेति दे० ।

३— का० श्रौ० सू० ७ ३ २३ ।

४— वा० स० ४ ८ १ द्रष्टव्यम् ।

५— तै० स० ६ १ ३ ।

द्वितीयं भागं आचष्टे— “ते वा मिति । “गर्भो वा एष भवति” इति^१ । ‘वे’-शब्दोऽत्र श्रुत्यन्तरप्रसिद्धिरुच्यते । तथा चैतरेयकम्— “पुनर्वा एत मृत्विजो गर्भं कुर्वन्ति यं दीक्षयन्ति”— इति^२ । ‘वृन्दांश्चि’ गायत्र्यादीनि । ‘न्यक्ताङ्गुलिः’ सुष्टीकरणेन सङ्कुचिताङ्गुलिः^३ । उक्तसंज्ञायां सुपवेशनं प्रसिद्धगर्भसामान्येन दृढयति— “न्यक्ताङ्गुल्य इव हीति ॥ ६ ॥

“स यदाहेति । उदृक्-शब्दार्थं माह— “आस्य यज्ञस्येति । संख्याया इत्यर्थः । उत्तमा षट्क् ‘उदृक्’, तेन समाप्तिर्लक्ष्यत इति ह्यमस्तदुक्तम्” ॥ ७ ॥

अनन्तरं कृष्णाजिनारोहणं विधत्ते— “अथ दक्षिणेनेति । “वर्म वा इत्यादि । मनुष्येषु यत् ‘वर्म’-इति प्रसिद्धम्, ‘एतद्’ ‘देवचा’ देवेषु सुखहेतुत्वात् ‘गर्म’-शब्दाभिधेयम् ; अतो दैविकेन स्वरूपेण गर्मासीति^४ कृष्णाजिनस्य स्तुतिः । हिंसापरिहारप्रसक्तिं दर्शयति— “श्रेयांस मित्यादिना । यज्ञाख्यश्रेयोऽतिरिक्तकमेणापराद्धं प्रार्थन युक्त मित्यर्थः ॥ ८ ॥

१— “शुक्रशोणितं गर्भाशयस्य मातृमयकतिविकारसमूह्यतं गर्भं इत्युच्यते”—इति शुश्रु० १ ३३६. २० ।

२— ऐ० ब्रा० १. १. ३ । “गर्भो वा एष यदीक्षित उत्वं वास प्रीयुते तस्माद् गर्भा प्रावृता जायन्ते”—इति च तै० सं० ६. १. ३. २ ।

३— “मुष्टी कृत्वा गर्भोऽन्त श्येते, मुष्टी कृत्वा कुमारो जायते”—इति च ऐ० ब्रा० १. १. ३ ।

४— पुरस्ताद् (१२ पं० २ पं०, ४२ पं० १ पं०) द्रष्टव्यम् ।

५— वा० सं० ४ ६. २ द्रष्टव्यम् ।

“स जघनार्द्धं इति । ‘स’ आरूढः ‘जघनार्द्धं’ कृष्णाजिनस्य पद्माङ्गागे एव ‘अग्ने’ प्रथमम् ‘आसीत्’ । विपचे बाध माह— “अथ यदग्न इति । ‘य’ ‘एन’ मध्यप्रदेशं आरूढं ब्रूयात्, अन्य ‘द्रष्टव्यति’ दृष्टं क्षुब्धितगतिर्भविष्यति, तत ‘पतिय्यति’ चेति ॥ ८ ॥

अथ मेखलादीनां माह— “अथ मेखला मिति । ‘परिहरति’ मध्ये परितो वेष्टयेदित्यर्थः । पुरोवृत्तान्ताभिधानेन ता मेखला प्रशंसति— “अद्विरस इति । ‘बल्य’ बलाहं बलकरं वस्तु ‘नाविन्दन्’ । दौर्बल्ये कारणं माह— ‘प्रतात्’ तत्साधनात् पयसः ‘अन्यत्’ अग्रतः ‘नावाकल्पयन्’ यतः, अत इत्यर्थः । ‘ते’ ‘एताम्’ ‘ऊर्जम्’ । ‘ऊर्ज्’ बलं, तत्साधनत्वात् मेखला ऊर्जित्युच्यते । ऊर्जिति विशि-
नष्टि— “समाप्ति मिति । सम्यगाप्यायते बलं मनयेति ‘समाप्ति’ मेखला ॥ १० ॥

तस्या उपपादान्द्रव्यं माह— “सा वै प्राणीति । ‘सा’ समाप्ति ‘प्राणी’ शणमयी भवेत् । ‘मृद्वी’ सुखसंस्पर्शां ‘असत्’ भवेत् । ‘इति चैव’ अनेन खल्वभिप्रायेण, गर्भाणां मार्दवत्वोपेक्षितत्वादित्यर्थः । शणवाससोदत्पत्तिं माह— “यच्च वा इति । ‘यच्च’ यस्मिन् काले ‘प्रजापति’ यज्ञसंक्राशादुत्पन्नः, ‘तस्य’ प्रजापतेर्गर्भभृतस्य ‘नेदि-
‘ष्ठम्’ अत्यन्तसन्निहितं ‘यदुष्व’ आसीत्, ‘ते’ ‘ग्रणा’ अभवन् । ‘तस्मात्’ गर्भमालिन्यसम्भवात् ‘ते’ ग्रणा ‘पूतयो वान्ति’ दुर्गन्धा

भवन्ति । उल्लवं नाम षट्सदृशं गर्भस्थान्तर्वेष्टनम्^१ । “स उल्लावतो गर्भो भवति”—इत्येतदारण्यकम्^२ । प्रतिनिर्दिष्टे बद्धवचनं शणापेक्षम् । जरायुर्बहिर्वेष्टनम्^३ । प्रजापतेः सम्बन्धि तत् दौचितेन धार्यं वस्तु मभूत् । उभेऽपि गर्भरूपप्रजापतिवद्दौचित्यस्यापि गर्भत्वात् धार्यं अभूताम् । मेखलाया वसनान्तरत्वं विधत्ते— “अन्तरं वेति । “स यथैवेत्यादि । स्पष्टम् ॥ ११ ॥

“सा वा इत्यादि । अजाव्यादिरूप मत्तं पिष्टमाह्वपुचात्मना ‘विष्टद् भवति’ यतः, अतस्तदात्मकत्वात् मेखलापि त्रिगुण कर्तव्या ॥ १२ ॥

तस्या सुभ्रशाखाभिश्चितत्वं विधत्ते— “सुभ्रवल्ग्रेनावसा इति । शरस्य वज्रावयवत्वात् रसोविवासकत्वम् । तथा च तैत्तिरीयकम्— “इन्द्रो वृचाय वज्रं प्राहरत् स जेधा व्यभवत्”—इत्युपक्रम्य “येऽन्तः शरा अग्रौर्यन्त ताः शर्करा अभवन् तच्छर्कराणां शर्करत्वं वज्रो वै शर्करा.”—इति^४ । मेखलायाः केशवेणीवन्निर्माणं विधत्ते— “स्तुकासंगे सृष्टा भवतीति । ‘स्तुका’ केशवेणी, सा यथा सृज्यते, तथा सृष्टा निर्मिता भवेत् । उक्तप्रकारं प्रशंसितुं प्रकारान्तरयोर्दोष माह— “सा प्रसलवीति । ‘सा’ मेखला, ‘यत्’ यदि ‘प्रसलवि सृष्टा’

१, १— “गर्भो जरायुःकाष्ठव उल्लवं जहाति जञ्जना”—इति वा० सं०

१८. ७६. १ इत्ययम् ।

२— कान्दो० ब्रा० उप० ५. ८. १ । से० ब्रा० १. १. २ । निर० ६. ६. ७ ।

३— तै० सं० ५. २. ६. ४ । “इन्द्रो—व्यभवत् । स्फुल्लतोयं, रयस्तृतीयं, यूपस्तृतीयम् । — येऽन्तःशरा इत्यादि ।

दक्षिणपाणेर्वापारेण निर्मिता स्यात्, तदा 'यथा' येन प्रकारेण 'अन्या' सौक्ष्मिक, गवादिवन्धनरज्जवो मानुष्या भवन्ति, एव मिय मपि मानुष्येव भवेत् । 'यत्' यदि 'अपसलवि सृष्टा' सथ पाणिनोपरि व्यापृतेन निर्मिता स्यात्, तदा 'पितृदेवत्या स्यात्' । तस्मात् "स्तुकासर्गं सृष्टेति उपसहार ॥ १३ ॥

वन्धनमन्त्र विधाय व्याचष्टे— "ता परिहरतीति । "अङ्गिरसो ह्येता मूर्जं मिति । अत्र 'हि' शब्देन श्रुत्यन्तरे प्रसिद्धिराविक्रियते । तथा च तैत्तिरीयकम्— "अङ्गिरस सुवर्गे लोकं यन्त ऊर्जं व्यभजन्त -इत्यादि^१ । अत्र कात्यायन— 'मेखला बध्नीते वेणीं विवृतं शणमुञ्जमिमां मन्तरा वासस ऊर्गमौति -इति ॥ १४ ॥

वस्तान्तस्य समन्त्रक मुद्रूहनं माह— "अथ नीवि मिति^२ । अग्रे सोमयागात् पूर्वम् । 'दौक्षितस्य' 'सोमस्य' सोमयागकर्तृत्वाद् दौक्षितो ह्युपचारेण सोम इत्याचक्षते ॥ १५ ॥

वाससा आच्छादनं विधत्ते— "अथ प्रोर्णुत इति । 'ऊर्णुते' आच्छादयति ॥ १६ ॥

"स प्रोर्णुत इति । आच्छाद्यप्रदेशविशेषं सूचे^३ स्पष्टं उक्तं— "अथ प्रोर्णुते विष्णोः शर्मासौति -इति^४ । विष्णुशब्दं पुरुषो-

१— अङ्गिरसः— व्यभजन्त । ततो यदग्रिष्यत् तं शरा व्यभवद्गमं वै शरा यच्छरमयो मेखला भवत्यूर्जं मेवावरुन्ते -इति तै० स० ५ ७ २ ८ ।

२— का० श्रौ० सू० ७ ३ २६ । मन्त्रपाठस्तु वा० स० ४ १० १ ।

३— का० श्रौ० सू० ७ ३ २७ ।

४— मन्त्र एव — वा० स० ४ १० २ ।

क्षमे प्रसिद्धः, अत्राभिमत मर्थ माह— “उभयं वा एष इति ।
दीचणीयेष्टौ आग्नावैष्णवे हविषि विष्णुर्देवतेति तत्संस्कारसंस्कृतो
यजमानोऽपि विष्णुरित्यभिप्रायः ॥ १७ ॥

वस्त्वान्ते कृष्णविषाणबन्धन माह— “अथ कृष्णविषाण मिति^१ ।
‘सिचि’ सिग् वस्त्वान्तः^२, तच्च वध्नीयात् । कृष्णविषाणोत्पत्त्यर्थं
माख्यायिका माह— “देवास्य वा असुरास्तेत्यादिना । ‘प्राजापत्याः’
प्रजापतेः पुत्राः ‘पितुर्दायं’ पैत्रकं धनम् । इन्द्रियेषु मध्ये ‘मन
एव देवाः’ प्राप्ताः, ‘वाचं’ वागिन्द्रियम् ‘असुराः’ । तथा यज्ञ मेव
‘देवाः’ उपगताः, ‘वाचम्’ इन्द्रियम् ‘असुराः’ । ‘अमू’ दिव मेव
‘देवाः’, ‘इमाम्’ पृथिवीम् ‘असुराः’ ॥ १८ ॥

“ते देवा इति । एवं सति देवा वाचोऽपि स्वाधीनत्वकरणाय
‘यज्ञम्’ एवम् ‘अब्रुवन्’— यज्ञ । ‘इयं वाक्’ ‘योषा’, तं तु पुमान्;
तस्मात् ताम् ‘उपमन्त्रयस्व’ सम्भोगार्थं सङ्केतेनाह्वय, सापि ‘ता’
त्वां ‘ह्वयिष्यते’ आकारयिष्यति ‘इति’ अब्रुवन् । तत्तद् वृत्तान्तं
जानती श्रुतिर्ब्रूते— न केवलं तेषां वचन मेव, किन्तु ‘स्वयं वा
ह एव’ यज्ञ. स्वयं मपि ‘ऐक्षत’ विचारितवान् । ईदृशप्रकार
भर्तुवदति— “योषेति । ‘मा’ मा मपि ‘ह्वयिष्यते’ अतः ‘उपमन्त्रयै’
अह मिति । उपमन्त्रिता ‘मा’ ‘अये’ प्रथमवारम् ‘आरकात्’ आर

१— का० श्रौ० सू० ७. १. २८ । मन्त्रत्वस्य — वा० सं० ४. १०. ३ ।

२— वसनस्य दशा इति यावत् ; अतएवाह स्पष्टम्— का० श्रौ० ७. १.

२६ सूत्रे ‘दशायाम्’—इति । काण्वाना मुत्तरीये बन्धन मास्त्रातम् ।

मेव आरकम्,^१ तस्मादेव । लोकदृष्टान्तकथन स्पष्टम् । जातं
वृत्तान्तं देवेभ्यो निवेदयति— “स होवाचेति ॥ १८ ॥

“ते होचुरिति । अथ पुनर्देवैर्याच्यमानो यज्ञः ‘ता मुपा-
मन्त्रयत’ । ‘सा’ अपि ‘निपलाग्न मिव’ निपतितपर्णं वृक्षादिक
मिव, तद्यथा केवलं कम्पते, एव शिरस्थालनेन ‘उवाच’ इत्यर्थः ।
अथवा पलाग्ननिपतन मिव ओष्ठस्थालनेनेत्यर्थः । “तस्मादित्यादि
पूर्ववत् ॥ १० ॥ २१ ॥

“ते देवा इति । तृतीयवारे त्वाङ्गतवती आकामं वृत्तान्त
ज्ञातवन्तो ‘देवाः हि ईक्षाक्षकिरे’ । कथम् ? ‘इष वाक् योषा’
खलु अस्तु नामेत्यत आह ‘यत्’ यस्मात् ‘एन’ यज्ञ ‘न युविता’
न मिलितवती, अतो न विश्वमित्येत्यर्थः । एव मीचिता, हे
यज्ञ । तवान्तिके कथं गच्छामि, किन्तु हे वाक् । त्वम् ‘इष’
स्थाने ‘एव’ ‘तिष्ठन्त’ ‘मा’ माम् अभिगच्छ ‘इति ब्रूहि’ इत्य-
नुवन् । तथा ‘ता मागता’ वाच ‘न’ अस्माक ‘प्रतिप्रवृत्तात्’
निवेदयतु ‘इति’ ॥ अनुवन् । सायणाकारिता ‘तदेव’ तत्र सङ्केत-
प्रदेशे तिष्ठन्त मेव यज्ञं अभिगता । अथ स यज्ञो वागागतेति
देवेभ्यः प्रोवाच ॥ २२ ॥

“तां देवा इति । ‘तां’ वाच ‘देवाः’ ‘असुरेभ्यः’ ‘अन्तरायन्’
तथा वर्जितानकुर्वन् । ‘स्त्रीकृत्य’ चाग्निमुख मन्तरेण स्वभोगायोगात्
‘अग्नावेव’ ‘तां’ वाचम् ‘अनुष्टुभा’ “विद्यो देवस्य नेतु”-इत्येतया
यथा पुनरसुराणां निराशा भवति तथा सर्वतः ‘अनुष्टुभुः’ । केवला

किं न स्वीकृतव्यत आह— “आहुतिर्हीति । आहुतिरूपेणाग्नौ दत्त मेव देवानां प्रियमित्यर्थः । अथ ते असुराः ’आन्तवचसः’ देवैः स्वीकृतवचसः “हे अरयः हे अरयः”—इत्युच्चारयितु मगताः “हेऽलवः हेऽलवः”—इति वदन्तः पराभूताः ॥ ११ ॥

प्रसङ्गात् कश्चिद् वाग्विषयं नियममाह— “तच्चेति । ‘उप-जिज्ञास्यां’ ज्ञातव्या, सन्दिग्धां वाचम्, ‘ऊचु’ उक्तवन्तोऽसुराः । ‘स चेच्छः’ सन्दिग्धार्थस्यापभ्रंशरूपस्य वचसो भाषणं यत्, तत् चेच्छन्मित्यर्थः । यदा य ईदृशीं वाचं वदति, स चेच्छः । ‘तस्मात्’ ‘न चेच्छेत्’ चेच्छो न भवेत्, तदीया मपार्थिव्यां भाषां न ब्रूयादित्यर्थः । ‘असुर्या’ असुरेष्वाहिता । उक्तार्थपरिज्ञानं प्रशंसति— “एव मेवैव इति । ‘अस्य’ सपत्न्या, अनेन ज्ञात्वा अपहृतवचसः सन्तः ‘पराभवन्ति’ ॥ १४ ॥

यदर्थं माख्यायिका प्रपञ्चिता, त मर्थं विधातुमाह— “सोऽयं यज्ञ इति । अभिधानप्रकारः प्रदर्शयते— “मिथुनीति । ‘सम्भव’ सङ्गतोऽभूत् ॥ (१५ ॥

“इन्द्रो ह वा इति ।) ‘इतः’ अस्मात् ‘मिथुनात्’ ‘अभवम्’ अपत्यं यज्ञवाचोर्मिथुनात् ‘यत्’ ‘जनियते’, ‘तत्’ तस्मात् ‘सा’ सा ‘नाभिभवेत्’ ‘इति’ । एव मौचित्वा अन्योत्पत्तिभयात् ‘सः इन्द्रः एव’ वाग्योन्यां स्वयं ‘गर्भो’ भूत्वा प्रविष्टः ॥ (१६ ॥

१— व्याकरणाध्ययनप्रयोजनकथनपरवार्तिकव्याख्यानवसरे पातञ्जले महाभाष्ये पक्ष्याणां चैषा श्रुतिवद्भूता, परं तत्र तु ‘हेऽलवो हेऽलवः’—इति पाठः ।

“स ह सवत्सर इति ।) तत्र सवत्सर सुषित्वा अजायत । “मा मदीधरतेति । स्वसामर्थ्याविष्करणम्, तच्च योनेर्वज्रवीर्यत्वप्रशमनायोपयुज्यते । एतस्मात् मिथुनात् मा मनु अन्यत् महत् ‘अभवम्’ अपत्य नोत्पाद्येत, ‘यन्मा भभिभवेदिति’ ॥ (१७ ॥

“ता प्रतिपरामृश्येति ।) ‘प्रतिपरामृश्य’ योनिदेशे किमुत्पादक मिति विचार्य, ‘ताम्’ ‘आवेक्ष्य’ हस्तेनावेष्टन कृत्वा ‘अदधात्’ यज्ञग्निरसि स्थापितवान् । “यज्ञो हि कृष्ण इति । ‘हि’-शब्देन “यज्ञो देवेभ्यो निस्सायत कृष्णो रूप कृत्वा”— इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धिरभिधीयते । अतः प्रसिद्धो ‘य’ ‘कृष्ण’ मृगोऽस्ति, ‘स’ एव निदानेन ‘यज्ञ’, ‘तत्’ एव यजमानेन धार्य ‘कृष्णाजिनम्’ तस्या वाचो ‘योनि’ । ‘मा कृष्णविषाणा’ यान्या । कृष्णविषाणधारणे लिङ्ग दर्शयति— “यदेना मिति । उक्तार्थज्ञ प्रशंसति— “स यथैवात इति ॥ १८ ॥

तस्या बन्धने ऊर्ध्वमुखत्वं विधत्ते— “ता वा इति । योनिर्यद्यधोमुखं गर्भं विभ्रयात्, तदा पतेदेव, अत उत्तानभरणं सिद्धम्, तत्साधर्म्यात् ‘ताम्’ ‘उत्तानाम्’ बध्नीयात् । बन्धनप्रकारं माह— ‘दक्षिणा भुवम्’ आरभ्य ललाटप्लेपदुपरिप्रदेशं स्पृशेत् । अत्र सूत्रम्— “कृष्णविषाणा दक्षिणि पञ्चवलि वीक्षन्ना दग्धार्थां बध्नीते तया कण्डूयनम् उपस्पृश्येनया दक्षिणस्या भुव उपरौन्द्रस्य योनिरिति’—इति । मन्त्र व्याचष्टे— “इन्द्रस्येति । ‘अत हि’

१— १ का० १ ४ १, तै० स० ६ १ १ १, वा० स० २ १ १ ।

२— का० श्रौ० सू० ७ १ ८, १०, ११ । वा० स० ४ १० ४ ।

अस्या योनेः सकाशात् खलु 'प्रविशति' गर्भरूपेणेन्द्रः । गर्भप्रवेश-
निर्गमयोः साधनत्वादिन्द्रस्य योनित्वं मिदम् ॥ १८ ॥

तथा भूमेरुपरि समन्त्रक मुल्लेखनं विधत्ते—“अथोल्लिखतीति^१ ।
'क्षयीः' दृष्टस्यलीः समृद्धगस्याः 'रुधीति' मन्त्रार्थः^२ । 'क्षयीरुद्धि'
—इत्यत्र कस्कादित्वात् सत्वम्^३ । 'एतत्' एतेनोल्लेखनेन । स्पष्टं मन्यत् ।
“यदा वा इति । 'यदा' खलु 'सुषमं' क्षयादिसम्पत्त्या 'सुषमं'
सुखप्रदः संवत्सरो 'भवति', तदैव यज्ञोऽनुष्ठानाय प्रभवति; यदा
उक्तवैपरीत्येन 'दुषमं' दुःखहेतुः संवत्सरो भवति, तदा 'आत्मने'
संशरीररक्षणायापि न प्रभवति; का कथा यज्ञस्येति ॥ १० ॥

क्षणाविषाण्या कण्डूयनप्रशंसनायै साधनान्तरं निन्दति—“अथ
न दीक्षित इति । 'यः' कश्चिद् 'गर्भस्य' इति कर्मणि क्षयी, गर्भं
काष्ठादिना विकर्षेत्, तदा स 'गर्भः' अपगच्छन् मृतिं प्राप्नुयात् ।
ततोऽन्यस्य साधनस्य दुष्टत्वात् तेन विकर्षमाणः 'दीक्षितः पामनो
भवितोः' । 'पामा' विचर्चिका, मलवीर्ययो नः^४, तदन् भवितुं समर्थो
भवतीत्यर्थः । न केवलं दीक्षितः स्वयमेव पामनो भवति, किन्तु
तदुत्पन्नाः पुत्रा अपि तादृश भवन्तीत्याह—“दीक्षितं वा अश्विति ।
विपद्ये दोषं मुक्ता रूपये तदभावं दर्शयितु माह—“स्वा वा
इति । क्षणाविषाण्या योनित्वात्, दीक्षितस्य गर्भत्वात्, हिमा-
भावाय 'क्षणाविषाण्यैव कण्डूयेत' इति विधिः^५ ॥ २१ ॥

१— का० श्रौ० सू० ७. १. १२ । २— मन्त्रसूत्र वा० सं० ४. १०. ५ ।

३— पा० सू० ८. १. ४८ ।

४— मा० सू० ५. २. १०० ।

५— का० श्रौ० सू० ७. १. १० ।

अथ दण्डेन दीक्षा विधत्ते— “अथास्मा इति । प्रहारसाधन-
त्वाद दण्डस्य वज्रत्वम् ॥ ३९ ॥

“ओदुम्बरो भवतीति । ‘ऊर्क्’ वल्लकररसरूपम् ‘अस्त्रम्’ ।
उदुम्बरस्योक्तरूपत्वं तैत्तिरीयके आस्मातम्— ‘देवा वा ऊर्जं
व्यभजन्त त उदुम्बर उदतिष्ठत्’—इति^१ ॥ ३९ ॥

“मुखसंक्षित इत्यादि^२ । स्पष्टम् । मुखपर्यन्तम् । प्रत्यङ्गे वीर्य-
सम्भवात् ततोऽध कण्ठादिसंक्षितं न कुर्यादित्यर्थः ॥ ४० ॥

दण्डस्योच्छ्रयण समन्त्रक विधत्ते— “त मुच्छ्रयतीति^३ । उदृक्-
शब्दस्य समाप्तिवाचकत्वप्रकारोऽसहत् प्रदर्शितः ॥ ४१ ॥

दर्भे पावनानन्तरं मुष्टीकरणवाग्यमावुक्तौ । न एव स्वाभिमत
कालः । स्वाभिमतत्वस्याच ‘वाच च यच्छन्ति’—इति चकारेणावगम्यते
दण्डदीक्षानन्तरं तयोः काल इतीमं केषाञ्चित् पक्षे सुपस्यस्य तेषां
समिप्राय माविष्कृत्य स्वपक्षे सुपसहरति— “अथ हे क इत्यादिना ।
‘अतो हि’ अस्माद् दण्डपहणकालादूर्ध्वकाले किञ्चिदपि ‘न जपि-
यन् भवति’, जपस्य च सर्वस्य पूर्वं मेव निष्पद्यतादिति भावः ।
“यथा परास्त्रं मिति । तेषां पक्षे दीपप्रदशन परावृत्तस्य पुनर्पहण
दुर्घटं मिति ‘अमुचैव’ प्रागुक्ते^४ काले, दर्भपावनानन्तरं मेव कर्तव्य
मित्यर्थः ॥ ४२ ॥

१— “उर्जा अस्मात् उदुम्बर” —इति से० ब्रा० ८० ३ ।

२— का० श्रौ० सु० ० ३ १ ।

३— का० श्रौ० सु० ० ३ ० । मन्त्र— वा० म० ३ १० ६ ।

४— १९ ए० २५०, ३० ए० १५०, ६६ ए० ६५० दृश्यम् ।

५— १ ३ २१, ३० अष्टिके (३९, ३३ ए०) दृश्ये ।

स्वपक्षे गुणान्तर माह— “अथ यद् दीक्षित इति । चाश्चल्य-
कारणस्य व्यर्थवचसो नियमितत्वेन ऋगादिमन्त्राभिव्याहरणसमयस्यैव
स्यैवोपादानान्मन्त्रोच्चारणकृतो न वाङ्मयमस्य भङ्ग इति प्रागेव
कर्त्तव्यम् । कात्यायनस्तु दण्डधारणानन्तरं वाग्यमन मपि विकल्पे-
नोक्तवान्— “अथ वा सृष्टिकरणवाग्यमने”—इति^१ ॥ ३७ ॥

गृहीतवचसः पुनर्वाङ्मयवहारे प्राथम्येन मभिधातुं वाग्यमनस्य
प्रयोजन माह— “अथ यदिति । वैष्णवी सृचं “इदं विष्णु-
र्विचक्रमे”—इत्येवमादिकाम्^२ ॥ ३८ ॥

अध्वर्युकर्त्तृकं दीक्षितावेदनं विधत्ते— “अथैक उद्दतीति ।
‘एकः’ अध्वर्युः ‘उद्दतीति’ उच्चैरावेदयति । ‘अयं ब्राह्मणः दीक्षितः’
दीक्षणीयेष्टिकृष्णाजिमादिदीक्षासंस्तारेण संस्कृतः ‘इति’ । ‘अयं
महावीर्यः’ इत्येतत् पूर्वं व्याख्यातम् । सूत्रे तु अध्वर्युव्यतिरिक्तेन
कर्त्ता आवेदन मुक्तम् । “अन्यो दीक्षितोऽयं ब्राह्मण इत्याह
चिरुच्चैः”—इति^३ । अन्यशब्दोऽध्वर्युषन्निकर्षादाध्वर्यवसमाख्यानवशात्
प्रतिप्रस्थादपरः, उच्चैरित्यनेन चानुर्वाणपचः सूचितः—इति कर्कोपा-
ध्यायेन व्याख्यातम् । तस्य आवेदनवाक्यस्य चिरावृत्तिं विधत्ते—
“विः कृत इति ॥ ३९ ॥

आवेदनवाक्यगतस्य ब्राह्मणपदस्य प्रयोजन माह— “अथ यद्

१— का० श्रौ० सू० ७. ४. ४ । “आस्तमयाद् वाचं यच्छति”—इति
वाग्यमनकालसीमा च तत्रैव (१३ सू०), इहाप्यस्त्युत्तरत्र (८१ सू०) ।

२— ऋ० सं० १. २२. १० । वा० सं० ४. १५. १. ।

३— का० श्रौ० सू० ७. ४. ११ ।

ब्राह्मण इति । 'अत' 'अस्या' दौचाया 'पुरा' 'जान' जन्म 'अन
 द्वेव' अविनिश्चित मिव 'भवति' । अनद्धात्वे कारण माह— "इद
 द्वाङ्गरिति" । 'इद' वक्ष्यमाणम् 'आङ्' अभिज्ञा । यतो राक्षसा
 स्त्रियम् 'अनुसचन्ते' अनुसग्रवयन्ति, गर्भाधानममये 'रेत' च
 'आदधति', अतो योनितो जन्यते । ब्राह्मण इत्यस्य व्याख्यानम्—
 "यज्ञादिति । यज्ञशब्दाभिधेयात् ब्रह्मणो जातत्वाद् 'ब्राह्मण'-
 शब्दव्यवहार । अतएव राजन्यवैश्ययोरपि दीक्षितयो "दीक्षितोऽय
 ब्राह्मण'—इत्येव सूच्यात्^१ । यज्ञशब्दप्रसंगार्थं कश्चिद्विधम माह—
 "न सवनकृत मिति । 'सवनकृत' अभिषेककर्तार यष्टार चैवर्णिके
 खन्यतम मपीत्यर्थः । 'सवनकृत' सवनकृतनिमित्तेन तद्वधेनेत्यर्थः ॥
 ४० ॥ ५ [१ १] ॥

इति श्रीमायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माथन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

तृतीयकाण्डे द्वितीयाध्याये प्रथम ब्राह्मणम् ॥

॥ इति तृतीयकाण्डे प्रथमः प्रपाठक समाप्तः ॥

१— 'ब्राह्मण इत्येव वैश्यराजन्ययोरपि, अत —इति वा० ७ ४ १४ ।

२— "कण्डिकासृष्टा १२४"—इति च । तत्र १ ब्रा० १२ क०, २ ब्रा०
 २१ क०, ३ ब्रा० २८ क०, ४ ब्रा० २३ क०, ५ ब्रा० ३० क०,
 सप्तमया १२४ इति लिख्यम् ।

अथ

द्वितीयप्रपाठके प्रथम ब्राह्मणम्,

अपि वा

द्वितीयाध्याये द्वितीय ब्राह्मणम् ।

॥ हरिः ॐ ॥

व्वाचं यच्छति । सु व्वाचंयमु आस्तु ऽआस्तमयात्
तद्यद्वाचं युच्छति ॥ १ ॥

यज्ञेन वै देवाः । इमां जितिं जिग्युर्येषा मियं जिति-
स्ते होचुः कथुन्न इदं मनुष्यैरनभ्यारोह्युः स्यादिति ते
यज्ञस्य रुसं धीत्वा युथा मुधु मधुकुतो निर्धुयेयुर्विदुह्य
यज्ञं यूपेन योषयित्वा तिरोऽभवन्नुथ युदेनेनायोपयं-
स्तुस्माद्यूपो नाम ॥ २ ॥

तदा ऽऋषीणा मुनुश्रुत मास । ते* यज्ञं सुमभरन्त्यु-
थायं यज्ञः सुभृत एवं वा ऽएषु यज्ञं सुभरति यो
दीक्षते व्वाग् वै यज्ञः† ॥ ३ ॥

* 'तेन'-इति क ।

† 'यज्ञ'-इति ग, घ ।

ता मुस्तमिते व्याचं व्विस्तृजते । संवत्सरो वै प्रजा-
पतिः प्रजापतिर्युञ्जो ऽहोरात्रे वै संवत्सर एते ह्येनं परि-
श्रवमाने कुरुतः सोऽहं न दौक्षिष्ट स शुचिं प्रापत्स
यावानेव यज्ञो यावत्स्य माचा तावन्त मेवैतदाश्वा
व्याचं व्विस्तृजते ॥ ४ ॥

तद्वैके । नक्षत्रं दृष्ट्वा व्याचं व्विसर्जयन्त्युद्यानुद्यास्त-
मितो भवतीति व्वदन्तस्तदु तथा न कुर्यात् क ते
स्युर्युग्मेघः स्यात्तस्माद्युवैवानुद्यास्तमितं मुन्येत तदेव
व्याचं व्विसर्जयेत् ॥ ५ ॥

अनेनो वैके व्याचं व्विसर्जयन्ति । भूर्भुवः स्वरिति
यज्ञ माष्याययामो यज्ञः सुन्दध्वा इति व्वदन्तस्तदु तथा
न कुर्यान्तु ह सु यज्ञ माष्याययति न सुन्दधाति यु
एतेन व्याचं व्विसर्जयति ॥ ६ ॥

अनेनैव व्याचं व्विसर्जयेत् । व्रतं कणुत व्रतं कणु-
ताभिर्ब्रह्माभिर्युञ्जो व्वनस्पतिर्यज्ञिय इत्येषु ह्यस्याच
यज्ञो भवत्येतद्विर्यथा पुराग्निहोत्रं तद्यज्ञेनैवैतद्यज्ञः
सम्भुत्य यज्ञे यज्ञं प्रतिष्ठापयति यज्ञेन यज्ञः सुन्तनोति
सुन्ततुः ह्येवास्यैतद् व्रतं भवत्या सुत्यायै चिष्कृत्व आह
चिद्विह्वि यज्ञः ॥ ७ ॥

अथाग्निं मभ्यावृत्य व्याचं व्विस्तृजते । न ह सु यज्ञ

मुप्याययति न सुन्दधाति योऽतोऽन्येन व्याचं व्विस्तृज-
ते सु प्रथमं व्याहुरन्सत्यं व्याचोऽभिव्याहरति ॥ ८ ॥

अग्निर्ब्रह्मेति । अग्निर्ह्येव ब्रह्माग्निर्यज्ञ इत्यग्निर्ह्येव
यज्ञो व्वनस्पतिर्यज्ञिय इति व्वनस्पतयो हि यज्ञिया
न हि मनुष्या युजेरन् यद् व्वनस्पतयो न स्युस्तस्मादाह
व्वनस्पतिर्यज्ञिय इति* ॥ ९ ॥

अथास्मै व्रतुः अपयन्ति । देवान्वा ऽएषु उपावर्तते
यो दौक्षते सु देवताना मेको भवति श्रुतं वै देवानां
हविर्नाश्रुतं तस्माच्छ्रपयन्ति तद्देष्टु एव व्रतयति नाम्नौ
जुहोति तद्देष्टु एव व्रतयति नाम्नौ जुहोति ॥ १० ॥

यज्ञेन वै देवा । इमां जितिं जिग्युर्येषा मियं जिति-
स्ते होचुः कथुन्न इदं मनुष्यैरनभ्यारोह्युः स्यादिति ते
यज्ञस्य रुसं धोत्वा युथा मुधु मधुकृतो निर्हुयेयुर्व्विदुह्य
यज्ञं यूपेन योपयित्वा तिरोऽभवन्नुथ युदेनेनायोपयं-
स्तस्माद्यूपो नाम ॥ ११ ॥

तदा ऽक्षुषीणा मनुश्रुत मास । ते यज्ञः* सुमभरन्
युथायं यज्ञः सुभृत एष वा ऽश्रुच यज्ञो भवति यो दौक्षत
ऽएषु ह्येनं तनुतु ऽएषु एनं जनुयति तद्देष्टुवाच यज्ञस्य
निर्ह्वितं यद्दिदुग्धं तद्देवैतत्पुनराप्याययति युदेष्टु एव

व्रतयति नाम्नौ जुहोति न हाप्याययेद्युदमौ जुहुयाज्जु-
ह्वदु हैव मुन्येत नाजुह्वत् ॥ १२ ॥

इमे वै प्राणाः* । मनोजाता मनोयुजो दुक्षकृतवो
व्वागेवाग्निः प्राणोदानौ मित्रावरुणौ चक्षुरादित्यः श्रोत्रं
व्यिश्वे देवा एतासु हैवास्यैतद्देवतासु हुतुं भवति ॥ १३ ॥

तद्वैके । प्रथमे व्रतु ऽउभौ व्रीहियवावावपन्त्युभा-
भ्याः रुसाभ्यां युदेवाव यज्ञस्य निर्व्वीतं यद्विदुग्धं
तत्पुनराप्याययाम इति व्यदन्तो युद्यु व्रतदुघा न दुह्नीत
यस्यैवातः कामयेत तस्य व्रतुं कुर्यादेतद् दुह्येवास्यैता
ऽउभौ व्रीहियवावन्वारब्धौ भवत इति तदु तथा न
कुर्यान्नु ह सु यज्ञ माप्याययति न सुन्दधाति यु उभौ
व्रीहियवावावपति तस्मादन्यतरु मेवावपेह्विविर्वा ऽअ-
स्यैता ऽउभौ व्रीहियवौ भवतः स युदेवास्यैतौ हविर्भु-
वतस्तुदेवास्यैतावन्वारब्धौ भवतो युद्यु व्रतदुघा न
दुह्नीत यस्यैवातः कामयेत तस्य व्रतुं कुर्यात् ॥ १४ ॥

तद्वैके । प्रथमे व्रते सर्व्वीपधुः सर्व्वसुरभ्यावपन्ति यदि
दीक्षित मूर्त्तिर्व्विन्देद्येनैवातः कामयेत तेन भिषज्येद्
यथा व्रतेन भिषज्येदिति तदु तथा न कुर्यान्मानुषः
ह ते यज्ञे कुर्व्वन्ति व्यृहं वै तद्यज्ञस्य युन्मानुषं नेद्

वृद्धं यज्ञे करवाणीति यदि दीक्षित मूर्तिर्विन्देद्येनैवातः
कामुयेत तेन भिषज्येत् सुमार्तिर्होव पुण्या* ॥ १५ ॥

अथास्मै व्रतं प्रयच्छति । अतिनीय मानुषं कालुः
सायन्दुग्धं मपररात्रे प्रातर्दुग्धं मपराल्ने व्याकृत्या एव
दैवञ्चैवैतन्मानुषं च व्याकरोति ॥ १६ ॥

अथास्मै व्रतं प्रदास्यन्नप उपस्पर्शयति । दैवीन्धियं
मनामहे सुमृडौका मभिष्टये वर्चोधां यज्ञुवाहसः
सुतीर्या नो असदृश इति मानुषाय वा एष पुरा-
शनायावनेनित्तेऽथाच दैव्ये धिये तुस्मादाह दैवीं धियं
मनामहे सुमृडौका मभिष्टये वर्चोधां यज्ञुवाहसः
सुतीर्या नो असदृश इति स यावत् कियच्च व्रतं
व्रतयिष्यन्नप उपस्पृशेदेतेनैवोपस्पृशेत् ॥ १७ ॥

अथ व्रतं व्रतयति । ये देवा मनोजाता मनोयुजो
दुक्षकतवस्ते नो ऽवन्तु ते नः पान्तु तेभ्यः स्वाहेति
तद्यथा व्युपदृक्षतः हुतं मेव मस्येतुर्भवति ॥ १८ ॥

अथ व्रतं व्रतयित्वा नाभिमुपस्पृशते । आत्राः पीता
भवत यूयमापो असमाक मन्तुरुदरे सुशेवाः । ता अस्मभ्य
मयस्मा अनमीवा अनागसः खुदन्तु देवीरमृता कृता-
वृध इति देवान् वा एष उपार्चते यो दीक्षते सु देव-

ताना मेको भवत्यनुत्सिक्तं वै देवानां हविरुयैतद् व्रत-
 प्रदो मिथ्याकरोति व्रतं मुपोत्सिञ्चन् व्रतं प्रमौणाति
 तुस्यो द्वैषा प्रायश्चित्तिस्तुथो हास्यैतन्न मिथ्याकृतं
 भवति न व्रतं प्रमौणाति तुस्मादाह श्वाचाः पीता भवत
 यूयु मापो ऽअस्माक मन्तरुदुरे सुशेवा । ता अस्मभ्य
 मयस्मा अनमौवा अनागसः स्वदन्तु देवैरमृता ऋता-
 वृध इति स यावत्क्रियच्च व्रतं व्रतयित्वा नाभि मुपस्पृशे-
 देतेनैवोपस्पृशेत् कस्तुब्धेद युद् व्रतप्रदो व्रतं मुपोत्सि-
 ञ्चेत्* ॥ १६ ॥

अथ युच मेक्ष्यन् भवति । तत् कृष्णविषाणुया लोष्टुं
 वा किञ्चिद्वोपहन्तीयं ते यज्ञिया तनूरितितीयं वै पृथिवी
 देवी देवयजनी सा दीक्षितेन नाभिमिच्छा तुस्या एत-
 दुक्तृद्यैव यज्ञियां तनू मथायन्नियः शुरीर मभिमेदत्यपो
 मुञ्चामि न प्रजा मित्युभयं वा ऽश्रुत एत्यापथ्य रुतस्य सु
 एतदपु एव मुञ्चति न प्रजा मः होमुचः स्वाहाकृता
 इत्युहस इव ह्येता मुञ्चन्ति युदुदुरे गुष्टितं भवति
 तुस्मादाहाः होमुच इति स्वाहाकृताः पृथिवी मावि-
 शतेत्याहुतयो भूत्वा शान्ताः पृथिवी माविशतेत्ये-
 वैतुदाह ॥ २० ॥

अथ पुनर्लोष्टुं न्यस्यति । पृथिव्या सुम्भवेतीयं वै
 पृथिवी देवी देवयुजनी सा दीक्षितेन नाभिमिक्षा
 तस्या एतदुद्गृह्यैव यज्ञियां तनू मुथायज्ञियः शरीर
 मुभ्यमिक्षत्ता मेवास्या मेतत् पुनर्यज्ञियां तनू दधाति
 तस्मादाह पृथिव्या सुम्भवेति* ॥ २१ ॥

अथामुये परिद्वाय स्वपिति । देवान् वा एष उपवा-
 र्त्तते यो द्वीक्षते सु देवताना मेको भवति न वै देवाः
 स्वपन्त्युनवरुद्धो वा एतस्यास्वप्नो भवत्यग्निर्वै देवानां
 व्रतुपतिस्तस्मा एवैतत् परिद्वाय स्वपित्युमे त्वः सु
 जाग्रहि व्ययः सु मन्दिपीमहीत्युमे त्वं जाग्रहि व्ययः
 स्वप्स्याम इत्येवैतदाह रुक्षा यो अग्रयुच्छन्निति गोपाय
 नो अग्रमत्त इत्येवैतदाह प्रबुधे नः पुनस्कृधीति युधेतुः
 सुप्ता स्वस्ति प्रबुध्यामहा एव नः कुर्वित्येवै-
 तदाहुः ॥ २२ ॥

अथ युञ्ज सुप्ता पुनर्नावद्रास्यन् भवति । तुदाचयति
 पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन् पुनः प्राणः पुनरात्मा म
 आगन् पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आगन्निति सुर्वे ह वा
 एते स्वपतोऽपक्रामन्ति प्राण एव न तैरेवैतत् सुप्ता
 पुनः सुज्जच्छते तस्मादाह पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन्

पुनः प्राणः पुनरात्मा म ऽश्वागन् पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं
म ऽश्वागन् । वैश्वानरो ऽश्वदम्बस्तनूपा अग्निर्नः पातु
दुरितादवद्यादिति तद्यदेवाच स्वप्नेन वा येन वा
मिथ्याकर्म तुस्मान्नः सुर्वस्मादग्निर्गोपायत्वित्येवैतदाह
तस्मादाह वैश्वानरो ऽश्वदम्बस्तनूपा अग्निर्नः पातु
दुरितादवद्यादिति* ॥ २३ ॥

अथ युद्दीक्षितः । अन्नत्वं वा व्याहुरति क्रुध्यति वा
तुन्मिथ्याकरोति व्रतं प्रमौणात्यक्रोधो ह्येव दीक्षित-
स्याग्निर्वै देवानां व्रतपतिस्तु मेवैतदुपधावति त्व ममे
व्रतपा असि देव ऽआ मुर्त्येष्वा† । त्वं यज्ञेष्ठीद्य ऽइति
तस्यो हैया प्रायश्चित्तिस्तुथो हास्यैतन्न मिथ्याकृतं
भुवति नु व्रतं प्रमौणाति तस्मादाह त्व ममे व्रतपा
असि देव ऽआमुर्त्येष्वा† । त्वं यज्ञेष्ठीद्य इति‡ ॥ २४ ॥

अथ युद्दीक्षितायाभिहुरन्ति । तुस्मिन् वाचयति
रास्वे यत्सोमा भूयो भरेति सोमो ह ऽवा अस्मा ऽएत-
द्युते युद्दीक्षितायाभिहुरन्ति स यदाह रास्वे यत्सोमेति
रास्व न इयत्सोमेत्येवैतदाहा भूयो भरेत्या नो भूयो
हरेत्येवैतदाह देवो नः सविता व्यसोर्दाता व्यस्वदा-

* 'दिति'— ग, घ ।

† 'मुर्त्येष्वा'—इति ग, घ ।

‡ 'मुर्त्येष्वा'—इति ग, घ ।

§ 'इति'—इति ग, घ ।

द्विति तथो हास्मा ऽएतत्सवितृप्रसूत मेव दुनाय
भवति ॥ २५ ॥

पुरास्तमयादाह । दूक्षित व्याचं यच्छेति ता मुस्त-
मिते व्याचं व्विसृजते पुरोदयादाह दूक्षित व्याचं
यच्छेति ता मुदिते व्याचं व्विसृजते सुन्तत्या ऽएवाह-
रेवैतद्वात्या सन्तनोत्यह्ना रात्रिम्* ॥ २६ ॥

नैन मन्युश्च चरन्त मभ्युस्तमियात् । न स्वपन्त मभ्यु-
दियात्स युदेन मन्युश्च चरन्त मभ्युस्तमियाद्वाचरेनं तुद-
न्तुरियाद्यत् स्वपन्त मभ्युदियादुह्म एनं तुदन्तुरियान्नाच
प्रायश्चित्तिरस्ति प्रतिगुण्या मेवैतस्मान् पुरावभ्युदयो
ऽभ्यवेयान्नैन मभिवर्षेदुनवक्तृत्वं ह तद्यत् पुरावभ्युदयो
पोऽभ्यवेयाद्युदैन मभिवर्षेदुय परिहृत्वा व्याचं व्वदति
नु मानुषीं प्रसृतां तद्यत्परिहृत्वा व्याचं व्वदति नु
मानुषीं प्रसृताम् ॥ २७ ॥

यज्ञेन वै देवाः । इमां जितिं जिग्युर्येषा मियं
जितिस्ते होचुः कथं न इदं मनुष्यैरनभ्यारोह्य
स्यादिति ते यज्ञस्य रुसं धीत्वा यथा मधु मधुकृतो
निर्हुयेयुर्व्विदुह्य यज्ञं यूषेन योषयित्वा तिरोऽभवन्नुय
युदेनेनायोपयंस्तुस्माद्युपो नाम ॥ २८ ॥

* 'रात्रिम्'-इति ग, घ ।

† 'प्रतिगुह्य'-इति वा० सम्मत इति डा० वेवर ।

तद्वा ऽष्टुपीणा मुनुश्चूत मास । ते यज्ञः सुमभरन्
 युथायुं यज्ञः सुभृत एवं वा ऽष्टुयज्ञः सुभरति* यो
 दूक्षते व्याग् वै यज्ञस्तद्युदेवाच यज्ञस्य निर्वीतं यद्वि-
 दुग्धं तदेवैतत् पुनराप्याययति युत् परिह्वालं व्याचं
 व्वदति नु मानुषीं प्रसृतां न ह्याप्याययेद्यत् प्रसृतां
 मानुषीं व्याचं व्वदेत्सुस्मात् परिह्वालं व्याचं व्वदति
 नु मानुषीं प्रसृताम्† ॥ २९ ॥

स वै धीक्षते । व्याचे हि धीक्षते यज्ञाय हि
 धीक्षते यज्ञो हि व्याग् धीक्षितो ह वै नुमैतद्युदीक्षित
 इति ॥ ३० ॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् [२. २.] ॥

गृहीतस्य वचसो विसर्गकालविधानाथ पुनरनुवदति— “वाच
 यच्छतीति” ॥ १ ॥

वाग्यमन प्रशंसितु माख्यायिका माह— “यज्ञेन वै देवा
 इत्यादिना । एतत् प्राग् व्याख्यातम्” ॥ २ ॥ ३ ॥

* ‘सुमभवति’—इति च पाठो कृष्टो ङा० वेवरेण ।

† ‘प्रसृता’—इति ख, ‘प्रसृताः’—इति ग, घ ।

१— का० श्रौ० सू० ७ ४ १३ ।

२— १ ५ १ २ (१ भा० ४०४ ए०) ।

वाग्विमोक्तं विधत्ते— “ता मलमिमे वाच मिति^१ । अस्तम-
यानन्तरभावित्वं वाग्विमोक्तस्य प्रशंसति— “संवत्सरो वा इति ।
‘एते’ एव ‘अहोरात्रे’ ‘परिप्लवमाने’ पुन पुनरावर्त्तमाने ‘एन’
संवत्सरं ‘कुरुत.’ निष्पादयतः । ‘सः’ उक्तलक्षण ‘प्रजापतिः’
पुरा स्वयञ्जममये ‘अहम्’ अहनि ‘अदौचिष्ठ’ लुङ्^२, दौक्षितवान् ।
कृतदौक्षः ‘स’ प्रजापतिः, ‘रात्रिम्’ ‘प्रापत्’ प्राप्तवान् । दौक्षितो-
पलक्षितां वाचं रात्रिपर्यन्त मन्त्रवर्त्तयदित्यर्थः । अतस्त्वावत्प्रथमं
वाग्यमन कुर्वन् दौक्षितो ‘यावान्’ ‘यज्ञ’ संवत्सर-प्रजापत्यात्मको-
ऽस्ति, ‘अस्य’ च ‘यावतौ’ ‘मात्रा’ परिमितिरस्ति, ‘तावन्त’ सकल
मपि ‘एतत्’ एतेन नियमेन ‘आम्ना’ ‘वाचं’ विष्टुष्टवान् भवति ॥ ४ ॥

वाग्विमोक्ते केषाञ्चित् पक्ष माह— “तद्वैक इति^३ । ‘अच’
नक्षत्रदर्शनकाले । ‘अनुष्ठ्या’ सम्यगित्यर्थः । सर्वैः प्रज्ञातत्वेन सूर्यं
‘अस्तमितो भवतीति’ ‘वदन्तः’ । त मिम पक्षं दूषयति— “तदु
तयेति । ‘ते’ तथानुष्ठातारो यदि ‘नेघः’ नक्षत्राच्छादकः ‘स्वात्’,
तर्हि ‘क स्युः’ कुच वाग्विमर्गकर्त्तारो भवेयुः । ‘तस्माद्’ ‘यत्र’
काले ‘अस्तमितम्’ ‘अनुष्ठ्या’ सम्यक् प्रज्ञातं, ‘मन्येत’ तदैव परि-
त्यजेत्, न नक्षत्रोदये वाग्विमर्गः ॥ ५ ॥

मन्त्रविषये केषाञ्चित् पक्ष मबूध निराचष्टे— “अनेनो द्वैक

१— का० श्रौ० सू० ०. ४. १४ ।

२— पा० सू० १. २. ११० ।

३— “न पुरा नक्षत्रेभ्यो वार्षं विष्टुमेत्”—इति व्याप० श्रौ० सू० १०. १६. १ ।

इति^१ । यज्ञाप्यायनमन्वानयोस्तन्मन्त्रे^२ स्फुटमप्रतिभानात् 'न ह'—इत्युक्तम् ॥ ६ ॥

'अनेनैवेति । 'अग्निर्वद्धेत्यादि पृथग् मन्त्रो वाग्विसर्जनार्थ^३ । तथा च सूचनम्— "व्रतं कृणुतेति वाग्विसर्जनं चिरुत्काग्निर्वद्धेत्येति सज्जदिति" इति^४ । व्रतकरणं प्रशंसति— "एष हीति । 'एष' व्रताख्यं पदार्थं 'अच' दौषाकाले 'यज्ञ' भवति^५ । तथा 'एतत्' एव व्रतं 'हवि' अपि भवति । 'यथा' 'पुरा' दौषादिव्रतात् पूर्वम् 'अग्निहोत्रम्', एव मिदम् । यथा चापस्तम्ब— "न त्वेव न व्रतयेदग्निहोत्रस्याविच्छेदाय"—इति^६ । अत एतद्व्रताख्येन 'यज्ञेन' प्रवर्तमानेन चिकीर्षितं ज्योतिष्टोमं 'यज्ञ' व्रताख्यं 'समृत्य' एकीकृत्य, तत्रैव प्रतिष्ठाप्य च तं ज्योतिष्टोमं मेतेन विस्तारितवान् भवति । अत एतन्मन्त्रेऽभिगतयज्ञमन्वानसम्भवादयं पञ्च एव श्रेयानित्यर्थं । विहितव्रतं सुत्यादिवसपर्यन्तं कर्त्तव्यं मित्याह— 'सन्ततमिति ॥ ७ ॥

वाग्विमोकोऽग्न्यभिमुखं कर्त्तव्यं इत्याह— "अथाग्निमिति^७ ।

१— का० श्रौ० सू० ७ ४ १६ ।

२— तन्मन्त्रस्तु भूर्भुवोरिति— वा० स० ३ ५ १ ३० १, २६ ३ १ ।

३— व्रतं कृणुतत्येको मन्त्रः, अग्निर्वद्धेत्यपरं इति भावः । मन्त्रावतौ— वा० स० ४ १२ १, २ दृश्यौ ।

४— का० श्रौ० सू० ७ ४ १५ ख, ग ।

५— आप० श्रौ० सू० १० १६ ११ ।

६— का० श्रौ० सू० ७ ४ १५ क ।

सक्त मर्य व्यतिरेकेण प्रशंसति— “न हेति । ‘अतोऽन्येन’ भर्तुव-
स्वरित्यनेन^१ । मन्त्रपदानि व्याचष्टे— “स प्रथम मिति । वाग्व्यव-
हारस्यादावग्निर्ब्रह्मेति^२ ब्रुवन् सत्य मेवोक्तवान् भवति, “सत्यं
ब्रह्म”-इति श्रुते^३ ॥ ८ ॥

“अग्निरिति । वनस्पतेर्यज्ञार्हत्वं श्रुतिरेवोपपादयति— “न हि
मनुष्या इति ॥ ९ ॥

“अथास्मा इति । “श्रुतं वा इत्यादि । ‘श्रुतं’ पक्षम् । ‘वै’-
शब्देन श्रुत्यन्तरप्रसिद्धिरभिधीयते । तथा च तैत्तिरीयकम्—
“यः श्रुतः स सदैवस्तस्मादविद्वत्ता श्रुतकृत्यः सदैवत्वाय”-इति^४ ।
‘तत्’ श्रुतं चौरम् ‘एष एव’ पितृ^५ । एवकारव्युत्पत्तौ माह—
“नास्माविति ॥ १० ॥

आत्मन्येव होम पुरातनवृत्तान्ताभिधानेन प्रशंसति— “यज्ञेन
वा इति । गतम्^६ । देवैराष्ट्रादितस्यापि पयोव्रतस्य तद्वगच्छद्भिः
पूर्वाङ्गर्षिभिः सम्भृतत्वाद्देवापि सम्पत्तयः सत्यार्थः ॥ ११ ॥

“तदा ऋषीणा मिति । ननु सर्वं मपि इविराप्तावेव ह्यते,

१— वा० सं० ३. ५. १ ; ४०. १ ; ५६. १ १ । .

२— वा० सं० ४. ११ २ ।

३— “यो विद्वत् स नैश्वर्यतो योऽश्रुत स रोमो य श्रुत — सदैव-
त्वाय”-इति तै० सं० ४. ६ १ ३ ।

४— का० यौ० ७ १० ५० दृष्टव्यम् ।

५— १. ४. १. १ (१ भा० ३०३ ४०) दृष्टव्यम् ।

किं मिदं पीयत इत्याशङ्क्य दौर्चितस्याप्यग्निरुपपादयति— “एष वा अत्रेति । ‘यज्ञ’-शब्देनाग्निरभिधीयते, यज्ञोत्पादकत्वाभिधानात् । अतः स्वात्माग्नौ होमेन ‘यज्ञस्य’ ज्योतिष्टोमस्य ‘यत्’ ‘निर्द्दीत’ निष्पीतम् अनुष्ठानेन विफलम्, ‘यत्’ च ‘विदुग्ध’ विपरीतानुष्ठानेन विपरीतफलम् अङ्गम्, ‘तत्’ ‘पुनः’ आप्यायितवान् भवति । अतिरेके दोष माह— “न हेति । “जुहदु द्वैव मन्येतेति । उक्तम् ॥ १२ ॥

देवताप्रीणनाभावात् कथं तादृशी मतिरुत्पद्यत इत्यत आह— “इमे वा इति । वागादौर्गा मुख्यप्राणप्रवेशेन प्राणशब्दव्यवहारस्य ‘इमे प्राणाः’ वागादयः (‘मनोजाताः’) मनस उत्पन्ना, मनोव्यतिरेकेण स्रतः प्रवृत्त्यभावात् । ‘मनोयुजः’ च स्वस्वव्यापारेषु मनसः कर्तृत्वात् । त एवं ‘दक्षकृतव’ दक्षाः प्रवृद्धाः स्वस्वोचिताः कृतवकर्माणि येषां ते तथोक्ताः । तेषां देवता विभज्य योजयति— “वागेवाग्निरित्यादिना । “अग्निर्वाग् भूत्वा सुखं प्राविशत्”—इति श्रुतेः । इन्द्रिय-तदभिमानिदेवतयोरभेदव्यवहारः । यस्मात् ‘एतासु’ ‘देवतासु’ प्रीणयति, तस्मादेतासु निमित्तभूतासु स्वात्मनि ‘ऊतं भवति’ । यदा अग्नौ चेदेव कश्चिन्नेव ऊतं भवेत्, आत्मनि तु तत्तदिन्द्रियदेवतासु सर्वास्वपि ऊतं भवतीति व्याख्येयम् । तस्मात्सुखयामन्यत इत्यर्थः ॥ १३ ॥

प्रथमव्रतविषयक मेकेषाञ्चित् पत्र माह— “तद्वैक इति । ‘प्रथमे व्रते’ प्रथमव्रताहं चीरे निर्द्दीतविदुग्धयोरण्यङ्गयोराप्यायनाद्योभयोरपि समाधानायोभयावापे सति व्रमे अपि हविषी अन्वा-

रश्मे भवत इति तेषां मभिप्रायः^१ । तन्निषेधति— “तदिति ।
 उभयावापस्याप्रयोजकता माह— “न हेति । तर्हि किं कुर्यादिति,
 तत्राह— “तस्मादन्यतर मिति । अन्यतरावापपक्षे उभयान्वारम्भः
 कथं सिद्ध्यतीति, तत्राह— “हविर्वा अस्थेति । दर्शपूर्णमासयोर्ग्रीहि-
 यवयोस्तुभयोरपि हविष्करणत् तत्रैवान्वारम्भौ भवतो न नूतने ।
 अतोऽप्रयोजकत्वादुभयोरेवापोऽनपेक्षित इत्यर्थः^२ । अतधुग्दुग्धाभावे
 किं कुर्यादित्यत आह— “यद्यु इति । यतो ग्रीहियवाग्वावन्वारम्भौ,
 ‘अतः’ अनयोर्ग्रीहियवयोर्मध्ये ‘यस्यैव’ अतं ‘कामयेत’, ‘तस्य’ एतद्
 ‘अतं’ कुर्यात्^३ ॥ १४ ॥

प्रथमव्रतविषय एवेतरेषां पक्ष माह— “तद्वैक इति । कश्चित्तु
 प्रथमव्रत एव यत् (‘सर्वोपधम्’) ग्रीहियवप्रियङ्गुगोधूमादिकं, यच्च
 (‘सुरभि’) सुगन्धि पिप्पलादि, तत् सर्वम् ‘आवपन्ति’ । तथा
 सति उत्तरपक्षे दीक्षितस्यान्तौ सत्यां यादृशाया आर्त्तैर्यदौपध मिति
 तत् कामयेत, तत् क्षीरे प्रक्षिप्य पाकं कृत्वा प्रयच्छेत् । तथा सति
 प्रथमव्रते सर्वोपधस्यान्वारम्भत्वात् व्रताविरोधेनैव चिकित्सा कृता
 भवतीति तेषां मभिप्रायः^४ । तन्निरास्ये— “तदिति । तथा सति
 यथा मनुष्या औपधं क्षीरे प्रक्षिप्य प्रयच्छन्ति, तद्वदेतत् स्यात् ।

१— का० श्रौ० ०. ४. २२ सू० दृश्यम् ।

२— का० श्रौ० ०. ४. २२ सू० दृश्यम् ।

३— का० श्रौ० ०. ४. २८, २९ सू० दृश्ये ।

४— का० श्रौ० ०. ४. २९ सू० दृश्यम् ।

तच्च यज्ञविरुद्धम् । अतो यद्यस्य प्रतिक्रियां कामयेत, केवलं तदेव प्रयच्छेत् । यस्मात् 'समाप्तिः' यागसम्पत्तिं 'पुण्या' दृष्टा, तस्माद्-
 चारभेनाप्यौषधेन भिषज्येदित्यर्थः । अनेनैवार्त्तिभावेऽपि सर्वौषध-
 पक्षो निरस्तः आर्त्तरेवोपेक्षितत्वात्, सर्वप्रक्षेपाभावेऽपि तत्सम्भवात् ।
 अत्र सूत्रम्— “प्रथमे व्रते ब्रौह्मियवयोरन्यतरं मावपत्युभावेके
 एकतरव्रतं मदोहे^१ सर्वौषधं सर्वसुरभिं चैके”-इति^२ । आवपेदिति
 शेषः ॥ १५ ॥

“अथास्मा इत्यादि । मानुषकालातिक्रान्तौ कौ कालाविति,
 तौ दर्शयति— “सायन्दुग्धं मित्यादिना^३ । “व्याकृत्या एवेति ।
 “व्याकृति” व्याकरणम्, देवमानुषयोर्विभाग इति यावत् ॥ १६ ॥

अध्वर्युकारयितृकं यजमानकर्तृकं सुदकोपस्पर्शनं विधत्ते—
 “अथास्मै व्रतं मिति” । लौकिकाग्रनाय हस्तावनेजनव्यापृतये मन्त्रे-
 णाग्नेजनं युक्तम्, तथापि पयोव्रतस्य दीक्षितविषयत्वेन देवाग्रन-
 त्वात् “दैवीं धियं मिति” मन्त्रो युज्यत इत्यर्थः । प्रकरणात्
 पयोव्रतं, एव हस्तप्रक्षालनेऽप्य मन्त्र इति प्राप्तौ सर्वव्रतावनेजन-
 साधारणता माह— “स यावदिति ॥ १७ ॥

समन्वयकं व्रतपालं विधत्ते— “अथ व्रतं व्रतयतीति^४ । मनो-

१— “तद्व्रतं मदोह”-इति मुद्रित का श्री सू पाठः ।

२— का० श्री० सू० ७ ४ २१-२४ ।

३— का० श्री० सू० ७ ४ २०, २१ ।

४— का० श्री० सू० ७ ४ २२ ।

५— वा० स० ४ ११ २ ।

६— का० श्री० सू० ७ ४ २१ ।

जातादयो व्याख्याताः^१ । यथा अन्यत्र यागे वषट्कारेण दत्तं हवि-
 र्जतं भवति, एव मस्य समन्तकं व्रतं स्वाहाशतत्वात् जतं मेव,
 भवतीत्यर्थः^२ ॥ १८ ॥

“अथ व्रतं व्रतयित्वेति^३ । समन्तकनाभ्युपसर्गनस्य प्रयोजन-
 माह— “देवान् वा इत्यादिना । देवार्थस्य हविषः स्कन्दनायो-
 ग्यत्वाद् दौक्षित्यापि देवत्वाद् व्रतप्रदानेऽप्यध्वर्योः प्रमादात् स्कन्द-
 नादेः सम्भवात् यज्ञदोषः सम्भाष्येत, तस्यायं मन्त्रः^४, प्रायश्चित्त-
 मित्यर्थः । अस्मिन् मन्त्रे ययसा मितस्ततः पतनराहित्येन शीघ्र-
 पीतत्वस्योदरान्तःप्रवेशस्य च प्रार्थनात् उदकोपसर्गनमन्त्रवत्
 नाभ्युपसर्गनमन्त्रस्यापि सर्वव्रतसाधारण्य माह— “य चावत् किय-
 दिति । नाभ्युपसर्गनात्मकप्रायश्चित्तस्य सर्वत्र कर्तव्यत्वे कारण-
 माह— “कस्तदिति । ‘उपोत्सिञ्चेत्’ सर्वतो विकिरेत् ॥ १८ ॥

दौक्षितस्य मूर्खोत्सर्गं विशेष माह— “अथ यचेति । ‘यच’
 यस्मिन् प्रदेशे ‘मिच्छन्’ मूषसेकं करिष्यन् भवति । ‘किञ्चिद्वा’
 लोप्राभावे तत्सम्बन्धि मृदादिकं वा ‘कृष्णविषाणया’ ‘उपहन्ति’
 उपाददौतेत्यर्थः ; “लोपं वा किञ्चिद् वा”—इति^५—सूचात् । तत्र
 मन्त्र माह— “इयं त इति^६ । व्याचष्टे— “इयं वा इति ।
 पृथिव्या देवयजनार्हत्वं कृतवान् भवतीत्यर्थः । मेहनमन्त्र माह—

१— पुरस्तात् (६४ पृ०) १३—कण्ठीभाष्ये द्रष्टव्याः ।

२— वा० सं० ४. ११. ४ ।

३— का० श्री० सू० ७. ४. २५ ।

४— वा० सं० ४. १२. १ ।

५— का० श्री० सू० ७. ४. २६ ।

६— वा० सं० ४. १३. १ ।

“अपो मुञ्चामीति” । ‘अत’ अस्मान्मूत्रद्वारात् अत्रेतसोरुभयोरपि निर्गमसम्भवादप एव मुञ्चामि न प्रजोत्पादक रेत इति मन्त्रेणोच्यत इत्यर्थः । अतोऽनेन मूत्रं कुर्यादिति विधिरुन्नेयः । तथा च कात्यायन— ‘अपो मुञ्चामीति मेहतीति’ । द्वितीयभाग व्याचष्टे— ‘अहोमुच इति । देहान्तर्गतेन पापेन सहैवेता मूत्ररूपा अपो मुञ्चन्ति खलु मूत्रचिन्तार तस्मादहोमुच इति पठेत् । ‘स्वाहाकृता’—इत्यस्य तात्पर्याभिधानं स्पष्टम् ॥ १० ॥

“अथ पुनरिति । स्त्रीकृतस्य स्तोत्रस्य पुनः प्रक्षेपमन्त्रब्राह्मण पूर्ववद् व्याख्येयम् । हे स्त्रीकृतस्तोत्र । त्वं ‘प्रथिव्या’ ‘सम्भव’ सङ्गतो भवेत्यर्थः । एतन्मन्त्रपाठेन^१ चा पूर्वं यज्ञिया तन्मू स्त्रीकृता, सा पुनः स्थापिता भवति” ॥ ११ ॥

दीक्षितस्य स्थापकाले अग्नये परिदानं माह—“अयामग्नय इति । ‘परिदानं रक्षणार्थं दानम् । परिदाने प्रसक्तिं दर्शयति— “देवान् वा इत्यादिना । अथ ‘अग्ने त्वम्—इति’ एतन्मन्त्रपाठ एव परिदानम् । पूर्वार्द्धस्य तात्पर्यं माह—‘अग्ने त्वं मिति । हे ‘अग्ने !’ ‘त्व’ ‘सुजागृहि मम भयपरिहाराय सुष्टु विनिद्रो भवेत्यर्थः । ‘मन्दिषीमहि’—इत्यस्य तात्पर्याभिधानं ‘स्वस्थाम’—इति । स्थापविधाते सति मोदस्यैवाभावादेव प्रार्थ्यते । “अप्रयुच्छन्”—

१— वा० स० ४ १२ १ ।

२— का० श्रौ० सू० ७ ४ ३० ।

३— वा० स० ४ १२ २ ।

४— का० श्रौ० सू० ७ ४ ३८ ।

५— वा० स० ४ १३ १ ।

इत्यस्य तात्पर्याभिधानम् 'अप्रमत्तः'—इति । “युष्मद् प्रमादे^१” ।
 “यथेति इति । ‘इतः’ अस्मात् स्थानात् स्थापनान्तरं ‘स्वस्ति’ चेमेण,
 स्वरशिरोव्यथादिराहित्येन यथा ‘प्रबुद्ध्यामहे’, तथा ‘कुर्विति’
 मन्त्रभागः ‘आह’ इत्यर्थः^२ ॥ ११ ॥

दौचित्यस्य स्थापनान्तरं प्रबोधे सति पुनर्निर्द्वाया अप्राप्तौ तदा
 समन्वयकं णपं विधत्ते— “अथ यथेति । ‘यच’ यस्मिन् काले ‘तत्’
 तदा मनश्चादेः पुनःप्राप्तिमर्थनाय । तदपगमनप्रसक्तिं दर्शयति—
 “सर्वं ह वा इति । ‘प्राण एव’ ‘न’, अपक्रामतीति शेषः । प्राण-
 स्थाप्यपगमे सर्वात्मना मृतिप्रसङ्गात् प्राणस्थानपराभाभिधानम् ।
 ‘प्राणः’ प्राणेन्द्रियम् । ‘आत्मा’ बुद्धिः । द्वितीयभागस्य तात्पर्यं
 माह— “वैशानर इति^३ । ‘स्वप्नेन वा’ साधनेन ‘येन वा’ अन्ये-
 ण्द्रियद्वारा मलनिर्गमनादिनिमित्तेन ‘मिथ्या’ अग्रास्वीयम्, ‘अकर्म’
 कृतवन्तः स्म । स्पष्टं मन्यत्^४ ॥ १२ ॥

“अथ यदित्यादि । ‘अप्रत्यं’ व्रतं दौषा, व्रतविरोधि व्यर्थं
 वचनं मभिवदेत्. क्रोधं करोति ‘यत्’, ‘तत्’ तेनोभयेन ‘मिथ्या-
 करोति’ । तावता को दोष इत्यत आह— ‘व्रतं प्रमीणाति’
 हिनस्ति । क्रोधस्य दौचित्येन वर्ज्यता माह— “अक्रोधो ह्येति ।
 “अग्निर्वा इत्यादि । व्रतद्विसासमाधानाय ‘एतत्’ एतेन, “तु मये

१— भा० प० २१४ घा० ।

२— का० श्रौ० सू० ७. ४ १६ ।

३— वा० सं० ४. १५. १ ।

४— का० श्रौ० सू० ७. ४ ४० ।

व्रतपा"—इत्यनेन^१ साक्षाद् व्रतपतिम् ('त मेव') अग्निं मेव ('उपधावति') रचणाय प्राप्तवान् भवति । अत्र सूत्रम्— "त मग्निं इत्याह क्रुद्धा, अमृत्य वा घ्याहृत्य"—इति^२ ॥ १४ ॥

दौक्षित्यस्य यज्ञार्थगवादिधनलाभे वाञ्छा मन्त्र विधत्ते— "अथ यद् दौक्षितायेति^३ । 'अभिहरन्ति' धनं प्रयच्छन्ति । 'वाञ्छयति' अध्वर्युः^४ । दाने सोमसम्बन्धस्य क प्रसङ्ग इति, तत्राह— "सोमो ह वा इति । 'अस्मै दौक्षिताय' 'एतत्' धनं खलु 'युते' मिश्रयति, 'इयत् तदिति' प्रदेयं धनं हस्तेनापि नीयते^५ । द्वितीय-भागस्य तात्पर्यं माह— "आ नो भूय इति । न केवलं मिथ्यपरिमितं मेव, किन्तु ततो 'भूय' अन्यदपि 'आहर' इति, मन्त्र 'आह' इत्यर्थः । "देवो न इत्यादि । एतन्मन्त्रभागपाठेन सविचा-भ्यनुज्ञातत्वात् लब्धं धनं दक्षिणाहं भवतीत्यर्थः ॥ १५ ॥

"पुरास्तमयादित्यादि । अस्तमयोदयकालयोः प्रतिदिवसं सन्ध्यां भापतत प्रागेव "दौक्षितः । वाच यच्छ"—"इति" सम्येष अध्वर्युर्भूषात् । अस्तमिते उदिते च तस्या वाचो विसर्जनं मिति स्नातगव्यप्रदर्शनम्— "अहरेवैतदिति^६ ॥ १६ ॥

अस्तमयोदयकाले दौक्षितस्य स्नानादग्न्यव संधार स्नाप च

१— वा० स० ४ १६ १ ।

२— का० श्रौ० सू० ० ५ १, २ ।

३— का० श्रौ० सू० ० ५ १, ४ ।

४— तन्मन्त्रपाठस्तु—वा० स० ४ १६ २ ।

५— विप्रोपतस्तु तै० स० १ २ २ २ सा० भा० प्रत्ययम् ।

६— का० श्रौ० सू० ० ४ १० ।

निषेधेति— “नैन मिति । विपक्षे बाध माह— “स यदिति ।
 राक्षेरङ्गस्य सायस्यात कालयोरुभयोरुपक्रमरूपत्वात् अन्यत्र सञ्चार-
 स्थापयोः करणे ह्यङ्गयोरपि तयोः सकाशादय मन्तरिती भवती-
 त्यर्थः । “न प्रायश्चित्तिरस्तीति^१ । प्रायश्चित्तस्य निषेधेन सञ्चारस्थाप-
 योर्निषेधस्यावश्यकत्वं सुक्तं भवति । यस्मादेवं तस्मात्, ‘एतस्मात्’
 सञ्चारस्थापात् ‘प्रतिगुण्य मेव’ रक्षेणं कर्त्तव्यं मेवेत्यर्थः । दीक्षितस्याव-
 श्यपर्यन्तं जलावगाहनं अभिवर्षणं च वर्जनीयं मित्याह— “न
 पुरावभृथादिति । यागान्तेऽनुष्ठेयस्य अवस्थाभिषेकस्य दीक्षितता-
 विमोचनार्थत्वात् ततः प्रागेव जलावसेचनस्य दीक्षाविधीतकत्वात्
 तत् ‘अनवकृप्तम्’ अविहितं मित्यर्थः^२ । अभिवदनप्रसूते सत्यपि
 दैवी^३ मेव वाचं वदेन्न मानुषं मित्याह— “अथ परिक्लृप्त मिति ।
 ‘परिक्लृप्तम्’ परिणीतां संकृता मित्यर्थः । “हस्त ह्यस्त वलने”^४ ।
 ‘प्रसूतां’ सर्वत्र व्याप्ताम्, ‘मानुषीं’ केवलसर्वमनुष्यसाधारणीम्, न
 वदेत् । तथा चापस्तम्भ— “परिणयेन मानुषीं वाचं वदति”—
 इति^५ ॥ १७ ॥

१— का० श्रौ० सू० ७. ५. १० । ‘यत्र एवात्र कर्त्तव्यो यथापराधो न
 भवति, नात्र प्रायश्चित्तिरस्ति’—इति चात्र वृत्तौ या० दे० ।

२— का० श्रौ० सू० ७. ५. ५ ।

३— ‘दैवी मेव वाचं वदेत् अथपरिक्लृप्तनपरिणीतां संकृता मित्यर्थः’—
 इति छ-पाठः ।

४— स्था० वे० ८०७, ८०८ धा० ।

५— चाप० श्रौ० सू० १०. १२ ६ ।

एतदेव प्रशंसितुमुपोद्वातमाह— “यज्ञेन वा इत्यादिना ।
एतदमहद् गतम्^१ ॥ १८ ॥

“तदा इति । औपोद्वातिकमाह— “एव वा इति ।
यज्ञायाधनरूपत्वेन प्रशस्तत्वात् परिक्लृप्तवाग्व्यवहारः कर्त्तव्य
इत्यर्थः^२ ॥ १९ ॥

वाचं यज्ञसाधनत्वेन प्रशंसति— “स वै धीक्षित इति^३ । प्रसङ्गाद्
धीक्षितशब्दं निर्वक्ति— “धीक्षितो^४ ह वा इति । ‘यत्’ यस्मात्
‘धीक्षित इति नाम’, तादृशी दीक्षा वाक्याच्चेति वाक्यस्यति ॥
३० ॥ १ [१. १.] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

तृतीयकाण्डे द्वितीयाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

१— १. ५ १. १ (१ भा० ३०३ ए०) ।

२— ऋ० औ० सू० ७ ५. ६ । ‘परिक्लृप्त कोमलम्, मृदु वचनम्’—इति

३— ‘धीक्षित इति’—इति छ, च ।

[तत्र या० ३० ।

४— ‘धीक्षितो’—इति छ, च ।

(अथ तृतीय ब्राह्मणम्) ॥

आदित्यं चरुं प्रायणीयं निर्व्वपति । देवा ह वा
अस्यां यज्ञं तन्वाना इमां यज्ञादन्तरीयुः सा हैषा
मियुं यज्ञं मोहयाच्चकार कथन्नु मयि यज्ञं तन्वाना
मां यज्ञादन्तरीयुरिति तुह्य ह यज्ञं न प्रजज्ञुः ॥ १ ॥

तु होचुः । युन्वस्या मेव यज्ञ मुतःस्महि कथं नु
नोऽमुहत् कथं न प्रजानीम इति ॥ २ ॥

तु होचुः । अस्या मेव यज्ञं तन्वाना इमां यज्ञादन्त-
रगाम सा न इय मेव यज्ञ ममूमुहदिमा मेवोपधावा-
मेति ॥ ३ ॥

तु होचुः । यन्नु त्वय्येव यज्ञ मुतःस्महि कथं नु
नोऽमुहत् कथन्न प्रजानीम इति ॥ ४ ॥

सा होवाच । मय्येव यज्ञं तन्वाना मां यज्ञादन्तर-
गात सा वोऽहु मेव यज्ञ ममूमुहं भागन्नु मे कल्पयताथ
यज्ञं द्रक्ष्यथाथ प्रज्ञास्यथेति ॥ ५ ॥

तथेति देवा अब्रुवन् । तुवैव प्रायणीयस्तुवोदयनीय
इति तुस्मादेषु आदित्य एव प्रायणीयो भवत्यादित्य
उदयनीय इत्युह्येवादितिस्तुतो यज्ञ मपश्यंस्तु मत-
न्वत ॥ ६ ॥

स यदादित्यं चरुं प्रायणीयं निर्व्वपति । यज्ञस्यैव

दृष्ट्यै यज्ञं दृष्ट्वा क्रौणानि तुं तनवाऽहुति तुस्मादादित्यं
चरुं प्रायणीयं निर्व्वपति तद्वै निरुप्तः हविरासीद्-
निष्ठा देवता* ॥ ७ ॥

अथैभ्यः पुथ्या स्वस्तिः प्रारोचत । तु मयजन् वाग्
वै पुथ्या स्वस्तिर्व्वीर्य्यज्ञस्तद्यज्ञं मपश्यंस्तु मतन्वत ॥ ८ ॥

अथैभ्योऽग्निः प्रारोचत । तु मयजन्तस्य युदामेयं
यज्ञस्यासीत्तुदपश्यन्त्यद्वै शुष्कं यज्ञस्य तुदामेयं तुदपश्यं-
स्तुदतन्वत ॥ ९ ॥

अथैभ्यः सोमः प्रारोचत । तु मयजन्तस्य युत्सौम्यं
यज्ञस्यासीत्तुदपश्यन्त्यद्वा ऽश्वाद्द्वै यज्ञस्य तुत्सौम्यं तुद-
पश्यंस्तुदतन्वत ॥ १० ॥

अथैभ्यः सविता प्रारोचत । तु मयजन् पशुवो वै
सविता पशुवो यज्ञस्तद्यज्ञं मपश्यंस्तु मतन्वताथ यस्यै
देवतायै हविर्निरुप्त मासीत्ता मयजन् ॥ ११ ॥

ता वा ऽश्वाः† । पुञ्च देवता यजति यो वै सु यज्ञो
मुग्ध आसीत् पाङ्क्तो वै सु आसीत्तु मेतुभिः पञ्चुभि-
र्देवताभिः प्राजानन् ॥ १२ ॥

अथैभ्यः मुग्धा आसन् पुञ्च । तुनेतुभिरेव पञ्चुभि-
र्देवताभिः प्राजानन् ॥ १३ ॥

दिशो मुग्धा आसन् पुञ्च । ता ऽस्ताभिरेव पञ्चभि-
र्देवताभिः प्राजानन् ॥ १४ ॥

उदीची मेव दिशम् । पुथ्यया स्वस्था प्राजानंस्तुस्मा-
दुचोत्तरा हि व्याग्* वदति कुरुपञ्चालवा व्याग्येषा
निदानेनोदीचीः५ चेतुया दिशं प्राजानन्नुदीची चेतुस्यै
दिक्† ॥ १५ ॥

प्राची मेव दिशम् । अग्निना प्राजानंस्तुस्मादग्निं
पश्चात् प्राञ्च मुहृत्योपासते प्राचीः५ चेतुन दिशं प्राजा-
नन् प्राची चेतुस्य दिक्† ॥ १६ ॥

दक्षिणा मेव दिशः५ । सोमेन प्राजानंस्तुस्मात् सोमं
क्रौतुं दक्षिणा पुरिवहन्ति तुस्मादाहुः पितृदेवत्यः सोम
इति दक्षिणाः५ चेतुन दिशं प्राजानन् दक्षिणा चेतुस्य
दिक् ॥ १७ ॥

प्रतीची मेव दिशः५ । सवित्रा प्राजानन्नेष व्यै
सविता यु एष तुपति तुस्मादेषु प्रत्युड्भेति प्रतीचीः५
चेतुन दिशं प्राजानन् प्रतीची चेतुस्य दिक् ॥ १८ ॥

जर्द्धा मेव दिशम् । अदित्या प्राजानन्नियं वा
ऽअदितिस्तुस्मादस्या मूर्द्धा ओपधयो जायन्त ऽजर्द्धा

* 'दुचोत्तरा व्याग्'—इति सा०—सम्मत इति डा० वेवः ।

† 'दिक्'—इति ग, घ ।

‡ 'दिक्'—इति ग, घ ।

व्वनस्पतय ऊर्द्धाः५ ह्येतया दिशं प्राजाननूर्द्धा ह्येतस्यै
दिक्* ॥ १९ ॥

शिरो वै यज्ञस्यातिथ्यम् । बाहू प्रायणीयोदयनीया-
वभितो वै शिरो बाहू भवतस्तस्मादभित आतिथ्य मेते
हविषी भवतः प्रायणीयश्चोदयनीयश्च ॥ २० ॥

तदाहुः । युदेव प्रायणीये क्रियेत तुदुदयनीये
क्रियेत युदेव प्रायणीयस्य बर्हिर्भवति तुदुदयनीयस्य
बर्हिर्भवतीति तुदपोद्धृत्य निदधाति† ताः५ स्थालीः
सुक्षामकर्पां प्रमृज्य मेक्षणं निदधाति‡ यु एव प्राय-
णीयस्यर्त्विजो भवन्ति तु उदयनीयस्यर्त्विजो भवन्ति
तद्युदेतुत्समानुं यज्ञे क्रियते तेन बाहू सदृशौ तेन
सुरूपौ ॥ २१ ॥

तुदु तथा न कुर्यात् । काम मेवैतुर्दहिरनुप्रहुरेदेवं
मेक्षणं निर्णिज्य स्थालीं निदध्याद्यु एव प्रायणीयस्य-
र्त्विजो भवन्ति तु उदयनीयस्यर्त्विजो भवन्ति युद्यु ते
व्विप्रेताः स्युरुप्यन्यु एव स्युः स यद्वै समानौर्देवता
युजति समानानि हवीः५पि भवन्ति तेनैव बाहू सदृशौ
तेन सुरूपौ ॥ २२ ॥

* 'दिक्'-इति ग, घ ।

†, ‡ 'निदधति'-इति क, डा०-वेबर दृष्ट्य ।

स वै पुञ्च प्रायणीये देवता* युजति । पुञ्चोदयनीये
तस्मात् पुञ्चेत्यादङ्गुल्यः पुञ्चेत्यात्तुच्छुंयन्तं† भवति न
पुत्रीः संयाजयन्ति पूर्वाङ्गं‡ वा ऽश्रुन्वात्मानो बाहू पूर्वाङ्गं
मेवैतद् यजुस्याभिसंस्करोति तस्माच्छुंयन्तं‡ भवति न
पुत्रीः संयाजन्ति ॥ २३ ॥ २ ॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके द्वितीयं ब्राह्मणम् [२. ३.] ॥

एवं वाग्यमन्त्रादयो दीक्षितधर्मा उक्ताः; अवशिष्टासु दीक्ष-
णीयसु अनुष्ठेयां प्रायणीयेष्टि^१ संविधन्ते—“आदित्यं चरं प्रायणीय
मिति । अदितिर्देवता अस्तेति आदित्यः; न त्वादित्यो देवता
अस्तेति; उत्तरधादितेः ससूयमानत्वात् । सास्य देवतेत्यर्थं प्राग्दी-
क्षणीयो ष्टः^२ । प्रारभतेऽनेन शौमिकं कर्मेति प्रायणीयः । तथाच
तैत्तिरीयकम्—“स्वर्गं वा एतेन लोकं सुप्रयन्ति यत् प्रायणी-
यस्तत् प्रायणीयस्य प्रायणीयत्वम्”—इति^३ । अत्र तद्धितश्रुत्यव-
गतद्रव्यदेवतानुबन्धान्यथानुपपत्त्या यागे परिकल्प्ये सति इतराङ्ग-

* ‘देवता’—इति ग, घ ।

†, ‡ ‘च्छुंयन्तं’—इति ग, । ‘च्छुंयन्तं’—इति घ ।

१—“दीक्षान्ते प्रायणीयम्”—इति का० श्रौ० सू० ७. ५. १३ ।

२—पा० सू० ४. २. २४, ४. १. ८३, ५ ।

३—स्वादव “एतरेयकम्”—इति पाठः ।

४—ऐ० ब्रा० १. २. १ इत्यथम् ।

त्वाद्योदकप्राप्तस्य निर्वापस्य निर्वपतिरनुवादः, “सौर्यं चरुं निर्वपेत्”
 —इतिवत् । न च द्रव्यदेवतयोरुभयोरपि विधाने विधेयद्वैविध्यात्
 वाक्यभेद इति वाच्यम्, कर्मणोऽप्राप्तत्वेन तदुभयविशिष्टस्य तस्यैव
 विधेयत्वात् । अथाग्नेयाष्टाकपास्तोपोद्घातत्वेन तथाकृतं मोह मुपन्य
 स्यति— “देवा ह वा इत्यादिना । “यज्ञं तन्नामा इत्यादि ।
 अवेदमा सर्वदा सर्वजनसन्निहिता पृथिवी परामृश्यते । ‘अस्यां’
 पृथिव्यां ‘यज्ञं’ विस्तारयन्तो ‘देवाः’, ‘इमां’ पृथिवीं ‘यज्ञात्’
 ‘अन्तरीधुः’ अन्तरितां भागरहिता मकुर्वन् । ‘सा’ ‘इयं’ पृथिवी
 ‘एषां’ देवानां ‘यज्ञं मोहयाञ्चकार’ यज्ञविषयं मोहं जनयामास,
 यज्ञो यथा देवैर्न ज्ञायते तथा कृतवतीत्यर्थः । “कथञ्चु मपीत्यादि ।
 तस्या अभिप्रायवर्णनम् । एवं मोहने सति ते च देवा यज्ञं न
 मज्जातवन्तः ॥ १ ॥

तदनन्तरं देवैर्विचारपुरस्सरं तदप्रज्ञानकारणं निर्णीतम्,
 तद्दर्शयति— “ते होचुरिति । “अतस्महीति । अतनिमहे, तमन
 मकार्षीत्यर्थः । “तनु विस्तारे” —इत्यस्मात्कुडिं कान्दस इडभावः ।
 ‘कथं तु’ केन खलु कारणेन ‘नः’ अस्माकं यज्ञं ‘अमुहत्’ सुग्धः,
 अदृश्योऽभूदित्यर्थः । कुडिं घुवादित्वादङ् ॥ १ ॥

“ते होचुरिति । “अन्तरगामेति । अन्तरिता मरुमसि । “इणो
 गा कुडि” —इति^१ गादेशः । “गातिस्त्रा” —इति^२ सिधो लुक् । “सा
 न इति । ‘सा’ ‘इयम्’ पृथिवी ‘एव’ कृतापराधानां ‘नः’ अस्माकं

‘यज्ञम् अमूमुहत्’ यज्ञविषयं मोह मज्ञानं प्रापयदित्यर्थः । मोह-
यतेर्लुङि “(णिञिद्रुसुभ्यः)”-इति^१ ण्विष्णुदेशः । ‘इमा मेव’ पृथि-
वीम् ‘उपधावाम’ कृप्तेन हविर्भागिनोपगच्छामेत्यर्थः ॥ ३ ॥

“ते होचुरिति । ‘यत्’ यस्मात् हे अदिते । ‘त्वय्येव यज्ञम्
अतस्माद्दि’ । ‘कथं नु’ कस्मात् कारणात् ‘नः’ अस्माकं यज्ञः ‘अमु-
हत्’ मोहविषयोऽभूत्, वयं च किङ्कारणं ‘न प्रजानीमः’ । ‘इति’-
शब्दः प्रश्नसमाप्तौ ॥ ४ ॥

“सा होवाचेति । हे देवाः ! यूयं ‘मां’ ‘यज्ञात्’ ‘मा अन्त-
रगात्’ अन्तरितां भागरहितां मा कृणुध्वम् । यत एवम्, अतः
कारणात् ‘अह मेव’ ‘वः’ युष्माकं ‘यज्ञम्’ ‘अमूमुहम्’ मोहं
प्रापितम् । येन भागेन ‘यज्ञं’ ‘द्रक्ष्यथ’, तं ‘भागं’ मदर्थं कल्पयत ।
‘अथ’ अनन्तरम् । एवं मोहापसरणाद् यदा चैवं दर्शनविषयो
यज्ञो जातः, अनन्तरं तं प्रकर्षेण ज्ञास्येति सम्बन्धः ॥ ५ ॥

एव मदितिदेवतयोर्निर्देवैः कृतां भागकृप्तिं दर्शयति—
“तयेति । “देवा इत्यादि । प्रायणीयोदयनीयाख्यौ सोमयागस्य
पुरस्तादुपरिष्ठाच्चानुष्ठेयौ यागौ तव भागत्वेनास्माभिर्दत्तावित्यर्थः ।
उपपादितं मयं मुपसंहरति—“तस्मादेव इति । अयोदयनीययाग-
स्यादितिदेवताकल्पप्रतिपादनं प्रासङ्गिकम् । ननु “देवा इ वा
अस्या मित्यादौ^२ ‘इदं’-शब्देन पृथिवी निर्दिष्टा, तत् कथं मदिते-
र्देवतात्ववर्धनं मित्यत आह—“इयं होवादितिरिति । दितिः
खण्डनं न विद्यतेऽस्या मिति व्युत्पत्तेः ‘इय मेव’ पृथिवी ‘अदिति’-

शब्दवाच्या । अत एव पृथिवीनामसु यास्केन परिपठितम्—
 “अदितिः, इच्छा, निर्वर्तितिरिति१ । अत एव तैत्तिरीयके— “इयं
 वा अदितिः”—इति२ । यत्नूपरिष्ठात् ‘अदिति’-शब्दस्य निर्वचन
 माह्वास्यते— “स यद्यदेवासृजत तत्तदन्तु मन्त्रियत, सर्वं वा अन्तौति
 तददितेरदितित्वम्”—इति३, तत् सृष्ट्यादिकारणेन ब्रह्मविषयम् ।
 स्वात्मनि जात मोषधिवनस्पत्यादिकं पार्थिवं सर्वं मन्तौत्यदितिरिति
 योजनीयम् । एव मदितियागे सति देवानां यज्ञप्राप्तिर्जातेत्याह—
 “ततो यज्ञ मपश्यंस्तु मतन्वतेति । ‘ततः’ तस्मात्, अदितेर्हविर्भाक्-
 कल्पनात् । स्पष्ट मन्यत् ॥ ६ ॥

आख्यायिकया प्रायणीयस्य चरोर्यज्ञदर्शनहेतुत्वं सुपपाद्य प्रकृते
 योजयति— “स यदिति । यदेतत् प्रायणीययागस्यानुष्ठानम्, तद्
 ध्यामोहविषयता मापन्नस्य कृत्स्नस्य ‘यज्ञस्यैव’ दर्शनाय सम्पद्यते ।
 तद्दर्शनं मपि किमर्थं मित्यत आह— “यज्ञं दृष्टेति । सोमसार्थं ‘यज्ञं’
 प्रथमं ‘दृष्ट्वा’, पश्चात् तत्साधनं सोमं ‘क्रीणाति’ सोमविक्रयिणः सका-
 शात्,— “तं वै ते क्रीणानीत्यादिवक्ष्यमाणप्रकारेण४ स्वीकरवापि ।
 तेन च क्रीतेन सोमेन ‘तं’ सोमसार्थं यज्ञं ‘तनवै’ विस्तारयापि ।
 ‘इति’-शब्दो वाक्यसमाप्तौ । एवं यज्ञदर्शनस्य प्रयोजनतां प्रतिपाद्य

१— वस्तुतो न तु यास्केन; अपि तु निघण्टुसमाधायक्यतेति बोध्यम् ।

२— निघ० १. १. १४, १५, १६ ।

३— ऐ० ब्रा० ३. ३. ० ।

४— १० पा० ६ अ० ५ ब्रा० ५ क० (= ८० व्या० उ० १. २. ५.) ।

५— अस्मिन्नेव काण्डे इयं ६ ब्रा० १ क० द्रष्टव्यम् ।

तद्धेतुभूतं प्रायणीययागं निगमयति— “तस्मादादित्य मिति । एवं प्रायणीयेष्टौ चरुसाध्य मादित्ययागं विधायान्याश्चतुरो यागान् विधित्सुस्तेषां काल माह— “तदा इत्यादि । “निरुप्त मिति, हविः-संस्कारोपलक्षणम् । आदित्यस्य हविषो निर्वापप्रोक्षणाद्यासादनान्ताः संस्काराः कृता भवेयुः । प्रधानदेवता च ‘अनिष्टा’ अकृत-यागा भवति, तस्मिन् काले वक्ष्यमाणायतस्यो देवता यष्टव्या इत्यर्थः^१ ॥ ७ ॥

अथ तान् यागान् पूर्ववदाख्यायिकया विधित्सुस्तत्र प्रथम-यागस्य विधि मर्थवादेनोचयति— “अथैभ्य इति । अथेत्याज्यभाग-नन्तर्यं । ननु प्रायणीयाया माज्यभागौ न स्तः, अत एवाश्वलायनो-ऽप्यसूचयत्— “शंखन्तेय मनाज्यभागेति^२ । अथ वामाज्यभागपक्षस्य लिङ्ग मापक्षत्वेनापि दर्शितम्— “स्त्रिष्टुक्तं षष्ठ मिति^३ । यदि द्वा-ज्यभागौ स्यातां, तदा पथ्यास्तस्यादयः पञ्चेति स्त्रिष्टुक्तदष्टमः स्यात् । नैष दोषः; वाजसनेयिशाखान्तराभिप्रायेणाज्यभागसङ्गावात् । अत एव कात्यायनेन सूचितम्— “आज्यभागाविद्वाज्येन देवतास्यतस्यो यजति, पथ्यां स्वस्ति मग्नि सोमं सवितारक्ष”-इति^४ । “पथ्या स्वस्तिरिति । ‘एभ्यः’-इति “रक्ष्यर्षानां प्रीयमाण.”-इति^५ चतुर्थी ।

१— ऐ० ना० १. २. १ मष्टव्यम् ।

२— आश्व० श्रौ० सू० ७. १. १, २ ।

३— आप० श्रौ० सू० १०. २१. १२ ।

४— का० श्रौ० सू० ७. ५. १५ ।

५— पा० सू० १. ४. २३ ।

ते च देवा 'ताम्' 'पथ्या खस्तिम्' 'अजनयन्' । मन्त्ररूपा 'वाक्'
एव 'पथ्या खस्ति'— इत्युच्यते । पथोऽनपेता 'पथ्या' । "धर्मपथ्यर्थ-
न्यायादनपेते"—इति^१ यत् । 'खस्ति' शोभनरूपेति । 'पथ्या-खस्ति'-
शब्दनिर्वचनस्य वाचि सम्भावात्^२ । सा च वाक् यज्ञात्मिका । अत-
स्तस्या दशनेन 'यज्ञम्' एव 'अपश्यन्' । एव पुरावृत्तप्रतिपादनेन
पथ्या खस्ति प्रथमं यद्व्येति प्रतिपादितं भवति ॥ ८ ॥

अथाग्नेयस्य द्वितीययागस्य विधिं मुञ्चयति— "अथैभ्योऽग्नि-
रिति । 'आग्नेयम्'—इति सामान्योक्तस्य विवरणं "यद्वै शुष्कं मिति ।
यत् खलु यज्ञसम्बन्धि 'शुष्क' नीरसं समिदादि द्रव्यम्, 'तत् आग्ने-
यम्' । अन्यत् समानं पूर्वेण ॥ ९ ॥

अथ सौम्यस्य द्वितीययागस्य विधिं मुञ्चयति— "अथैभ्य सोम
इति । "स यदिति । सर्वत्र तच्छब्दं प्रसिद्धिद्योतकं । 'सौम्य'
सोमदेवत्यम् । "सोमाद्गण्"^१ । 'यत्' खलु यज्ञसम्बन्धि 'आर्द्र'
रसयुक्तं सोमादि द्रव्यम्, 'तत् सौम्यम्' । शुष्कार्द्रयोर्द्वागौषोमा-
भिमानिदेवते । एतच्च प्रागप्याख्यातम्— "द्वयं वा ऽद्दं न द्वितीय
मस्यार्द्रं चैव शुष्कञ्च"—इत्यादिना^२ ॥ १० ॥

१— पा० सू० ४ ४ ६२ ।

२— "पथ्या खस्ति, पथ्या अन्तरिक्षं तद्विवासात्"—इति, "खस्तीत्य-
विनाशिनामास्तिरभिपूजिताः स अस्तीति"—इति च यास्क्येन
निर्वचनम् (११ ४ ११, १ ४ ४) ।

३— पा० सू० ४ २ ३० ।

४— १ का० ५ प्र० २ ब्रा० २३ क० (१ भा० ४१८ ए०) ।

अथ सावित्रस्य चतुर्थयागस्य विधिमुन्नयति— “अथैभ्यः सवि-
तेति । सवितुः प्रेरकत्वात्, पशूनां च तत्प्रेर्यत्वात् प्रेर्यप्रेरकयो-
रभेदं विवक्षित्वा ‘सविता पशवः’-इति तादात्म्यव्यपदेशः । सवितुश्च
पशुप्रेरकत्वं “देवो वः सविता प्रार्पयतु”-इति^१-मन्त्रवर्णादव-
गम्यते । ते च पशवो हृदयाद्यवदानद्वारेण पयःप्रभृतिद्रव्या-
पादानत्वेन च यज्ञात्मकाः । यस्मादेवं चतसृभिर्देवताभिर्देवाः कृत्स्नं
यज्ञं न पश्यन्, दृष्ट्वा चाक्षुर्वन्, तस्मादिमाद्यतस्रो देवतास्यिकीर्षित-
यज्ञस्य प्रथमत आग्नेन यष्टव्या इति समुदायार्थः । एव मान्य-
हविष्कांश्चतुरः प्रधानयागान् कृत्वा प्रथमनिरुपेन हविषा अदिति-
र्यष्टयेत्याह— “अथ यस्यै देवताया इति । यस्मादेवं देवाः पञ्चमी
नदिति मयजन्, तस्मादिदानीन्तनोऽपि यजमानो यागसमये
अदितियागं पञ्चमं कुर्यादित्यर्थः ॥ ११ ॥

पञ्चमह्या मनूय प्रशंसति— “ता वा इति । ‘एताः’ पथ्या-
स्त्वस्यायाः । ‘मुग्ध आसीत्’ सोऽहविवयो भवेदित्यर्थः । अस्तेर्हि
लिङि “अस्तिमिचोऽष्टके”-इतीद्^२ । “पाङ्क्तो वा इति । पञ्चपदा
पङ्क्तिः ; तदाचिना पङ्क्तिशब्देन पञ्चमह्या लक्ष्यते ; तद्योगाद् ‘यज्ञः
पाङ्क्तः’ । तद्योगश्च तैत्तिरीयके स्पष्ट आस्वातः— “धानाः करम्भः
परिवापः पुरोडाशः पयस्या, तेन पङ्क्तिराप्यते, तद् यज्ञस्य पाङ्क्त-
त्वम्”-इति^३ । ऐतरेयके तु तत् पाङ्क्तत्वं “यो वै यज्ञं हविष्यङ्क्तिं
वेद”-इत्यादिना वङ्गश आस्वातम्^४ ॥ १२ ॥

१— वा० सं० १. १. ४ ।

२— पा० सू० ७. ३. ६६ ।

३— तै० सं० ६. ४. ११. ४, ५ ।

४— ऐ० मा० २. ९. ६ अरण्यम् ।

अतुपरिज्ञानहेतुत्वादपि तां पञ्चसङ्ख्यां प्रशंसति— “अतथो
मुग्धा इति । हेमन्तशिशिरावेकीकृत्य अतृणां पञ्चत्वम् । तथा
चैतरेयक प्रागुदाहृतम्— “हेमन्तशिशिरयोः समासेनेति^१ । अतु-
परिज्ञानाभावे हि वसन्तादिकालमाधो यज्ञो विकलः स्यात्,
अतस्तत्परिहारायैतद्यागपञ्चकानुष्ठान मिति श्रुतिः ॥ १३ ॥

दिग्बोधनिवृत्तिहेतुत्वेनापि पञ्चसङ्ख्यां प्रशंसति— “दिग्बो मुग्धा
इति । यज्ञानुष्ठानाय वसन्तादिकाला एव तदुपयुक्ताः । प्राच्याद्याः
‘पञ्च दिशः’ ‘मुग्धा आसन्’ ध्यामूढा अभवन् । गत मन्यत् ॥ १४ ॥

तत्र कीदृश्या देवतया कतमा दिक् प्रज्ञातेत्याशङ्क्य प्रथमदेवता-
ज्ञातां दिशं प्रदर्शयामादपति— “उदीची मेधेति । यस्मादेवं
पथ्या-स्रस्त्याख्यया प्रथमदेवतया उदीची दिक् देवैः प्रज्ञाता,
‘तस्मात्’ ‘अथ’ अस्मिन् लोके कुरुपञ्चास्राख्येषु जनपदेषु ‘उत्तरा’
उच्चतरा ‘वाग्’ ‘वदति’ भृशं शब्दायते, अत्युन्नतसम्भाषणस्य तथो-
पलम्भात् । “देवमनुष्येत्यादौ^२ परिगणनाभावेऽपि वज्रसमवहणात्
कुरुपञ्चास्रशब्दादपि चा-प्रत्ययः । ननु वाच उत्तरदिक्मन्वन्धोऽस्तु,
स्तुतः पथ्या-स्रस्त्या दिशः सम्बन्धः ? इति, तत्राह— “वाग्घीति ।
‘एषा’ पथ्या स्रस्ति, यस्मात् ‘निदानेन’ कारणेन निरूप्यमाणा सती
‘वाक्’ एव, “वाग्वै पथ्या स्रस्ति.”-इति धुक्तम्^३, अत उत्तरस्यां

१— रे० ब्रा० १. १. १. ।

२— पा० सू० ५. ४. ५६ ।

३— “वाग्वै पथ्या स्रस्तिस्तस्मादुदीची दिशि प्रज्ञाततरा वागुद्यत उदध
उ एव यन्ति वाचं शिञ्जितु यो वा तत आगच्छति तस्य वा शुश्रूषन्त
इति च स्मादैवा वाचो दिक् प्रज्ञाता”-इति कौ० ब्रा० ० ६ ।

दिशि वाचः प्रसिद्धिर्युक्तेति भावः । 'हि' यस्माच्चैवम् 'एतया'
'उदीचीं दिशं' देवाः 'प्राजानन्', तस्मात् । 'एतस्यै' षष्ठ्यर्थे चतुर्थी^१,
एतस्याः पद्यायाः स्वस्ये 'उदीची दिक्' सम्भूता ॥ १५ ॥

अथ द्वितीयदेवतया प्रज्ञातां दिशं सुपन्यस्योपपादयति—
“प्राची मेवेति । यस्मादग्निं प्राच्या दिशो ज्ञानहेतुः, तस्मात्
‘यस्माद्’ अवस्थितम् ‘अग्निम्’ आहवनीयरूपेण ‘प्राञ्च शुद्धत्योपासते’
अग्निहोत्रहोमादिरूपं सुपासनं कुर्वन्ति । यस्मात् देवाः ‘प्राचीं
दिशम्’ ‘एतेन’ अग्निना ‘प्राजानन्’, तस्मात् ‘एतस्य’ अग्ने, ‘प्राची
दिक्’ सम्भूतेत्यर्थः । अत एवान्यथान्वायते— “प्राची दिगग्निर्देव-
तेति” ॥ १६ ॥

अथ द्वितीयदेवतया प्रज्ञातां दिशं सुपन्यस्योपपादयति—
“दक्षिणा मेवेति । यस्मात् दक्षिणा दिक् ‘सोमेन’ परिज्ञाता,
‘तस्मात्’ उपरवदेशे ‘क्रीतं सोमं’ महावेदेर्दक्षिणतोऽनया ‘परि-
वहन्ति’ । “दक्षिणादाच्”—इत्याच्^२ प्रत्ययः । ‘तस्मात्’ दक्षिणदिक्-
प्रवर्तनाद्धेतोः वस्त्ररूपः ‘सोमः’ ‘पिबदेवत्य’ । पिबदेवताकदक्षिण-
दिक्प्राप्तेः सोमस्य पिबदेवत्यत्वं युक्तम् ॥ १७ ॥

अथ चतुर्थदेवतया प्रज्ञातां दिशं सुपन्यस्यति— “प्रतीची
मेवेति । ‘एषः’ सूर्यः ‘प्रत्यङ्हेति’ प्रत्यङ्मुखो गच्छति । एष
मन्यत् ॥ १८ ॥

१— पा० २. १ इ२ सू० वा० १ ।

२— की० प्रा० ७. ६ ।

३— पा० सू० ४. ६ ५६ ।

अथ पञ्चमदेवतया प्रज्ञातां दिग्ग मुपन्यस्यति— “ऊर्द्धां मेवेति । यस्माद् भूम्या मुत्पन्नाः ओषधिवनस्पतय ऊर्द्धमुखा एव वर्द्धन्ते, तस्मात् अदित्यभिधानाया भूम्याः सकाशादूर्द्धदिक्परिज्ञानं युक्त मित्यर्थः । इत्थं पञ्चदिग्ब्यामोहपरिहारोपन्यासमुखेन प्रायणीयेष्टौ पञ्चदेवता यष्टव्या इत्युक्तम् ॥ १८ ॥

अथातिथ्यायाः प्राक् प्रायणीयो कर्त्तव्य इत्यभिधातुं प्रायणी-
योदयनीययोर्बाहुद्वयरूपता मातिथ्यायाः शिरोरूपताञ्चाह—
“शिरो वै यज्ञस्येति । आतिथ्यमध्येऽनुष्ठेयत्वेन प्राधान्याच्छिरस्त्व-
व्यवहारः । ‘एते हविषी’ एतौ यागावित्यर्थः ; यागस्य हविः—प्रधान-
त्वात् । लोके शिरस उभयतो बाह्वोर्दर्शनात्, आतिथ्यस्य शिर-
स्वाभिधानाद्, बाहुस्थानीययोरनुष्ठानं युक्तम्^१ ॥ २० ॥

उक्तं बाहुतल मुपजीव्य प्रायणीयोदयनीययोरेकरूपता माह—
“तदाहु रिति । सङ्गच्छेत्तत्त्वं यच्छब्दायं विशदयति— “यदेवेति ।
मध्ये कर्मान्तरव्यवधानात् कथं तस्य बर्हिषोऽवस्थानं मिथ्याशङ्क्य
तदुपायं दर्शयति— “तदपोद्धृत्येति । प्रहरणं मकृत्वा बर्हिदहृत्योपरि
प्रज्ञातं निदध्यात् । बर्हिर्वन्तु स्वास्तीमेवणयोरप्युदयनीयार्थं भवस्थानं
माह— “तां स्वास्ती मिति । या प्रायणीयश्च स्वास्ती, ‘तां’ ‘मसाम-
कर्षाम्’ ; अग्निमंयोगेनान्तरीपददग्धयज्ञः ‘सामः’ , तस्य ‘कपो’
लोपः, तत्सहिता मित्यर्थः । “सायो मः”—इति^२ निष्ठातकारस्य

१— यज्ञस्य मुखमसम्मितत्वं वक्ष्यतीदृशानुपदम् (अ० ५, ब्रा० २.) ।

२— या० सू० ८. २. १३ ।

मत्वम् । 'मेक्षणं' चरुनिष्पादनसाधनं काष्ठम्^१ । तत् 'प्रमृज्य'
चरुणा लेपयित्वा श्याख्या सह निदध्यादित्यर्थः । अत्रिगैक्यं च
विधत्ते— "य एव प्रायणीयस्येति । इदानीन्तनाना मपि वाहोः
स्वरूपत्वं प्रायणीयोदयनौचयोरैकरूप्यनिबन्धन मित्याह— "तद्यदे-
तदिति । सादृश्यं मेकदेशेनापि भवतीति तद् विग्रेथ्यते— "स्वरू-
पाविति ॥ ११ ॥

उक्तो बहिर्वाद्यैकरूप्यपक्षो न नियत इत्याह— "तदु तथेति ।
"एवं मेक्षण मिति । बहिर्वदग्रौ प्रहरेदित्यर्थः । 'श्याली' 'निर्णिज्य'
क्षामकत्वं मपि प्रगमय्य अत्रिजा मेव च नियम मङ्गीकृत्य । तेषा
मपि केनचिन्नमित्तेन विगमे सति तदेकत्वं मपि नियमेन भवि-
तव्य मित्याह— "य एव प्रायणीयस्येति । 'विग्रेताः स्युः' विविधदेशं
प्राप्ता भवेयुः । तर्ह्यैकरूपत्वं किञ्चिन्नित्येव मित्याह— "स यदिति ।
'यदे' यदेव बहिर्वाद्यस्य स्वरूपम्, अतस्तयोरैकरूप्य मेव नियमेन
भवितव्य मित्यर्थः । 'तेनैव'-इति एवकारेण पूर्वोक्तं बहिर्वा-
द्यैकरूप्यं व्यावर्तते । तेनैव द्रव्यदेवतैक्येन कारणेनैवेदानी मपि

१— "बभौ मेक्षण मभ्यादधाति इतीहेव गतं पुरस्तात् (२. ४. २.
१३.) । सामिधेयौकाष्टानि पञ्चदश, दे व्याघारसमिधौ अनुयाजसमिधेकेति
अयः परिधयः, उपवेधो मेक्षणं दृष्टिरिति तिस्रः समिध इत्येकविंशतिः ।
तत्र प्रादेशमात्रं हविर्वदानसाधनं चरुलेपधानसाधनं च काष्ठखण्ड'
मेक्षणं मुच्यते । तदेतत् सर्वं व्याख्यातं तै० ब्रा० (१. २. १०. ४, २. ०. ४.
६.) सा० भा० । "इष्टजातीय मिध्माहं प्रमाणं मेक्षणं भवेत् । दत्तं
घातुलपृथ्व्य मवदानक्रियाक्षमम्"—इतिकर्म-प्र० २. ४. १४ । "मेक्षणेन
जुहोति"—इत्यस्य (का० श्रौ० ४. १. ०.) सूत्रस्य व्याख्याने 'मेक्षणं
च होमसाधनत्वाद् वैकृतं पाशाश्च मपि भवतीति च याज्ञिकदेवः ।

मनुष्याणां 'बाह्व सख्यौ' भवत इत्यर्थः । तथाच कात्यायनोऽपि—
 "वरमेवणवर्हिर्निदधात्युदयनीयायै, सखेपं चरुं प्रमृष्टं मेवणं,
 प्रचालयति वा चरुम्, अनुग्रहरतीतरे, न एवर्विजो, विप्रेतेष्व-
 न्येऽपि"—इति^१ । 'इतरे' वर्हिर्मेवणे ॥ २२ ॥

देवतैक्याभिधानप्रसङ्गेन पञ्चसङ्ख्यां प्रशंसति— "स वा इति ।
 'सः' अध्वर्युः । 'तस्मात्' देवतानां पञ्चत्वाद्धेतोः 'इत्या' इत्यम्,
 अनेन इदानीं परिदृश्यमानेन प्रकारेण 'पञ्चाङ्गुलपः' लभ्यन्ते ।
 हस्तद्वय मभिनीय प्रदर्शयितुं द्विरभिधानम् । प्रकृतिभूतदर्शपूर्ण-
 भासेष्टिवत् साकल्येनानुष्ठानप्रसक्तौ तत् प्रतिषेधति— "तच्छ्वन्तं
 भवतीति । अन्तग्रहणेन सिद्धौ उपरितनाङ्गनियेधो नित्यानुवाद-
 तथा पुनर्निषिध्यते— 'न पत्नीः संयाजयन्तीति । प्रायणीयोदय-
 नीययोर्वाङ्मनिरूपणादप्युत्तराङ्गजातं न कर्त्तव्य मित्याह— "पूर्वाङ्गं
 वा अन्वात्मनो बाह्व इति । 'आत्मनः' शरीरस्य 'पूर्वाङ्गं मनु' 'बाह्व'
 वर्त्तते, न सर्वाङ्गि, अतः 'एतत्' एतेन तदुभयश्च श्वन्तानुष्ठानेन,
 यज्ञश्च 'पूर्वाङ्गं मेव' संस्कृतवान् भवति^२ ॥ २३ ॥ २ [२. २.] ॥

इति श्रीभाष्यणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे द्वितीयाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

१— का० श्रौ० सू० ०. ५. १६-२१ ।

२— "श्वन्तं भवति"—इति च का० श्रौ० सू० ०. ५. २२ । एतदुत्तरं न
 त्विह बहुविधारा कृता दृश्यन्ते ।

(अथ चतुर्थ ब्राह्मणम्)

दिवि वै सोम आसीत् । अथेह देवास्ते देवा
अकामयन्ता नः सोमो गच्छेत् तेनागतेन यजेमहीति
तु ऽएते माये ऽअस्तजन्त सुपर्णीं च कद्रूं च तद्विरण्यानां
ब्राह्मणे व्याख्यायते सौपर्णीकाद्रवं युथा तदास ॥ १ ॥

तेभ्यो गायत्री सोम मुच्छापतत् । तस्या ऽआहुरन्त्ये
गन्धर्वो विश्वावसुः पुर्यमुष्णात्ते देवा अविदुः प्रच्युतो
वै परस्तात् सोमोऽथ नो नागच्छति गन्धर्वा वै पुर्य-
मोपियुरिति ॥ २ ॥

ते होचुः । योपित्कामा वै गन्धर्वा व्याच मेवैभ्यः
प्रहिण्वाम सा नः सुह सोमेनागमिष्यतीति तेभ्यो
व्याचं प्राहिण्वन्तैनान्सह सोमेनागच्छत् ॥ ३ ॥

ते गन्धर्वा* अन्वागुत्यान्ववन् । सोमो युष्माकं व्या-
गेवास्माक मिति तथेति देवा अन्ववन्निहो वेदागान्धैना
मभीपुहेव नैष्ट विद्वयामहा ऽहुति तां व्यद्वयन्त ॥ ४ ॥

तुस्यै गन्धर्वाः । वेदानेव प्रोचिर ऽहुति वै व्ययं
व्विद्वेति व्ययं व्विद्वेति† ॥ ५ ॥

* 'गन्धर्वा'—इति ग, घ ।

† 'विद्वेति'—इति ख, 'विद्वेति'—इति ग, घ ।

अथ देवाः* । वीणा मेव सृष्ट्वा व्वादयन्तो निगायन्तो
निषेदुरिति वै ते व्ययं गास्यामा इति त्वा प्रमोदयि-
ष्यामह इति सा देवानुपाववर्त्त सा वै सा तन्मोघ
मुपाववर्त्त या स्तुवद्भ्यः शुःसद्भ्यो नृत्तं गीतु मुपाववर्त्त
तस्मादुष्येतुर्हि मोघसःहिता एव योषा एवः हि
व्यागुपावर्त्तत ता मु ह्यन्या अनु योपास्तस्माद्यु एव
नृत्यति यो गायति तस्मिन्नेवैता निमिष्यतमा इव ॥ ६ ॥

तद्वा एतदुभयं देवेष्वासीत् । सोमश्च व्याक् च स
यत् सोमं क्रीणात्यागत्या एवागतेन यजा इत्युनागतेन
हु वै स सोमेन यजते यो ऽक्रीतेन युजते ॥ ७ ॥

अथ युद् भुवाया माज्यं पुरिशिष्टं भवति । तुज्जुह्वां
चतुष्कृत्वो व्विष्टह्णाति बर्हिषा हिरण्यं प्रबुध्यावधाय
जुहोति क्षत्वेन पुयसा जुह्वानीति समानुजन्म वै पुयश्च
हिरण्यञ्चोभयः ह्यग्निरेतसम् ॥ ८ ॥

स हिरण्य भवदधाति । एषा ते शुक्र तनूरेतदुर्ध्व इति
व्वर्धो वा एतद्यहिरण्यं तुया सुम्भव भ्राजं गच्छेति स
यदाह तुया सुम्भवेति तुया सुम्पृच्यस्वेत्येवैतदाह भ्राजं
गच्छेति सोमो वै भ्राद् सोमं गच्छेत्येवैतदाह ॥ ९ ॥

* 'देवा'—इति ग, घ ।

† 'गमिष्याम'—इति ऋ ।

‡ 'ह्यग्निरेतस'—इति ख, 'ह्यग्निरेतसः'—इति ग, घ ।

तां युधैवादोदेवाः* । प्राहिण्वन्सोम मुच्छैव मेवैना
मेपुं एतत् प्राहिणोति सोम मुच्छं व्याग् वै सोमक्रयणी
निन्दानेन ता मेतयाहुत्या प्रीणाति प्रीतया सोमं
क्रीणानीति ॥ १० ॥

सु जुहोति । जूरसौत्येतद् वा अस्या एकं नाम यञ्जु-
रसौति धृता मुनसेति मुनसां वा इदं व्याग् धृता मुनो
वा इदं पुरुस्तादाच इत्थं व्वद् मैतुदादीरित्यलुगल
मिव† ह वै व्याग्वदेद्यन्मुनो न स्यात्तस्मादाह धृता
मुनसेति ॥ ११† ॥

जुष्टा विष्णव इति । जुष्टा सोमायेत्येवैतदाह यु
मच्छेम इति तुस्यास्ते सत्युसवसः प्रसव इति सत्युप्रसवा
न एधि सोमन्नोच्छेहीत्येवैतदाह तुन्वो यन्तु मशीय
स्वाहेति सु ह वै तुन्वो यन्तु मश्रुते यो यज्ञस्योद्भवं
गच्छति यज्ञस्योद्भवं गच्छानीत्येवैतदाह‡ ॥ १२ ॥

अथ हिरण्यं मपोहरति । तुन्मनुष्येषु हिरण्यं करोति

* 'देवाः'-इति य, घ ।

† 'लुप्त मिव'-इति सा०-सम्मत इति डा० वेबर ।

‡ एतदमन्तरम् "यद्वेप्रया० ६४"-इति ऋ-य प्रश्नरूपो ।

§ 'दाह'-इति य ।

स यत् सुहिरण्यं जुह्यात् पुरागु हैवैतन्मनुष्येभ्यो
हिरण्यं प्रवृज्यात्तन्नु मनुष्येषु हिरण्यं मभिगम्येत* ॥ १३ ॥

सोऽपोद्धरति । शुक्रं मसि चन्द्रं मस्यमृतं मसि वैश्वदेव
मसीति दत्तस्तेन पुयसा हुत्वा युदेवैतत्तदाह शुक्रं
मसीति शुक्रः ह्येतच्चन्द्रमसीति चन्द्रः ह्येतदमृतं मसीत्य-
मृतः ह्येतद्वैश्वदेव मसीति वैश्वदेवः ह्येतत् प्रमुच्य
तृणं बर्हिष्यपिस्तृजति सूचेण हिरण्यं प्रवर्ध्नीते ॥ १४ ॥

अथापरं चतुर्गृहीतं माज्यं गृहीत्वा । अन्वारभस्वां
यजमानेत्याहुः पोषुर्वन्ति शालायै द्वारे दक्षिणतः
सोमक्रयण्युपतिष्ठते तत्प्रहिता मेवैना नेतुत्सती
प्राद्वैपौद्वाग् वै सोमक्रयणी निदानेन तु नेतयाहुत्या-
प्रैपीत् प्रीतुया सोमं क्रीणानीति† ॥ १५ ॥

अथोपनिष्क्रम्याभिमन्त्रयते । चिदसि मुनासीति
चित्तं वा ऽइदं मुनो व्यागुनुवदति धीरसि दक्षिणेति
धिया धिया ह्येतया मनुष्या जुज्यूपन्त्युः नूक्तेनेव प्रका-
मोद्येनेव गायाभिरिव तस्मादाह धीरसीति दक्षिणेति

* 'मभिगम्येत'—इति ख, 'मभिगम्येत—इति ग, 'मभिगम्येत'—इति घ ।

† 'गृहीत्वा । अन्वारभस्व'—इति ख ।

‡ 'क्रीणानीति'—इति ख, 'क्रीणानीति'—इति ग, घ ।

§ 'जुज्यूपन्त्युः'—इति सा०—सम्मतो गम्यते ।

दक्षिणा ह्येषा श्रित्यासि यज्ञियासौति श्रित्या ह्येषा
यज्ञिया ह्येषादितिरस्युभयतःशौर्णीति स युदेनया
समानः सुद्विपय्यासं वृद्धति यदुपरं तत् पूर्वं कुरीति
यत् पूर्वं तदुपरं तेनोभयतःशौर्णी तुस्मादाहुदिति-
रस्युभयतःशौर्णीति ॥ १६ ॥

सा नः सुप्राची सुप्रतीचेधीति । सुप्राची न एधि
सोमं नोऽच्छेहीत्येवैतदाह सुप्रतीची त एधि सोमेन नः
सह पुनरेहीत्येवैतदाह तुस्मादाह सा नः सुप्राची
सुप्रतीचेधीति ॥ १७ ॥

मिचुत्वा पदि बभ्रीता मिति । व्वरुण्या वा ऽएषा
यद्रुज्जुः सा यद्रुज्वाभिहिता स्याद्वरुण्या स्याद्यहुनभि-
हिता स्यादुयतेव स्यादेतद्वा ऽअवरुण्यं युन्मैवः सा
यथा रुज्वाभिहिता युतैव मस्यैतद्भवति यदाह मिचुत्वा
पदि बभ्रीता मिति ॥ १८ ॥

पूपाध्वनस्यात्विति । इयं वै पृथिवी पूपा यस्य वा
ऽइय मुध्वन् गोप्त्री भवति तस्य न का चनु ह्यसु भवति
तुस्मादाह पूपाध्वनस्यात्विति* ॥ १९ ॥

हुन्द्रायाध्यक्षयेति । स्वध्यक्षासदित्येवैतदाह यदा-
हुन्द्रायाध्यक्षयेत्यनु त्वा माता मन्यता मुनु पितानु

भ्राता सुगर्भोऽनु सुखा सुयूथ्य इति सा युत्ते जुन्म तेन
 नोऽनुमता सोम मुच्छेहीत्येवैतुदाह सा देवि देव मुच्छे-
 हीति देवी ह्येषा देव मुच्छेति यद्वाक् सोमं तुस्मादाह
 सा देवि देव मुच्छेहीतीन्द्राय सोम मित्तीन्द्रो वै यज्ञस्य
 देवता तुस्मादाहेन्द्राय सोम मिति रुद्रस्त्वावर्त्तयत्वित्यु
 प्रणाशायैतुदाह रुद्रः हि नाति पशुवः स्वस्ति सोम-
 सखा पुनरेहीति स्वस्ति नः सोमेन सह पुनरेहीत्येवै-
 तुदाह ॥ २० ॥

तां युथैवाटो देवाः* । प्राहिण्वन्त्सोम मुच्छु सैनान्तसह
 सोमेनागच्छदेव मेवैना मेषु एतत् प्रहिणोति सोम
 मुच्छु सैनः सह सोमेनागच्छति ॥ २१ ॥

तां युथैवाटो देवाः† । व्युद्धयन्त गन्धर्वैः सा
 देवानुपावर्त्तते मेवैना भेतद्युजमानो व्युद्धयते सा
 युजमान मुपावर्त्तते ता मुदीचीमत्याकुर्वन्त्युदीची हि
 मनुष्याणां दिक् सो ऽएव युजमानस्य तुस्मादुदीचीमत्या-
 कुर्वन्ति ॥ २२ ॥ ३ ॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके तृतीयं ब्राह्मणम् [२. ४.] ॥

सोमक्रयं विधातु माख्यायिका माह— “दिवि वै सोम इत्यादिना । “दिवि वा इति । ‘वै’-शब्देन “द्वितीयस्या मितो दिवि सोमः”-इत्यादियुक्त्यन्तरप्रसिद्धिर्ज्ञेयते । ‘इह’ भूमौ ‘देवाः’ आसन्निति शेषः । सोमागमनप्रयोजनम्— ‘तेनागतेन घञेम-हीति । “त एत इत्यादि । परथामोहनकारिणी शक्तिः ‘माया’ । ‘ते’ देवाः ‘एते’ हे मायाभिरूपे स्त्रियां सोमरचकाणां गन्धर्वाणां थामोहाय सृष्टवन्त इत्यर्थः । तथा चोत्तरचाक्षास्यते— “त एते माये असृजन्त सुपर्णींश्च कद्रूश्च वागेव सुपर्णींश्च कद्रूः”-इति । शोढमैत्रावरुणादीनां शंसनभदेगेषु सुरतः स्थापिता अग्नयो धिण्याः शोषीयादयः । ते खलु पुरा दिवि सोमरचकाः, पश्चात् सोमे आहूते सति तेन सह भूमावागत्य देवेभ्यो लम्बवराः वन्तोऽप्यायि-सोमरचणाय धिण्यतां प्राप्ताः । तथा चोपरिष्ठाद् वक्ष्यन्ते— “त मेते गन्धर्वाः सोमरचा जुगुपुरिमे धिण्या इमा होवाः”-इति । तेषां (‘धिण्यानां’) ‘प्राक्षणे’ ‘आख्यायते सौपर्णीकाद्रवम्, सुपर्णीकद्रोर्दत्तान्तः सर्वोऽपि विवरिष्यत इत्यर्थः । तत्र हि माया-

१— तै० सं० ३. ५. ०. २ ।

२— इदं वक्ष्येऽध्याये द्वितीये प्राक्षणे द्वितीया कद्रो द्रष्टव्या । “इयं वै कद्रूमौ सुपर्णी इन्द्राति सौपर्ण्या”-इति तै० सं० ६. १. ६. १ । महाभारते आदिपर्वणि, भागवते च वक्ष्ये लम्बे एषा कथा प्रसङ्गिता, वक्ष्यतो रूपकमूलेनेति निमृञ्चैव ।

३— इदं वक्ष्ये-द्वितीयस्य अवस्थां द्रष्टव्यम् ।

४— “इतद् आख्यातं सौपर्णीकाद्रव मिति”-इतीदं वक्ष्ये ६. ०. ० ।

मयोः सुपर्णाकद्रोस्त्यत्तिः, तयोर्मिथः कलहः, परस्परजयपराजय-
निमित्तकः समयबन्धः, ततः कद्रूजयः, पराजितायाः सुपर्णाः
स्वात्मनिष्क्रयाय सोमोपहरणार्थं कन्दर्वा सुपर्णाः सकाशादुत्पत्ति-
र्गायत्र्या च सोमाहरणम्,— इत्येवमादयोऽर्था अस्मिन्नेव काण्डे
पञ्चमप्रपाठकादौ “विजामानो देवास्त धिष्ण्याः”—इत्याद्युपक्रम्य,
“दिवि वै सोम आषौदयेह देवास्त देवा अकामयन्त”—
इत्यादिना^१ आवाहयन्ते ॥ १ ॥

“तेभ्यो गायत्रीति । ‘तेभ्यः’ देवेभ्योऽर्थाय सुपर्णा निर्मिता
‘गायत्री’ कन्दोदेवता पक्षिरूपेण दिवि स्थिता ‘सोमम्’ ‘अच्छ’
अभिमुखं मगमत् । ‘आहरन्त्यै’ आहरन्त्यास्तस्याः स्वरूपं सोमम्,
षष्ठ्यर्थे चतुर्थी^१, ‘विद्यावसुः’ नाम ‘गन्धर्वः’ ‘पर्यमुष्यात्’ अप-
जहार । ततः ‘ते देवाः’ ‘अविदुः’ । किमिति ‘परस्तात्’ द्युलोकात्
‘सोमः प्रच्युतः’, ‘अथ’ ‘न.’ अस्मान् ‘नागच्छति’, ‘गन्धर्वा’
विद्यावसोर्भृत्याः ‘वै’ नूनं ‘पर्यमोषियुः’ स्तेषु भक्त्युः ‘इति’ ॥ २ ॥

“ते होषुरिति । होषितः कामयन्त इति ‘होषित्कामाः’ ।
‘एभ्यः’ गन्धर्वेभ्यो व्यामोहाय ‘वाचं’ ‘प्रहिण्वाम’ प्रेषयाम । वाच
प्रेष्यता मभिप्रायः— “आ नः सह सोमेनागमिष्यतीति ॥ ३ ॥

“ते गन्धर्वा इति । सोमं मुपायेनानयन्ती स्वयं मयि प्रति-
निवर्त्तयिष्यत इति ‘सोमो युष्माकं वागेवास्माकम्’ अस्त्विति ।
अथ गन्धर्वाविरोधेनैव देवैर्दृष्टं वास्त्वाभोपायं दर्शयति— “इहो
चेदागादित्यादि । प्रेषयामो वयं वाचं सोमैरिह ‘आगात्’

आगच्छेत् । 'उ'-शब्दोऽन्यकः । हे गन्धर्वाः ! 'एनाम्' 'इह'
आगताम् 'अभीषहे' । 'व'-इति वाक्यालङ्कारे । अभिषहन मभी-
षद्, अभिभवः । तेन वच्चात्कारेण 'मा नैष्ट' मा माहर्षत' । "न
माङ्योगे" -इत्यङ्भावः । 'विद्ध्यामहे' द्युयं वयं च वाच विविध
भाकारयामः ॥ ४ ॥

एव मियः समये कृते गन्धर्वाणां माङ्गानप्रकार माह— "तस्यै
गन्धर्वा वेदानेवेति । 'प्रोचिरे' प्रवचनं मकुर्वन् । तस्या वाचो
वशीकरणायेति शेषः । एव मिदं ब्रुवतां तेषां मभिप्रायः— "इति
वै वयं विद्महेति । एवं खलु वाचः स्वाधीनत्वकरणोपायं जानीम
इति, अथ मुपायः सर्वेषां स्त्रीकीयानां मभिमत इति प्रदर्शयितुं
वीक्षयाभिधानम् ॥ ५ ॥

देवैः कृतं वाचः स्त्रीकरणोपाय माह— "अथ देवा वीणा
मेवेति । 'वीणां वादयन्त' निषादादिस्वरानुकुल्येन ध्वनिं सुत्पाद-
यन्त', तदनु खलु 'गायन्त' 'निषेदुः' उपसन्नाः । "इति वा
इति । एव खलु 'ते' त्वदर्थं 'गायाम' । न केवलं मीढृश गानं
मस्माकं किन्तु हे 'वाग्देवते । 'ता' त्वाम् 'इति' एवमकारेण खलु
तोषयामः । 'इति'-शब्दो वाक्यसमाप्तौ । 'सा देवान् उपावर्त्त'
उपावर्त्तते, प्रत्यावृत्ता । 'या' वाक् 'स्तुतव्यः शमव्य' स्तोत्रशस्त्र-
रूपं वेदानुवचनं कुर्वन्तो गन्धर्वेभ्यः सकाशात् देवैः कृतं 'नृत्तं'
'गीतम्' शोपावृत्ता, 'सा वै' सा खलु । 'सा' पूर्वे सोमाहरणाय

प्रेयिता वाक् 'तत्' तदानीं 'मोघं' यथं गेशोपावृत्ता । सुत-
 ग्रन्थरूपपरित्यागस्यानौचित्यादिति भावः । इदानीन्तनस्योपां
 मोघस्यभावनं वाग्देवतोपक्रम मित्याह— "तस्मादिति । 'तां'
 वाचम् 'अमु' 'अन्याः' अपि योषित । अग्रहत मपि नर्त्तनं
 गानवत् स्त्रीष्यामोहमाधन मिति गानेन सहोपन्यस्तम् । 'एताः'
 योषित 'निमिद्धतमा इव' विमेषणीक्रीभृताः, अत्यन्त मनुरक्ता
 भवन्तीति शेषः । अयं मर्यः सर्वोऽप्येतरेयमाङ्गणे "सोमो वै राजा
 गन्धर्वैश्चिवि विष्टे^१ प्रपद्यित^२ ॥ ६ ॥

इदानीं गानमिद्वार्यं मनूय^३ सोमकथं विदधाति— "तदा
 एतदुभय मिति । यस्मात् सोमो देवानां स्त्र माप्नोत्, तस्मात्
 'आगत्या एव' सोमप्राप्त्या एव 'सोम' 'क्रीणाति' क्रीणीयात् ।
 अपूर्वार्थत्वाद् यच्छब्द मनादृत्य विधिं कल्पयितव्य । आगत्या अपि
 प्रयोजन माह— "आगतेन यजा इति । अक्रीतस्य यागानर्हता
 माह— "अनागतेनेति । आगतोऽपि सोमः क्रयसंस्कारेणानागतत्वात्
 अनागत इत्युच्यते ॥ ७ ॥

सोमकथात् प्राक् कर्त्तव्यं च कश्चिद्धोम विदधाति— "अथेति ।
 'ध्रुवायाम् आज्य परिशिष्ट' प्रायणीयार्थं सुपयुज्य यद् इत ध्रुवाया
 मवशिष्टम्, 'तत्' 'जुह्वा' 'चतुष्कृत्' चतुर्वारं गृहीत्वा, 'वर्हिषा'
 दर्भेण 'हिरण्य' 'प्रबध्य' जुह्वाम् 'अवधाय' आधाय जुहुयात् । तथा
 च कात्यायन — "शालादाराण्यपिधाय ध्रौव जुह्वां चतुर्विगृह्णाति,

१— १०. ४ १ (१ भा० १८४ प०) ।

२— 'इदानीं' — 'मनूय'—इत्यस्य स्थाने 'सिद्धार्यं मनूय'—इत्येव ग ।

वर्द्धिस्तृणेन हिरण्यं बध्वावदधात्येषा त इतीति^१ । हिरण्यावधान-
प्रयोजनम्—“कृत्स्नेन पयसेति । पयःप्रकृतिकत्वाद् आज्यं पयः ।
सति हिरण्यस्य पयस्त्वे भवत्येव कात्स्न्यम् । तदेव कुत इत्यत
आह—“समानजन्म वा इति । ‘पयस्य हिरण्यञ्च’ इति वस्तुद्वयं
‘समानजन्म’ समानोत्पत्तिकम्, एकचोत्पन्न मित्यर्थः । कथं समानत्वं
जन्मनः ? ‘हि’ यस्मात् ‘उभयम्’ अपि ‘अग्निरेतसम्’ अग्नेः रेतो
वीर्यं यस्योभयस्य तत् तथोक्तम् । यस्मादेवं तस्मादित्यर्थः । “अन-
सन्ताम्रपुंसकाच्छन्दसि”—इति^२ अच् प्रत्यय, समासान्त । पयसो-
ऽग्निरेतस्त्वं द्वितीयकाण्डे उक्तम् । तथाहि गोरुत्पत्तिं प्रस्तुत्य—
“ता सु चाग्निरभिदधौ । मियुन्येनया स्या मिति तां सम्भव तस्यां
रेतः प्राप्तिञ्च तत् पयोऽभवत्”—इति^३ । हिरण्यस्याप्यग्निरेतस्त्वं
तैत्तिरीये—“आपो वरुणस्य पत्न्य आसन्, ता अग्निरभ्यधायन्, ताः
समभवन्, तस्य रेतः परापतत्, तद्विरण्य मभवत्”—इति^४ ॥ ८ ॥

मन्त्र मभिधाय पुनरनुवदति—“स हिरण्य मिति । ‘स’
अध्वर्यु । हिरण्यनिधानमन्त्र चेधा विभज्य व्याचष्टे—“एषा ॥
इत्यादिना^५ । हे ‘शुक्रा’ ‘एषा’ एतद्विरण्यं ‘ते’ ‘तनूः’ शरीरम् ।
तत्त्वपेक्षया स्त्रीलिङ्गता, अथवा ‘एषा’ जुह्वरिति व्याख्येयम् ।
‘एतत्’ एव आज्यं तव ‘वर्चः’ तेजः । शिष्टं ब्राह्मणेनैव व्याख्यातम् ।
व्याख्येयभागद्वयं सुपादाय प्रथमभागस्य ‘सम्भव’-शब्दस्यार्थं साह—

१— का० श्रौ० सू० ७६ ७, ८ ।

२— पा० सू० ५. ४. १०५ ।

३— २ चध्या० ४ ब्रा० १५ क० ।

४— तै० ब्रा० १. १ ३. ८ ।

५— “एषा ते”—इति मन्त्रस्य वा० सं० ४. ११. १ ।

“यदाह तथा सम्भवेत्यादि । ‘यदाह’ मन्त्रः, ‘एतत्’ एतेन ‘तथा सम्पृच्यस्व’— ‘इत्येवाह’ । अत्र सम्पर्क एकीभावः । ‘भ्राट्’-शब्दार्थ माह— “सोमो वै भ्राडिति । भ्राजमानत्वात् ‘भ्राट्’ सोमः ; अतः “आज्यं भ्राज गच्छतीति ब्रुवती श्रुतिः, सोमं गच्छेत्युक्तवतीत्यर्थः । सोमप्राप्तिप्रकारस्त्वित्यं वेदितव्यः,— हिरण्यसंस्कृताज्यहोमः सोम-
क्रयणार्थः, स च क्रेत्यसोमार्थ इति विहिता माहुतिं सोमक्रयणी प्रीतिहेतुत्वेन प्रशंसयस्तदर्थः ॥ ८ ॥

सोमक्रयणानयनप्रयोजन माह— “तां ययैवेति । ‘अदः’ व्यवहितकाले ‘तां’ वाच ‘प्राहिषन्’ गन्धर्वापद्धतां प्रति प्रागमयन् । ‘एव मेव’ अध्वर्युः एतेन सोमक्रयणीप्रेरणेन प्रेरितवान् भवति । तयोः कः सम्बन्ध इति तत्राह— “वाग्वै सोमक्रयणीति । ‘निदान’ वास्तवं स्वरूपम् ॥ १० ॥

होममन्त्र पञ्चधा विभज्य ध्यात्तु— “म जुहोतीति” । “जूर-
सीत्यादिना मन्त्रस्य^१ ब्राह्मणेनैव साकल्येन व्याख्यातत्वात् नास्माभि-
र्व्याख्यात” । ‘जू’-इति मौचो धातुर्गन्त्यर्थः । जवति सोमं प्रति
गच्छतीति ‘जू’ । ‘अस्याः’ वायुपायाः सोमक्रयण्या प्रतिज्ञातम् ।
मनसो वागाधारत्वं सुपपत्त्या माधयति— “मनो वा इदं पुरस्ताद्
वाच इति । मनः पूर्वरूपम्, वायुत्तररूपम् । मनो वा इति
‘वै’-शब्देन “यदै मनसा ध्यायति तदाचा वदति”— इत्यादि^२-
श्रुत्यन्तरप्रमिद्धिर्योक्तव्ये । “इत्य वदेति । यद्यपि द्वितोपदेष्टृवन्मनो

१— का० श्री० सू० ७. ६. ८ । २— वा० सं० ४. १०. १ ।

३— श्रुत० ब्रा० १२का० ८च० १भा० १२स्क० ।

न वाग्व्यापारं करोति, तथापीद वक्तव्य मिदं नेति गुणदोषविकल्पनस्य मनोव्यापारत्वाद् वाग्विधिनिषेधकर्तृव्यवहारः । व्यतिरेकदोषोप-
न्यासेन मनोवाचोरेकत्वं दृढयति— “अलग्न मिवेति । ‘अलग्न मिव’
वक्तव्यपदार्थेन सहासंष्टुष्ट मिव ; हृदयपूर्वकत्वाभावात् ॥ ११ ॥

“जुष्टा विष्णव इतीति । विष्णुशब्दस्याभिमत मर्थं माह—
“जुष्टा सोमायेत्येतदाहेति । भुवनत्रयव्यापकत्वात् सोमो विष्णुः ।
“इच्छार्थानां प्रीयमाणः”—इति^१ जुषतियोगे चतुर्थी । ‘यं’ सोमम्
‘अच्छ’ अभिमुखम् ‘इमः’ गच्छेमो वयम् ‘इति’ अनेनाभिप्रायेण
सोमायेत्याहेत्यर्थः । ‘सत्यप्रसवः’ सत्यानुज्ञायाः ‘तस्याः’ देवैः
प्रेरिताया वाचः ‘प्रसवे’ अनुज्ञायां सत्या मिति मन्त्रभागस्थार्थः ।
अस्य भागस्य तात्पर्यं माह— “सत्यप्रसवा न एधीति । चरम-
भागस्य तात्पर्यं माह— “तन्वो यन्त्र मिति । ‘उदुक्’ उत्तमा
ष्टक्, उदुक्तया यज्ञसमाप्तिर्लक्ष्यते ; अतो ‘यः’ यज्ञसमाप्तिं
‘गच्छति’, ‘सः’ एव ‘तन्वो यन्त्रम् अनुते’ ॥ १२ ॥

हिरण्यस्यापोद्धारं विधाय प्रशंसति— “अथ हिरण्य मिति^२ ।
प्राण्युपभोगस्य धनमूलत्वात् हिरण्यापोद्दारेण मनुष्येषु हिरण्य
स्थापनं च कृतं भवति । विपक्षे बाधदर्शनेन विहित मर्थं प्रशंसति—
“स यत् स हिरण्य मिति । ‘स हिरण्यं’ हिरण्येन सहित माव्यम् ।
‘पराक् प्रवृज्यात्’ अपुनरागमन ‘मनुष्येभ्यः’ सकाशाद् वर्जयेत् ।
असु, किं तत इत्याह— “तचेति । ‘तत्’ तर्हि ‘मनुष्येषु’ ‘हिरण्य’
‘न’ अनुवर्त्तते ॥ १३ ॥

अपोद्धार मनुद्य मन्त्र माह— “सोऽपोद्धरति शुक्र मसीति” ।
 हे हिरण्यः त्व ‘शुक्र’ दौघम् ‘असि’, ‘चन्द्र’ सर्वाह्लादकम् ‘असि’,
 ‘अमृतम्’ अमरणधर्मकम् ‘असि’, अत्यन्ताग्निबंधोगेऽपि विनाशा-
 दर्शनाद् । वैश्वदेव्याः सर्वदेवताप्रीतिकरत्वात् तदीय मय मपोद्धारो
 होमानन्तर कार्यं मित्याह— “हत्स्नेनेति । प्रागेव यद्यपोद्धरेत्
 तदा हिरण्यात्मकस्य पयसोऽभावात् आन्य रूप पयसोऽहत्स्नं स्यात्,
 तस्मादुच्यते— “हत्स्नेनेति । मन्त्रगत हिरण्यस्य शुक्राद्यात्मकत्वं न
 स्तुत्यर्थं मित्याह— “यदेवैतत्तदाहेति । ‘यदेव’ ‘एतत्’ हिरण्यस्य
 स्वाभाविकं रूपम्, ‘तत्’ एष मन्त्रः ‘आह’ । यद्यपि हिरण्य
 माग्नेय तथापि सर्वप्रियत्वाद् वैश्वदेव गुच्यते । “प्रमुच्य द्रव्यं मिति ।
 ‘हिरण्ये वद्ध द्रव्यं विमुच्य, ‘वर्हिषि’ अपिसृज्य, पुनः ‘सूचेण’
 वध्नीयात् । तथाच सूत्रम्— “हिरण्यं मुद्गृत्य वेद्यां द्रव्यं विदधाति
 सूच-वद्धं हिरण्यं कुर्वते”—इति १ ॥ १४ ॥

“अथापर मिति । पूर्वोक्तप्रायणीयशेषादेवान्यतः ‘चतुर्गृहीत
 माज्यं गृहीत्वा’ ‘यजमान अन्वारभस्व’—इति ब्रूयात् १ । अध्वर्यो-
 रनुसर्गाऽन्वारभः । ‘शालाया’ शालायाः ‘अपोर्णुवन्ति’, दाराणीति
 शेष । सूचकारेण “शालाया दाराण्यपिधाय”—इत्युक्तत्वात् २ । पूर्व
 विहितानि दाराणि सर्वाण्यपवृत्तानि कुर्युः ३ । ‘दारे’ आहवनीयात्
 प्राक्तने, भोमक्रयार्थं ‘दक्षिणतः’ दक्षिणदेशे ‘भोमक्रयणी’ गौः

१— वा० स० ४. १० १ ।

२— का० श्रौ० सू० ०. ६. ११ ।

३— का० श्रौ० सू० ०. ६. १२ ।

४— का० श्रौ० सू० ०. ६. ० ।

५— का० श्रौ० सू० ०. ६. १३ ।

‘उपतिष्ठते’^१ । सोमक्रयणवस्थापनं प्रशंसति— “तत्प्रहिता मिति ।
 ‘एतत्’ एतेनावस्थापनेन ‘एनां’ सोमक्रयणीं ‘तत्प्रहिता मेव सतीं’
 तथा देवैः प्रेषितया वाचा प्रेरितां सतीम् । अथवा ‘तत्’ तथा सती
 ‘प्रहिता मेव’ इमां सोमक्रयार्थं गमयेति स्तुप्रेरितां सती मेवैताम्
 ‘एतत्’ एतेनावस्थापनेन ‘प्राद्वेषीत्’ प्रेरितवान् भवति । तस्या
 इतरगोसाधारण्यं वारयति— “वाग्वै सोमक्रयणीति । “ता मेत-
 येति । ‘तां’ वायूपां सोमक्रयणीं यस्मात् ‘एतथा’ पूर्वविहितया
 “धूरसि”-इत्यादिमन्त्रदेवतया ‘अप्रेषीत्’ अध्वर्युः प्रेरितवान् ।
 कया बुद्ध्या ? ‘प्रौतथा’ वृषया ‘सोमं क्रीणातीति’ ॥ १५ ॥

तस्या अभिमन्त्रणं विधत्ते— “अथोपनिष्कस्याभिमन्त्रयत इति ? ।
 ‘उपनिष्कस्य’ शास्त्रातो निर्गम्य । अभिमन्त्रणमन्त्रं विभज्य व्याचष्टे—
 “चिदसि’ मनाधीत्यादिना^१ । मन्त्रवाक्यानि तु ब्राह्मणेनैव साकल्येन
 व्याख्यातानीत्यतो ब्राह्मणभिर्वक्तव्यं मस्ति । ‘इदम्’ इदानीं सर्व-
 विदितप्रकारेण ‘चित्तं’ ‘मनः’; मनसा ‘वागतुवदति’, चित्तेन
 ज्ञानम् । मनसा मतं मेवार्थं वाक् प्रकाशयतीत्यर्थः । अतो हे
 सोमक्रयणि ! त्वं चेतनावस्थापना सती ‘चिदसि’, तथा मननेन
 ‘मना’ अपि ‘असि’ । धीरूपत्वसमर्थनम्— “धिया-धियेति ।
 ‘धिया’ इत्थं वदित्यामीति बुद्ध्या, चित्तवदभिवदनरूपेण कर्मणा
 वा । धीरिति कर्मनाम् । “जिज्युषन्ति’ जीवितुं मिच्छन्ति मनुष्याः ।

१— “दक्षिणेन द्वारं सोमक्रयणी तिष्ठति”—इति का० श्रौ० ७. ६. १४ ।

२— का० श्रौ० सू० ७. ६. १५ ।

३— वा० सं० ४. १८. २० ।

४— निघ० २. १. २१ ।

“जीव प्राणधारणे”-इत्यस्मात् सनन्तादुठि छते रूपम् । तथा जीवनप्रकारं स्वयं मेव दर्शयति— “अनूक्तेनेवेत्यादिना । ‘अनूक्तेन’ असुवचनेन, वेदाध्ययनेनेत्यर्थः । ‘प्रकामोद्यम्’ इच्छया लौकिक-भाषणम् । ‘गाथा’ गद्यपद्यगौत्यात्मिका । सर्वत्र ‘इव’-शब्दो वाक्यालङ्कारार्थः । एवंविधैर्वाग्मिशेषैर्यतो जीवितुं मिच्छन्ति, अतो धीरसीत्युक्तम् । सोमविक्रयिण आनत्यर्थं दीयमानत्वात् साक्षात् दक्षिणापि खल्वेषा वस्तुतो भवति । अत्र बलं तदर्हतीति ‘अचिया’ गौः । पयआदिसाधनत्वेन तस्या बलकरत्वं सिद्धम् । अथवा अत्र सोमः, “सोमो वै राजा”-इति^१ सर्वत्र राजशब्देन व्यवहारात् । न यज्ञयोगाद्राजत्वं किन्तु राजत्वं नाम, अचियत्वं मित्युक्तम् । श्रूयते च— “यान्येतानि देवतया अचियाणोद्भूतो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यः”-इत्यादि^२ । अतस्तत्सम्बन्धात् अचियेवेषा । यज्ञियत्वं तु सिद्धं मेव । “अदितिरसीति । हे सोमक्रयणि । वस्तुतो वायूपा त्वम् ‘उभयतः-शीर्ष्णी’ अदितिरसि’ प्रदेशदयगिरोयुक्ता अखण्डनीया गौरसि । कुत एतदित्यत आह— “अ यदिति । ‘अः’ वक्ता ‘यत्’ यस्मात् ‘एनया’ अदित्या उभयतः-गिरस्कया” निमित्तभूतया ‘समानम्’ एकं मेव ‘सद्’ वाक्यं ‘विपर्यासं’ व्यत्यासेन ‘वदति’ । तथाहि— “भुङ्क्ष्व देवदत्त ! तिष्ठ विष्णुमित्र !”-इत्यादौ ‘यदेवापरं’

१— भा० प० ३६९ धा० ।

२— ऐ० ब्रा० १. १. १., १. १. १ । यत्रापि १ १ १. १ ।

३— उपरिष्ठात् १४. ४ २. २३—२० ।

४— ‘उभयगिरस्कया’-इति ४ ।

वचनं देवदत्तेत्येवमादि^१, 'तदेव पूर्वं करोति' उक्तवैपरीत्येन;
 'यत् पूर्वं' भुङ्क्ष्वेत्यादिकम्, 'तद्' 'अपरम्' 'देवदत्त । भुङ्क्ष्व'—
 इत्यादिरूपेणापरं च 'करोति' । तस्माद्वाग्रूपां सोमकथणीम् 'उभयतः—
 'ग्रीष्णीं अदितिरसि'—'इत्याह' मन्त्र । तैत्तिरीयके तु सोम-
 यागस्याद्यन्तभूतयोः प्रायणीयोदयनीययोः शिरोवत्प्रधानभूतयो-
 र्वर्त्तमानयोरदितिर्देवतास्ति, सामीत्यर्थः^२ । तथा च तैत्तिरीयकम्—
 "अदितिरस्युभयतः-ग्रीष्णीत्याह यदेवादित्यः प्रायणीयो यज्ञाना
 मादित्य उदयनीय"—इति^३ ॥ १६ ॥

"सा नः"—इति^४ मन्त्रभागे न इत्यस्य 'नः सोमम्'—इत्यर्थ इति
 व्याचष्टे— "सा नः सुप्राचीति । सोमकथनावसरे 'सुप्राची' भव,
 पुनर्यजमानगृहप्राश्रवसरे क्रीतेन सोमेन सह 'सुप्रतीची' भव । यथा
 देवमेरिता वाक् सोमेन सह पुनरागता, तदात्मकत्वात् त्व मपि
 सोमकथं साधयित्वा क्रीतेन सोमेन सह पुनरावर्त्तस्वेत्यर्थः ॥ १७ ॥

"मित्रस्त्वेत्यादि । मित्रदेवतायाः पादवन्धनोपयोगं दर्शयति—
 "वरुणा वा इति । पाशस्य वरुणस्त्रामिकत्वात्^५ वरुणदेवताका
 'रज्जुः' । 'यत्' यदि तथा 'अभिहिता' बद्धा स्यात् । तद्दोषपरि-
 हाराय मन्त्रे मित्रकर्त्तृकपादवन्धन मित्याह— "एतदा अवरुण्य

१— 'देवदत्त [विष्णुमित्रेत्यादिकम्, तत् पूर्वं देवदत्त भुङ्क्ष्व] इत्येवं-
 रूपेण'—इति ग ।

२— "हे ग्रीष्णे प्रायणीयोदयनीये"—इति यास्क (निरु० प० १४. ०.) ।

३— तै० सं० ६. १. ७. ८ ।

४— वा० सं० ४. १८. १ ।

५— "उदुत्तमं वरुणं पाश मस्मादवाधमं वि मध्यम अयाय (ऋ० सं०
 १. २. १४.)"—इत्यादिश्रुते ।

मिति । “सा यथेति । दृष्टान्तेन मन्त्रभागपाठमावाद् बन्धनं
भवत्येवेति समर्थ्यते ॥ १८ ॥

“पूषाध्वन् इत्यादि । पोषणात् ‘पूषा’ ‘पृथिवी’ । “यस्य वा
इय मिति । ‘अध्वन्’ अध्वनि । ‘कला’ “कल चलने”^१ । ‘प्रच्युतिः’
विनाशः । यस्मात् पूष्णा रचितस्य प्रच्युतिर्नास्ति, ‘तस्मात् “पूषा-
ध्वन्.”-इत्याह’ मन्त्रः । ‘पूष्णो मार्गाणां कर्तृत्वं “पूषा त्वेतो
नयतु”-इत्यादि’ मन्त्रप्रसिद्धम् ॥ १९ ॥

“इन्द्रायाध्यचायेति । अध्यच. स्वामी, तथाविधेन्द्रार्थं पूषा
पालित्यर्थः । सोमस्येन्द्रस्वामिकत्वात् तदर्थायाः सोमक्रयणा अपि
तत्स्वामित्वम् । ‘स्वध्यचा असत्’ एषा शोभनस्वामिका भवेत्,—
इत्यनेनाभिप्रायेण मन्त्र एव माहेत्यर्थः । “अनु त्वा मातेत्यादि”^२ ।
हे सोमक्रयणि ! ‘त्वा’ त्वां माचादिवन्धुवर्गं क्रयार्थं गमनम्
‘अनुमन्यताम्’ अनुमतिं करोत्विति मन्त्रभागस्यार्थः । ‘सगर्भः’
समानगर्भभवः, अनेन ‘भ्राता’ विशिष्यते । ‘सयूयः’ यूयं सजातीयानां
सहः, समाने यूये भवः ‘सयूयः’, तादृशः ‘सखा’ च ‘अनु’
मन्यताम् । “यत्ते जन्मेति । तादृशस्तव सम्बन्धि ‘यत्’ तव ‘जन्म’
जायत इति जन्म, माचादिवन्धुवर्गः, ‘तेन’ ‘अनुमता’ । “सा देवि”
-इत्यत्र^३ सोमस्य देवत्वं विधित्सितसोमेनानन्यत्वाच्च सिद्धम् । सोम-
क्रयणा देवीत्वं न मृत्यर्थं मित्यवगमयितुं “यदाक् सोम मित्युक्तम् ।
“इन्द्राय सोम मिति । सम्पादये इति श्रेयः । अतो ‘देव मच्छे-

१— ब्रा० प० ८० पू० धा० ।

२— ऋ० स० ८. १. २५ ।

३— वा० स० ४. २०. १ ।

४— “सा देवि देव मच्छेद्वीन्द्राय”—इति मन्त्रापराद्ध (वा० सं० ४. २०.) ।

हीति' पूर्वचान्वयः । “इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता”-इति । ‘यज्ञस्य’ तत्साधनस्य सोमस्य ‘इन्द्रो देवता’ । तथा च तैत्तिरीयकम्- “इन्द्राय हि सोम आह्वियते”-इति^१ । “रुद्रस्त्वा वर्त्तयत्विति । रुद्रस्य पशुधिपतित्वात् स्वयं मग्नश्चन् पुनरावर्त्तयत्वित्यभिधानं तस्या अप्रणाशाय भवति । कथं हि साप्रसङ्ग इति तच्चाह- “रुद्र हीति । ‘माति’ वर्त्तत इति शेषः । “स्वस्ति सोममखेति । “स्वस्तीत्य- विनाशनाम”-इति निरुक्तम्^२ । उक्तो नाशप्रसङ्गः, अतः चेमेण सोमसखा यस्य, तेन सहितः पुनरागच्छेति मन्त्रस्यार्थः ॥ २० ॥

इत्थं मन्त्रवाक्यानां विभज्य तात्पर्यं मभिधायेदानीं कृत्स्न-मन्त्रतात्पर्यं माह- “तां यथैवादो देवा इत्यादिना । सोमक्रयण्या वस्तुतो वागात्मकत्वात् तस्याः सोमक्रयप्रदेशशान्तिप्रार्थनं देवैः कृतं सोमानयनार्थं वाक्प्रेषणस्यानौयम्, पुनरागमनप्रार्थनन्तु देवानां पुनर्वागाज्ञानस्यानौय मिति सङ्गद्वयार्थः ॥ २१ ॥

“तां यथैवाद इति । यथा विप्रकृष्टे काले, पूर्वं मित्यर्थः । ‘गन्धर्वैः’ सोमपातैः विश्वावसुप्रभृतिभिः साकं ‘आह्वयन्त’ विविधं माह्वयन् । गन्धर्वदारदेशस्यायाः^३ सोमक्रयण्याः उदक्प्रायणं सार्थ-वादं विधत्ते- “ता मुदीची मिति” । ‘उदीची मत्याकुर्वन्ति’ उदङ्मुखा यन्ति, अध्वर्युः प्रमुखाः । ‘सो एव’ मैव मनुय्यान्तर्वर्त्ति-त्वाद् यजमानस्यापि दिक् ॥ २२ ॥ २ [२. ४.] ॥

१- तै० सं० ६. १. ७. ११ ।

२- निरु० ६. ४. ४ ।

३- ‘दारदक्षिणदेशस्याया’-इति ग० ।

४- का० श्रौ० सू० ७. ६. १६ प्रत्ययम् ।

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

तृतीयकाण्डे द्वितीयाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हाहं निवारयन् ।

सुमर्याश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वर ॥ ९ ॥

ब्रह्माण्डं गोमहस कमकहयतुलापूरुषौ स्वर्णगर्भम्,
सप्ताब्धौ पञ्चसीरौस्त्रिदशतस्रस्रताधेतुसौवर्णभूमौ ।
रत्नोक्ता रुक्मवाजिदिपमहितरथौ सायणि^१ सिङ्गनार्घ्यौ,^२
यथाणीद्विश्वचक्र प्रथितविधिमहाभूतयुक्त घटश्च ॥
धान्याद्रि धन्यजग्मा तिलभव मतुल स्वर्णज वर्णमुख्य,
कार्पासीय कृपावान् शुडकृत मजडो राजत राजपूज्य ।
आज्योत्य प्राज्यजग्मा खवणज मनूण शार्कर चार्कतेजा,
रत्नाब्धो रत्नरूप गिरि महत मुदा पाचसात्सिङ्गनार्घ्य^३ ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्तक-

श्रीहरिहरमहाराजसाम्राज्यधुरन्धरेण

सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

तृतीयकाण्डे द्वितीयाध्याय समाप्त ॥ ९ ॥

१— सायण—इति स्यात् ?

२— सिङ्गनाय^३ स्यात् ? सिङ्गददेशस्य राजेति तस्यार्घ्यं सम्ययेत ।

३— एतच्छ्लोकद्वयपाठभेदास्तु पूर्वत्रैव द्रव्यव्या इतीतो न क्षेप्यः ।

[अथ तृतीयाध्याये प्रथमः भाष्यम्]

सप्त पदान्यनुनिक्रामति । वृङ्क्षः ऽएवैना मेतत् तस्मात्
सप्त पदान्यनुनिक्रामति युच वै व्याचः प्रजातानि
छुन्दासि सप्तपदा वै तेषां पराङ्मां शुक्करी ता
मेवैतत्परुस्तादव्वर्चीं दृङ्क्षे तस्मात् सप्त पदान्यनुनि-
क्रामति ॥ १ ॥

स वै व्याच एव रूपेणानुनिक्रामति । वृक्षस्यदिति-
रस्यादित्यासि रुद्रासि चन्द्रासौति वृक्षौ क्षेपादिति-
क्षेपादित्या क्षेपा रुद्रा क्षेपा चन्द्रा क्षेपा बृहस्पतिश्चा
सुमे रम्यात्विति वृक्ष वै बृहस्पतिर्बृहस्पतिश्चा साधु-
नावर्तयत्वित्येवैतदाह रुद्रो वृक्षभिराचक ऽइत्यम-
राशायैतदाह रुद्रः हि नाति पशुवः* ॥ २ ॥

अथ सप्तमं पदं पर्युपविशन्ति । स हिरण्यं पदे
निधाय जुहोति न वा ऽअनग्नावाहुतिर्हयतेऽग्निरेतसं वै
हिरण्यं तुयो हास्यैषाग्निमुत्पेवाहुतिर्हुता भवति वृजो
वा ऽआज्यं वृजैणैवैतदाज्येन स्पृणुते ताः स्पृत्वा
स्वीकुरुते ॥ ३ ॥

स जुहोति । अदित्यास्त्वा मूर्द्धन्नाजिघर्म्सीतीयं वै
 पृथिव्यदितिरस्यै हि मूर्द्धन्* जुहोति देवयुजने पृथिव्या
 ऽइति देवयुजने हि पृथिव्यै जुहोतौडायास्पद् मसि
 घृतवत् स्वाहेति गौर्व्वा ऽइडा गोर्हि पदे जुहोति घृ-
 तवत्स्वाहेति घृतवृद्धेतुदभिहुतं भवति ॥ ४ ॥

अथ स्फ्य मादाय पुरिलिखति । वृजो वै स्फ्यो
 वृजैणैवैतत्पुरिलिखति चिष्कृत्वः पुरिलिखति चिवृतै-
 तद्वृजैण समन्तं पुरिगृह्णात्युनतिक्रमाय ॥ ५ ॥

स पुरिलिखति । अस्मे रमस्वेति युजमाने रमस्वेत्येवै-
 तदाहाय समुस्त्रित्य पदं स्यात्या संवपत्यस्मे ते बन्धु-
 रिति युजमाने ते बन्धुरित्येवैतदाह ॥ ६ ॥

अथापु उपनिनयति । युत्र वा अस्मै खनन्तः क्रूरी-
 कुर्वन्त्यपघ्नन्ति शान्तिरुपस्तदग्निः शान्त्या शमयति
 तदग्निः सुन्दधाति तस्मादपु उपनिनयति ॥ ७ ॥

अथ युजमानाय पदं प्रयच्छति । त्वे राय इति
 पशुवो वै रायस्त्वयि पशुव इत्येवैतदाह तद्युजमानः
 प्रतिगृह्णाति मे राय इति पशुवो वै रायो मुयि पशुव
 इत्येवैतदाह ॥ ८ ॥

अथाध्वर्युरात्मानं मुपस्पृशति । मा व्ययुः राय-
स्पोषेण विद्यौष्मेति तृथो हाध्वर्युः पशुभ्य आत्मानं
नान्तरेति ॥ ९ ॥

अथ पुत्र्यै पदं प्रतिपुराहरन्ति । गृहा वै पुत्र्यै प्रतिष्ठा
तुद् गृहेष्वेवैना मेतुत् प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति तुस्मात्
पुत्र्यै पदं प्रतिपुराहरन्ति ॥ १० ॥

तां नेष्टा व्याचयति । तोतो राय इत्यथैनाः सोम-
क्रयण्या सुह्यापयति व्यूपा वै सोमो योपा पुत्र्येप वा
ऽश्रुच सोमो भवति युत् सोमक्रयणी मिथुनु मेवैतुत्
प्रजुननं क्रियते तुस्मादेनाः सोमक्रयण्या सुह्या-
पयति ॥ ११ ॥

स सुह्यापयति । सुमत्ये देव्या धिया सन्दुक्षिणयो-
रुचक्षसा । मा स आयुः प्रमोयीर्मो अहं तुव व्वीरुं
व्विदेय तुव देवि सन्दृशीत्याशिप मेवैतदाशस्ते पुषो
वै व्वीरुः पुत्रुं व्विदेय तुव सन्दृशीत्येवैतदाह ॥ १२ ॥

सा या बभूवुः पिङ्गाक्षी* । सा सोमक्रयणी युचं वा
ऽदुन्द्राविष्णू वेधा सहस्रं व्यैरयेतां तदेकात्यरिच्यत

* 'पिङ्गाक्षी'—इति ग, घ ।

† 'सा या०—० कपळी । यच'—इति ख ।

तुं चेधा प्राजनयतां तुस्माद्योऽप्येतुर्हि चेधा सहस्रं
व्याकुर्यादेकैवातिरिच्येत ॥ १३ ॥

सा या वभ्रुः पिङ्गाक्षी* । सा सोमक्रयण्य† या
रोहिणी सा व्वाचघ्नौ या मिदः‡ राजा रुद्रामुं जित्वो-
दाकुरुते ऽथ या रोहिणी श्येताक्षी सा पितृदेवत्या या
मिदुं पितृभ्यो घ्नन्ति ॥ १४† ॥

सा या वभ्रुः पिङ्गाक्षी॥ सा सोमक्रयणी स्याद्
यदि॥ वभ्रुं पिङ्गाक्षी नु विन्देदरुणा स्याद्युद्यरुणां नु
विन्देद्रोहिणी व्वाचघ्नौ स्याद्रोहिण्यै हु त्वेव श्येताक्ष्या
ऽआशुन्नेयात्॥ ॥ १५ ॥

सा स्यादुप्रवीता । व्याग्वा ऽप्या निदुनेन युत्सोम-
क्रयण्ययातयाम्नी वा ऽइयं वागुयातयाम्न्युप्रवीता तुस्मादु-
प्रवीता स्यात् सा स्यादुवण्डाकूटाकाणाकर्णालक्षिता-
सत्तण्णा सा ह्येकरूपैकरूपा ह्येयं व्याक् ॥ १६ ॥ ४ ॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके चतुर्थं ब्राह्मणम् [३. १०.] ॥

* 'पिङ्गाक्षी'—इति ग, घ । † 'सा या ०—० क्रयणी । अथ'—इति क ।

‡ इतोऽनन्तरम् कण्डिकासङ्ख्या १६००—इति सर्वं पुस्तकेष ।

§ 'पिङ्गाक्षी'—इति ग, घ । ¶ 'सा या ०—० स्यात् । यदि'—इति क ।

॥ 'ऽआशुन्नेयात्'—इति वेद-दृष्टोऽपि, 'आशा नेयात्'—इति ग, घ ।

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निःश्रुतं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्ममे, त महं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

अथ तृतीयाध्याये सोमकयश्चनुगमाद्युपसदन्ताः प्रयोगा निरूप्यन्ते । तत्र, सोमकयस्या अनुक्रमणं विधत्ते— “सप्त पदानौति । “अनुनिक्रामतीति” । सा यदा प्रथमं पदं निष्क्रामति, तदा तदनु श्रध्वर्युः स्वयं मपि प्रथमं पदं निष्क्रामेत् ; द्वितीयं मनु द्वितीयम् । तत्र ‘वृह्णे’ केवलोऽपि वृजिराङ्पूर्वो द्रष्टव्यः, आवर्जितवान् भवति । सप्तसङ्ख्यं प्रशंसति— “यत्र वा इति” । ‘यत्र’ छन्दसा मुत्पत्तिकाले ‘वाचः’ सुपर्णानुरूपेणावस्थितायाः सकाशात् ‘प्रजातानि’ यानि छन्दांसि । वाचः सकाशात् छन्दसा मुत्पत्तिरुत्तरत्र “वागेव सुपर्णी” इत्यभिधायः “तयेति सा छन्दांसि सृजे”—इत्यावाता^१ । तेषां छन्दसां ‘पराह्णां शकरो’ । परार्द्धे उपरि भागे भवा पराह्णां, “परावराधमोत्तमपूर्वाच्च”—इति^२ यत् । शकरीयाः सप्तपदत्वं प्रसिद्धम्^३ । “परस्तादूर्वाचीं वृह्णे”—इति । पदादिकमेण ‘परस्तात्’

१— अनुनिक्रामणं पदोपरि पदनिधानम् । यत्र सोमकयस्यो पदं निदधाति, तत्र द्वयोः पदयोर्निधानं मिति शास्त्रदोषिकायाख्याने सोमवाद्य-
दोक्षितः (४. १.) ।

२— का० श्रौ० सू० ७. ६. १० इत्ययम् ।

३— इध० २त्रा० १—८ कण्डिकासु द्रष्टव्या ।

४— पा० सू० ४. १. ५ ।

५— “सप्तपदा शकरो”—इति श्रुतिश्च तै० सं० ६. १. ८. २ ।

अवस्थितां गायत्र्याद्यन्तर्भावेन सर्वच्छन्दोरूपां शक्नोमीम् 'अवाचीं
वृद्धे' आदृष्टे, स्वाभिमुख भावर्जितवान् भवतीत्यर्थः ॥ १ ॥

अनुक्रमण समन्तक कर्त्तव्य मित्याह— “म वै वाच इति ।
अनुक्रमणमन्त्रे सोमकयणवस्यादिरूपत्वाभिधानं न सुत्यर्थं
मित्याह— “वस्त्री ह्येषेत्यादिना^१ । वसुसूद्रादित्याः सवनचयदेवता ।
'अदिति' प्रायणीयोदयनीयदेवता । 'वन्द्र'-ग्रन्थेनाह्लादकत्वादित्य
सुवर्णम् । हे सोमकयणि ! त्व वस्त्रादीनां स्वरूप मधि । तदपेक्षित
सोमसाधनत्वात् 'वस्त्री ह्येषा'-इत्यभिधानम् । 'रम्णातु' रमयतु^२ ।
“रसु क्रीडायाम्^३”, व्यत्ययेन आ^४ । इहस्यतिस्वेत्यस्यार्थ माह—
“ब्रह्म वै इहस्यतिरिति । 'इहस्यतिः' इहतो मन्त्रस्य पालयिता,
तदभिमनी देवता, गच्छतीं तां 'सुखे' सुखकरे । यत् सुखकर
तत् साधु, अतः “सुखे रम्णातु”—इति यदाह, तेन 'साधुना'
मार्गेण 'आवर्त्तयत्वित्येवाह' । “रुद्रो देवो वसुभिरिति । हे
सोमकयणि ! तव सुखं 'वसुभिः' सहितो 'रुद्र' 'आचके' काम-
यते । इति मन्त्रभागस्यार्थः । रुद्रौत्सुक्यप्रार्थनाया उपयोग
दर्शयति— “अप्रणाग्रायेति । शिष्ट गतम्^५ ॥ २ ॥

“अथ सप्तमं पद मिति^६ । यजमान मितरायत्विजोऽपेक्ष्य
'पर्युपविशन्ति'-इति बह्वचनम्, 'परि' परितः । 'मः' अध्वर्युः ।

१— वा० सं० ४ २१ इत्यर्थः ।

२— “रम्णाति सयमनकर्मा विसर्जनकर्मा वा”—इति निरु० १० १ ८ ।

३— आ० धा० ८५९ धा० ।

४— पा० सू० १ १, ८५ ।

५— ११० ए० ५ पं० ।

६— का० श्रौ० सू० ० ६, १८ क इत्ययम् ।

होमाय हिरण्यनिधानं प्रशंसति— “न वा अनद्याविति । हिरण्य-
स्याग्निरेतस्त्वं प्रागुक्तम् । होमसाधन माज्यं प्रशंसति— वज्रो वा
इति । “एतं वै देवा वज्रं कृत्वा सोमं मघ्नन्”—इत्यादि श्रुत्यन्तर-
प्रसिद्धिर्वज्रो वा इति ‘वै’-शब्देन द्योत्यते । ‘स्पृणुते’ हिनस्ति,
‘तां’ पदप्रदेशस्यां नृद मित्यर्थः ॥ ३ ॥

पदे समन्तकं होमं विधत्ते— “स जुहोत्यदित्या इति” ।
अयं मर्थः । हे आज्य ! ‘त्वा’ त्वाम् ‘अदित्याः’ पृथिव्याः ‘मूर्द्धन्’
मूर्द्धनि ‘आजिघर्भि’ सर्वतः क्षारयामि, जुहोमि । “इ चरण-
दौष्टोः”^१, अत्र चरणं मर्थः । कीदृशे ? ‘पृथिव्याः’ अवयवभूते
‘देवयजने’ देवा इज्यन्ते अचेति देवयजनम् । ‘एतवत्’ एतोपेतम् ।
‘इडायाः’ गोः । इडेति गोनाम^२ । तस्याः सोमक्रयण्याः ‘पदं’
पादनिधानं मस्ति । अत इदं ‘स्नाहा’ स्नाहृतं मस्तु^३ । इडापदस्य
एतोपेतत्वं तैत्तिरीयके श्रुतम्— “यदेवासौ पदात् एतं मपीकृतं
तस्मादेव माह”—इति^४ । मन्त्रं व्याचष्टे— “इयं वै पृथिव्यदिति-
रित्यादिना । ‘एतवत्स्नाहा’-इत्यस्य तात्पर्यं माह— “एतवद्देव-
दिति । ‘एतत्’ एतेन मन्त्रभागपाठेन एतयुक्तं मेव सत् पुनराज्येन
चापि संयुक्तं स्नादित्यर्थः ॥ ४ ॥

१— तै० सं० ६ २ १ ७ । इडाप्युत्तरत्र “वज्रो वा व्याज्य मेतेन वै देवा
वज्रोऽन्येन पुरा प्राभिन्दन्”—इति ४. ४. ६ ।

२— का० श्री० सू० ७. ६. १८ ख ।

३— जु० प० १४ घा० ।

४— निघ० २. ११. ७ ।

५— मन्त्र एव वा० स० ४ २२. १ ।

६— तै० सं० ६. १. ८. ५ ।

पादस्य परिलेखन सार्थवाद् विधत्ते— “अथ स्फ्य मादायेति^१ । स्फ्यस्य वज्रत्वं तैत्तिरीयै स्फष्ट माघातम्— “इन्द्रो वृत्राय वज्रं प्राहरत्, स चेधा व्यभवत्, स्फ्यसृतीयं, रथसृतीयं, यूपसृतीयम्”—इति^२ । परिलेखनस्य विराट्पत्तिं विधत्ते— “त्रिं ह्रस्व इति ॥ ५ ॥

परिलेखनमन्त्रं विधत्ते— “स परिलिखतीति^३ । ‘अस्मे’-इत्यस्य तात्पर्यं माह— ‘यजमाने’-इति । ‘अस्मे’ अस्मदीये ‘यजमाने’ । सप्तमपदपाशो स्यात्वा स्यापन समन्त्रकं विधत्ते— “अथ समुस्त्रियेति^४ । हे पदपाशो । ‘ते’ तव ‘बन्धु’ स्नेहपन्थ ‘अस्मे’ अस्मदीये ‘यजमाने’ अस्त्विति मन्त्रार्थ^५ । “सुपा सुलुक्”—इत्युभयत्र सप्तम्या ग्रे-भाव^६ ॥ ६ ॥

“अथाप इति^७ । परिलिखितप्रदेशे अपा निनयन विधाय, प्रशंसति— “यचेत्यादिना । खनन हिंसात्मकत्वात् क्रूरीकरणम्, अपान्त्वौष्णनिवारकत्वाच्छान्तिरूपत्वं प्रसिद्धम् । अतः ‘शान्त्या अग्निं’ शान्तिरूपाभिरग्निं तत् कौर्यं शमितवान् भवति । निनयनस्य प्रयोजनान्तरम्— “तदङ्घ्रिरिति ॥ ७ ॥

“अथ यजमानायेति । “पदं प्रयच्छतीति^८ । ‘पदं’ म्यास्तीर्थं

१— का० श्रौ० सू० ७ ६ १६ दृष्टव्यम्

२— तै० सू० ६ १, ३ ११ ।

३— वा० सू० ४ २० २ ।

४— का० श्रौ० सू० ७ ६ २० दृष्टव्यम् । ५— वा० म० ४ २० ३ ।

६— पा० सू० ७ १, ३६ । ७— का० श्रौ० सू० ७ ६ २१ क ।

८— का० श्रौ० सू० ७ ६ २१ ख ।

पदपांशुम् । 'रै'-शब्दार्थं माह— “पशवो वै राय इति । 'ले'-
इत्येतत्^१ सप्तम्यन्त मिति व्याचष्टे—“त्वयि पशव इत्येवैतदाहेति ।
अध्वर्युदत्तस्य पाशोः समन्वक प्रतियह विधत्ते— “तद्यजमान
इति^२ । 'मे राय' इति^३ पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥ ८ ॥

“अथाध्वर्युरात्मान मिति^४ । 'वय विधौष' इति^५ पूजार्थं
बहुवचनम् । वियुक्ता मा भूत्वा धौमेति । “यु मिश्रणामिश्रणयोः^६—
इत्यस्य कृद्धि मायोगाददभाव^७ ॥ ९ ॥

“अथ पठ्या इति । 'श्रतिपराहरन्ति' प्रयच्छेयुरित्यर्थः । तथा
च कात्यायनः— “इत्वा पठ्यै पद प्रयच्छति”—इति^८ । पठ्नी खलु
प्रतिष्ठानिभ्यनरूपा । गृहाणां बहुल्येऽपि प्रतिष्ठाया एकत्वादेक-
वचनम् । गृहं यथा धान्यादिमित्रेष्वन मेवं पठ्यपीत्यर्थः ।
स्पष्ट मन्यत् ॥ १० ॥

“तां नेष्टेति । 'तां' गृहीतपांशुपतनौम् । 'तोत'—इति तोक-
समानार्थः । 'राय' धनानि, 'तोतः' पुत्र, स्त्रीकरोलित्यर्थः । यदा
'तोत' त्वत्तः, त्वयि रायः सन्त्विति शेष^९ । “अथैनां सोमक्रयश्चेति ।
'एनां' पठ्नी 'सोमक्रयणा' 'सह्यापयति' 'नेष्टा' । सोमक्रयणौ
सेयम्, तर्था पठ्नी मनेन मन्त्रेण दर्शयेत् । गतिबुद्ध्याद्यर्थाभावात्^{१०}
सोमक्रयणाः कर्मत्वाभावः । सह्यापन प्रशस्यति— “वृषा वा इति ।

१— वा० सं० ४ २२. ४ ।

६— यदा० प० २३ धा० ।

२— का० श्रौ० सू० ७. ६ २२ ।

७— या० सू० ६. ४. ७४ ।

३— वा० स ४. २२ ५ ।

८— का० श्रौ० सू० ७. ६ २४ ।

४— का० श्रौ० सू० ७. ६. २३ ।

९— वा० सं० ४ २२. ७ ।

५— वा० सं० ४. २२. ६ ।

१०— या० सू० १. ४. ५२ ।

“दृषा वै सोम”-इति सोमो निर्दिष्टः । कस्तस्य प्रसङ्ग इति तच्चाह— “एष वा अचेति । ‘अच’ सोमक्रयप्रस्तावे सोमक्रयणा. सोमसम्पत्त्यर्थत्वात् । सैव ‘एष सोम’ । सोम इति विधेयस्य पुष्पिङ्गत्व मपेक्ष्यैष इति पुष्पिङ्गत्वम् । अतः ‘एतत्’ एतेन उभयोः सम्बन्धेन उत्पादनसमर्थं ‘मियुन मेव’ सम्पादितं भवति ॥ ११ ॥

“स सङ्घापयतीति । सङ्घापनमन्त्र पठति— “समख्ये देवेत्यादिना^१ । अच कात्यायन— “एना वाचयति सोमक्रयणा च समीक्ष्यमाणां समख्य इतीति^२ । मन्त्रस्थाय मर्थः । अहं ‘धिया देव्या’ धीर्देवी हि सोमक्रयणी प्रागुक्ता^३ । अतो वायूपया सोम-क्रयणा समख्ये दृष्टा भवामीत्यर्थः । “ख्या प्रकथने” इत्यस्य^४ लङुत्तमैकवचने “अस्यतिवक्ति”-इत्यादिना^५ अङ्, कर्मणि द्रष्टव्यः ; अत एवात्मनेपदम् । “दक्षिणासि यज्ञियासि”—इति प्रागुक्तत्वात्^६ दक्षिणापि सोमक्रयणी । अतः ‘उरुचचसा’ प्रभूतदर्शनया तथा समख्ये । अथ प्रत्यक्षवादः । हे सोमक्रयणि ! ‘मे आयुः मा प्रमोषीः’ । ‘मा उ अह’ अह मपि ‘तव’ आयु. मा प्रमोषिषम् । हे ‘देवि !’ ‘तव’ ‘सन्दृशि’ सन्दर्शने सति ‘वीर’ पुत्रं ‘विदेय’ लभेय । अथ मन्त्र आशी पर इत्याह— “आश्रिय मेवैतदिति । ‘वीर’-प्रत्यर्थं माह— “पुत्रो वै वीरः”—इति ॥ १२ ॥

१— वा० सं० ४. २३ ।

२— का० औ० सू० ७. ६. २६ ।

३— पुरस्तात् २ ४. १६ (१३३ ए०) ।

४— अथा० प० १० ५० घा० ।

५— पा० सू० ६. १. ५२ ।

६— वा० सं० ४. १६ मन्त्रव्याख्याने पुरस्तात् २ ४. १६ (१२२ ए०) ।

सोमकयण्या लक्षण मभिधातु माह— “सा या वभु पिङ्गा-
चौत्यादिना । वभु’ पिङ्गाची सोमकयणी श्रेष्ठ्यभिधातु माख्या-
यिका माह— “यत्र वेति । गोमहस्रदक्षिणाविभागसमये ‘सहस्रं’
वेधा ‘शैरयेता’ विभज्य प्रेरितवन्तौ । ‘ताम्’ अतिरिक्तां ‘वेधा’
वभ्रुरूपरोहिणीरूपेण चिविधा ‘प्राजनयताम्’ उदपादयताम् ।
उत्पादनप्रकारसौत्तिरीयकेऽपि स्पष्ट भाषातः— “ता मधु प्रावे-
शयन्सोमायो देहीति सा रोहिणी पिङ्गलैकहायनी रूपं कृत्वा
वयस्त्रिंशता च विभज्य अतैः सहोदैत्”—इत्यादिना^१ । अतः
‘एतर्हि’ इदानीं मपि ॥ १२ ॥

चिविधायास्तस्या गोः मुख्यानुकल्पतभेदेन सोमकयणीत्वं
प्रदर्शयितुं तदिभाग माह— “सा येति । ‘वभु’ चतुर्वर्णां, पिङ्गले
अक्षिणी यस्याः सा ‘पिङ्गाची’, ‘सा’ सोमकयणार्हत्वात् ‘सोम-
कयणी’ । ‘रोहिणी’ रोहितवर्णा, सा ‘वार्चग्री’ वृषहा इन्द्र,
तद्देवत्या । इदानीं ततो ‘राजा सङ्ग्रामं जित्वा’ परकीयाद् राज्ञात्
‘या’ रोहिणीम् ‘उदाकुर्वते’ स्त्रीकरोति^२, सा वार्चग्रीत्यर्थः ।
‘श्रेताची’ ह्यस्यलोचना, ‘सा पिष्टदेवत्या’ । ‘इद’ इदानीं ‘पिष्टभ्य’
अर्पाय ‘प्रप्ति’ ॥ १३ ॥

इत्य विधानस्वरूप मभिधाय विनियोगप्रकार माह— “सा
येति । वभु-पिङ्गाची सोमकये मुख्या । तदभावे ‘अक्षणा’ अयकरागा ।
तदभावे ‘रोहिणी’ । सा यदि श्रेताची स्यात्, तादृश्याः ‘आशाम्’
अपि ‘नेयात्’ न कुर्वात् । तत्र कात्यायनः— “सोमकयणी तिष्ठ-

त्यलक्षितायद्वाप्रवीतारब्जबद्धा यमु पिङ्गला, पिङ्गलाभावेऽरुणा,
अरुणाभावे रोहिण्यग्नेताक्षी”-इति^१ ॥ १५ ॥

सोमक्रयण्या गर्भात् प्राक् अवम्यानं मार्त्यगाद विधत्ते- “मा
स्यादप्रवीतेति । “वी गतिप्रजननकान्यग्रनखादनेपु^२”, अत्र प्रजनन
मर्थ । ‘अप्रवीता’ अगृहीतगर्भेत्यर्थ । ‘अयातयाक्षी’ अगतरसा ।
वज्रभिरसकदुच्यमानाया अपि वाचो गतरसत्वं प्रसिद्धम् । अत
सोमक्रयण्या वायूपत्वादयातयाग्न्या भवितव्यम्^३ । अत एकहायनी-
परिपहे गर्भरूपरसनिर्गमाभावात् वागामुगुण्य भवति । तस्माद्
अप्रवीता भवेत् । इत्य वर्षवयोविशेष मभिधाय अङ्गवैकल्याभाव
माह- “अवण्डाकूटेति । ‘वण्डा’ वर्द्धिष्णु, ‘अवण्डा’ तदिपरौता
भवेत् । एव मुत्तरचापि । ‘कूटा’ एकगृही, ‘काणा’ एकाक्षी,
‘कणा’ द्विस्रकणा, ‘लक्षिता’ तन्नाय शलाकया विहिता, ‘सप्त
शपा’ एकस्मिन् पादे एकेन शप्तेन हीना, उक्तदोषवर्जिता ।
‘एकरूपा’ उक्तदोषवर्जितत्वं मेवैकरूप्यम्, सम्पूर्णावयवेत्यर्थ^४ ॥ १६ ॥
४ [३ १] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्वन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

तृतीयकाण्डे तृतीयाध्याये प्रथम ब्राह्मणम् ॥

१-का० श्रौ० सू० ७ ६ १४ द्रष्टव्यम् । २-अदा० य० ३८ धा० ।

३- “वाग वा एषा सोमक्रयणी”-इति तै० स० ६ १ ७ ८ ।

४- तैत्तिरीयेऽप्येव मेव ६ १ ७ १६-१८ द्रष्टव्यम् ।

(अथ द्वितीयं ब्राह्मणम्)

पदुः समुप्य पाणी ऽश्रवनेनित्ते । तद्यत्पाणी ऽश्रवने-
नित्ते वृजो वा ऽश्राज्यः रेतः सोमो नेदुज्जेणाज्येन
रेतः सोमः दिनुसानीति तुस्मात् पाणी ऽश्रवने-
नित्ते ॥ १ ॥

अथास्याः हिरण्यं बध्नीते । इयं वा ऽइदं नु तृतीय
मस्ति सत्युच्चैवानृतं च सत्यु मेव देवा अमृतं मनुष्या
अग्निरेतसं वै हिरण्यः सत्येनाः शूनुपस्पृशानि सत्येन
सोमं पुरादणानीति तुस्माद्वा ऽअस्याः हिरण्यं
बध्नीते ॥ २ ॥

अथ सम्प्रेष्यति । सोमोपनुहन माहर सोमपर्याणुहन
माहरोष्णीय माहरेति स युदेव शोभनं तुत्सोमोपनु-
हनः स्याद्वासो ह्यस्यैतद् भुवति शोभनुः ह्येतस्य*
व्यासः ॥ यो हैनः शोभनेनोपचरति शोभते ह्यथ य
आह युदेव किञ्चेति युदैव किञ्च भुवति तुम्हाद्युदेव
शोभनं तुत्सोमोपनुहनः स्याद्युदेव किञ्च सोमपर्या-
णुहनम् ॥ ३ ॥

युद्युष्णीयं ब्विन्देत् । उष्णीयः स्याद् युद्युष्णीयं नु†

विन्देत्सोमपर्याणहनस्यैव ह्यङ्गुलं वा* व्यङ्गुलं वावदन्ते-
दुष्णीपभाजनु मध्वर्युर्वा युजमानो वा सोमोपनुहना
मादत्ते यु एव कुश्व सोमपर्याणहनम् ॥ ४ ॥

अथाग्रेण राजानं विचिन्वन्ति । तदुदकुम्भ उपनि-
हितो भवति तद् ब्राह्मण उपास्ते तदभ्यायन्ति
प्राञ्चः ॥ ५ ॥

तदायुत्सु व्वाचयति । एष ते गायत्रो भाग इति मे
सोमाय ब्रूतादेषु ते तैष्टुभो भाग इति मे सोमाय ब्रूतादेषु
ते जागतो भाग इति मे सोमाय ब्रूताच्छन्दोनामुनाः†
साम्राज्यं गच्छेति मे सोमाय ब्रूतादित्येकं वा ऽएषु
क्रीयमाणोऽभिक्रीयते छन्दसा मेव राज्याय छन्दसा‡
साम्राज्याय ध्रुन्ति वा ऽएन मेतद् युदभिपुण्वन्ति तु
मेतदाह छन्दसा मेव त्वा राज्याय क्रीणामि छन्दसा§
साम्राज्याय नु वधायेत्यथेत्य प्राङ्मुपविशति॥ ६ ॥

सोऽभिमुखति । आस्माकोऽसौति स्व इव ह्यस्यैतद्
भवति यदागतस्तस्मादाह्मास्माकोऽसौति शुक्रस्ते ग्रन्थ॥
इति शुक्रः ह्यस्माद् ग्रहं ग्रहीष्यन् भवति विचितस्त्वा
विचिन्वन्ति॥ सर्व्वत्वायैतदाह ॥ ७ ॥

* 'वा'—इति वेबर-दृष्टः ।

† 'सोमोपनुह'—इति ग, घ ।

‡ 'ब्रूताच्छन्दोनामुनाः'—इति सा०—सम्मत इति ङा० वेबरः ।

§ 'प्राङ्मुपविशति'—इति ग, घ ।

॥ 'ग्रन्थ'—इति क, सा०—सम्मतश्च ।

अथ हैके । तृणं वा काष्ठं वा वित्त्वा*पास्यन्ति तदु
तथा न कुर्यात् क्षत्रं वै सोमो विडन्था ओपधयोऽन्नं वै
क्षत्रियस्य विद स युथा असितु मनुहुयाच्छ्रिय परास्ये-
देवं तत् तुस्माद्भ्येव नृशेद्विचितस्त्वा विचिन्वन्विति
तद्य ऽण्वास्य विचेतुरस्तु ऽणनं विचिन्वन्ति ॥ ८ ॥

अथ व्यासः । द्विगुणं वा चतुर्गुणं वा प्राग्दशं
वोद्गदशं वोपस्तृणति तद्वाजानं मिमौते स यद्वाजानं
मिमौते तुस्मान्माचा मनुष्येषु माचो यो चाप्यन्या-
माचा ॥ ९ ॥

सावित्र्या मिमौते । सविता वै देवानां प्रसविता
तुथो हास्मा ऽण्पु सवितृप्रसूत एव क्रयाय भवति ॥ १० ॥

श्रुतिच्छन्दसा मिमौते । एषा वै सुर्वाणि छन्दाऽसि
यदुतिच्छन्दास्तुथो हास्यैष सर्वैरेव छन्दोभिर्मितो भवति
तुस्मादुतिच्छन्दसा मिमौते ॥ ११ ॥

सु मिमौते । अभि त्वं देवः सवितार मोण्योः कवि-
कृतु मुर्चामि सत्युसवः रत्नधा मभि प्रियु मतिं कविम् ।

• 'मित्त्वा'—इति सा०—सम्मतः ।

। 'पुत्रो'—इति क, ख ; सायणागमनोऽय पाठ इति डा० वेदरथ ।

। 'कवि'—इत्यनुसारात् पाठः क-ख-गुणकयो, डा०—वेद-दृष्टय ।

जर्द्धा युस्यामुतिर्भा ऽश्रुदिद्युतत्सुवीमनि हिरण्यपाणि-
रमिमौत सुक्रुतुः कृपा स्वरिति ॥ १२ ॥

एतया सुर्व्वाभिः । एतया चतसृभिरेतया तिसृभि-
रेतया द्वाभ्या मेतयैकयैतयैवैकयैतया द्वाभ्या मेतया
तिसृभिरेतया चतसृभिरेतया सुर्व्वाभिः समुस्याञ्जलि-
नाध्यावपति ॥ १३ ॥

स वा ऽउद्दाचं न्याचं मिमीते । स युदुद्दाचं न्याचं
मिमौत ऽइमा एवैतुदङ्गुलीर्नानाजानाः करोति तुस्मा-
दिमा नाना जायन्तेऽथ युत्सह सुर्व्वाभिर्मिमौते*
सुःखिष्टा इव ह्रैवेमा जायेरंस्तुस्माद्वा ऽउद्दाचं न्याचं
मिमौते ॥ १४ ॥

युद्देवोद्दाचं न्याचं मिमीते । इमा एवैतन्नानावीर्याः
करोति तुस्मादिमा नानावीर्यास्तुस्माद्वा ऽउद्दाचं न्याचं
मिमौते ॥ १५ ॥

युद्देवोद्दाचं न्याचं मिमीते । विराज मेवैतुदर्व्याचीञ्च
पराचीञ्च युनक्ति पराच्यह देवेभ्यो यज्ञं व्युह्यत्यर्व्याची
मनुष्यानवति तुस्माद्वा ऽउद्दाचं न्याचं मिमीते ॥ १६ ॥

अथ युद्दशकृत्वो मिमीते । दशश्वरा वै विराड्
वैराजः सोमस्तुस्मादशकृत्वो मिमीते ॥ १७ ॥

* 'मिमौते'—इति च डा०—वेबर—दृष्ट पाठ ।

अथ सोमोपनुहनस्य । समुत्पाय्यन्तानुष्णीषेण
व्विग्रथ्नाति प्रजाभ्यस्त्वेति प्रजाभ्यो ह्येनं क्रीणाति स
युदेवेदः शिरश्चासौ चान्तरुपेनित मिव तुदेवास्येतत्
करोति ॥ १८ ॥

अथ मध्येऽङ्गुल्याकाशुं करोति । प्रजास्त्वानुप्राण-
न्विति त मयसीव वा ऽएन मेतुत् समायच्छन्नप्राण
मिव करोति तुस्यैतदुत एव मध्यतुः प्राण मुत्सृजति तं
तुतः प्राणन्तं प्रजा अनुप्राणन्ति तुस्मादाह प्रजास्त्वानु-
प्राणन्विति तः सोमविक्रयिणे प्रयच्छत्यथातः पुन-
स्यैव* ॥ १९ ॥ ५ ॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके पञ्चमं ब्राह्मणम् [३. २.] ॥

प्रासङ्गिक मभिधायेदानीं मध्वर्योः पाचे पांसुप्रक्षेपानन्तरं
हस्तप्रक्षालनं विधत्ते— “पदं समुप्येति” । अवनेजनं मुदकेन शोध-
नम् । उक्तावनेजनं सोमहननपरिहारत्वेन प्रशंसति— “तद्यत् पाणी
इति । “दृतं वै देवा वज्रं कृत्वा सोम मघ्नन्”—इति श्रुतेः ।
आज्यस्य वज्रत्वम् । सोमस्य यागसाधनद्वारेण सर्वोपधीयत्वेनाच्चा-

• ‘पयनस्यैव’—इति ग, घ ।

१— का० शौ० सू० ० ६. २० क ।

२— तै० सं० ६. २. २. ७ । इष्टाण्युत्तरत्र ३. ३ ६ दृष्टव्यम् ।

द्यात्मकतया च सर्वजगदुत्पादकत्वात् रेतस्त्वम् । एतस्य हिमानर्ह-
त्वाद्, यजनीयाज्यस्य सोमघातकत्वात्, सोमहतिपरिहारायावनेजन
कर्त्तव्य मिति स्मृति ॥ १ ॥

अध्वर्यो स्वाहुल्या हिरण्यबन्धन विधाय प्रशंसति— “अथास्या
मिति^१ । ‘अस्याम’-इत्यनामिकाहुल्या मभिनयेन प्रदर्शनम् ।
हिरण्यस्य देवमन्त्रबन्धद्वारा सत्यत्वाभिधानाय सत्यानृतद्विविध्याभिधा-
नम् । उक्त हिरण्यस्याग्निरेतस्त्वम्^२ । उक्तप्रकारेण हिरण्यस्य सत्यत्वात्
तेन ‘अशुनुपसृग्गानि’ अभिषवाप्यायनादिषु । तेन ‘सोम’ ‘पराह-
णानि’ व्यापारयाणि । उपसृग्गान्द्युपयोगाय हिरण्य धारयेदित्यर्थ^३ ।
पाणेर्हिरण्यबन्धनस्य कान्तविकस्य कात्यायनो दर्शयति— “हिरण्यं
बध्नीतेऽनामिकाया माप्यायनाभिषवाऽश्वदाभ्येषु वा^४”-इति^५ ॥ १ ॥

सोमार्थं मध्वर्यो मध्येष दर्शयति— ‘अथ मग्नेय्यतीति^६ ।
सोम उपनह्यते येन तत् ‘सोमोपनहन’ सोमबन्धनवस्त्वम् । ‘सोम-
पर्याणहनम्’ शकटेन सह सोमस्य परितो बन्धनवास । ‘उष्णीष’
सोमोपनहने स्थापितस्य सोमस्य बन्धनार्थं वास । ‘यद्’ वस्तु
‘शोभन’ बद्धमूत्रम्, तत् ‘एव’ सोमोपनहन कर्त्तव्यम् । तथा च
कात्यायन— ‘शोभन सोमोपनहन मिति^७ । आपस्तम्बस्तु चैम
कर्त्तव्य मित्याह— “चैम वामो द्विगुण चिगुण वा^८”-इत्यादिना^९ ।

१— का० श्रौ० सू० ७ ६ २० ख । २— पुरस्तात् २२० पृ० १४ प० ।

३— ‘य-इति जर्मन-मुद्रितपाठ । ४— का० श्रौ० सू० ७ ६ २८ ।

५— का० श्रौ० सू० ७ ० १ । ६— का० श्रौ० सू० ७ ० १ ।

७— चाप० श्रौ० सू० १० १४ ० ।

शोभनत्वे उपपत्ति माह—“वासो ह्यस्यैतद् भवतीति । सोमस्याच्छा-
दनार्थत्वाच्छोभनेन भवितव्यम् । अतस्तेनोपचरस्यपि शोभनवस्त्रा-
दिना स्वयं शोभते । विपर्यये चेप माह— “अथ य आहेति ।
यत् किञ्चिद् वासोऽथ सोमाय नयेति^१ जुवन्, स्वयं यत् किञ्चिद्
भवति, लोकेरविदिताभासो^२ भवतीत्यर्थः । सोमपर्याणहने नायं
नियम इत्याह— “यदेव किञ्चेति ॥ ६ ॥

उष्णीषस्थाने विकस्य माह— “यद्युष्णीषं विन्देदिति^३ । उष्णी-
षस्य स्त्रीकारः कर्त्तव्य इति शेषः । कर्त्तितवस्त्राग्रः ‘उष्णीषभाज-
नम्’ उष्णीषस्थाने भवतीत्यर्थः । आनीतानां मध्ये सोमकथस्थानं प्रति
सोमोपनहनस्यादान मध्ययुवजमानयोरन्यतरेण कर्त्तव्य मित्याह—
“अध्वर्युर्वेति^४ । सोमपर्याणहनस्यादाने तु न नियमः^५ ॥ ७ ॥

“अथापेणेति । ‘अपेण’ प्राचीनवंशस्य पुरोदेशे, उपरवप्रदेशे
इत्यर्थः । ‘विचिन्वन्ति’ साधयन्ति, अनुपादेर्याग्रं मपनयन्ति ।
‘तत्’ तत्र क्रथप्रदेशे निहितोदककुक्षस्य समीपे ‘ब्राह्मणः’ सोम-
विक्रयी निवसेत्, ‘तत्’ स्थानं प्रत्यभिगच्छन्ति^६ । ‘प्राञ्चः’ सोम-
क्रथप्रदेशाभिमुखाः ॥ ५ ॥

१— ‘वासोमात्रं मानयेति’—इति क ।

२— ‘रविदितप्रभासो’—इति, ‘रविदित आभासो’—इति च, क ।

३— का० श्रौ० सू० ७. ७. ४ ।

४— का० श्रौ० सू० ७. ७. ५ ।

५— अत एव सूत्रितं काव्यापनेन ‘अन्य इतरे’—इति (७. ७. ६.) ।

६— का० श्रौ० सू० ७. ७. ७ ।

लक्ष्य 'क्रीयते' विक्रीयते, अभिषवादिना रसात्मना संस्क्रियते ।
किं तदेक मिति, तदुच्यते— 'कन्दसां राज्याय' तन्माप्तये । न
केवलाय राज्याय, किन्तु 'साम्राज्याय' । प्रोत्साहनस्यार्थवत्तायै
बाधप्रसक्तिं दर्शयति— "गन्ति वेति । वस्तुत एव सत्यपि सोम-
भौत्यपगमाय 'तं' सोमं प्रति 'एतत्' कन्दसां साम्राज्य मिति
वाक्यम् 'आध' । किं मिति 'कन्दसा मेव राज्याय त्वा क्रीणामि'
इत्याह, 'न वधायेति' । "अथेत्यादि । 'अथ' सोमम् 'एत्य' 'प्राङ्'
प्राङ्मुखः 'उपविशति' ॥ ६ ॥

"सोऽभिमृशतीति" । "आस्माकोऽधि" —इत्यादिना^१ सोम
मभिमृशेत् । हे सोम ! त्वम् 'आस्माकोऽधि' आस्माकं सम्बन्ध्यधि ।
"तस्मिन्नपि च युष्माकास्माकौ"—इत्यण्^२, तत्सञ्चियोगेनास्माका-
देग्रश्च । 'एतत्' एतेन पाठेन 'स्व इव' य एव 'भवति', 'शुक्रः'
शुक्राख्यः, 'ते' 'गृह्यः' ग्रहौतथः । "प्रत्यपिभ्यां यच्चेः"—इति^३
अनुपलब्धादपि ग्रहेऽहोरात्रसः क्यप्, याच्ञ इत्यर्थः । "अमात्योऽधि
शुक्रस्ते यच्चेः"—इति तैत्तिरीयकम्^४ । 'विचितः' विचयनस्य प्रोध-
नस्य कर्त्तारः 'ते' त्वां 'विचिन्वन्तु' प्रोधयन्तु^५ । विचिन्वन्तिरेव
विवेके सति वैगुण्यासम्भवात् सर्वत्र कात्स्न्यं भवति ॥ ७ ॥

विवेचने विषये यच्चान्तरं मुपन्यस्य निराचष्टे— "अथ हैक

१— का० श्रौ० सू० ७. ७. ८ क । २— का० श्रौ० सू० ७. ७. ८ ख ।

३— वा० सं० ४. २४. २ ।

४— पा० सू० ४. ३. २ ।

५— पा० सू० ३. १. ११८ ।

६— तै० सं० १. २. ६. १ ।

७— का० श्रौ० सू० ७. ७. १० ।

इति^१ । ‘अच’ सोमविवेचनविषये सोममध्यगतं ‘दृणं वा काष्ठं वा’
 ‘भित्त्वा’ सोमसकाशाद् भेदं कृत्वा वह्निः प्रक्षिपन्ति । अच चैकं दोष
 माह—“अच वै सोमः इति । सोमस्य चक्षत्रं श्रूयते—“यान्येतानि
 देवता चत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः”—इत्यादिना^२ । इय प्रसिद्धिः
 “अच वै”—इति ‘वै’-शब्देन द्योत्यते । ‘यमित’ यस्तम्, भुञ्जितम्^३
 ‘अनुहाय’ गृहीत्वा, ‘आच्छिद्य’ पृथक्-कृत्य ‘परास्मैत्’ वह्निः
 प्रक्षिपेत् । यस्मात् सोमान्तर्गतं दृणादिकं सोमस्याश्वम्, ‘तस्मात्’ स्वयं
 नविवेचयन् यजमानोऽभ्यवमर्गं मेव कुर्यात्, शोधनार्थं न्तु ‘विचित्र-
 त्विति’ पठेत् । अच सूक्ष्मम्—“प्रादुपविश्यास्माकोऽसीति सोम
 मास्रभते न विचिनोत्यतस्तृणकाष्ठापासन मेके”—इति^४ ॥ ८ ॥

“अथ वास इत्यादि । ‘वासः’ सोमोपहननार्थं दशावस्त्रायम् ।
 ‘प्राग्दशं वा, उद्गदशं वा’ प्रागय सुदगयं वेत्यर्थः^५ । आसृते वाससि
 सोमोन्मानं विधत्ते—“तद्राजान मिमीते”—इति^६ । ‘तत्’ तत्र
 वाससि । ‘तस्मात्’ सोमोन्मानात् हेतोः ‘मनुष्येषु’ ‘माषा’
 षष्ठवत्यङ्गुल्यादिरूपा, इदानीं वर्तत इत्यर्थः । माषा यैवाच सोमे,
 सा मनुष्येषु; सोमस्याखिलजगत्कारणत्वात् । न केवलं मनुष्यगतैव,
 अपि तु ‘यो चापि’ यैव खलु ‘अन्या’ पक्षिमृगवृक्षादिगता, सापि
 सोममाचात्मिकैव ॥ ८ ॥

१— का० श्रौ० सू० ०. ०. ११ ।

२— उपरिष्ठाद् (१३. ३. २. १२.) दृष्टव्यम् ।

३— ‘भुञ्जितम्’-इति क ।

४— का० श्रौ० सू० ०. ०. ८-११ ।

५— का० श्रौ० सू० ०. ०. १२ ।

६— का० श्रौ० सू० ०. ०. १३ ।

विधीयमानोन्मानमन्त्र देवतादारा प्रशंसति— “सावित्र्या
मिमौत इति । ‘देवानां’ मध्ये ‘सविता’ सर्वकर्मविषयात्तुज्ञा-
प्रदः ॥ १० ॥

मन्त्रगतं छन्दः प्रशंसति— “अतिच्छन्दसेति । अष्टिरतिशङ्करी
वाच्य छन्दः, अतोऽतिच्छन्दस्त्वम् । एतस्मिन् छन्दसि चतुर्णां चतुर्णां
मन्त्राणां परित्यागेनाधस्तनानां छन्दसा सुत्पत्तेः सर्वच्छन्द-
स्त्वम् ॥ ११ ॥

इदानीं मन्त्र विधत्ते— “स मिमौतेऽभित्यं देव मिति’ ।
मन्त्रस्याय मर्थः । ‘त्य’ तं ‘सवितार’ ‘देवम्’ ‘अभ्यर्चामि’ इति
सम्बन्धः । कौटुम्भम् ? ‘ओष्णो,’ अविद्योः, द्यावापृथिव्योर्मध्ये
वर्त्तमान मित्यर्थः । ‘कविकृतु’ क्रान्तकर्माणम्, ‘सत्यसय’ सत्यानु-
ज्ञम्, ‘रत्नधां’ रमणीयानां फलानां धारकम्, ‘अभि’ अभितः
‘प्रियम्’, ‘मति’ मननवन्तम्, ‘कवि’ क्रान्तप्रज्ञम् । ‘यस्य’ सवितुः
‘अमतिः’ अन्येषां मविषया मतिः, ‘भाः’ च, अथवा अमतिविशे-
षणम्, भासमाना सा ‘ऊर्द्धा’ ‘अदिद्युतत्’ द्योतते । किमर्थम् ?
‘सर्वौमनि’ प्रसवे निमित्तभूते सति, अनुज्ञार्थं मित्यर्थः । स
तादृश ‘स्वरण,’ भोभनगमन आदित्य ‘रूपा’ रूपया ‘हिरण्य-
पाणिः’ सन् ‘अमिमौत’ मिमौते, सोमोन्मान करोति, करोति-
त्यर्थः १ ॥ १२ ॥

दशकृत्व उन्मानेऽप्यय मेव मन्त्र इत्यादिशङ्कान्प्रकार दर्शयति—

“एतया सर्वाभिरिति’ । ‘एतया’ “अभि त्वं देवम्”— इत्यनयैव
 ‘सर्वाभिः’ अहुलीभिः पञ्चभिः मिमीते । ‘एतया’ एव ‘चतसृभिः’
 अयहुलीभिः मिमीते । एव मवरोक्षक्रमेणैकैकाहुल्युत्सर्गेण पञ्चवारं
 मीत्वा पुनरारोक्षणक्रमेणैकैकाहुलिषंयोजनेन पुनरेतयैवर्चा पञ्चवारं
 मिमीते । एव दशवारं सुन्नाय, अनन्तर पाणिद्वय ‘समस्य’
 अञ्जलिं कृत्वा, तेनैकवारं मभिमितस्य सोमस्योपरि ‘आवपति’ ।
 शिष्टं सर्वं प्रक्षिपेत् । अथ सूचम्— “सर्वाभि प्रथमं बहुष्ठप्रभृति
 चैकोत्सर्गं द्विः कनिष्ठिकयैकोपचयश्चाञ्जलिना दशमं मन्यद्वाध्या-
 वपयुतेः”—इति’ । मानस्य दशसङ्ख्यायां सूत्र्यमानत्वादाधिक्ये मति
 दशसङ्ख्याविरोधात् सूत्रकारेणाञ्जलिना दशमं मन्यदेति विकल्पि-
 तम् ॥ ११ ॥

अहुलीनां क्रमेणोत्सर्गं संयोजने च कृते योऽर्घ्यमिद्धो मान-
 विषयः समञ्जनप्रसारणभावः, तं मनूय वज्रधा प्रशंसति— “स वा
 उदाच न्याच मित्यादिना । ‘उदाच न्याचम्’ अहुलीः भमस्य प्रसार्य
 चेत्यर्थः । ‘तत्’ तेनोक्तप्रकारमानेन ‘अहुलीः’ ‘नानाजानाः’
 पृथक्-पृथक्-जन्मवत्यः ‘करोति’, कर्मफलभोगार्थत्वात् सृष्टेः ।
 व्यतिरेके दोष माह— “अथ यत् सृष्टेति । ‘सर्वाभि’ मंहताभि-
 रहुलीभिः दशवारं मपि मानं यदि कुर्यात्, तथा सति ‘सन्निष्टा’
 परस्परसंघता एवाहुजनयो ‘जायेरन्’ ॥ १४ ॥

“यदेवोदाच मिति । उक्तरीत्या मानेन तु ‘नानावीर्याः’
 पृथक्-पृथक्-कार्यसमर्थाः ‘करोति’ ॥ १५ ॥

“यदेवेति । “विराज मेवैतदवाचीं च पराचीं च युन-
 मीति । ‘एतत्’ एतेन अवाक्-पराग्-गतेन विराट्कन्दोदेवता मेव
 मङ्गाद्वारा अवाक् च पराक् च सोमे योजितवान् भवत्यध्वर्युः ।
 सा सोमयुक्ता विराट् । “पराच्यहेति । ‘अह’-इति विनियष्टार्थो
 निपातः^१ । ‘पराचौ’ पराग्नूता ऊर्द्धमुखी सती, उदञ्चनमामर्थ्येन
 ‘यज्ञं’ सोमरसं ‘देवेभ्य’ ‘वहति’; तथैव ‘अवाची’ अवाङ्मुखी
 सती, समञ्चनमामर्थ्येन ‘मनुष्यान्’ अलिगादीन् ‘अवति’ ॥ १६ ॥

मानगतमङ्गां प्रशंसति— “अथ यद् दशहत्त इति । विराजो
 दशाक्षरत्वं प्रसिद्धम् । सोमोऽपि दशमङ्गाकैर्द्रव्यैः क्रीयमाणत्वेन
 मङ्गाद्वारा विराट्मन्त्राद् ‘वैराजः’ ॥ १७ ॥

“अथ सोमोपमहनस्येत्यादि । ‘अन्तान् समुत्पार्य’ अधःप्रसा-
 रितस्य वस्तस्य पर्यन्तप्रदेशान् एकच (उच^२) सङ्गृह्य ‘उष्णीषेण’
 घन्यं क्षुर्यात्^३ । तत्र मन्त्रः— “प्रजाभ्यस्वेति” । ‘प्रजाभ्यः’ सद-
 स्येभ्य अलिग्भ्यः । उष्णीषेण घननं प्रशंसति— “स यदेवेद्
 मिति । गिरस अमयोद्यान्तराक्षप्रदेशो यथा विसृज्य इव वर्तते,
 एवं घन्यकरणेन^४ कृतवान् भवति ॥ १८ ॥

घन्यमध्ये सुविरं समन्त्रकं विधत्ते— “अथ मधोऽहुस्येति ।
 ‘मधे’ सोमघन्यमध्ये । सुविरप्रदानेन ‘प्राणन्तं’ ‘तं’ त्वां सर्वाः ‘प्रजाः’
 अपि ‘अनु प्राणन्तु’ ‘इति’ । ‘ममायच्छन्’ अन्तान् सङ्गृह्यन् ‘तम्’

१— निह० १. २. ३ इत्ययम् । २— यथोऽधिकपाठः ह-पुस्तकमात्रे ।

३— का० श्रौ० सू० ७. ७. २० ।

४— वा० श्रौ० ३. २५. २ ।

५— ‘अयोकरणेन’-इति घ, च ।

‘अयतीव’ स्नापयतीव ‘अप्राण’ सोम प्राणरहितम् ‘इव’ करोति^१,
 अतएव उपद्रवसम्भववाङ्मेतो तत्परिहाराय देहमध्ये उच्छ्वामरूप
 ‘प्राणम्’ उद्गमयति । ‘तस्मात्’ प्रजास्वेति^२ मन्त्र पठेत् । ‘त’ सोमो-
 पनहनवस्त्रे बद्ध सोम सोमविक्रयिणे प्रयच्छति^३ । अथात पणन-
 स्त्रैव, विधिरुष्यत इति शेष ॥ १८ ॥ ५ [३ २] ॥

इति सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
 माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये
 तृतीयकाण्डे तृतीयाध्याये द्वितीय ब्राह्मणम् ॥

(अथ तृतीय ब्राह्मणम्)

स वै राजानं पणते । स यद्राजानं पणते तुस्मादिदुः
 सक्तसुर्वं पुण्यः सु आह सोमविक्रयिन् क्रुय्यस्ते सोमो
 राजाऽऽहुति क्रुय्य इत्याह सोमविक्रयी तं वै ते क्रीणा-
 न्नीति क्रीणीह्वीत्याह सोमविक्रयी कलुया ते क्रीणा-
 न्नीति भूयो वा ऽश्रुतः सोमो राजार्हतीत्याह सोम-

१— का० श्रौ० सू० ० ० २१ ।

२— वा० स० ४ २५ १ ।

३— का० श्रौ० सू० ० ० २२ ।

विक्रयी भूय एवातः सोमो राजार्हति महांस्त्वेव
गोर्महिमेत्यध्वर्युः* ॥ १ ॥

गोवै† प्रतिधुक्‡ । तस्यै शृतं तस्यै शुरस्तुस्यै दधि
तस्यै मुस्तु तस्याऽऽतुञ्चनं तस्यै नुवनीतं तस्यै घृतं
तस्याऽऽमिक्षा तस्यै व्याजिनम्§ ॥ २ ॥

शफेन ते क्रीणानीति । भूयो वाऽऽतः सोमो
राजार्हतुत्याह सोमविक्रयी भूय एवातः सोमो
राजार्हति महांस्त्वेव गोर्महिमेत्यध्वर्युरेतान्येव दुश
व्वीर्याण्युदात्यायाह पदा तेऽर्जेन ते गुवा ते क्रीणा-
मीति क्रीतः सोमो राजेत्याह सोमविक्रयी व्वयाऽसि
प्रब्रूहीति ॥ ३ ॥

सुऽआह । चन्द्रं ते व्वस्त्रं ते छागा ते धेनुस्ते
मिथुनौ ते गावौ तिस्रस्तेऽन्या इति स युदर्वाक् पुणन्ते
परः सम्पादयन्ति तुस्मादिदुः सकृत्सुर्वं पुण्य सर्वाक्
पुणन्ते परः सम्पादयन्त्युष युदध्वर्युरेव गोव्वीर्याण्युदा-
चुष्टे न सोमस्य सोमविक्रयी महितो वै सोमो देवो हि
सोमोऽथैतुदध्वर्युर्गां महयति तस्यै पुश्यव्वीर्याणि

* 'ध्वर्युः'—इति ग, घ ।

† 'प्रतिधक्'—इति ग, घ ।

‡ 'व्याजिन'—इति क, 'व्याजिनः'—इति ग, घ ।

क्रीणादिति तुस्मादध्वर्युरेव गोर्वीर्याण्युदाचष्टे न
सोमस्य सोमविक्रयी* ॥ ४ ॥

अथ यत्पुञ्चकृत्व पुणते । संवत्सरसम्मितो वै यज्ञ
पुञ्च वा ऽष्टतुव संवत्सरस्य तुं पञ्चभिराप्नोति तुस्मात्
पुञ्चकृत्व पुणते ॥ ५ ॥

अथ हिरण्ये वाचयति । शुक्रं त्वा शुक्लेण क्रीणा
मीति शुक्रः ह्येतच्छुक्लेण क्रीणाति यत् सोमः हिर-
ण्येन चन्द्रं चन्द्रेणेति चन्द्रः ह्येतच्चन्द्रेण क्रीणाति यत्
सोमः हिरण्येनामृतं ममृतेनेत्यमृतः ह्येतदमृतेन
क्रीणाति यत्सोमः हिरण्येन ॥ ६ ॥

अथ सोमविक्रयिण मभिप्रुकम्पयति । सगमे ते
गौरिति युजमाने ते गौरित्येवैतुदाह तद्युजमान
मभ्याहृत्य न्यस्यत्यस्मे ते चन्द्राणोति सु आत्मन्नेव वीर्यं
धत्ते शरीरं मेव सोमविक्रयी हरते तत् तुत सोम
विक्रयादत्ते ॥ ७ ॥

अथाजायां प्रतौचीनमुख्यां वाचयति । तुपसस्तनू-
रसीति तुपसो ह वा ऽष्टपा प्रजापते सुभूता युदजा
तुस्मादाह तुपसस्तनूरसीति प्रजापतेर्वर्णं इति सा यत्
चि संवत्सरस्य व्विजायते तेन प्रजापतेर्वर्णं परमेण

पशुना क्रीयस ऽहुति सा यत् त्रिः संवत्सरस्य व्विजायते
तेन परमुः पशुः सहस्रपोयं पुषेय मित्याशिष मेवैतदा-
शास्ते भूमा वै सहस्रं भूमानं गच्छानौत्येवैतुदाह ॥ ८ ॥

स वा ऽअनेनैवाजां प्रयच्छति । अनेन राजान
मादत्त ऽआजा ह वै नामैषा यदुजैतुया ह्येन मन्तत
आजति* ता मेतत् परोक्ष मजेत्याचक्षते ॥ ९ ॥

अथ राजान मादत्ते । मित्रो न एहि सुमित्रध इति
शिवो नः शान्त एहीत्येवैतुदाह तं युजमानस्य दक्षिण
ऽज्जरौ प्रत्युह्य वासो निदधातौन्द्रस्योरु माविश दक्षिण
मित्येष वा ऽअचेन्द्रो भवति यद्युजमानस्तुस्मादाहेन्द्र-
स्योरु माविश दक्षिण मित्युशुन्नुशुन्त मिति प्रियुः प्रिय-
मित्येवैतुदाह स्योनः स्योन मिति शिवुः शिव मित्येवै-
तुदाह ॥ १० ॥

अथ सोमक्रयणानुनुदिशति । स्वान आजाह्वारे-
वभारे हुस्त सुहस्त कृशानवेते वः सोमक्रयणा-
स्तान्वक्षच्छं मा वो दमन्त्रिति† धिषण्यानां वा ऽएते
भाजनेनैतानि वै धिषण्यानां नामानि तान्येवैभ्य एत-
दुन्वदिक्षत् ॥ ११ ॥

* 'आजत्'—इति सा०—सम्मत ।

† 'मा दमन्त्रिति'—इति सा०—सम्मत इति डा० वेधर ।

अथात्रापोर्णुते । गुर्भो वा ऽण्यु भवति यो द्रौक्षते
प्रावृता वै गुर्भा उल्बेनेव जरायुणेव त मुवाजीजनत
तस्मादुपोर्णुत ऽण्य वा ऽश्रुच गुर्भो भवति तस्मात्
पुरिष्टतो भवति पुरिष्टता इव हि गुर्भा उल्बेनेव
जरायुणेव ॥ १२ ॥

अथ व्याचयति । पुरि माग्ने दुश्चरिताद्बाधस्त्रा मा
सुचरिते भजेत्यासीनं वा ऽण्य मेय आगच्छति स आगत
ऽनुत्तिष्ठति तुन्मिथ्याकरोति व्रतं प्रमौणाति तस्यो द्वैपा
प्रायश्चित्तिस्तुथो हास्यैतन्नु मिथ्याकृतं भवति न व्रतं
प्रमौणाति तस्मादाह पुरि माग्ने दुश्चरिताद् बाधस्त्रा मा
सुचरिते भजेति* ॥ १३ ॥

अथ राजान मादायोत्तिष्ठति । उदायुषा स्वायुपो-
दस्था ममृतां२॥† ऽअन्वित्यमृतं वा ऽण्योऽनुत्तिष्ठति यः
सोमं क्रीतं तस्मादाहोदायुषा स्वायुपोदस्था ममृतां२॥†
ऽअन्विति? ॥ १४ ॥

अथ राजान मादायारोहण मभिप्रैति । प्रति
पुन्या मपद्महि स्वस्ति गा मनेहुसम् । येन विश्वाः पुरि
द्विपो दणुक्ति विन्दते वस्विति ॥ १५ ॥

* 'भजेति'-इति म, घ ।

†, ‡ 'ममृतां२'-इति क, ख ।

§ 'अन्विति'-इति म, घ ।

देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः* । तेऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद्
 विभयाञ्चक्रुस्त एतद्युजुः स्वस्त्ययनं ददृशुस्त एतेन
 यजुषा नाद्रा रक्षाऽस्यपहुत्यै तस्य यजुषोऽभयेऽनाद्रे
 निवाते स्वस्ति सुमाश्रुवत तृथो ऽएवैषु एतेन यजुषा
 नाद्रा रुक्षाऽस्यपहुत्यै तस्य यजुषोऽभयेऽनाद्रे निवाते
 स्वस्ति सुमश्रुते तुस्मादाह प्रति पुन्या मपद्महि स्वस्ति
 गा मनेहुसम् येन विश्वाः पुरि द्विपो दृणुक्ति विन्दुते
 वस्विति ॥ १६ ॥

तं वा दुति हरन्ति । अनसा परिवहन्ति मह्यन्त्येवैन
 नेतत् तुस्माच्छीर्ष्णा वीजः हरन्त्युनसोऽवावहन्ति ॥ १७ ॥

अथ युदपा मुन्ते क्रीणाति । रुसो वा ऽआपः सुरस
 मेवैतत् क्रीणात्यथ यद्विरण्यं भवति सुशुक्र मेवैतत्
 क्रीणात्यथ यद्वासो भवति सुत्वच समेवैतत् क्रीणात्यथ
 युदजा भवति सुतपस मेवैतत् क्रीणात्यथ युङ्गेनुर्भवति
 सुशिर मेवैतत् क्रीणात्यथ युन्मिथुनौ भवतः सुमिथुन
 मेवैतत् क्रीणाति तं वै दशभिरेव क्रीणीयान्नादशभि-
 र्दृशाक्षरा वै विराड् वैराजः सोमस्तुस्माद् दशभिरेव
 क्रीणीयान्नादशभिः ॥ १८ ॥ ६ ॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके पष्ठं ब्राह्मणम् [३. ३.] ॥

सोमक्रयार्थं व्यवहार विधत्ते— स वा इति^१ । 'पणते' व्यव-
हरेत् । 'तस्मात्' सोमस्य व्यवहारभूतत्वात् 'इद' इदानीं मपि
'सर्व' दधिमध्वादि वस्तु 'सह्यत्' 'पण्य' लोके पणितव्यं भवति ।
व्यवहारप्रकारं दर्शयति— "स आहेत्यादिना^२ । स' अध्वर्युं
"क्रयस्ते सोमो राजा^३" 'इति' वृक्षेत् । 'क्रय' क्रयार्थं प्रस्था-
रित । "क्रयस्तदर्थं"—इति^४ 'क्रय' शब्दो निपातित । प्रश्नार्थं
श्रुति^५ । 'क्रय इति सोमविक्रयी' प्रतिब्रूयात् । 'तत्' तर्हि 'ते'
तव स्वभूत सोम 'क्रीणानि' 'इति' अध्वर्युर्ब्रूयात् । अथ तेन
सोमविक्रयिणा 'क्रीणीहि' 'इति' उक्तोऽध्वर्युं 'कलया गोरेक-
देशेन 'ते' तव सम्बन्धिन सोम 'क्रीणानि' 'इति' ब्रूयात् । स
विक्रेता 'अत' अस्मात् कलालक्षणात् 'भूय' प्रभूतं अधिकं मूष्य
मर्हतीति ब्रूयात् । अथ सोमविक्रयिणोक्तोऽध्वर्युं गोर्महत्वं मावि-
ष्करोति— "महास्त्वेषेति । यदि सोमो बहुमूष्य मर्हति तर्हि
छत्वा गौर्दातव्या भवति, तथा सति 'गोमहिमा महान्' 'इति'
ब्रूयात्^६ ॥ १ ॥

अथ महत्त्वं मिति तद् दर्शयति— 'गोवा इत्यादिना^१ ।
'गो प्रतिधुक्' मघो दुग्धम्, इदं मेकं वीथम् । 'तस्यै' तस्या
'शृतं' पक्कं पयः । 'शर' पक्कचौरस्थोपरि भारभूतम् । घग्नीभूत-

१— का० श्रौ० सू० ७ ८ १ ।

२— का० श्रौ० सू० ७ ८ २ ।

३— पा० सू० ६ १ २२ ।

४— पा० सू० ८ १ १०० ।

५— का० श्रौ० सू० ७ ८ ३ ।

६— का० श्रौ० सू० ७ ८ ४ ।

मन्वास्वादं वस्तु दधि । दधिभवं सारभूत मुदकं 'भस्तु' ।
 'आतञ्जनं' दधिभावकारणम् । तप्ते पयसि दधानयने सति यद्
 घनीभूतं वस्तु जायते, सा 'आमिषा' । द्रवात्मकं तत् वाजिनम् ।
 एवं दशविधानि^१ गोवीर्याणि प्रख्यापयेत् ॥ १ ॥

"शफेनेति । द्वितीयवारकये 'शफेन ते क्रीणानीति' ब्रूयात्^२ ।
 'शफः' पादापस्याङ्गभागः । 'भूयो वा अतः'—इत्याद्युक्तिप्रत्युक्तिवचनं
 पूर्ववद् व्याख्येयम्^३ । 'अध्वयुः' 'एतान्येव दश वीर्याणि' इति,
 प्रतिधुगादिक मित्यर्थः । द्वितीयवारे गोः 'पदा ते' इति ब्रूयात् ।
 चतुर्थवारे 'अर्द्धेन ते' इति ब्रूयात् । "भूयो वा इत्यादि पूर्व-
 वत्" । पञ्चमवारे 'गवा ते क्रीणानि' 'इति' ब्रूयात्^४ । एव मुक्ते
 'सोमो राजा' त्वया 'क्रीतः' 'इत्याह' ; उचितमुख्यस्य दत्तत्वात् ।
 अथ 'वर्षासि प्रब्रूहि' 'इति' 'सोमविक्रयी' ब्रूयात्^५ ॥ २ ॥

"स आहेति । 'वयः'-शब्दार्थं स्वय मेवाह— "चन्द्रं त इत्या-
 दिना । 'हेम चन्द्रम्'—इति हिरण्यनामसु पाठात्^६ 'चन्द्रम्' आह्लाद-

१— छत-गवनीतयोः परिचयो बहुचोक्त इतीह गोक्षितिः ; ताभ्यां
 सदैव दशविधानं गोवीर्यस्येति शेषम् ।

२— का० श्रौ० सू० ०. ८. १० ।

३— १०. ८. ११५. । का० श्रौ० सू० ०. ८. ६ ।

४— "प्रग्रान्ते प्रग्रान्ते"—इति का० श्रौ० सू० ०. ८. १२ । अथ 'भूय
 एवातः सोमो राजाहंतोत्येष मन्त्र उच्यते'—इति या० २० ।

५— का० श्रौ० सू० ०. ८. ११ ।

६— का० श्रौ० सू० ०. ८. १२ । 'वर्षासि धन्यान् पशून् ह्यगादीन्'—इति ।

७— निघ० १. २. २ ।

कारि हिरण्यम् । “चन्द्र ते इति सोम मालभ्य वाचयति”—इति कात्यायन^१ । ‘अन्या तिस्रः’, गा इति शेषः ॥

व्यवहारपूर्वक-कथं प्रशंसति— “स यदर्वागिति । ‘अर्वाक्’ सम्पादनात् प्राक् व्यवहारं कृत्वा, ‘पर’ परस्तात् ‘सम्पादयन्ति’ । अथ वा ‘अर्वाक्’ अन्य मेव व्यवहारकाले व्यवहरन्ति, सम्पादन-काले तु ‘पर’ देयं मूल्यं अधिकं कृत्वा । ‘तस्मात्’ ‘इदम्’ इदानीं मपि ‘सर्वे पण्य’ वस्तु ‘सकृत्’ एकवारम् ‘अर्वाक्’ सत् ‘पर’ ‘सम्पादयन्ति’ ॥

गोवीर्याणां मुदाख्यातवत् सोमवीर्याण्युदाख्यातव्यानि, तथा-करणे कारणं माह— “अथ यदध्वर्युरेव गोवीर्याणीति । ‘महित’ महत्त्वोपेतं खलु सोम । तत् कथम् ? वस्तुतो ‘देव’ खलु, दिवि वर्त्तमानस्य चन्द्रस्य सोमवस्तीरूपेण परिणामात्, “दिवि वै सोम आसीत्”—इत्युक्तत्वाच्च^१ । अतो हेतोः सोमस्यानपेक्षितत्वात् ‘अध्वर्यु’ ‘गां’ ‘महयति’ पूजयति । तां ‘पय्यन्’ ‘तस्यै’ तस्यां ‘वीर्याणि’ प्रतिधुगादीनि । केनाभिप्रायेण ? सोमं मनया क्रीर्या-नीत्यभिप्रायेण । तस्मादित्युपसंहारः ॥ ४ ॥

कलाशफादिरूपं पञ्चवारपण्यं प्रशंसति— “अथ यत् पञ्चकृतं इति । स्पष्टं मेतत् । ५ ॥

“अथ हिरण्ये इति । एकहायन्या महं देयेषु हिरण्य-वस्त्रादिद्वयस्य द्वयेषु मध्ये ‘हिरण्ये’ दीयमाने सति यजमान

१— का० श्रौ० ७ ८ १४, १५ सूत्रयोः सन्निधायकथनं मिदम् ।

२— पुरस्ताद् द्रष्टव्यम् (११६ पृ०) ।

‘वाचयति’ “शुक्रं त्वा”—इति मन्त्रम्^१ । मन्त्रस्थायं मर्थः । ‘शुक्रं’
 ‘दौष्यमानं’ ‘त्वा’ त्वां ‘शुक्लेण’ दौष्येन ‘हिरण्येन’ ‘क्रीणामि’ ।
 तथा ‘चन्द्रं’ त्वां ‘चन्द्रेण’ आल्हादकेन ‘हिरण्येन’ । ‘अमृतम्’
 अमरणधर्माणं त्वाम् ‘अमृतेन’ ‘हिरण्येन’ क्रीणामीत्यर्थः । मन्त्र-
 गतानि शुक्रचन्द्रामृतपदानि द्वितीयान्तानि हिरण्यनामानि,
 द्वितीयान्तानि सोमस्येति व्याचष्टे— “शुक्रं त्वा शुक्लेषेत्यादिना ।
 स्यष्टोऽर्थः । अत्र सूत्रम्— “स आद्यं चन्द्रं ते वस्त्रं ते ऋगास्तो
 धेनुस्तो मिथुनौ ते गावौ तिस्रोऽन्याः शुक्रन्वेति हिरण्यं मासभ्य
 वाचयति”—इति^२ ॥ ६ ॥

अथ समन्वयकं सोमविक्रयिणो हिरण्येनाभिप्रकम्पनं विधत्ते—
 “अथ सोमविक्रयिण मिति । ‘अभिप्रकम्पयति’ हिरण्येन प्रको-
 भयति । मन्त्रगतं ‘सगम्’-पदं व्याचष्टे— “यजमाने ते गौरिति ।
 अश्विग्भिः सह गच्छन्ति तत्तत्कर्मस्विति ‘सगम्’ यजमानः,
 तक्षिन् । “सगमे त इति सोमविक्रयिणं हिरण्येनाभिकम्पयति”—
 इति सूत्रम्^३ ।

“तद्यजमान मित्यादि” । ‘तत्’ अभिप्रकम्पनमाधनं हिरण्यं
 यजमानं प्रत्यानीय “अस्मे ते”—इति^४ मन्त्रेण स्थापयेत् । ‘अस्मे’
 अस्मदीये यजमान इत्यर्थः । हिरण्यस्य वीर्यरूपत्वात् तत्स्वीकारे-

१— वा० सं० ४. २६. १ । २— का० श्रौ० सू० ०. ८. १४, १५ ।

३— वा० सं० ४. २६. २ । ४— का० श्रौ० सू० ०. ८. १६ ।

५— का० श्रौ० सू० ०. ८. १७ । ६— वा० सं० ४. २६. ३ ।

णात्मनि वीर्यधारणं सोमविक्रयी स्वीकुर्यात् । “सोमविक्रये-
तदादत्ते”—इति^१ सूत्रम् ॥ ७ ॥

“अथाजाया मिति । क्रथाय दत्ता मजां प्रतीचीनमुखीं हत्वा
अध्वर्युस्या मालभ्य स्थितं यजमानं “तपसं सूतुरसि”—इत्यादि^२
मन्त्रं वाचयेत् । तथा च सूत्रम्— “अजां प्रत्यङ्मुखीं मालभ्य
वाचयति तपसस्तनूरसीति”—इति^३ । मन्त्रस्याय मयं । हे अजे ।
त्व ‘प्रजापतेस्तपसं’ ‘तनू’ शरीरं मसि, तत्परिणामरूपत्वात् ।
‘प्रजापते, वर्णोऽसि’, “सवत्सरो वै प्रजापतिः”—इति श्रुते^४ ।
सवत्सरस्य सम्बन्धिनि काले जायमानत्वेन सवत्सरद्वारा सवत्सररूप-
प्रजापतिशरीरसारूप्यात् प्रजापतिवर्णात्मकत्वम् । सवत्सरे त्रिर्जाय-
मानादेवेतरपशोरण्युत्कर्षात् अजा ‘परमं पशुः’, तेन क्रीयसे ।
हे सोम । अतोऽहं तवानुग्रहात् ‘सहस्रपोष’ पुत्रपौत्रादिरूपेण
प्रज्जविधमुष्टिं प्राप्नुवानोति ॥

- ॥ मिमं मन्त्रं विभज्य व्याचष्टे— “तपसस्तनूरसीति । मन्त्र-
चतुर्थभागस्याग्नी.परता माह— “आग्निष मेवैतदिति । आग्नासन-
प्रकारं मेव दर्शयति— “भृमा वै सहस्रं मिति ॥ ८ ॥

वाम-दक्षिण-श्वाङ्ग क्रमेण अजाप्रदानं सोमदाने च निर्दिशति—
“स वा अनेनेति । “अनेन राजानं मादत्त इति । यद्यप्यथ विशेषो
न श्रूयते, तथापि सूत्रकारेण विशेषितम्— “सव्येनाजां प्रयच्छन्,

१— का० श्रौ० सू० ७ ८ १८ ।

२— वा० सं० ४. २६. ४ ।

३— का० श्रौ० सू० ७ ८ १९ ।

४— ऐ० ब्रा० १ २ २, ५; ५, २ इत्यादिषु प्रकृतम् ।

‘मित्रो न’—इति दक्षिणेन सोम मादत्ते”—इति^१ । अजाप्रदानेन सोमादानं तस्मिन्वचनद्वारेण प्रशंसति—“आजा ह वा इति । यस्मात् ‘एतया’ अजया ‘एनम्’ सोमम् ‘अन्ततः’ ‘आजत्’ आभिमुख्येनागच्छति । आजनमाधनत्वात् ‘आजा’ वस्तुतः; ‘तां’ परोक्षेण ‘अजेत्याचक्षते’ ॥ ८ ॥

“अथ राजान मादत्ते मित्रो न एहीति^२ । हे सोम । त्वं ‘सुमित्रधः’ शोभनयजमानधारकः, त्वं ‘मित्रः’ मित्रभूतः, प्रियभूतः सन् आगच्छेत्पर्यः । अस्मिन् मन्त्रे मित्रशब्दार्थं माह—“मित्रो नः शान्त इति । मित्रशब्दस्य व्याख्यानं ‘शान्तः’—इति^३ । “तं यजमानस्येति । ‘दक्षिणे’ ‘ऊरौ’ ऊरुप्रदेशे तथानाहुर्वायकं ‘वासः’ ‘प्रत्युद्य’ प्रसार्धं, तत्र भोमं निदध्यात् ॥

निधाने मन्त्रं विधाय प्रशंसति—“इन्द्रस्योरु मिति^४ । ‘अथ’ अस्मिन् सोमकयकर्मणि यस्मात् ‘यजमानः’ एव ‘इन्द्रो भवति’ स्तत्त्वत्वात्, ‘तस्मात्’ “इन्द्रस्योरु मिति मन्त्रं ब्रूते । द्वितीयभागात्तात्पर्यं माह—“उग्रन्नुग्रन्त मितौति । “वग कान्तौ”^५ । कामयमानस्त्व कामयमान मूढ माविशेति मन्त्रभागस्यार्थः । यः कामनाविषयः, स प्रियो भवतीति प्रसिद्धम्, अतः ‘उग्रन्नुग्रन्तम्’—इत्यनेन ‘प्रियः प्रियम्’—इति ‘आह’ मन्त्रः । एवं

१— का० श्रौ० सू० ०. ८. २० ।

२— वा गं० ४. २०. १ ।

३— “आदापासते (यध्ववौ) उतिष्ठति वा (यजमान)”—इति चेद्विहितं आदापयेन (श्रौ० सू० ०. ८. २१.) ।

४— वा गं० ४. २०. १ ।

५— आदा० प० ०. ८. १ ।

“स्योन स्योन मिति । स्योन मिति सुखनाम^१, सुखस्य शिवा-
त्मकत्वात् ‘शिवः शिवम्’ इति व्याख्यातम् ॥ १० ॥

“अथ सोमक्रयणाननुदिशतीति^२ । हे खानभ्राजादय । ‘व’
युष्माकम् ‘एते’ ‘सोमक्रयणाः’ । यतः तैर्गवादिभिः सोमं क्रीयते,
अतः ‘तान्’ क्रयसाधनपदार्थान् ‘रक्षध्वम्’ । रक्षःसम्बन्धिन तान्
‘मा दभन्’ मा हिसिष्टाः ॥

अनुदेशनं प्रशंसति— “धिष्य्यानां वा एते भाजनेनेति ।
भाजयतीति भाजनं ध्यायन्, तेन तत्स्थानेनोपाधिना ‘एते’
खानादयो ‘धिष्य्याना’ सम्बन्धिनः स्युः । कथं तेषां धिष्य्यसम्बन्ध
इति तत्राह— “एतानि वै धिष्य्यानां नामानीति । खानादयो
धिष्य्यानां नामान्येव^३, परं न तदतिरिक्ताः । अथ वा अनुदेशनार्थं.
‘एते’ गवादिपदार्थाः, ‘धिष्य्यानाम्’ एव, न तु खानादयः सोम-
रक्षकाः, अतस्तेषां मेव ‘एते’, न ‘धिष्य्यानाम्’ इति तत्राह—
“एतानि वा इति । तथा चोत्तरं च दृश्यति— “त मेते गन्धर्वा”

१— निघ० १. ६. १५ ।

२— का० श्रौ० सू० ७. ८. २१ ।

३— धर्मोना माश्रयभूता मृदा निर्मिता सप्त सत्यवेदिका धिष्य्यान्तु-
यन्ते । तानि चैव कात्यायनेन विहितानि— “आधोधीयं पूर्वम्,
सिकतास्योपरि रौद्रेणेति (वा० स० ५. १४) सर्वत्र, यट सदसि,
प्रत्यङ्मुखो द्वारं मपरेण होतु, दक्षिणपूर्वेणौदुम्बरो मैत्रावरुणस्य,
घोष्ठधिष्य्य मुत्तरेण चतुरः समान्तरान् माध्याह्नाच्छिपोष्ठनेष्ट्रच्छा-
वाकानाम्”—इति ८. ६. १६-२१ । धिष्य्यग्निर्यधनादिकं तु
निघ० ८. १. ४ दृश्यम् ।

सोमरक्षा जुगुपुरिमे धिष्ण्याः”—इति^१ । ‘तान्येव’ दश कथद्रव्याणि
 ‘एतत्’ एतेन ‘एते वः सोमकथणाः’—इति पाठेन ‘एभ्यः’ धिष्य-
 भूतेभ्यः स्वानादिभ्यः ‘अन्दिदत्’ अनुदिष्टवान् भवति । दिशतेः^२
 “शब्द इगुपधाद्”—इति^३ कः । अत्र सूत्रम्— “स्नानभ्राजेति
 जपति”—इति^४ ॥ ११ ॥

“अथावापोणेन इति” । “उल्बेनेव जरायुणेवेति । दृढस्य
 शिरःप्रावरणस्यापवारणं विधाय प्रगंसति । उभयत्रेवशब्दो वाक्या-
 लङ्कारार्थः । ‘उल्बं’ गर्भस्थान्तर मावरणम्, ‘जरायु’ बाह्य माव-
 रणम् । तथाच प्रागाश्चातम्— “अन्तरं वा उल्बं जरायुणो
 भवति”—इति^५ । स्पष्टं मन्यत् । ‘तं’ गर्भभूतं यजमानम् ‘अच’
 अस्मिन् सोमविक्रयसमनन्तरकाले ‘अजीजनत’ प्रादुरभावयत्
 अध्वर्युः । उत्पन्नस्यावरणयोगात् अपवरणं युक्तं मित्यर्थः । पूर्वं मति
 प्रावरणे पद्यादपवरणं युज्यते । तदेव कुत इत्यत आह— “एष वा
 अच गर्भं इत्यादिना ॥ १२ ॥

“अथ वाचयतीति” । अध्वर्युः “परि माग्ने दुयरितात्”—इति
 अमुं मन्त्रं यजमानं वाचयेत् । अथ मर्त्यः । ‘मा’ मां दुयरितात्
 सकाशात् ‘परिबाधस्व’ वाचयेत्यर्थः । ‘मा’ मां ‘सुचरिते’ मदा-
 चारे ‘आभज’ आभाजय । अथ वा सुचरिते वर्त्तमानं माम्

१—इति काष्ठे ३३० ३३० ६४० दृष्ट्या ।

२—तु० उभ० ३३० ।

३—पा० सू० ३. १. ३५ ।

४—का० सू० सू० ०. ८. ०३ ।

५—का० सू० सू० ०. ८. २४ ।

६—२. १. ११ (६० ६०) दृष्टम् ।

०—का० सू० सू० ०. ८. १ ।

‘आभज’ अनुगृह्णाण^१ । मन्त्रतात्पर्यं भाह— “आमीन वा एन मिति । ‘एन’ यजमानम्, ‘एष’ सोमो राजा । श्रेष्ठस्यागमनात् प्रागेवोत्थानेन भवितव्यम्, अथ तद्वैपरीत्यान्निष्ठ्याकरणम्, तच्च ‘व्रत’ कर्म ‘प्रमीणाति’ प्रहिनस्ति, तदनेन मन्त्रवाचनेन समाधीयत इति ॥ १३ ॥

“अथ राजान मादायेति^२ । उत्थानमन्त्रस्यार्थ^३ । ‘आयुषा स्वायुषा’ च सह तत्साधनेन वा आयुष्करणेन सोमेन सह ‘उदस्याम्’ । ‘आयुषा निमित्तेनेति वा । ‘अमृतान्’ अवयवापेक्षया बहुवचनम् । सोमाशून् ‘अतु’ सृत्य उदस्याम् । अमृतशब्दस्य तात्पर्यं भाह— “अमृत वा एषोऽमृत्तिष्ठति य सोम क्रीत मिति ॥ १४ ॥

“अथ राजान मादायारोहणं भभिप्रैतीति^४ । आरोहण्यचेति ‘आरोहणं शकटम् । अभिगमनमन्त्रस्याय मर्थ । वय ‘पन्था पन्थान ‘प्रत्यपद्महि’ प्रतिपद्येमहि । कौटुशम् ? ‘स्त्रिणिगा शोभन-गमनम्, ‘अनेहसम्’ अपापम्, ‘देन’ यथा गच्छन् पुरुषो ‘विधा’ ‘द्विष’ द्वेष्टुन् ‘परिवृणक्ति’ परिवर्जयति, ‘वसु’ धनं च ‘विन्दते’ लभते, त प्रतिपद्येमहौति^५ ॥ १५ ॥

१— वा० स० ४ २८ १ ।

२— का० थो० सू० ७ ६ १ ।

३— स चैव मन्त्र वा० स० ४ २८ २ ।

४— “उत्थानं मनः प्रातिगमनं च सृष्टीतसोम एव यजमानं करोति”-इति ‘उत्तरे च (७ ६ २)’-इति सूत्रव्याख्याने या० दे० ।

५— स चैव मन्त्र वा० स० ४ २६ १ ।

असुं मन्त्र माध्यायिकया प्रशंसति— “देवा ह वा इति । पुरा किल ‘देवाः’ देवत्वप्राप्तये ‘यज्ञं तन्वानाः’ असुराद्यासङ्गेन भीताः, तत्परिहारोपायत्वेन चेमप्रापकम् ‘एतत्’ ‘यजुः’ इमं मन्त्रं दृष्ट्वा, प्रयुज्य, ‘नाष्टा रक्षांसि’ नाशकारिणो राक्षसाम् घातयित्वा, एतन्मन्त्रसम्बन्धिनि भयरहिते, नाशरहिते, वातरहिते, स्थाने अविनाशलक्षणं चेमं प्राप्ताः । तस्मात् इदानीन्तनोऽपि तद्यजुः— प्रयोगेणोक्तलक्षणं चेमं प्राप्नोति । यस्मादस्य मन्त्रस्य सामर्थ्यं नैवंविधम्, तस्माच्छकटसमीपं गच्छन् “प्रतिपन्थाम्”—इति^१ मन्त्रं ब्रूयादित्यर्थः । ब्राह्मणोक्तस्य कृत्स्नस्यार्थस्य मन्त्रे दर्शनादित्यभिप्रायः ॥ १६ ॥

“तं वा इतीति । हरणप्रकारोऽभिनीयते— ‘इति’ अनेन प्रकारेण, शिरसा धृत्वेत्यर्थः । ‘हरन्ति’ ग्रथमं क्रधात् प्राक् पर्वतात्, पश्चात्तु ‘अनसा परिवहन्ति’ ; अनेन सोमं ‘महयन्ति’ सत्कुर्वन्ति । यस्मात् पूर्वं नैवं कृतम्, ‘तस्मात्’ इदानीं मपि आवापसमये कृष्टेष्वेवं प्रति ‘वीजं ग्रीष्णां हरन्ति’, पश्चात् फलिताना मानयनसमये ‘अनसा’ ‘उदावहन्ति’ उदानयन्ति । अत्र सूत्रम्— “ग्रीष्णां सोमं कृत्वा पाणि मन्त्रद्वयं प्रतिपन्था मित्यनोऽभ्येति, दक्षिणतस्तिष्ठच्छ्वेनं समङ्गि धौतम्, प्रउगाच्चोद्धूते फलके, कृष्णाजिन मस्त्रिष्ठासृणात्यदित्यास्त्वगिति^२, तस्मिन्सोमं निदधात्यदित्यै सद इति^३”—इति^४ ॥ १७ ॥

१— वा० सं० ४. २६. १ ।

२— वा० सं० ४. २०. १ ।

३— वा० सं० ४. २०. २ ।

४— का० श्रौ० सू० ०. ६. ४-७ ।

उदकुम्भसमीपे क्रय प्रशंसति— “अथ यदपा मिति । स्पष्टोऽर्थः ।
 हिरण्यदि दशक्रयद्रव्य क्रमेणानूद्य प्रशंसति— ‘अथ यद्विरण्य
 भवतीत्यादिना । क्रयाय ‘हिरण्य भवति’ इति ‘यत्’, ‘एतत्’
 एतेन सोम ‘सशुक’ शुकेण दीष्टा सहित सन्त क्रीतवान् भवति,
 हिरण्यस्य तेजोरूपत्वात् । वासम आच्छादनमाधनत्वात् तेन क्रये
 सति सोम ‘सत्वचस’ क्रीतवान् भवति । ब्रह्माणक्षपसा सम्भूतत्वात्
 ‘अजया’ क्रये सति तपसा सहित क्रयो भवति । धेन्वा माग्निरस्य
 चीरादेः सम्भवात्, तथा क्रये सति सोम साग्निरस्य भवति ।
 ‘अथ यन्मियुनौ भवत’—इति स्पष्टम् । क्रयणद्रव्यगता दशसङ्ख्या
 मनूद्य प्रशंसति— “त वै दशभिरेव क्रीणीयात्, नादशभि”—
 इति । स्पष्टोऽर्थः १ ॥ १८ ॥ ६ [४. २.] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

तृतीयकाण्डे द्वितीयाध्याये तृतीय ब्राह्मणम् ॥

॥ इति तृतीयकाण्डे द्वितीयः प्रपाठकः समाप्तः ॥

१— अत्र “हिरण्य सहस्राब्धिय एषता वरचाकाण्डेनाहन्ति वा”—इत्याह
 कात्यायन (७ ८ २०) । “प्रदक्षिण्य सोमक्रयणी मादृत्यान्वया
 गवा निष्क्रीय यजमानस्य गोष्ठेऽपि रुजति, यदि सोमविप्रयो प्रति-
 विवदेत एषतैन वरचाकाण्डेनावक्षाय नाशयेयुः, एकुटैर्ग्रन्तीत्येके,
 नित्यवदेके वध समामनन्ति”—इत्याह व्यापटम्ब (१०. २० ५-८.) ।
 “सोमविक्रयिणे किञ्चिद् दद्यात्”—इत्येवास्ति मानवे सूत्रे ।

अथ

तृतीयप्रपाठके प्रथम ब्राह्मणम्,

अपि वा

तृतीयाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् ।

॥ हरिः ॐ ॥

नीडे कृष्णाजिन मास्तृणाति । अदित्यास्त्वगसौति
सोऽसावेव बन्धुरथैन मासादयत्युदित्यै सुद आसीदे-
तीयं वै पृथिव्युदितिः सेयुं प्रतिष्ठा तुदस्या मेवैन
मेतत् प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति तुस्मादाहुदित्यै सुद
आसीदेति* ॥ १ ॥

अथैवामभिपद्य व्याचयति । अस्तन्माद् द्यां द्यभो
ऽअन्तरिक्ष मिति देवा ह वै यज्ञं तन्वान्नास्ते ऽसुर-
रक्षसेभ्य ऽआसङ्गाद् विभयाञ्चक्रुस्तु ऽएन मेतज्या-

* 'आसीदेति'-इति ग, घ ।

† 'अथैव'-इति सायणसम्मतं याव ।

याऽस मेव व्वधाचक्रुर्यदाहास्तन्माद् द्यां वपभो अन्त-
रिक्ष मिति* ॥ २ ॥

अमिमौत व्वरिमाणं पृथिव्या इति । तुदेनेनेमाँ-
सोका'नास्पृणोति तुस्य हि नु हन्तास्ति नु वधो येनेमे
सोका आस्पृतास्तुस्मादाहुमिमौत व्वरिमाणं पृथिव्या
इति† ॥ ३ ॥

आसीदद्विश्वा भुवनानि सम्राडिति‡ । तुदेनेनेदः
सुर्व मास्पृणोति तुस्य हि नु हन्तास्ति न वधो
येनेदः सुर्व मास्पृतं तुस्मादाहुसीदद्विश्वा भुवनानि
सम्राडिति॥ ॥ ४ ॥

व्विश्वेत्तानि व्वरुणस्य व्रतानीति । तुदस्मा इदः
सुर्व मुनुवर्त्म करोति युदिदं किञ्च न कुञ्चनु प्रत्यूद्या-
मिनं तुस्मादाह व्विश्वेत्तानि व्वरुणस्य व्रतानीति॥ ॥ ५ ॥

अथ सोमपर्याणहनेन पर्याणह्यति । नेदेनं नाद्रा
रुक्षाऽसि प्रमृशानिति गुर्भो वा ऽण्ण भवति तिरु इव

* 'मिति'—इति ग, घ ।

† 'नेमाँसोका'—इति ग, घ ।

‡ 'इति'—इति ग, घ ।

§ 'संम्राडिति'—इति क ।

॥ 'संम्राडिति'—इति क, 'सम्राडिति'—इति ग, घ ।

॥ 'व्रतानीति'—इति ग, घ ।

वै गुर्भास्तिरु इवैतद्युत्पर्याण्डं* तिरु इव वै देवा मनु-
ष्येभ्यस्तिरु इवैतद्युत्पर्याण्डं तस्माद्वै पर्याणह्यति ॥ ६ ॥

सु पर्याणह्यति । वृन्नेषु व्यन्तरिक्षं ततानेति वृन्नेषु
ह्रीदु मन्तरिक्षं विततं वृक्षाग्रेषु वृज मर्वत्सु पय
उत्तियास्विति व्वीर्यं वै वृजाः पुमाः सोऽव्वन्तः पुःस्वे-
वैतुह्वीर्यं दधाति पय उत्तियास्विति पयो ह्रीदु मुत्ति-
यासु हितुः हत्सु क्रतुं व्वरुणो व्विष्मि मिति हत्सु
ह्वयं क्रतुर्मनोजवः प्रविष्टो व्विष्मि मिति व्विष्म ह्वयं
प्रजास्वमिर्दिवि सूर्य मदधात्सोम मुद्राविति दिवि
ह्यसौ सूर्यो हितः सोम मुद्राविति गिरिषु हि सोम-
स्तस्मादाह दिवि सूर्य मदधात् सोम मुद्राविति† ॥ ७ ॥

अथ यदि हे कृष्णाजिने भवतः । तयोरन्यतरत्
प्रत्यानह्यति प्रतीनाहभाजनं‡ युद्युऽएकं भवति कृष्णा-
जिनग्रीवा एवावकृत्य प्रत्यानह्यति प्रतीनाहभाजनः॥
सूर्यस्य चुक्षुरारोहाग्नेरक्षणः कनीनकम् । यन्नैतशेभि-
रौयसे भ्राजमानो विपश्चितेति सूर्य मेवैतत् पुरस्तात्
करोति सूर्यः पुरस्तान्नाद्रा रुक्षाः स्वपद्मनेत्यथाभयेना-
नाग्नेण परिवहन्ति ॥ ८ ॥

• 'इवैतद्युत्पर्याण्डं'-इति ग ।

† 'मुद्राविति'-इति ग, घ ।

‡, § 'प्रतीनाहभाजनं'-इति सायणसम्मत इति डा० वेबर ।

उद्धते प्रजुग्ये फुलके भवतः । तदन्तरेण तिष्ठन्सु-
ब्रह्मण्यः* प्राजति श्रेयान्वा ऽणुपोऽभ्यारोह्याद्भवति को
ह्येत मुह्यत्यभ्यारोढुं तुस्मादन्तरेण तिष्ठन् प्राजति ॥ ८ ॥

पलाशशाखया प्राजति । युच वै गायत्री सोम
मच्छापतत् तदस्या ऽत्राहुरन्त्या ऽत्रपादुस्ताभ्यायुत्य पर्णं
प्रचिच्छेद गायत्र्यै वा सोमस्य वा राजस्तुत्यतित्वा पुण्यो
ऽभवत्तुस्मात्पुण्यो नाम तद्युदेवात्र सोमस्य न्यक्तं तुदि-
हाप्यसदिति तुस्मात् पलाशशाखया प्राजति ॥ १० ॥

श्रुथानद्वाहावाजन्ति । तौ यदि कृष्णौ स्याता
मन्यतरो वा कृष्णस्तुच विद्याद्वपिप्युत्यैपुमः पर्जन्यो
वृष्टिमान् भविष्यतीत्येतद् विज्ञानम् ॥ ११ ॥

अथ युनक्ति । उस्मावेतं धूर्पाहावित्युस्मौ हि भुवतो
धूर्पाहाविति धूर्वाहौ हि भुवतो युज्येथा मनश्च ऽदिति
युज्येते ह्यनश्च ऽदित्युनात्ताविति तदुवीरहणावित्युपाप-
कृताविति तद् ब्रह्मचोदनाविति ब्रह्मचोदनौ हि भुवत'
स्वस्ति युजमानस्य गृहान् गच्छत मिति युयैनावन्तरा
नाप्रा रुक्षांस्ति नु हिःस्युरेव मेतुदाह ॥ १२ ॥

* 'मह्यण्य'—इति व, हा—वेधरेणान्यत्र दृष्टव्य, श्रूयत चोतरव
(४ १ ४ २०) 'सुब्रह्मण्ये'—इति ।

अथ पश्चात्परिक्रम्य । अपालम्बु* मभिपुद्याह
सोमाय क्रीतायानुब्रूहीति† सोमाय पर्युक्ष्माणायेति
वृत्तो यतरुथा कामयेत ॥ १३ ॥

अथ व्याचयति । भद्रो मेऽसि प्रच्यवस्व भुवस्पत
ऽइति भद्रो ह्यस्यैव भुवति तुस्मान्नान्य माद्रियतेऽप्यस्य
राजानः सभागा आगच्छन्ति पूर्वो राज्ञो ऽभिवदति
भद्रो हि भुवति तुस्मादाह भद्रो मेऽस्तौति प्रच्यवस्व
भुवस्पत ऽइति भुवनानाः‡ ह्येव पुतिर्विश्वान्यभि-
धामानीत्युक्तानि वै विश्वानि धामान्युक्तान्येवैतदुभ्याह
मा त्वा परिपरिणो विदन्मा त्वा परिपन्थिनो विदन्मा
त्वा वृक्षा अघायवो विदन्मिति युथैन मन्तरा नाप्रा
रुक्षाऽसि नु विन्देयुरेव मेतुदाह ॥ १४ ॥

श्येनो भूत्वा पुरापतेति । व्यय ऽएवैन मेतुद् भूतं
प्रपातयति† यद्वा ऽजग्रं तुन्नाप्रा रुक्षाऽसि नान्ववयन्त्ये-
तद्वै व्ययसा मोजिष्ठं बुलिष्ठं युच्छेनस्तु मेवैतद् भूतं
प्रपातयति यद्वाह श्येनो भूत्वा पुरापतेति ॥ १५ ॥

* 'अपालम्बु'—इति पाठोऽपि डा०-वेवरेय दृष्ट ।

† 'क्रीतायानुब्रूहीति'—इति ग ।

‡ 'प्रपातयति'—इति, 'प्रपातयति'—इति च दृष्टौ डा०-वेवरेय ।

अथ शरीर मेवान्ववहन्ति । युजमानस्य गृहान् गच्छ
तुन्नौ सःस्कृत* मिति नात्र तिरुोहित मिवास्ति ॥ १६ ॥

अथ सुब्रह्मण्या मुह्ययति । युथा येभ्यः पश्यन्स्यात्
तान् ब्रूयादित्यहे वः पक्तास्मीत्येव मेवैतद् देवेभ्यो यज्ञं
निवेदयति सुब्रह्मण्योऽ५ सुब्रह्मण्योऽ३ मिति ब्रह्म हि
देवान् प्रच्याययति चिष्कृत्व आह चिष्टहि यज्ञः† ॥ १७ ॥

इन्द्रागच्छेति । इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता तुष्मा-
दाहेन्द्रागच्छति हरिव आगच्छ मेधातिथेर्मेप वृषण-
श्वस्य मेने । गौरावस्कन्दिन्नुहल्यायै जारेति तद्या-
न्येवास्य चुरणानि तैरुवैन मेतत्प्रमुमोदयिषति ॥ १८ ॥

कौशिक ब्राह्मण गौतम ब्रुवाणेति । शुश्वहेतदा-
रुणिनाधुनोपज्ञात‡ यज्ञौतम ब्रुवाणेति स यदि काम-
येत ब्रूयादेतद्यद्यु कामयेतापि नाद्रियेतेत्यहे॑ सुत्या
मिति यावदहे सुत्या भवति ॥ १९ ॥

देवा ब्रह्मण आगच्छतेति । तुद्देवांश्च ब्राह्मणांश्चा-
हैतैर्ह्युचोभयैरुर्थो भवति युद्देवैश्च ब्राह्मणैश्च ॥ २० ॥

* 'संस्कृत'-इति क, डा०-वेवरेयान्यत्र पृष्ठम् ।

† 'यज्ञ'-इति ग, घ ।

‡ 'उच्यते'-इति क ।

§ 'उभोपज्ञात'-इति ग, घ ।

॥ 'ब्राह्मणैश्च'-इति ग, घ ।

अथ प्रतिप्रस्थाता* । अग्रेण शाला ममीयोमीयेण
पशुना प्रत्युपतिष्ठते ऽमीपोमौ वा ऽएतु मन्तर्जम्भ
ऽआदधाते यो दौक्षत ऽआग्रावैष्णवः५ ह्यदो दौक्षणीयः
हविर्भुवति यो वै विष्णुः सोमः सु हविर्वा ऽएषु
देवानां१ भवति यो दौक्षते तुदेन मन्तर्जम्भ ऽआदधाते
तुत्पशुनात्मानं निष्क्रीणीते ॥ २१ ॥

तद्वैके । आहवनीयादुल्लुक माहरन्त्ययु मभिरयः
सोमस्तुभ्याः५ सह सङ्गां निष्क्रेष्यामह ऽइति वृदन्तस्तदु
तथा नु कुर्याद्यत्र वा ऽएतौ क च तुत् सुवैव† ॥ २२ ॥

स वै द्विरूपो भवति । द्विदेवत्यो द्वि भुवति देव-
तयोरुसमदे कृष्णसारङ्गः॥ स्यादित्याहुरेतद्धोनयो रूप-
तम मिवेति यदि कृष्णसारङ्गं नु विन्देदुयो ऽअपि
लोहितसारङ्गः॥ स्यात् ॥ २३ ॥

तस्मिन् वाचयति । नमो मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे
महो देवाय तदृतुः सपर्यत । दूरेदृशे देवजाताय
केतवे दिवस्पुत्राय सूर्याय शःसतेति नम एवास्मा
ऽएतत् करोति मित्रधेय मेवैनेनैतत्कुरुते ॥ २४ ॥

* 'प्रतिप्रस्थाता'-इति ग, घ ।

† नाख्येनत् यद् ग घ पुस्तकयोः ।

‡ 'सुवैव'-इति ग, घ ।

§ 'कृष्णसारङ्ग'-इति ख, ग, घ ।

॥ 'लोहितसारङ्ग'-इति ख, ग, घ ।

अथाध्वर्युरारोहणं विमुञ्चति । व्वरुणस्योत्तमन
मसीत्युपस्तुम्भनेनोपस्तम्भाति व्वरुणस्य स्कम्भसुज्जनी स्थ
इति शम्भे ऽउहहति स यदाह व्वरुणस्य स्कम्भसुज्जनी
स्थ इति व्वरुण्यो ह्येषु एतुर्हि भवति यत् सोम
क्रीतः* ॥ २५ ॥

अथ चत्वारो राजासन्दौ माददते । द्वौ वा ऽअस्मै
मानुषाय राज्ञ ऽआददाते ऽअथैतां चत्वारो योऽस्य
सकृत्सुर्वस्येष्टे ॥ २६ ॥

श्रौदुम्बरौ भवति । अन्नं वा ऽकुर्गुदुम्बुर ऽकुर्ज्जोऽन्ना-
द्यस्यावरुद्धौ तुस्मादौदुम्बरौ भवति ॥ २७ ॥

नाभिदघ्ना भवति । अत्र वा ऽअन्नं प्रतितिष्ठत्यन्नः
सोमस्तुस्मान्नाभिदघ्ना भवत्युचो ऽएव रुतस आशयो
रुतः सोमस्तुस्मादत्रदघ्ना भवति ॥ २८ ॥

ता मभिमृशति । व्वरुणस्य ऽकृतसुदन्यसीत्युध
क्षणाजिन मास्तृणाति व्वरुणस्य ऽकृतसुदन मसीत्युधैन
मासादयति व्वरुणस्य ऽकृतसुदन मासीदेति स यदाह
व्वरुणस्य ऽकृतसुदन मासीदेति व्वरुण्यो ह्येषु एतुर्हि
भवति ॥ २९ ॥

अथैनं शालां प्रपादयति । सु प्रपादयन् वाचयति
 या ते धामानि हविषा युजन्ति ता ते विश्वा परिभूरस्तु
 यज्ञम् । गयस्फानः प्रतरणः सुवीरो ज्वीरहा प्रचरा
 सोम दुर्यानिमि गृहा वै दुर्या गृहान्नः शिवुः शान्तो
 ऽपापकृत् प्रचरेत्येवैतदाह ॥ ३० ॥

अथ हुँके । उदपाच्च मुपनिनयन्ति यथा रुद्र
 ऽगतायोदकु माहुरेदेव मेतदिति व्यदन्तस्तुदु तथा
 नु कुर्यान् मानुषं ह ते यज्ञे कुर्वन्ति व्यृहं वै तुद्यज्ञस्य
 युन् मानुषं नेद् व्यृहं यज्ञे करुवाणीति तुस्मान्नोप-
 निनयेत् ॥ ३१ ॥ १ ॥

॥ इति तृतीयप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् [३. ४.] ॥

प्रकटमध्ये सोमस्यापनाथ क्षणाजिनास्तरण समन्तक विधत्ते—
 “नीडे क्षणाजिन मिति” । “वद्धते प्रजग्ये फलके भवत.”—इति
 वक्ष्यति । तदुद्धतप्रयुगफलकद्वयोपेतस्थानसो ‘नीडे’ । परितः
 प्रावृत प्रकटमध्यदेशो नीडम्, अस्मिन् ‘क्षणाजिनम्’ प्रधा-
 रयेत् । हे क्षणाजिन । तम् ‘अदित्या’ भूम्या लूप्यम् ‘असि’ ।

१— का० श्रौ० सू० ० ८. ६ ।

२— नवमकण्डिकायाम् (१८४८०) । कात्यायनोऽप्याहिव मेव (० ८. ५.) ।

३— ‘तस्मिन्’—इति ह ।

४— वा० स० ४ ३०. १ ।

यद्यत् भूम्या उपरि स्तृतम्, तत् सर्वं तस्यास्त्वकृम्यानीय मित्यर्थः ।
दर्शपूर्णमासगत कृष्णाजिनास्तरणमन्त्रब्राह्मणम्^१ अचातिदिग्गति-
“सोऽसावेव बन्धुरिति । याऽसौ अवहननप्रस्तावगतः— “इय वै
पृथिव्यदितिस्तस्या ऽअसौ त्वग् यदिद मस्या मधि किञ्च तस्मादाहा-
दित्यास्त्वगभीति’—इत्युक्तो यो ब्राह्मणभाग^२, ‘स’ एवास्य ‘बन्धु’
समानार्थक, ब्राह्मण मित्यर्थः । “अथैन मिति^३ । ‘एन’ सोमम्
‘आसादयति’— “अदित्यै सद इति^४ । अनेन मन्त्रेण ‘अदित्यै’
अदित्या सम्बन्धि ‘सद’ सदन स्थानम् । पृथिव्या सर्वास्पदत्वेन
प्रतिष्ठात्वम्, ‘तस्मात्’ प्रतिष्ठात्मकत्वात्, इति भावनया कृष्णाजिने
आसादितोऽपि सोमोऽदित्या प्रतिष्ठापितो भवति यतः, अतोऽमु
मन्त्र पठेत् ॥ १ ॥

“अथैन मिति । ‘एन’ सोमम् ‘अभिपद्य’ आलम्भ्य ‘वाचयति’
अध्वर्युः । “अस्तध्माद् द्या मिति सोम आलम्भ्य वाचयति”— इति^५
सूत्रम् । मन्त्रस्थाय मर्यं^६ । ‘वृषभ’ अपां वर्षिता सोम । अथवा
वृषभग्रन्थ श्रेष्ठवाची, सर्वदेवश्रेष्ठ सोम । ‘उपरि’ ‘द्या’ दिवम्
‘अस्तध्मात्’ सर्वप्राप्तिरक्षणाय सम्भितवान् । तथा ‘अन्तरिक्षम्’
अस्तध्मात् । किञ्च ‘पृथिव्या’ ‘वरिमाण’ परिमाणमहत्त्व मपि
‘अभिमीत’ इत्यतो पृथिवीति मान कृतवान् । स तादृश ‘सप्ताद्’

१, २— प्रथमकाण्डे १ ऽ ५ (७२ ए०) इत्यव्यम् ।

३— का० श्रौ० सू० ७ ८ ७ ।

४— या० श्रौ० ३ ३० २ ।

५— का० श्रौ० सू० ७ ८ ८ ।

६— सोऽय मन्त्र या० श्रौ० ३ ३० ३ ।

मम्यप्राजमानः सोमो 'विद्या' विद्यानि 'भुवनानि' भूतजातानि
 'आसौदद्' अधिपतित्वेनाधिष्ठितवान् । 'तानि' इमानि 'विद्या'
 विद्यानि सर्वाणि 'इत्' अपि 'व्रतानि' आयुस्तम्भनादिकर्माणि
 'वरुणस्य' पापनिवारकस्य सोमदेवस्य सम्बन्धीनि, सर्वे देवादयो-
 ऽनुसरन्तीत्यर्थः ॥

अमुं मन्त्रं चतुर्धा विभज्य^१ व्याचष्टे— 'देवा इ वै यज्ञ
 मित्यादिना । पुरा 'देवाः' 'एनेम्' 'एव' सोमम् 'एतत्'. एतस्मिन्
 मन्त्रे कर्माणि 'वधात्' असुररचःकृतोद्देशात्, तत्परिहाराय
 'व्यायसं' प्रशस्यतरं श्रेष्ठं 'चक्रुः' । 'यदाह' मन्त्रः— 'अस्तध्माद्
 द्यां दृषभोऽन्तरिक्ष मिति', य पूर्वम् एतद्वाङ्मनोक्तप्रकारेण देवैः
 कृतत्वादाहेत्यर्थः ; तस्मिन् मन्त्रभागे श्रेष्ठवाचकदृषभशब्दस्य
 अवधानात् ॥ १ ॥

"अमिमौतेति । 'तत्' तस्मात्, सोमेन पृथिव्या मितत्वात्,
 'एनेन' वसुप्रकाशकमन्त्रपाठेन, अथवा 'एनेन' पृथिवीमानकर्त्रा
 सोमेन 'इमान्' चीनपि 'लोकान्' 'आस्पृषोति' सर्वतो वलिनः
 कारयति । सोमस्य मलवत्त्व मर्यापत्या दूढयति— "तस्य हीति ।
 हन्तुर्हनस्य च लोकचयान्तःपातित्वात् तस्य चैतदार्यपत्य मित्यर्थः ।
 'आस्पृताः' वलिनः कृताः । यस्मादेवं 'तस्मात्' 'अमिमौत धरि-
 माणं' पृथिव्या इति' मन्त्रभागस्तु मर्यम् 'आह' । अथवा 'तस्मात्'
 तं मन्त्रभागं ब्रूयादित्यर्थः ॥ २ ॥

“आसीददिति । द्वितीयपादस्यापि बलप्रकाशनरूपार्थत्वात् ।
द्वितीयपादब्राह्मणमेवात्र पुन पठितम् “तदेनेनेमास्योक्तान्”
इत्यस्य स्थाने ‘तदेनेनेदः सर्वम्’— इति विशेषः ॥ ४ ॥

“विशेषज्ञानीति । चतुर्थभागपाठस्य तात्पर्यं माह— “तदस्य
इदं सर्वं मनुवर्तमानं करोतीति । इदं सर्वं भूतजातम् ‘अनुवर्तमानं’
तदधीनस्थितिकं कृतवान् भवति । प्रत्युद्याम प्रतिकूलोद्योगं
तत्कर्त्तारं ‘प्रत्युद्यामिन् ‘न करोति’ इति सम्बन्धः ॥ ५ ॥

“अथ सोमपर्याणहनेनेति । शकटेन सार्द्धं सोमस्य वेष्टनं
साधनं वाच्यं ‘पर्याणहनम्’ । पर्याणहनप्रयोजनकथनम्— ‘नेदे
नाद्वा रक्षासीति । ‘नेत्’—इति परिभवे । तथाच यास्क — “नेते
इदित्येतेन सम्प्रयुज्यते परिभवे”—इति^१ । यदि पर्याणहनं
कुर्यात्, तदा ‘नाद्वा’ नाशकराणि रक्षासि ‘एन’ ‘प्रमृश्यात्’
प्रमृशेयुः, एतन्तु भयकरम् । तस्मात् तत्परिहाराय पर्याणहनं
मित्यर्थः । पर्याणहनं प्रकारान्तरेण प्रशंसति— “गर्भा वा ए
भवतीति । ‘तिर इव वै गर्भा’ अन्तर्हिता वर्तन्त इत्यर्थः ।
तस्माद् गर्भाणां तिरोधानं मपेक्षितम्, यस्माच्च मनुष्येभ्यः सकाशात्
देवस्य सोमस्य, तस्मात् पर्याणहनं युक्तं मित्यर्थः ॥ ६ ॥

तच्च मन्त्रविधायं प्रशंसति— ‘स पर्याणहति’ वनेषु व्यन्तरि
मिति^२ । ‘वनेषु’ वृक्षसमूहेषु ‘अन्तरिच’ ‘विततान’ सोमं
विस्तारितवान् । तद् यद् ‘वाज वेग बलं वा ‘अवर्तु अरण्यं

पुरुषेषु योग्यम् । ‘अदधात्’—इति सर्वत्र सम्बध्यते । ‘उत्थिया’—
इति गोनाम्^१ । तासु ‘पयः’ । ‘हत्सु’—इति प्राणिवज्रत्वापेक्षया
वज्रवचनम् । तत्र ‘हत्सु’ ‘क्रतु’ मङ्गल्यम् । ‘विचु’ प्रजासु ‘अग्निम्’
भुक्तस्थानपानस्य पाकसाधन मग्निम् । ‘दिवि सूर्यम्’ । ‘अद्रौ’
जातावेकवचनम्^२, पर्वतेषु ‘सोमम्’ । ‘वरुणः’ पापनिवारकः,
सोमो देवः ‘अदधात्’ स्थापितवानिति मन्त्रार्थः ॥

‘वन’-शब्दस्थायान्तरभ्रमं व्युदस्यन् वनेष्वन्तरिक्षविक्षरणं लोक-
सिद्धिं नित्याह— “वनेषु ह्रीदं वितत मन्तरिक्षं वृक्षापेक्षिति ।
यद्यपि सर्वचान्तरिक्षं विततम्, तथापि पामरदृष्ट्या शान्दवृक्षाद्येषु
पटाक्षरणवत् प्रतिभासादेव मुक्तम् । अर्वात्सु पुस्त्वसम्भवात् वाजस्य
वीर्यत्वात् ‘एतत्’ एतेन “वाज मर्वत्सु”—इतिपाठेन पुंस्त्वेव वीर्यं
स्थापितवान् भवति । उत्थियाहदादिषु पयःक्रत्वादिस्थितेर्लोक-
प्रसिद्धिः ‘पयो ह्रीदम्’—‘हत्सु सूर्यं क्रतुः’—इत्यादि ‘हि’ कारेण
घोष्यते ॥ ७ ॥

“अथ यदि दे इति । दौचायां ‘यदि’ ‘दे हृष्णाजिने’
स्वीकृते, ‘तयोः’ एकं ‘हृष्णाजिनं’ ‘प्रतिनाहभाजनम्’ भवति ।
नद्धस्य पुरोदेशप्रसारितो ध्वजः प्रतिनाहः^३, तद्भाजनम्, तत्स्थानीयं
भवतीत्यर्थः । द्वितीयांशे उपाय माह— “यद्यु एकं भवति,
हृष्णाजिनघौका एवावहत्येति ॥

१— निघ० २. २१. ३ ।

२— पा० सू० १. २. ५८ ।

३— ‘युगसमीपे उच्चिते दण्डे व्यवलयति ध्वजस्थानीयम् । यत्रानसो
वाक्छा वेष्टन मिति केचित्’—इति या० दे० ।

प्रतिनाहमन्त—“सूर्यस्य चचुरिति^१ । तथाच सूत्रम्— “छण्णा-
जिन पुरस्तादासजति सूर्यस्य चचुरित्यासनयोरन्यतरत्, एकश्चेद्
घोषा अवहृत्य”—इति^२ । मन्तस्याय मर्थ । हे छण्णाजिन । ॥
‘सूर्यस्य’ ‘चचु’ चचु स्थानीयम् प्रकाशनस्थान मित्यर्थ । उपरि
हि सूर्य प्रकाशते, अतस्त्व मनसि ऊर्द्धं दिग्ग आरोहेत्यर्थ । तथा
‘अग्ने’ देवस्य सम्बन्धि कनीनकम् अस्मिन्मध्यगत छण्णप्रदेश
कनीनिका, ताम् ‘आरोह’ । ‘अग्नेरच्छा’ कनीनिकास्थान मन्त-
रिचम् नील नभ इति प्रसिद्धे । अनस उपर्यारोहे सति एतदु-
भयारोहण सम्पद्यते । ‘यत्र यस्मिन्नारोहे सति ‘एतग्नेभि’ अथै
‘दैवसे गच्छसि विपश्चिता मेधाविना सोमेन सह भ्राजमान’
दोष्यमान ॥

एतन्मन्त्रपाठ प्रशंसति—‘सूर्य मेवैतत् पुरस्तादिति । मन्त्रे
‘सूर्यस्य चचु’—इत्यभिधानेन ‘सूर्य मेव सोमस्य ‘पुरस्तात्’ कृत
वान् भवति । ततश्च कि मित्याह— “सूर्य पुरस्ताच्चाष्टेति । ‘नाश्ना’
नाश्नाणि, यज्ञनाशकानि ‘रक्षासि हिमन् पुरोगच्छति, तस्मिन्
सति ‘अभयेन नाशकरहितेन मार्गेण सोम ‘परिवहन्ति’ ॥ ८ ॥

‘उद्धृते प्रउगे फलके भवत इति । ‘प्रउगे फलके’ प्रयुग-
सम्बन्धिफलके ‘उद्धृते’ प्रयुगादप्युद्धते, चुनुकप्रमाणे^३ ‘भवत’ ।
अतएव सूत्रकार तस्मिन्नेव प्रदेशे फलकयोरौद्धृत्य सूत्रयामास—

१— वा० स० ४ अ० १ । २— का० श्रौ० सू० ७ ६, ८, १० ।

३— व्यन्तस्य व मध्यपाठश्चपुस्तक । स्यात्त ‘चिनुकप्रमाणे’—इत्येव
‘यद्यस्ताचिनुकम्’—इति ह्यमरः ।

“प्रयुगाच्चोद्धृते फलके भवतः”—इति^१ । “तदन्तरेणेति । ‘तत्’
तयोः फलकयोः ‘अन्तरेण’ मध्ये ‘सुव्रह्मण्यः’ (भृयिष्ठ एव सन्^२)
‘प्राजति’ प्रेरयति अनङ्गाद्यौ^३ । अधःस्थितिं प्रशंसति—“श्रेयान्वेति ।
करितुरगाद्याहृदस्य प्रशस्तत्वं लोकसिद्धम्, अतस्तदभ्यारोहात् सोमः
‘श्रेयान् भवति’; अतस्तदधिष्ठितं शकटम् ‘आरोढुं कः अर्हति’?
न कोऽप्येति ॥ ८ ॥

“पलाशशाखया प्राजतीति । भृयिष्ठास्तेव प्राजनयोग्यासु
सतीक्ष्ण्यन्यशाखासु पलाशशाखायाः कोऽतिशय इति जिज्ञासायां
तस्याः सोमस्य समन्त्रं दर्शयति—“यच्च वै गायत्रीति । व्याख्यात
मिदम्^४ । ‘यदेव’ ‘सोमस्य’ अङ्गं ‘न्यक्तम्’ अवाक् निपतित मासीत्,
‘तत्’ अङ्गम् ‘इहापि’ अस्मिन् सोमे एव ‘असद्’ भवेदिति
पलाशशाखया^५ प्राजनस्याभिप्रायः ॥ १० ॥

अनङ्गुहोर्वर्णविशेष मभिधातुं पुनरनुवदति—“अथानङ्गाद्या-
विति । ‘प्राजति’ युगवहनाय प्रेरयति । उभयोरन्यतरस्य वा यदि
क्षप्यत्वं लभ्येत, ‘तच्च’ पर्जन्यवर्णसाम्यात् अनङ्गुत्कृष्यत्वेन निमित्तेन

१— का० श्रौ० सू० ७. ६. ५ । तत्रापि ‘प्रयुगात्’—इति खरमध्यपाठ
एव, न त्वन्तस्त्रमध्य ‘प्रयुगात्’—इति ।

२— छ-पुस्तकमात्रे एयोऽधिकः पाठः ।

३— का० श्रौ० सू० ७. ६. १४ ।

४— पुरस्तात् १०. ७. १. १ (? भा० ४६० प०) द्रष्टव्यम् ।

५— प्रतोदस्याजीययेति भावः । ‘अनङ्गाद्यौ नखोवर्हौ’—इति पा० २० ।

‘ऐषम’ अस्मिन् सवत्सरे ‘पर्जन्य’ वज्रवृष्टिप्रदो भवति । ‘—इति एतत् उ विज्ञानम्’ वृष्टे परिज्ञानम्, तदुपाय इत्यर्थः ॥ ११ ॥

इदानीं समन्तक मन्थयोजन विधत्ते—“अथ युनक्तुस्त्वावेत मिति’ । मन्त्रस्वाय मर्थ १ । हे ‘उसौ’ अनङ्गाहौ । युवा वहनाय ‘एतम्’ प्रत्यागच्छतम् । कौटुशौ युवाम् ? ‘धूर्वाहौ’ धुर सोढु समर्थौ । तादृशौ युवा ‘युज्येयाम्’ स्वय मेव युक्तौ भवतम् । तौ विशिष्येते—‘अनशू’ अशुरहितौ, अयथावित्यर्थः, ‘अवीरहणौ’ शृङ्गाघेण वीराणां पुत्रादीनां मरुन्तारौ, ‘ब्रह्मचोदनौ’ ब्रह्मणा मन्त्रेण प्रेरितावित्यर्थः । एव मनङ्गाहौ प्रशस्तेदानीं प्रयोजन माह—“स्वस्ति यजमानस्येति । ‘स्वस्ति’ अविनाशेन ‘यजमानस्य गृहान् गच्छतम्’ ॥

अथ मन्त्र विभज्य व्याचष्टे—“उसौ हि भवतावित्यादिना । उत्साविणावनयोभोगावित्युक्तौ । एषा प्रसिद्धिः ‘हि’ शब्देन द्योत्यते । धूर्वाहवित्यस्य तात्पर्यं “धूर्वाहविति । आर्त्तेश्वशुपातस्य दृष्टत्वात् ‘अनशू’-इत्यस्यानार्त्ताविति व्याख्यानम् । वीरहत्याया पापसाधनत्वात् ‘अपापकृतौ’-इति तात्पर्याभिधानम् । ‘ब्रह्मणा’ “उत्सावेतम्”—इति मन्त्रेण इदानीं चोद्यमानत्वात् ब्रह्मचोदना-प्रसिद्धिरित्यभिप्रेत्य “ब्रह्मचोदनो हि भवत इत्युक्तम् । ‘स्वस्ति यजमानस्य’-इत्यत्र स्वस्तिशब्दाभिप्राय माह—“यथैनावन्तरेति । ‘यथा’ ‘एनौ’ अनङ्गाहौ ‘अन्तरा’ मध्ये मार्गे ‘नाष्टा’ हिन्ना ‘न हिंस्यु’, तथा भवेदिति स्वस्तिवाचनमन्त्र कृतवानित्यर्थः ॥ १० ॥

“अथ पश्चात् परिक्रम्येति । शकटस्य पश्चाद्भागं गत्वा । अपरुध्य
 आलम्ब्यत इति ‘अपालम्ब्यः’ शकटस्य पश्चाद्भागः । तं मालम्ब्य
 ब्रूयात्— “सोमाय क्रीताय”, “सोमाय पर्युह्यमाणाय”—‘इति
 वा’ । अनुवचनविकल्पस्थाय मभिप्रायः— सोमे क्रीते सति अनन्तरं
 यत् कर्त्तव्यम्, तत् परिवहणं मेव; तच्च क्रयानन्तरभावौत्पन्नतरो-
 पादानेऽन्यतरस्थार्थात् सिद्धिरिति । ऐतरेयके तु समुच्चयोपदेश
 उक्तः— “सोमाय क्रीताय प्रोह्यमाणायानुब्रूहीत्याहोर्ध्वर्युरिति^१ ।
 अयं विकल्पो न व्यवस्थितः, किन्तु ऐच्छिक इत्याह— “अतो
 यतरया कामयेतेति । ‘अतः’ अनयोः पक्षयोर्मध्ये । अत्र कात्या-
 यनः— “पश्चात् परीत्यापालम्बं गृहीत्वा सोमाय क्रीतायामुं
 वाचयति, पर्युह्यमाणायेति वा” इति^२ ॥ ११ ॥

“अथ वाचयतीति । अध्वर्युर्यजमानम् “भद्रो मेऽसि”—इत्यादिक
 मित्यर्थः^३ । मन्त्रस्थाय मर्थः— हे सोम । त्वं ‘भद्रोऽसि’ कष्याण-
 करोऽसि, मृत्यो वा । हे ‘भुवस्यते’ भुवगानां पालक । त्वं
 ‘प्रच्यवस्व’ प्रगच्छ । ‘विश्वानि’ ‘अभि’ ‘धामानि’ स्थानान्यभिनक्ष्य ।
 ‘त्वा’ त्वां ‘परिपरिणो मा विदन्’ उपर्यवस्थातारो मा विदन् । तथा
 त्वां ‘परिपन्थिनः’ प्रतिकूलाः शत्रवः ‘मा विदन्’ । “इन्द्रसि
 परिपन्थिपरिपरिणौ पर्यवस्थातरि”—इति^४ ‘इनि’-प्रत्ययान्तो
 निपातितः । तथा ‘अघायनः’ अघ मिच्छन्तो ‘वृकाः’ विकर्त्तनशीलाः
 ‘मा विदन्’ मा जानन् । किञ्च ‘मेन.’ ग्रंथनीयगमनः पक्षी, स

१— ऐ० ब्रा० १. १. २ ।

२— का० श्रौ० सू० ७. ८. १५, १६ ।

३— वा० सं० ४. १४. १ ।

४— पा० सू० ५. २. ८४ ।

“श्वेनो भूत्वेति । मन्त्रभागपाठस्य तात्पर्यं भाह— “वय एवैन
मेतद् भूत प्रपादयतीति । एतेन पाठेन पचिरूप मेव सन्त
प्रापितवान् भवति । ‘रक्षासि’ ‘नान्ववयन्ति’ हन्तुं नानुगच्छन्ति ।
स्यष्ट मन्यत् ॥ १५ ॥

“अथ शरीर मेवान्ववहन्तीति । यदि प्रमादात् सोमं रक्ष-
आदिर्हन्त्यात्, तदानीं श्वेनो भूत्वेति मन्त्रसामर्थ्येन श्वेनीभावादुपादे-
यस्य सारांशस्यावध्यभावात् (हन्ता) श्वेनशरीर मेवानुगत्य हन्ति,
नात्मान मित्यर्थ । “यजमानस्य गृहान् गच्छ तन्नौ सस्रुत मिति
मन्त्रभागस्यार्थं स्यष्ट इत्याह— “नाच तिरोहित मिवास्तीति ॥ १६ ॥

“अथ सुव्रद्धाया मित्यादिः । ‘व्रद्धा’ देवाना माङ्गानमाधनो
मन्त्र’, गोभन व्रद्धा ‘सुव्रद्धा’, तदर्हतीति ‘सुव्रद्धाया’ काचन
देवता, ता “सुव्रद्धाण्योश्म”-इत्यादिनिगदेनाह्वयेत् । तत्प्रकार-
सूत्रे दर्शित— “सुव्रद्धाण्योर् मिति चिदक्ता सल्लग्नगदम्”—
इति । निगदपदानां ब्राह्मणेनैव व्याख्यानात् नाम्नाभिर्याख्यायते ॥

१— नेद पद क पुस्तकादन्यत्र ।

२— सुव्रद्धाया एवर्त्तिकं सुव्रद्धाया माङ्गयतीति सिद्धान्तित हरिश्वा-
मिना । अग्निष्टुदादिषु स्वय मेवेति वक्ष्यतीहैव (२२ ५. २.) ।

३— “सुव्रद्धाया चाङ्गयति सुव्रद्धाण्योश्म सुव्रद्धाण्योश्मिति चिदक्ता
सल्लग्नगद यावदहे सुया भवति तथाह”—इति का० औ० ७ ८. २० ।
“यावदहे” अतीते ‘सुया भवति’ अस्मात् क्रयणदिवसादारभ्य यावत्सु
दिनेषु अतिक्रान्तेषु सुया भवति, तथा व्याह । तद्यथा— सुसल्ले
‘यहे सुयाम्’-इति, षडुपसल्ले ‘यडहे सुयाम्’-इति, दादशोपसले
‘दादशाहे सुयाम्’-इति—इतीह गा० ३० ।

आज्ञानं प्रशंसति— “यथा येभ्य इति । ‘यथा’ लोके ‘येभ्य’ अर्थाय ‘पत्यन्’ पाकं कर्तुं मिच्छन् भवति, ‘तान्’ भोक्तृन् ‘ब्रूयात्’— ‘इत्यहे व’ पक्तास्मीति’ । इत्यह इति पाकदिवसो निर्दिश्यते, इतो द्वितीयेऽहनि तृतीयेऽहनीतिरूपेणेत्यर्थः ॥

ननु मन्त्रेणाज्ञानेऽपि कथं मित्र आगच्छतीत्याह— “ब्रह्म हि देवान् प्रच्यावयतीति । ‘हि’-शब्दो “वायवाहि दर्शतः”—इत्येवमादिमन्त्रगतां देवताप्रच्यावमप्रसिद्धिं द्योतते । सुब्रह्मण्यपदस्य पाठसिद्ध्यां चिरादृत्तिं प्रशंसति— “चि ह्यत्र आहृत्यादि । यज्ञस्य आदृत्तिरूपत्वं भवनत्रयापेक्षयेति द्रष्टव्यम्” ॥ १० ॥

“इन्द्रागच्छेतीति । “इन्द्रो यज्ञस्य देवतेत्यादि । स्पष्टम् । “हरिव आगच्छ”—इत्यादि— “अहन्याथै जारः”—इत्यन्तानां पञ्चानां वाक्यानां पृथक्-पृथगर्थे संभवत्यपि तात्पर्यस्यैकत्वमभिप्रेत्य, सङ्गृह्य तात्पर्यं माह— “हरिव आगच्छ मेधातिथेर्मेषेत्यादिना । “तद् यान्येवास्य चरणानि तैरेवैन मेतत् प्रमुदयिषतीति । ‘तत्’ तथा सति ‘अस्य’ इन्द्रस्य ‘यान्येव’ चरणानि चारिचरिणि, पूर्वपक्षापरपक्ष-लक्षणाभ्यां मभिमतस्य वस्तुनो हरणं, मेधातिथेः काष्ठाथनेर्मेषो भूत्वा हरणम्,—इत्येवमादीनि, ‘तैरेव’ ‘एन’ प्रमुदयितुं मिच्छति ॥

१— ऋ० सू० १. २१ ।

२— ऐ० ब्रा० ६. १. ३ द्रष्टव्यम् ।

३— मीमांसादर्शने त्वेतत्कथायां कविकल्पनामुक्तत्वं मेव सिद्धान्तितम् ।

तत्रापि तन्त्रवार्तिके विशेष उक्तः (जि० सू० ८. १ ४२-४४; अधि०

१५.) । “सवितैवाहनि लीयमानतया राज्ञेरहत्याशब्दवाच्याया

ध्यात्मकशरणादेतुत्वात् जीर्यव्यस्मादनेन बोदितेन वेत्यहत्याशार

उपक्रमे न तदहनीत्युक्तम्” इति

हरिवश्वादीनि पदानि सामब्राह्मणे व्याख्यातानि^१ ॥ १८, १९ ॥

“देवा ब्रह्माण इति । अनयोस्तात्पर्यं माह— “तद्देवाश्च ब्राह्मणाश्चाहेति । ‘अत्र’ अस्मिन् यज्ञे ‘उभयैः’ द्विविधैः ‘देवैः ब्राह्मणैश्च’ यष्टयत्वेन याजकत्वेन च ‘अर्थ’ प्रयोजन यज्ञसिद्धिः यजमानस्य ‘भवति’, तानेवैतान् ‘देवाः ब्राह्मणा’—इति पदद्वयं माह नेतरानित्यर्थं ॥ २० ॥

“अथ प्रतिप्रस्थातेति^२ । ‘अग्नीषोमीयेण पशुना प्रत्युपतिष्ठते प्रतिप्रस्थाता’ शास्त्रायां पुरोदेगे अग्नीषोमीय पशु मादाय गच्छतः सोमस्याभिमुखं स्थापयेदित्यर्थः । अग्नीषोमीयस्यावस्थितिं यजमानस्य आत्मनिष्कयहूपेण प्रशंसति— “आग्नीषोमौ वा एत मिति । ‘एतं’ दौषितम् ‘अन्तर्जम्भे’ अन्नखादनस्यानं जम्भं, दन्तपङ्क्तोरन्तरालं इत्यर्थं । एतदेवोपपादयति— “आग्नावैष्णव ह्यद इति । यस्मादस्य यजमानस्य ‘अदः’ विप्रकृष्टे काले दौषणीयेष्टौ ‘हविः’ अभूत् । अस्तु किं तत इत्याह— “यो वै विष्णुरिति । तत्र विष्णुरिति योऽस्ति, ‘स सोमः’, सोमस्य यागनिर्वर्तकत्वेन यज्ञत्वाद्, “यज्ञो

१— तानि हि सा० य० ब्रा० १ १ २ द्रष्टव्याणि । तत्रैव निगदः समग्रं पठितश्च । तथा सामसूत्रे लाख्यायनेऽपि (१. ३) । एष निगदः सुब्रह्मस्य नाम सामवेदोयत्विजा गीयतेऽतः सुब्रह्मण्यसामेत्यप्युच्यते । वस्तुतो निगदो नाम यनुर्विशेष एवेति सिद्धान्तितो मौसासायाम् ; जै० द० २ १ ३८-४५ सूत्राणि द्रष्टव्यानि । वैत्तिरीयारण्यकेऽप्ययं मन्त्रो ब्रूवाण इत्यन्तं ध्यामात (१ १२. ३, ४) ।

२— का० श्रौ० सू० ७. ६ २१ ।

वै विष्णु”-इति श्रुते^१ । यज्ञद्वारा विष्णो सोमत्वम् । ‘दौचा’
मस्कार दौचणीयेत्या मस्कारत्वादेव दौचणीयेष्टिदेवतयोर्हविश्च
‘एन जम्ने स्थितम् । अतो जम्नाद् विमोचाय अग्नीषोमीय
दत्त्वा आत्मनिष्क्रयण कृतवान् भवतीत्यर्थ ॥ ११ ॥

“तद्वैक इति^२ । अयम् उद्गुम्भक रूप ‘अग्नि , अय सोम’
‘ताभ्या’ सकाशात् आत्मान निष्क्रियामहे’ इत्युद्गुम्भकस्याहर्षु
रभिप्राय । अमु पक्ष निराकरोति- “तदु तथा नेति । तर्हि
कथ सहभाव उपपद्यत इति तत्राह- ‘यच वा एतौ क च तत्
सहैवेति । एतौ’ अग्नीषोमौ ‘यच क च स्थाने सह वर्तते,
‘तत्’ तादृश्या स्थितिरेवात्र सहभाव एवेत्यर्थ । एवकारेण रुधो-
जमपक्षो व्युदस्यते ॥ १२ ॥

“स वै द्विरूपो भवतीति । ‘स’ अग्नीषोमीय पशु । द्विरूपे
कारणाभिधानम्- “दिदेवत्यो हीति । द्विरूपमिद्वयेऽपेक्षितौ
वर्णावाह- “क्षणासारङ्ग स्यादित्याहु रिति । ‘मारङ्ग’ श्रवणवर्ण^३ ।
‘एतत्’ क्षणात् श्रवणत्व च ‘एनयो’ अग्नीषोमयो ‘रूपतम मिव’

१- पुरस्तात्पात्र (१ १ २ १३) अष्टमम् ।

२- का० श्रौ० सू० ७ ६ २४ ।

३- सारङ्ग कर्बुर वर्णान्तरानुविद्ध शृङ्ग सारङ्ग इत्युच्यते, क्षण्येन
वर्णेन सहित सारङ्ग अथवा क्षण्यसासो सारङ्गश्चेति क्षण्यसारङ्ग ।
एव लोहितसारङ्ग इति व्याख्यात याज्ञिकदेवन । ‘वर्णान्तरोपेत
क्षण्यवर्ण क्षण्यसारङ्ग’ एव लोहिततम शृङ्गोऽपि-इत्येव माह पितृ
भूतिराधार्यं, टोकाकृत कर्कश्य ।

अत्यन्त मभिमतं रूप मित्यर्थः । “अग्नेयः कृष्णगौवः”—इत्यादौ^१
अग्नेः कार्पासम्वन्धश्रवणात् तदेव तदुचितं रूपम्, सारङ्गवर्णस्य
सोमयोग्यत्वं मपि आङ्गावल्यां द्रष्टव्यम् । तदलामेऽपि वा ‘लोहित-
सारङ्गः स्यात्’ लोहितस्याग्निवर्णसाम्यं प्रसिद्धम् ॥ २३ ॥

“तस्मिन् वाचयतीति । ‘तस्मिन्’ अजे, आगते इति शेषः ।
“नमो मिचस्येतीति^२ । नमो मिचस्येन मालभ्य वाचयतीति^३
कात्यायनः ॥

मन्त्रस्याय मयैः । ‘मिचस्य’ मितेस्ताता मिचः सूर्यः, वहणस्तमो-
निवारकः सूर्यः, तस्य, तस्मै इत्यर्थः । ‘नमः’ नमस्कारः प्रज्ञीभावः,
अस्तु । अथवा “मैत्र वा अहर्वाहणी राचिः”—इति श्रुत्यन्तरादह-
रभिमानिदेवाय, रात्र्यभिमानिदेवाय, सूर्याय नम इत्यर्थः ।
‘चक्षसे’ सर्वस्य द्रष्टे नमः । ‘महोदेवाय’ महते देवाय च नमः ।
हे प्राणिनो घूयम् ‘तत्’ प्रसिद्धम्, ‘स्यतं’ सत्यभूतम्, आदित्याख्यं
वस्तु ‘सपर्यत’ अर्चयत । ‘दूरे दृष्टे’ दूरे दर्शनौघम् ॥ २४ ॥

“अथाध्वर्युरिति । “उपस्तम्भेनोपस्तम्भातीति^४ । उपस्तम्भते
प्रतिबध्यते इति ‘उपस्तम्भः’ शकटायधारण काष्ठम्, तेन ‘उपस्त-
म्भाति’ शकटायम् । हे काष्ठ ! त्व ‘वहणस्य’ उपनद्ध स्थापितस्य

१— वा० सं० १४. १, ४, ६, ८. १४, २८. ५८ । तदिधायकं ब्राह्मणं
तूपरिष्ठादाम्नास्यतेऽत्रैव— १३. २. २. ३ ।

२— वा० सं० ४ ३५. १ । ३— का० श्रौ० सू० ७. ६. २४ ख ।

४— का० श्रौ० सू० ७. ६. २५ । ५— ‘उपस्तम्भनं’—इति छ ।

सोमस्य 'उत्तम्भन मसि'^१ । शकटस्योत्तम्भकत्वाद्, तद्द्वारा वरुण-
स्याप्युत्तम्भकत्वम् । "उद् स्यास्तम्भो पूर्वस्य"-इति^२ मकारलोप ॥

समन्त्रक सुद्धरण विधत्ते— "वरुणस्य स्तम्भमर्जनी स्य इति^३ ।
'वरुणस्य' सोमस्य, तदाधारभूतस्यानसोऽङ्गस्य यत् स्तम्भनम्, तस्य
मर्जन्यौ 'स्य', तादृश्या युवा सुद्धृष्टाभीत्यर्थ ॥

अमु मन्त्र व्याचष्टे— "वरुणो ह्येष एतर्हीति । 'एतर्हि' एतस्मिन्
क्रीतावसरे सोमो 'वरुण' भवति । 'तयोर्दार्हिणौ च ह्यन्दसि'-
इति^४ एतच्छब्दस्य हिष् ॥ २५ ॥

"अथ चत्वारो राजासन्दी माददत इति^५ । चत्वारोऽधाध्वर्यु-
प्रतिप्रस्थाचादयोऽध्वर्युवर्ग्या एव । तथा चापस्तम्भ — "ता सर्वेऽध्वर्य-
वोऽप्येण प्राग्वश राजन्योद्धामा उद्धृहन्तीति^६ । यतिरेकप्रदर्शन-
मुखेन षडलिक्षतुष्ट प्रशंसति— 'दौ वा असौ मानुषाय राज्ञे
आददात इति । दोलिका^७ मित्यर्थ । 'य' 'अस्य' प्रतीयमानस्य
'सर्वस्य' अपि जगत 'सहृत्' उपायेनैव 'ईष्टे' ईश्वरो भवति,
'अथ' 'एताम्' एतदीया मासन्दी चत्वार', 'आददते'-इति
पूर्वचान्वय ॥ २६ ॥

आसन्द्या औदुम्बरील विधाय प्रशंसति— "औदुम्बरी भवत्यत्र

१— वा० स० ४, २६ १ ।

२— पा० सू० ८ ॥ ६१ ।

३— वा० स० ४ ४६ २ ।

४— पा० सू० ५ ६ २० ।

५— का० श्रौ० सू० ७ ६ २७ ।

६— व्या० श्रौ० सू० १० २८ ७ ।

७— 'द्यान्दोलिका'-इति छ च ।

वा ऊर्गुदुम्बर इति । “देवा इष मूर्जं व्यभजन्त, तत उदुम्बरः
समभवत्”—इति^१ श्रुत्यन्तरप्रसिद्धिर्वैश्वदेन द्योत्यते ॥

नतु इदम् “ऊर्जोऽवाद्यस्यावर्द्धे”—इति उदुम्बरस्य फल-
विधानम्; कुतः? ‘अवर्द्धौ’—इति चतुर्थ्या फलत्वप्रतिभानात् । अतः
ऊर्जोऽवरोधस्तद्विधाय फलायौदुम्बरी कर्त्तव्येत्यर्थः । नैतदेवम् ।
नाचौदुम्बरी भवतीति विधिरूपस्तभ्यते, वर्त्तमानव्यपदेशात्;
अथवादेनैव स विधिरुच्येयः; अतोऽत्र तस्यौदुम्बरत्वस्य विधातु
मशक्यत्वात् कस्येदं फलं स्यात् । न तु स्तुतिश्च करोतु, फल मपि
विदधालिति मन्तव्यम्; तथा दैविष्ठे वाक्यभेदापत्तेः । अत इदं
केवलं स्तावक मिति सिद्धम् ॥ १७ ॥

“नाभिदग्ना भवतीति । नाभिप्रमाणा भवेत् । “प्रमाणे
इयसञ्-दग्नञ्-माचचः”—इति दग्नञ् प्रत्ययः^१ । “अच वा अन्न
मिति । ‘अच’—इति नाभिप्रदेशस्याभिनयः । अन्नस्य नाभिप्रति-
ष्ठितत्वे सोमस्य कि मायात मित्यत आह— “अन्नं सोम इति ।
प्रकारान्तरेण नाभिदग्नत्वं प्रशंसति— “अचो एव रेतस आश्रय
इति । ‘अचो एव’ अथैव च । ‘अचदग्ना’ नाभिदग्नैत्यर्थः । अच
कात्यायनः— “अौदुम्बरी मासन्दी^२ नाभिदग्ना मरद्भिमाचाद्ग्री
मृता माचरन्ति चत्वार इति^३ ॥ १८ ॥

“ता मभिमृशतीति” । ‘ताम्’ आसन्दौ मित्यर्थः । “वरुणस्य

‘अतसदन्यमीति’^१ । हे आसन्दि^२ । तं ‘वरुणस्य’ सोमस्य ‘अतसदनम्’ ।
अत मिति यज्ञनाम, “सत्यं वा यज्ञ वा”—इति यास्क^३ । यज्ञार्हं
स्यान् ममीत्यर्थः ॥

आमन्दीवत् कृष्णाजिनस्यापि सोमामादनार्हत्वादासन्दीस्पर्शन-
मन्त्र एव कृष्णाजिनास्तरणेऽपि विनियुक्तः । सोमामादनमन्त्रे
त्वासीदेति विशेषः^४ । अतो न मन्त्राः पृथग्-व्याख्यानार्हाः । “स
यदाह वरुणस्तेत्यादिः । स्पष्टम्^५ ॥ २८ ॥

“अथैनं शाला मित्यादि । प्राग्वशस्य पुरोदेशे आसन्त्यां
स्थापितं सोमं मासन्त्या सह प्राचीनवशं गमयेदित्यर्थः । प्रपादन-
समये “याते धामानि”—इति^६ मन्त्रं यजमानं वाचयेत् । अध्वर्योः
प्राधान्यात् तदपेक्षया ‘प्रपादयति’—इत्येकवचनम्, वस्तुतस्तु
चत्वारः प्रपादयन्ति । तथाच सूत्रकारः— “शालां प्रवेशयन्ति
दौक्षितसञ्चरेण, यात इति वाचयति, आहवनीयं दक्षिणेन
स्थापयन्ति”—इति^७ ॥

१— वा० सं० ४. ३६ ३ ।

२— उदुम्बरकाष्ठनिर्मिता, नाभिप्रमाणपादयुक्ता, अरत्निमात्राणि
अङ्गानि इधोपलरूपाणि यस्याः सा, उता=मुष्णरज्ज्वा श्रूता, आसन्दो=
मक्षिका भवति । सौत्रमण्या हि श्रूयते— “मुष्णविवयना भवति”—इति
(१२. ८. ३. ६.) । तत्र चाचार्येणोक्तम्— “सोमामासन्दोवदिति (१६. ४. ७) ।

३— निह० ४. ३ ३ ।

४— वा० सं० १. ३६. ४, ५ ।

५— का० श्रौ० सू० ७. ८. २८, २९ । ६— वा० सं० ४. ३०. १ ।

७— का० श्रौ० सू० ७. ८. ३१, ३२, ३३ ।

मन्त्रस्याय मर्थः । हे 'सोम!' 'ते' 'या' यानि 'धामानि'
 स्थानानि नामानि जन्मानि च त्रीण्यपि 'धाम'-शब्दवाच्यानि'
 'हविषा' यजन्ति', 'ते' तव सम्बन्धीनि 'ता' तानि 'विश्वानि'
 सर्वाण्यपि । 'यज्ञम्'—इति विभक्तिव्यत्ययः, अयं यज्ञः 'परिभूः'
 परितो भावयिता 'अस्तु' । तच्च 'गयस्मान्' यज्ञपुत्रादिना गृहस्य
 वर्द्धयिता, 'प्रतरण' आपद्भ्यः प्रकर्षेण तारयिता, 'सुवीरः' शोभन-
 वीरोपेतः, तत्प्रद इत्यर्थः, 'अवीरहा' पुत्रादेरहन्ता च सन्,
 'दुर्यान्' गृहान् 'प्रचर' प्रकरोषि । चतुर्थपाद-गत-'दुर्य'-शब्दार्थं
 ब्रूवन् कृत्स्नमन्त्रतात्पर्यं माह— 'गृहा वै दुर्या इत्यादिना ॥ १० ॥

"अथ हैक उदपात्र सुपनिनयन्तीति" । अनुव्योपचारवत्
 देवस्य सोमस्योदपात्रनिनयनलक्षणोपचारे सति तदुपचरणं मानुषं
 भवति, एतत् 'यज्ञे कृद्धम्', अतो मानुषत्वपरिहाराय उदपात्रं
 नोपनिनयेत् ॥ ११ ॥ १ [३. ४.] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे द्वितीयाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हाई निवारयन् ।

पुमर्थास्तुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ २ ॥

ब्रह्माण्ड गोमहस्र कनकहयतुलापूरुषौ स्वर्णगर्भम्,
 सप्ताब्धोन् पञ्चमीरौ स्त्रिदशतस्तताधेनुमौ वर्णभूमौ ।
 रत्नोष्ठा रुक्मवाजिद्विपमहितरथौ मायणि सिङ्गनार्यो,
 व्यश्राणीद्विचक्र प्रथितविधिमहाभूतयुक्त घटश्च ॥
 धान्याद्रि धन्यजन्मा तिलभव मतुल' स्वर्णज वर्णमुख्य,
 कार्पासीय कृपावान् गुडकृत मज्जो राजत राजपूज्य' ।
 आज्योत्थ प्राण्यजन्मा लवणज मनूय शार्कर चार्कतेजा',
 रत्नाढ्यो रत्नरूप गिरि महत मुदा पाचसात्सिङ्गमार्य ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तक-

श्रीहरिहरमहाराजसाक्षाज्यधुरन्धरेण

सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे द्वितीयाध्यायः समाप्तः ॥ ३ ॥

[अथ चतुर्थाध्याये प्रथम ब्राह्मणम्]

शिरो वै यज्ञस्यातिथ्यं बाहू प्रायणीयोदयनीयौ ।
अभितो वै शिरो बाहू भवतस्तस्मादभित आतिथ्य
मेते* हविषी भवतः प्रायणीयस्योदयनीयश्च ॥ १ ॥

अथ युस्मादातिथ्यं नाम† । अतिथिर्व्याऽय एतस्या-
गच्छति यत् सोमः क्रीतस्तस्माऽएतद्यथा रात्रे वा
ब्राह्मणाय वा महोक्षं वा महार्जुं वा पुचेत्तदुह मानुषऽ
हविर्देवाना मेव मस्माऽएतदातिथ्यं करोति ॥ २ ॥

तदाहुः । पूर्वोऽतूत्य गृह्णीयादिति युच वाऽश्रुहन्त
मागतुं नापचायन्ति‡ क्रुध्यति वै स तुच तथा ह्याप-
चितो भवति ॥ ३ ॥

तदाऽअन्यतरु एव विमुक्तः स्यात् । अन्यतरोऽविमु-
क्तोऽथ गृह्णीयात् स युदन्यतरो विमुक्तस्तेनागतो युद-
न्यतरोऽविमुक्तस्तेनापचितः ॥ ४ ॥

* 'मेते'—इति ग, घ ।

† 'नाम'—इति ग, ख ।

‡ 'नापचायन्ति'—इति क, ख ।

तदु तथा न कुर्यात् । विमुच्यैव प्रपाद्य गृह्णीयाद्
 यथा वै देवानां चरणं तद्वा ऽश्वनु मनुष्याणां तुस्मान्
 मानुषे यावन् विमुञ्चते नैवास्मै तावदुदकः हुरन्ति
 नापचितिं कुर्वन्त्यनागतो हि स तावद्भवत्यथ यदैव
 विमुञ्चतेऽथास्मा ऽउदकः हुरन्त्यथापचितिं कुर्वन्ति
 तुहिं हि स आगतो भवति तुस्माद्विमुच्यैव प्रपाद्य
 गृह्णीयात् ॥ ५ ॥

स वै सन्त्वरमाण इव गृह्णीयात् । तथा ह्यापचितो
 भवति तत्पुत्र्यन्वारभते पर्युह्यमाणं वै युजमानोऽन्वार-
 भतेऽथात्र पुत्र्यभयत एवैतन्निधुनेनान्वारभते युध वा
 ऽश्रुर्हन्नागच्छति सर्व्वगृह्या इव वै तुत्र चेष्टन्ति तथा
 ह्यापचितो भवति ॥ ६ ॥

स वा ऽयन्धेनैव ततो युजुषा गृह्णीयाद् । येनो
 चान्द्यानि हवीःप्येकं वा ऽप्यु भागं क्रीयमाणोऽभि-
 क्र्रीयते छन्दसा मेव राज्याय छन्दसाः साम्राज्याय
 तुस्य छन्दाःस्यभितः साचयानि यथा राज्ञोऽराजानो
 राजहृतः सूतग्रामुण्य एव मस्य छन्दाःस्यभितः
 साचयानि ॥ ७ ॥

न वै तदुवकल्पते । यदुन्दोभ्य इति वेवलं गृह्णी-
 याद्यत्र वा ऽश्रुर्हते पुचन्ति तदभितः साचयोऽन्वाभक्ता

भवन्त्युराजानो राजकृतः सूतग्रामुख्यस्तुस्माद्युवैवैतस्यै
गृह्णीयात्तुदेव छुन्दाःस्यन्वाभजेत् ॥ ८ ॥

सु गृह्णाति । अग्नेस्तनूरसि विष्णवे त्वेत्यग्निर्वै
गायत्री तुज्ञायत्री मन्वाभजति ॥ ९ ॥

सोमस्य तनूरसि विष्णवे त्वेति । अक्षं वै सोमः
अक्षं विष्टुप् तुत् विष्टुभ मन्वाभजति ॥ १० ॥

अतिथेरातिथ्यु मसि विष्णवे त्वेति* । सोऽस्योद्धारो
यथा† श्रेष्ठस्योद्धारु एव मस्यैषु ऋते छुन्दोभ्यः ॥ ११ ॥

श्येनाय त्वा सोमभृते विष्णवे त्वेति । तुज्ञायत्री
मन्वाभजति सा युज्ञायत्री श्येनो भूत्वा दिवः सोम
माहरत् तेन सा श्येनः सोमभृत् तेनैवैना भेतुद्दुर्येण
द्वितीय मन्वाभजति ॥ १२ ॥

अमुये त्वा रायस्योपुदे विष्णवे त्वेति । पशुवो वै
रायस्योपः पशुवो जुगती तज्जुगती मन्वाभजति ॥ १३ ॥

अथ यत्पुञ्च कृत्वो गृह्णाति । संवत्सरुसम्मितो वै
यज्ञः पुञ्च वा ऽऋतुवः संवत्सरस्य तु पञ्चभिरामोति
तस्मात्पुञ्चकृत्वो गृह्णात्यथ यद्विष्णवे त्वा विष्णवे
त्विति गृह्णाति विष्णवे हि गृह्णाति यो यज्ञाय
गृह्णाति ॥ १४ ॥

नवकपालः पुरोडाशो भवति । शिरो वै यज्ञस्या-
तिथ्यं नवाक्षरा वै गायत्र्यष्टौ तानि यान्यन्वाह प्रणवो
नवसुः पूर्वार्द्धो वै यज्ञस्य गायत्री पूर्वार्द्धं ऽएष यज्ञस्य
तुस्मान्नवकपालः पुरोडाशो भवति ॥ १५ ॥

कार्फर्म्यमुयाः परिधुयः । देवा ह वा ऽएतं व्वनस्प-
तिषु राक्षोघ्नं ददृशुर्यत्कार्फर्म्यं शिरो वै यज्ञ-
स्यातिथ्यं नेच्छुरो यज्ञस्य नाद्रा रुक्षाः सि हिनुसन्निति
तस्मात् कार्फर्म्यमुयाः परिधुयो भवन्ति ॥ १६ ॥

आश्ववालः प्रस्तरुः । यज्ञो ह देवेभ्योऽपचक्राम
सोऽश्वो भूत्वा पुराङ्गाववर्त्ततुस्य देवा अनुष्टाय
व्वालानभिपेदुस्तानालुलुपुस्तानालुप्य सार्द्धं सुच्यासु-
स्तुत एता ओपधयः सुमभवन् युदश्ववालाः शिरो वै
यज्ञस्यातिथ्यं जघनार्द्धो व्वाला ऽजभयुत एवैतुधमं
पुरिगृह्णाति यदश्ववालः प्रस्तरो भवति* ॥ १७ ॥

रेक्षुव्यौ विधृती । नेदहिंश्च प्रस्तरुश्च संलुभ्यात
ऽइत्यथोत्पूयाज्यं सुर्वाण्येव चतुर्द्वीतान्याज्यानि
गृह्णाति न ह्युचानुयाजा भवन्ति ॥ १८ ॥

* 'भुवति'—इति ग, घ ।

† 'संलुभ्यात'—इति ख डा० वेबरदृष्टम् । 'संलुभ्यात'—इति साधय
सम्मत—इति डा०—वेबर ।

आसाद्य हवींऽप्यग्निं मन्यति । शिरो वै यज्ञस्यातिथ्यं
 जनयन्ति वा ऽन मेतद्यन्मुन्यन्ति शीर्षतो वा ऽश्रये
 जायमानो जायते शीर्षतु एवैतदुग्रे यज्ञं जनयत्यग्निर्वै
 सुर्वा देवता अग्नौ हि सुर्वाभ्यो देवताभ्यो जुह्वति
 शिरो वै यज्ञस्यातिथ्यः शीर्षतु एवैतद्यज्ञः सुर्वाभि-
 र्देवताभिः सुमर्हयति तुस्मादग्निं मन्यति* ॥ १९ ॥

सोऽधिमुन्यन्ः शुकल मादत्ते । अग्नेर्जनिच मसीत्युचु
 ह्यग्निर्जायते तुस्मादाहाम्नेर्जनिच मसीति† ॥ २० ॥

अथ दर्भतरुणके निदधाति । व्युपणौ स्थ ऽइति
 तद्यावेवेमौ स्त्रियै साकञ्जावेतावेवैतौ ॥ २१ ॥

अथाधरारणिं निदधाति । उव्वंश्यसीत्युथोत्तरा-
 रुण्याज्यविल्लापनौ सुपस्पृशत्यायुरसीति ता मभिनि-
 दधाति पुरुरुवा ऽअसीत्युर्वशी वा ऽअप्सराः पुरुरुवाः
 पुतिरुथ यत्तुस्मान्मिथुनादजायत तदायुरेव मेवैपु
 रतुस्मान्मिथुनाद् यज्ञं जनयत्युयाहामुये मथ्यमाना-
 यानुब्रूहीति ॥ २२ ॥

सु मन्यति । गायत्रेण त्वा छन्दसा मन्यामि त्रैष्टुमेन
 त्वा छन्दसा मन्यामि जागतेन त्वा छन्दसा मन्यामीति
 तं वै छन्दोभिरेव मन्यति छन्दांसि मथ्यमानायान्वाह

छुन्दाःस्येवैतद्यज्ञं मन्वायातयति युथाम् मादित्यः
रश्मयो जातायानुब्रूहीत्याह यदा जायते प्रहियु-
माणायेत्यनुप्रहुरन्* ॥ २३ ॥

सोऽनुप्रहरति । भवतन्नः सुमनसौ सुचेतसावरेपुसौ ।
सा युञ्जः हिःसिष्टं सा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ
भवत मद्यु न ऽहुति शान्ति मेवाभ्या मेतुददति युथा
नान्योऽन्यः हिःस्याताम् ॥ २४ ॥

अथ सुवेणोपहृत्याज्यम् । अग्निं मभिजुहोत्यग्ना-
वमिश्चरति प्रविष्ट ऽहुषीणां पुत्रोऽभिशस्तिपावा । सु-
नः स्योनः सुयजा यजेद् देवेभ्यो हव्यः सुद मुप्रयुच्छ-
न्स्वाहेत्याहुत्यै वा ऽएतु मजीजनत तु मेतयाहुत्या-
प्रैपीतुस्मादेव मभि जुहोति ॥ २५ ॥

तद्विडान्तं भवति† । नानुयाजान्यजन्ति शिरो वै
यज्ञस्यातिथ्यं पूर्वाह्णं वै शिरः पूज्वाहुं मेवैतद्यज्ञस्या-
भितुःस्करोति‡ स युद्धानुयाजान्यजेद्यथा शीर्षतः
पर्याहृत्य पादौ प्रतिदध्यादेवं तत् तुस्माद्विडान्तं भवति
नानुयाजान्यजन्ति ॥ २६ ॥ २ ॥

॥ इति तृतीयप्रपाठके द्वितीयं ब्राह्मणम् [४. १०.] ॥

* 'प्रहुरन्'-इति ग, घ ।

† 'भवति'-इति ग, घ ।

‡ 'स्करोति'-इति क, ख, डा० वेङ्कटय्य ।

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निश्चित वेदा यो वेदेभ्योऽखिल जगत् ।

निर्ममे, त मह वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

आतिथ्यस्य प्राचणीयानन्तर्यं विधत्ते— “शिरो वै यज्ञस्यातिथ्यमिति^१ । व्याख्यात मिदम् ॥ १ ॥

यत्सम्बन्धादिद् हविरातिथ्यम्, तस्य सोमस्य कथं मतिथिलमिति निर्वचनप्रदर्शनद्वारेण तद्दर्शयति— “अथ यस्मादातिथ्यं नामेति । यस्मान्निमित्तादातिथ्यमिति हविषो नाम, अत उच्यत इति शेषः । ‘एतस्य’ यजमानस्य वसति य ‘अतिथि’ सन् यस्मात् ‘आगच्छति’, न विद्यते प्रतिनियता तिथिर्यस्य, सोऽतिथिरित्यर्थः । तस्मात् अतिथये सोमाय ‘एतद्’ हवि निरूपयत इत्यातिथ्यं नाम सम्पन्नम् । अतिथिलं सुपजीव्यातिथ्यं मवश्यं कर्त्तव्यमित्याह— “यथा राज्ञ इति । “राज्ञे वा ब्राह्मणाय वेति । राज्ञ “गौर्मधुपर्कं स्यात् स्वातकायोपस्थिताय राज्ञे वा”—इति-सूते^२ सिद्धम् । ब्राह्मणं ओषियोऽभिमतम् । “महोच वा महाज वा ओषियायोपकल्पयेत्”—इति-सूते^३ । ‘तद्दह मानुषम्’ आतिथ्यमिति शेषः । “हविर्देवानां मिति । देवानां हविरेवातिथ्यमित्यर्थः । “एव मस्मा एतदिति । दार्ष्टान्तिकम् ॥ २ ॥

१— का० श्रौ० सू० ८ १ १ ।

२— आप० घ० सू० २ ८ ८ द्रष्टव्यम् ।

३— याज्ञ० स० १ १०६६ ।

“तदाहुः पूर्वोऽतीत्य गृहीयादित्यादि । सोमम् ‘अतीत्य’
 पृष्ठतः कृत्वा, स्वयं ततः ‘पूर्वः’ सन् पूर्व मागत्य हविः ‘गृहीयात्’ ।
 विपक्षबाधपुरस्सरं हविर्गृह्ण प्रशंसति— “यच्च वा अर्हन्त मागतं
 नापचायन्तीति । ‘अर्हन्तं’ पूज्यं गृहम् ‘आगतम्’ आगतमाधं
 ‘न अपचायन्ति’ । चायतेर्लेश्यङभावश्चान्दसः^१ । पूजां न कुर्युः,
 ‘सः’ ‘तच्च’ तस्मिन्नपचितिविषये ‘क्रुध्यति’ । ‘तथा ह’ तथा सति
 सोमप्रवेशात् प्रागेव हविर्गृह्णे सति ‘अपचितो भवति’ ॥ १ ॥

अपचितिश्च द्वेधा सम्भवति,— अन्यतरानङुदिमोक्तानन्तरम्,
 उभयविमोक्तानन्तरञ्च, तच्चान्यतरविमोक्तानन्तरपक्षं सुपन्यस्यति—
 “तदा अन्यतर एवेति” । एतदेवोपपादयति— “अ यदन्यतरो
 विमुक्तस्तेनागत इति । तथा हि लोके यानाद्यविमोक्ते सति
 आगमननिययो न भवेत् ; इह त्वन्यतरानङुदिमोक्तेन तस्मि-
 न्नियो भवति, अन्यतरस्याविमोक्ते तदागमनात् प्रागेव वा कृता
 स्यात् ॥ ४ ॥

“तदु तथा न कुर्यादिति । इदानीं स्वाभिमत पक्ष माह—
 विमुख्यैव प्रपाद्य गृहीयादिति । ‘विमुख्यैव’ उभावपीत्यर्थः । एक-
 तरं विमोक्ष्यापि अन्यतरस्याविमोकादनागमनं सम्भाष्येत । ‘प्रपाद्य’
 सोमं प्राप्तां प्रवेश्य । लौकिकातिव्यदृष्टान्तबलेन औत्तप्यातिव्यस्य
 निवापकात् प्रतिपिपादयिषुर्भयविमोक्तपक्षं समर्थयते— “यथा

१— ‘चाय’ भा० उभ० ८८० धा० । पा० ४. ४. ८४ सूत्रेण प्राप्तोऽऽ ।

२— का० श्रौ० सू० ८. १. ३ ।

वै देवानां चरण मिति । 'यावत् न विमुञ्चते' प्रयाणसाधन
यानादिकं न परित्यजति । स्पष्ट मन्यत् ॥ ५ ॥

“स वै सन्त्वरमाण इति^१ । सन्त्वरया अभावे अनादरः प्रति-
भाति, अतस्त्वरया गृहीयात् । निर्वपि पथ्यन्वारम्भ विधाय प्रशं-
सति— “तत् पथ्यन्वारभते पर्युद्धमाण वै यजमान इति । ‘तत्’
तेन आदौ परिवहनकाले यजमानान्वारम्भणेन, ‘अच’ सोमार्थं
हविर्निर्वापकाले ‘उभयतः’ उभयोः पार्श्वयोरपि ‘मिथुनेनान्वार-
भेते’ । जायापतीमिथुनमध्ये एकस्थारम्भे अपरस्य तदविनाभृत-
स्यापि सिद्धत्वादित्यभिप्रायः । “यच वा अर्हञ्चित्यादि । ‘सर्वगृह्या
इव’ गृहे स्थिताः, सर्वे पदार्था अत्यर्थं मणिर्पाङ्क्षा, ते सर्वगृह्याः ,
‘तष’ तस्मिन् आगमने निमित्ते सति, तादृग्मास्तिष्ठन्ति ॥ ६ ॥

“स वा अन्येनेत्यादि । ‘ततः’ तस्मात्, प्राकृताभिर्वापमन्त्रात्
‘अन्येन यजुषा’ “अग्नेस्तनूरसि”—इत्यादिना^२ । तत इत्यस्यार्थं
माह— “येनो चेति । मन्त्रान्यत्वे कारण माह— “एकं वा एष
भाग मिति । ‘एषः क्रीयमाणः’ आतिथ्येन प्याथमानः सोमः ‘एक’
समान ‘भागम्’ ‘अभि’लक्ष्य ‘क्रीयते’, ‘छन्दासां’ राज्य सामान्यं च
प्राप्नोति, तथा सम्पादनायेत्यर्थः । कथं छन्दस्सम्बन्ध इति, तच्चाह—
“तस्य छन्दांसीति । ‘अभितः साचयानि’ पुर’ पश्चाच्च सहागन्तारः
प्रधानपुरुषा इत्यर्थः । “यथा राज्ञोऽराजान”—इत्यत्र अराजान

१— का० श्रौ० सू० ८. १. २ ख ।

२— वा० सं० ५. १. १ ।

इत्यकारप्रक्षेप । ते के ? 'राजहता' राजत्वसम्पादका षट्त्रिंशे-
कस्य^१ कर्त्तार, 'सूतयामण्य' सूतश्रेष्ठा ॥ ७ ॥

निर्वापे समप्राधान्यपच दूषयित्वा असमस्यैव निर्वाप माह—
“न वै तदवकल्पत इत्यादिना । अयं मर्थ । यदि प्रधानस्योप-
सर्जनानाञ्च सदृशीं प्रतिपत्तिं कुर्यात् तदा प्रधानस्य प्रतिपत्तिर्न
हता स्यात्, अतो यथा प्रधानस्यामन्त्रणे सति अप्रधाना अयना-
हता एव न मनुगच्छन्ति, एव सोमार्थनिर्वापेण ह्यन्वया मपि
प्रसङ्गसिद्धेरन्वाभजन सिद्ध मिति सोमस्यैव निर्वाप कुर्यादित्यर्थ ॥८॥

हविर्घक्षणे मन्त्र विधत्ते— “स गृह्णात्यग्नेस्तनूरसीति”^१ । हे
निष्कृयमाणग्रीहिपदार्थः । त्वम् अग्ने 'तनूरसि' ख ग्रहीर भवसि ।
ग्रहीरोपचयहेतुत्वाद्वा तनूवदाच्छादकत्वाद्वा तनूत्वम् । “यो
वै विष्णु सोम स इति श्रुते^२, सवनवयव्यापित्वाद्वा सोमो
विष्णु^३, अतो विष्णवे त्वा' इति सोमस्य विष्णुत्वेन निर्द्देश
उपपद्यते । अथवा 'विष्णवे हि गृह्णाति यो यज्ञाय गृह्णाति'—
इति श्रुते^४ त्वा यज्ञाय गृह्णामीत्यर्थः । मन्त्रगत मग्निपद
गायत्र्यामन्त्रिसाधनत्वेन प्रशंसति— “अग्निर्वै गायत्रीत्यादिना ।
अग्नेर्गायत्रीरूपत्वं प्रजापतिमुखात् महोत्पन्नत्वात् द्रष्टव्यम् । “त

१— 'षट्त्रिंशेकस्य'—इति छ, च ।

२— वा० म० ५. १ १ ।

३— इदमेव पुरस्तात् (३ अ० ४ ब्रा० २१ क०) १८७ ए० द्रष्टव्यम् ।

४— अथैव विष्णु वेदाध्यभजन्त'—इत्यादि ब्राह्मण मुपनिषदाः (शत०
१४ १ १ १५—२०) द्रष्टव्यम् ।

५— इदमेवोपरिष्ठात् (२११ ए० १४ कण्ठो द्रष्टव्यः ।

मग्निर्देवतान्वसृज्यत गायत्रीच्छन्दः"—इति^१ हि श्रूयते । एव
मुत्तरमन्त्रवाक्यान्यपि व्याख्येयानि ॥ ८ ॥

“सोमस्य तनूरसीत्यादि^२ । सोमस्यान्नत्वेन साक्षाच्छरीरोपचय-
हेतुत्वात् तनूलम् । सोमस्य राज्ञः वषत्व मषकदुक्तम् । प्रजापते-
रसो वाङ्मथाच्च राजन्येन सह चिष्टुभोऽप्युत्पत्तेः^३ वषत्वम् ॥ १० ॥

“अतिथेरायिष्य मसीति^४ । अचातिथिशब्दस्य तात्पर्यं माह—
“सोऽस्योद्धारो यथा ओष्ठस्येति । उद्ध्रियते असाधारण्येन विभज्यत
इत्युद्धारः प्रतिनियतभागः ॥ ११ ॥

पुनरपि गायत्र्या अन्वाभजनरूपतया श्येनशब्दं प्रशंसति—
“श्येनाय स्वेति^५ । श्येनरूप मास्याय सोमाहरणाद् गायत्री सोम-
भृत् श्येनः । एतदेव दर्शयति— “सा यद् गायत्री श्येनो भूत्वेति ।
‘तेनैव वीर्येण’ हेतुना ‘एना’ गायत्री ‘द्वितीयं’ भागं प्रति
‘अन्वाभजति’ अध्वर्युः, एतद्भागपाठेनेत्यर्थः ॥ १२ ॥

“अग्नये स्वेति^६ । ‘अग्नये’ अङ्गनादिगुणविशिष्टाय, ‘रायस्योषदे’
धनपोषप्रदात्रे, ‘विष्णवे’ सोमाय, हे हविः । ‘त्वा’ त्वां गृह्णा-
मीत्यर्थः । जगत्यान्वाभजनरूपतया मन्त्रभागं प्रशंसति— “पशवो वै
रायस्योष इति । वर्द्धमानधनरूपत्वं पशूनां भवेति ‘पशवो वै
रायस्योषः’ इत्युक्तम् । पशूनां जगतीत्वं जगत्या सोमाहरणसमये

१— तै० सं० ७. १. १. ६ ।

२— वा० स० ५. १. २ ।

३— तै० सं० ७. १. १. ७ ।

४— वा० स० ५. १. ३ ।

५— वा० स० ५. १. ४ ।

६— वा० सं० ५. १. ५ ।

आद्यतत्वाद् द्रष्टव्यम् । तथा च तैत्तिरीयकम्— “सा पशुभिश्च
दीक्षया चागच्छदिति” ॥ १३ ॥

प्रकृतौ चतुर्ललो ग्रहणादत्रापि चोदकतस्तत्राप्यै पञ्चमह्यां
विधाय प्रशंसति— “अथ यत् पञ्चल्लव इति” । यज्ञस्य संवत्सर-
संक्षितत्वं गवामयनादिमन्त्ररूपस्य यज्ञस्य संवत्सरसाध्यत्वाद्वा^१,
संवत्सरात्मकप्रजापतिसंक्षितत्वाद्वा^२, “दादशाग्निष्टोमस्य स्तोत्राणि”—
इति^३ श्रुतेस्तद्गतसह्याया संवत्सरसाम्याद्वा^४ द्रष्टव्यम् । ग्रहणमन्त्रेषु^५
सर्वत्र विष्णुशब्दोपादानं प्रशंसति— “अथ यद् विष्णवे त्वा विष्णवे
त्वेति । यत्र यत्र हविर्गच्छते, तत्र तत्र यज्ञार्थत्वनियमात् सोमस्य
हविर्देन यज्ञार्थत्वात् सर्वत्र ‘विष्णवे-विष्णवे’ इति ग्रहणं युक्तं
मित्यर्थः ॥ १४ ॥

“नवकपाल. पुरोडाश इति” । नवसु कपालेषु सङ्कृतो नव-
कपालः । नवकपालस्यातिथ्यार्हत्वं माह— “शिरो वा इति ।
“यान्यथाहेति । ‘यानि’ अक्षराणि अनुक्रमेण उच्चारणकाले ब्रूते,
तान्यष्टौ भवन्ति, प्रयोगकाले “प्रणवष्टेः”—इति^६ प्रयुज्यमानः

१— तै० सं० ६. १. ६. ४ । २— का० श्रौ० सू० ८. १. ४ द्रष्टव्यम् ।

३— ऐ० ब्रा० ४. ३. ३ । तै० सं० ७. ४. ७, ५. १ । ता० ब्रा० ४. १ ।

४— ऐ० ब्रा० २. २. ७ ।

५— ऐ० ब्रा० ३. ४. १ ।

६— बहिष्पवमान, माध्यन्दिनपवमान, ध्याभंवपवमान, चत्वारि ध्याज्य-
स्तोत्राणि, चत्वारि एष्टस्तोत्राणि, एकं यज्ञायज्ञीय स्तोत्रमिति ।

७— वा० सं० ५. १. १—५ ।

८— का० श्रौ० सू० ८. १. २ ।

९— वा० सू० ८. २. ८ ।

‘प्रणवः’ एव ‘नवमः’; “गायत्रं प्रातस्सुवनम्”—इति श्रुतेः ‘यज्ञस्य पूर्वाह्णे गायत्री’, ‘तस्माद्’ गायत्र्यानुगुणाय ‘नवकपालः’ कर्त्तव्यः ॥ १५ ॥

“कार्त्तव्यमयाः परिधय इति” । ‘कार्त्तव्यः’ भद्रपर्णी, तन्मया एव ‘परिधयः’ कर्त्तव्याः । प्रकृतौ यस्माद्वैकल्यतादीनां मैथिल्यत्वाच्च नियमविधिः । “देवा ह वा इत्यादि कार्त्तव्यमयत्वस्योपपादनम् ॥ १६ ॥

“आश्ववालः प्रस्तर इति” । आश्ववालत्वं तन्नामनिर्वचनद्वारेण प्रशंसति— “यज्ञो ह देवेभ्य इति । ‘तान्’ आश्ववालान् ‘आक्षुक्षुपुः’ “क्षुप्स्व ह्येदेने”^१ चिच्छिदुः । ‘सार्द्धं सज्यासु’ एकीकृत्य सम्यग् भूमौ प्रचिच्छिपुः । तेभ्यः ताः ‘एताः’ आश्ववालाख्याः ‘ओषधयः’ सञ्जाताः । आश्ववालानां मातिथ्येष्टियोग्यत्वं माह— “गिरो वै यज्ञस्यातिथ्यं जघनाह्णे वाचा इति । आतिथ्यस्य घोमात् प्रथमं मनुष्येयत्वेन गिरस्तात् तस्मादावतुष्टितत्वात् जघनाह्णवस्थितवाल्परिणामरूपस्याश्ववालस्य तच्च प्रयोगे सति अपगतस्य यज्ञस्य ‘उभयतः’ परिपहः कृतो भवति ॥ १७ ॥

“ऐक्षथौ विष्टौ इति” । बर्हिं प्रस्तरयोरन्तराले तिर्यक् प्रसार्यमाणौ दर्मौ ‘विष्टौ’, ते अथ द्रुपचरूपे स्याताम् । ‘संलुभ्यातै’ पञ्चमलकारः । संलोभनं माकुलीभावो मिश्रणम्, तद्वयाद्

१— का० श्रौ० सू० पृ. १. १२ ।

२— का० श्रौ० सू० पृ. १. १३ ।

३— तु० उ० १५१ धा० ।

४— का० श्रौ० सू० पृ. १. १४ ।

‘ऐतयौ’ कर्त्तव्ये इत्यर्थः^१ । ‘अथोत्पूयाज्य मित्यादि । उत्पवन प्रकृतिवत् कर्त्तव्यम् । ‘सर्वाण्येव’ जुहूपष्टद्भुवाख्येषु पात्रेषु गृह्यमाणानि ‘आज्यानि, ‘चतुर्गृहीतानि’ एव कुर्यात् । प्रकृतिवदेवेतरयोश्चतुर्गृहीतत्वं सिद्धम् । अत उपपत्ति अष्टगृहीतत्वनिरुक्त्यर्थमेवाभिधानम् । तत्र चतुर्गृहीतत्वे उपपत्ति श्रुतिरेवाह— ‘न क्षत्रानुयाजा भवन्तीति ॥ १८ ॥

‘आसाद्य हवींश्चग्निं मन्यन्तीति’^२ । आतिथ्याया मेवाग्निमन्यने को विशेष इत्यत आह— ‘शिरो वै यज्ञस्येति । “जनयन्ति वा एन मेतद् यन्मन्यन्तीति । ‘एतत्’ एतेन मन्यनजातेनाग्निना यज्ञ-निष्पत्तिदर्शनादभ्युत्पादनं मेव यज्ञोत्पादनम् । प्रकारान्तरेणातिथ्याया मग्निमन्यनं प्रशंसति— “अग्निर्वै सर्वा देवता इति । सोमयागस्य शिरोभूताया मातिथ्याया सर्वदेवतामयस्याग्नेरुत्पादनेन सर्वासा मपि देवताना मुत्पत्तेर्यज्ञप्रारम्भ एव, सर्वैर्देवैर्यज्ञं सृष्टुं कारितवान् भवति ॥ १९ ॥

‘सोऽधिमन्यनं शकलं मिति’^३ । धूपतचणोत्पन्नोऽधरारण्या अध स्थाप्यमानं शकलं ‘अधिमन्यनशकल’, यस्योपरि मथ्यते तं मादत्ते । तत्र मन्त्र— ‘अग्नेर्जमिषं मसीति’^४ । हे शकल ! त्वम् ‘अग्ने’ ‘जनिवम्’ उत्पादकम् ‘अमि’ । कथं मस्य जनिवत्वं मिति

१— तै० स० ६ २ १ अनुवाक सर्वाऽप्यत्र द्रष्टव्यः ।

२— का० श्रौ० सू० ८ १ १०, एतत्पूर्वं मण्येवम् ५ १ २० ।

३— का० श्रौ० सू० ५ १ २८ ।

४— वा० म० ५ ७ १ ।

तत्राह— “अत्र ह्यग्निरिति । ‘अत्र’ अधरारण्यवहिते शकले
इत्यर्थः ॥ १० ॥

“अथ दर्भतरुणके इति^१ । ‘दर्भतरुणके’ कोमलौ परस्परसदृशौ
दर्भौ, तौ अधो निदध्यात् । “वृषणौ स्त्रः”—इति^२ तत्र मन्त्रः । हे
दर्भौ ! पुत्रां ‘वृषणौ’ अभिमतफलवर्षकौ भवथ इति तत्सार्थः । तौ
प्रशंसति— “तद्यावेवेमौ स्त्रिये साकञ्जावेतावेवैताविति । ‘स्त्रिये’
स्त्रियाः सकाशात् ‘साकञ्जौ’ सहोत्पन्नौ ‘याविमौ’ परस्परसदृशौ
पुत्रौ ‘एतौ’ दर्भौ, ‘एतावेव युगलौ पुत्रावेव । रूपकोपन्यासेना-
त्यन्तसादृश्यं अभिमत मिति द्रष्टव्यम् ॥ ११ ॥

“अथाधरारणि मिति^३ । तत्राधरारणिनिधामे मन्त्रः— “उर्वश-
सीति^४ । हे अधरारणे । त्वम् ‘उर्वशी’ भवसि । आज्यं विलाप्यते
यस्यां सा आज्यविलापनी स्थासी, ताम् उत्तरारण्या संस्यग्रं कुर्यात्
‘आयुरसीति’ मन्त्रेण^५ । ता सुत्तरारणि ‘पूरुवा असीति’^६
तस्या उपरि निदध्यात् ॥

अरण्योराज्यविलापन्यासश्च यदुर्वशाद्यात्मकत्वम्, तत् त्रयं प्रशंसितुं
पुरावृत्तदृष्टान्तं माह— “उर्वशी वा अश्वरा इत्यादि । ‘उर्वशी
अश्वराः’ पत्नी अभवत्, ‘पूरुवा.’ ‘पतिः’ अभवत्, तस्मात्
मिथुनात् ‘आयुः’ नाम पुत्रः ‘अजायत’ । एतत् सर्वं मये समा-

१— का० श्रौ० सू० ५. १. २६, ।

२— वा० सं० ५. २. २ ।

३— का० श्रौ० सू० ५. १. ३०, ३१ ।

४— वा० सं० ५. २. ३ ।

५— वा० सं० ५. २. ४ ।

६— वा० सं० ५. २. ५ ।

आस्यते— “उर्वशीं चापराः पुरुरवम मैलं चकम इति^१ । “एव मेवैषः”—इति दार्ष्टान्तिकाभिधानम् । ‘यज्ञं जनयति’ यज्ञसाधनत्वाद् यज्ञ मित्युच्यते । ‘अथ’ अरण्योरासादनानन्तरम् “अग्नये मय्यमानायानुबूहि^२” ‘इति’ होतारम् ‘आह’ ॥ २२ ॥

समन्वकं मन्यनं विधत्ते— “स मन्यतीति^३ । “गायत्रेण त्वा हन्दसेत्यादि^४ । “तं वै हन्दोभिरेवेति । यद्यपि अन्यैः साधनैः मन्यति, तथापि “गायत्रेण त्वा हन्दसा”—इत्यादिमन्त्रसामर्थ्येन हन्दोभिरेव साधनैः मन्यनं कृतवान् भवतीत्यर्थः^५ । अस्वेवम्, हन्दसां किम्पक्षं जात मित्यस्या आग्रहायाः फलं वक्ष्यति— “हन्दास्वेवैतद्यज्ञं मन्वायातयतीति । हन्दसा मनुप्रवेशनं न केवलं हन्दोलिङ्गकैर्मन्त्रैर्मन्यनाद् भवति, अपि तु तस्मिन् काले होवा हन्दसा मनुवचनादपि भवतीत्याह— हन्दांसि मय्यमानायान्वाहेति । होतेति श्रेयः । मियमेनानुप्रवेशे दृष्टान्तः— “ययामु मादित्यमिति । ‘रम्यथः’ अन्वायत्ता इति श्रेयः । प्रद्वियमाणायेत्यनुप्रहरन्निति^६ । ‘प्रद्वियमाणाय’ आहवनीये प्रक्षिप्यमाणाय, अनुब्रूहीत्यनुषज्यते ॥ २३ ॥

समन्वक मनुप्रहरणं विधत्ते— “सोऽनुप्रहरतीति^७ । “भवतं

१— उपरिष्ठात् ११. ५. १. १—१० ।

२— का० श्रौ० सू० ५. २. १ ।

३— का० श्रौ० सू० ५. २. २ ।

४— वा० सं० ५. २. ५, ६, ७ ।

५— “जाते जातायेति”—इति का० श्रौ० सू० ५. २. ३ ।

६— का० श्रौ० सू० ५. २. ४ ।

७— का० श्रौ० सू० ५. २. ५ ।

नः"—इत्यादिमन्त्रस्थाय मर्थः^१ । हे आहवनीयनिर्मन्थ्यौ, उभावग्री ! 'नः' अस्माकं 'समनसौ' अस्मादभिमतप्रदानविषये समानमनस्कौ 'भवतम्' । अथवा परस्परं कलहं मृत्वा समनसौ भवतम् । 'समौकसौ' समानस्थानौ, 'अरेपसौ' अपापौ । एवमभूतौ युवां 'यज्ञं' मदीयं 'मा हिंसिष्टम्' । तथा 'यज्ञपतिं' यजमानं च 'मा हिंसिष्टम्' । हे 'जातवेदसौ' जातप्रज्ञौ ! युवाम् 'अथ' 'नः' अस्माकं 'शिवः' सुखकरो 'भवतम्' । मन्त्रस्य तात्पर्यं माह—
 "शान्तिं मेवाभ्या मेतद् वदतीति । 'एतत्' मन्त्रवचनम् 'आभ्याम्' अपेक्षितां 'शान्तिं मेव' 'वदति', नान्य मर्थं मित्यर्थः । अत्र शान्तेः कः प्रसङ्ग इति, तच्चाह— "यथा नान्योऽन्य मिति ॥ २४ ॥

अनुप्रवृत्तेऽग्नौ समन्त्रकं होमं विधत्ते— "अथ जुवेणेति"^२ । 'उपहृत्य' अवदाय 'अग्निं मभि' प्रहृत्य अग्निरुपरि जुहुयात् । मन्त्रस्थाय मर्थः^३ । 'अग्नौ' आहवनीये 'अग्निः' निर्मथितः प्रविष्टः सन् 'सरति' इत्यस्ततो ज्वालाभिः सञ्चरति । कौदृशः ? 'स्रवीणां पुत्रः' मन्त्रेणोत्पद्यमानत्वात् । 'अभिग्रस्तिपावा' अभिग्रस्तेर्निन्दातः सकाशात् पाता । "आतो मग्निन्"—इति^४ वनिष् । 'सः' तादृशः त्वं 'नः' अस्मादर्थम् इह 'हव्यं' हविः 'सुयज' शोभनेन यागेन यज, सङ्गमयेत्यर्थः । केभ्यः ? 'देवेभ्यः' । कदा ? 'सदं' सदा, सर्वदा । 'अप्रयुच्छन्' अप्रमाद्यन्, उद्दिष्टेषु क मण्यपरित्यज्येत्यर्थः । 'स्वाहा'

१— वा० सं० ५. २. १ ।

२— वा० सं० ५. ४. १ ।

३— का० थो० सू० ५. २. ६ ।

४— पा० सू० २. १. ०४ ।

इदं द्रव्यं स्वाहुतं मनु । “आहुत्यै वा एतं मिति । ‘अजीजनत’
उदपात्, अध्वर्युः; ‘अप्रैषीत्’ तर्पितवान्, भवति ॥ २५ ॥

प्रकृतदर्शपूर्णमासेष्टिवत् समापनप्रसक्तावाह— “तदिदं न भव-
तीति” । अर्थसिद्धेऽप्युत्तराङ्गनिषेधे पुनर्नित्यानुवादतया दार्ढ्या-
यामुवदति— “नानुयाजानिति । इदं न त्वं प्रशंसति— “शिरो वै
यज्ञस्यातिथ्य मिति । उत्तराङ्गजातस्यानुष्ठान दोषोपन्यासेन समर्थ-
यते— “न यद्वा नुयाजान् यजन्तीति । ‘यथा’ कश्चित् ‘श्रीर्धत’
ग्रीष्णि, सार्वविभक्तिकस्तसिः^१ । ‘पादौ’ पर्याप्त्य ‘प्रतिदधात्’,
‘एव’ ‘तत्’ अनुयाजाद्यङ्गजातं मनुष्ठितं सद् भवति, आतिथ्यस्य
शिरस्तात् । तस्मादित्युपसहारः ॥ २६ ॥ २ [४. १.] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

तृतीयकाण्डे चतुर्थाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

(अथ द्वितीयब्राह्मणम्)

आतिथ्येन वै देवा इष्टा* तान्त्समुदविन्दत् ते चतुर्द्वि
व्यद्रवन्नन्योन्यस्य श्रिया ऽश्रुतिष्ठमाना अग्निर्वसुभिः
सोमो रुद्रैर्वरुण आदित्यैरिन्द्रो मरुद्भिर्दृहस्पतिर्विश्वै-

१— का० श्रौ० सू० ८. १. १८ ।

२— पा० सू० ४. १. १४ ।

* ‘इष्टा’—इति ग, घ ।

देवैरित्यु हैक आहुरेते ह त्वेव ते विश्व देवा ये ते
चतुर्धा व्यद्रवंस्तान्विद्रुतानसुररक्षसान्व्यवेयुः* ॥ १ ॥

तेऽविदुः । पापौयाःसो वै भवामोऽसुररक्षसानि वै
नोऽनुव्यवागुर्द्विपुद्भो वै रथ्यामो हुन्त सज्जानामहा
ऽएकस्य श्रियै तिष्ठामहा ऽहुति त इन्द्रस्य श्रिया
ऽअतिष्ठन्त तुस्मादाहुरिन्द्रः सर्वा देवता इन्द्रश्रेष्ठा देवा
ऽहुति ॥ २ ॥

तस्मादु ह न स्वा कर्तौयेरन् । यु र्पां परस्तरु
मिव भवति सु एनाननुव्यवैति ते प्रियं द्विपतां कुर्वन्ति
द्विपुद्भो रथ्यन्ति तुस्मान्नर्त्तौयेरन्त्स यो हैवं विद्वान्न-
र्त्तयितुं ऽप्रियं द्विपतां करोति नु द्विपुद्भो रथ्यति
तुस्मान्नर्त्तयित ॥ ३ ॥

ते होचुः । हुन्तेदं तथा करुवामहै युथा न इदु
माप्रदिवु मेवाज्यं मुसदिति ॥ ४ ॥

ते देवाः† । जुष्टास्तनूः प्रियाणि धामानि सार्हुः
समुवददिरे ते होचुरेतेन नः स नानासद्रेतेन विष्टुः
यो न एतदतिक्रामादिति कुस्योपद्रष्टुरिति तनूनसुरेव

शाकरस्येति सो* वा ऽअयं पवत ऽएष तुनूनपाच्छाकरुः सो
यं प्रजानाऽमुपद्रष्टा प्रविष्टस्ताविमौ प्राणोदानौ† ॥ ५ ॥

तस्मादाहुः । मनो देवा मनुष्यस्याजानन्तौति मनसा
सुक्कल्पयति‡ तन्प्राण मुपिपद्यते प्राणो व्यातं व्यातो
देवेभ्य आचष्टे युधा पुरुषस्य मन ॥ ६ ॥

तस्मादेतद्वपिणाभ्युनूतम् । मनसा सुक्कल्पयति तद्वा
तमुपि गच्छति । व्यातो देवेभ्य आचष्टे युधा पुरुष ते
मन इति ॥ ७ ॥

ते देवाः । जुष्टास्तनू प्रियाणि धामानि सार्धुः
समुवददिरे ते होचुरेतेन न स नानासदेतेन विद्वद्
यो न एतदतिक्रामादिति तदेवा अध्येतुर्हि नाति-
क्रामन्ति के हि स्युर्यदतिक्रामेयुरुन्दतः हि व्वदेयु-
रेकः ह वै देवा व्रतं चरन्ति सत्य मेव तस्मादेपां जितु
मनपजय्यं तस्माद्युश एवुः ह वा ऽअस्य जितु मनप-
जय्य मेवं युशो भवति यु एवं विद्वान्तसत्यं व्वदति
तदेतत्तानूनपुं निदानेन ॥ ८ ॥

ते देवा ॥ जुष्टास्तनू प्रियाणि धामानि सार्धुः समु-

* 'यो'-इति ख, सायणसम्मतश्च ।

† 'प्राणोदानौ'-इति ग, घ ।

‡ 'सुक्कल्पयति'-इति ग, घ ।

§ 'देवा'-इति ग, घ ।

॥ 'देवा'-इति ग, घ ।

वदद्विरेऽथैत ऽश्रुज्यान्धेव गृह्णाना जुष्टास्तनूः प्रियाणि
धामानि सार्द्धं समवद्यन्ते तुस्माद् ह न सर्वेणैव
समभ्यवेयन्नेन्मे जुष्टास्तनूः प्रियाणि धामानि सार्द्धं
समभ्यवायानिति येनो ह समभ्यवेयान्नास्मै द्रुह्येदिदुः
ह्याहुर्न सतानूनन्निणे द्रोग्धुव्य मिति* ॥ ८ ॥

अथातो गृह्णात्येवा । आपतये त्वा पुरिपतये गृह्णा-
मीति यो वा ऽअयं पुवत ऽएष आ च पुतति परि
च पुतत्येतस्मा ऽउ हि गृह्णाति तुस्मादाह आपतये त्वा
पुरिपतये गृह्णामीति ॥ १० ॥

तनूनपूचे शाकुरायेति । यो वा ऽअयं पुवत ऽएष
तनूनप्ता शाकुर एतस्मा ऽउ हि गृह्णाति तुस्मादाह
तनूनपूचे शाकुरायेति ॥ ११ ॥

शुक्लन ऽओजिष्ठायेति । एष वै शक्नौजिष्ठ एतस्मा
ऽउ हि गृह्णाति तुस्मादाह शुक्लन ऽओजिष्ठायेति† ॥ १२ ॥

अथातः समवष्टयन्त्येव‡ । एतद्देवा भूयः सुमामिर
ऽइत्थं नुः सोऽमुथासद् यो न एतदतिक्रामादिति तुयो
ऽएवैतु ऽएतत्सुममन्त ऽइत्थं नुः सोऽमुथा सद्यो न
एतदतिक्रामादिति ॥ १३ ॥

* 'मिति'—इति ग, घ ।

† 'गृह्णात्येव'—इति ग, घ ।

‡ 'ऽओजिष्ठायेति'—इति ग, घ ।

§ 'अवष्टयन्त्येव'—इति ग, घ ।

ते समवमृशन्ति । अनाधृष्ट मस्यनाधृष्ट्यं देवाना मोज
इत्यनाधृष्टा हि देवा आसन्ननाधृष्ट्याः सह सुतं
समानं वृदन्तः समानं दध्राणा देवाना मोज इति
देवानां वै जुष्टास्तुन्वः प्रियाणि धामान्युनभिश्स्त्यभि
शस्तिपा अनभिश्स्त्येन्य मिति सुर्वाः हि देवा अभिश्स्तिं
तीर्णा अज्जसा सत्य मुपगेप मिति सत्यं वृदानि मेद
मुतिक्रमिप मित्येवैतुदाह स्विते मा धा इति स्विते*
हि तुदेवा आत्मान मुदधत युत्समुवदन् युत्सत्य मुकुर्व-
स्तुस्मादाह स्विते मा धा इति† ॥ १४ ॥

अथ यास्तुदेवा‡ । जुष्टास्तनूः प्रियाणि धामानि
सार्धं५ समवददिरे तदिन्द्रे सुन्नरदधतैष वा ऽहुन्द्रो यु
एय तुपति नु ह वा ऽएपोऽये तताप युथा हैवेदु मन्युत्
कृष्ण मेव५ हैवास तेनैवैतुद्वीर्येण तपति तुस्माद्
यदि बहुवो द्वीक्षेरन् गृहपतय एव५ व्रतु मभ्युत्सिच्य
प्रयच्छेयु॥ स हि तेपा मिन्द्रभाजनं भुवति यद्यु
दक्षिणावता द्वीक्षेत युजमानायैव व्रतु मभ्युत्सिच्य
प्रयच्छेयुरिदु५ ह्याहुरिन्द्रो युजमान इति॥ ॥ १५ ॥

* 'स्विते - इति क ।

† 'मा धा इति' - इति ख, 'मा धा इति' - इति ग, 'मा धा इति' - इति घ ।

‡ 'यास्तुदेवा - इति ग, घ ।

५ 'युव - इति क ।

॥ 'इति' - इति ख 'इति - इति ग घ ।

अथ यास्तुद्देवाः* । जुष्टास्तनूः प्रियाणि धामानि
-साहुः५ समवददिरे तुत्साहुः५ सुञ्जघ्ने तत्सामाभवत्तुत्सा-
दाहुः सत्यः५ साम देवजः५ सामेति ॥ १६ ॥ ३ ॥

॥ इति तृतीयप्रपाठके तृतीयं ब्राह्मणम् [४. २.] ॥

अथ तानूनम्न' विधातु माख्यायिका माह— “आतिथ्येन वै
देवा इहा तात्समदविन्ददित्यादिना । पुरा किञ्च देवाः ‘आति-
थ्येनेहा व्यद्रवन्’ इति सम्बन्धः । विद्रवणे कः प्रसङ्ग इति तं
दर्शयति— “तात्समदविन्ददिति । तस्मिन् समये ‘तान्’ देवान्
-‘समत्’ कलहः ‘अविन्दत्’ प्राप्तवान् । “सङ्गे समस्तु वृषहा”-
इत्यादौ१ समच्छब्दः सङ्गान्ने प्रसिद्धः । ‘ते’ देवाः ‘चतुर्धा’
‘व्यद्रवन्’ पृथग्भूताः । किमर्थम् ? “अन्योऽन्यस्य श्रियै अतिष्ठ-
मानाः” । ‘श्रियै’ ज्योतिष्टोमफलरूपायै१ आत्मनोऽभिप्राय
मप्रकाशयन्त', ता मसहमाना इत्यर्थः । “प्रकाशमखेधाख्यथोख”-
इति१ तिष्ठतेरात्मनेपदम् । “साधन्नुद्”—इति१ श्रिया ज्ञापयितु
मिष्टत्वाच्चतुर्थी । विद्रवणप्रकारं विभज्य दर्शयति— “अग्निर्वसुभि-

* ‘यास्तुद्देवा’—इति ग, घ ।

१— ऐ० ब्रा० १. ४. ७, तै० सं० ६ २. २. १ द्रष्टव्यम् ।

२— ऋ० सं० १०. १९९. १ द्रष्टव्या ।

३— ‘अन्योऽन्यस्य श्रियै’ ज्योतिष्टोमफलरूपायै, श्रियै वा—इति छ ।

४— पा० सू० १ २ २६ ।

५— पा० सू० १ ४ २४ ।

रित्यादि । शाखान्तर प्रसिद्ध^१ पञ्चमं गण सुदाद्यत्य शोपपत्तिकं
पराचष्टे— “एहस्पतिर्विश्वैर्देवरित्यु हैक आऊरिति । तत्रोप-
पत्त्यभिधानम्— “एते ह लेव ते विश्वेदेवा ये ते चतुर्धा व्यद्रव-
श्चिति । ‘तान् विद्रुतान्’ परस्पर विस्त्रिष्टान्, असुरराक्षसाद्याय
मवधर इति निश्चित्यानुप्राप्ताः ॥ १ ॥

“तेऽविदुरिति । स्पष्टम् । ‘असुररक्षमानि वै’ ‘न.’ ‘अनु-
व्यवागुः’ अनुगताः । एतेर्लुङि गादेशः^२ । ‘द्विषद्भ्यो वै’ ‘रथ्याम्’
रथ्यतिर्विश्वगमनकक्षां,^३ वयं प्राप्ता इत्यर्थः । “हन्त सञ्जानामहा
इति । अनुजयोपायपरिज्ञानहर्षद्योतनार्थो ‘हन्त’-शब्दः । “अकर्म-
काश्च”-इति^४ सम्पूर्वस्य ज्ञानातेरात्मनेपदम् । सङ्गता भवेम,
ऐकमत्य प्राप्नुवामेत्यर्थः । तत्प्रकार माह— “एकस्य त्रियै तिष्ठा-
महा इति । “त इन्द्रस्य त्रिया अतिष्ठन्तेत्यादि स्पष्टम् ॥ १ ॥

“तस्मादु ह न स्त्रा अतीथेरन्निति । यस्मात् देवानां पर-
विश्लेषात् शत्रूणा मभिभव प्राप्त, ‘तस्मादु ह’ तस्मात् खलु
कारणात् ‘स्त्राः’ ज्ञातय परस्पर ‘न अतीथेरन्’ वैमत्येन विश्लेषं
न कुर्युः । “अतेरीयद्”^५ । विश्लेषे को दोष इति तत्राह—
“य एषां परस्तरा मिव भवतीति । ‘य’ शत्रुः ‘एषां’ विस्त्रिष्टानां
‘परस्तरा मिव’ अत्यन्तदूरदेशस्थो ‘भवति’, ‘सः’ ‘एनान्’ शत्रून्
विस्त्रिष्टान् ‘अनुव्यवैति’ अनुप्रविशति । तस्मात् ‘द्विषताम्’ अवकाश-

१— तै० स० ६. २. २ १ इत्ययम् ।

२— पा० सू० २. ४. ४५ ।

३— निरु० ६ ६ ४ ।

४— पा० सू० १. १. २६ ।

५— पा० सू० १ १ २६ ।

प्रदानेन स्वयं मेव 'प्रियं कुर्वन्ति', स्वयं यद् 'द्विषद्वाः' शत्रुभ्यो 'रथ्यन्ति' वशं प्राप्नुवन्ति ; 'तस्मात्' 'न ष्ठतीयेरन्' भेदं न गच्छेयुः । उक्तार्थस्य कश्चित् पुरुषार्थं नियमं विधत्ते— "स यो ह्येवं विद्वानिति । यः कश्चिदेवं वृत्तान्तं देवेषु मनुष्येषु च दृष्टं जानन् 'न ष्ठतीयते' भेदं न गच्छेत् । अथवा परैरुत्पादितो ज्ञातिभेद एव विदि न प्रवर्त्तत इत्यर्थः । अत एव 'द्विषताम्' अपि 'अप्रियं करोति' ; तत्प्रवेशावकाशस्यासम्भवात् । 'न द्विषद्वाः' 'रथ्यति' वशं याति । 'तस्मात्' विद्वान् 'न ष्ठतीयते' ॥ ३ ॥

"ते शोचुर्धनोदं तथा करवामहे, यथा न इदं माप्रदिव मेवाज्यं मसदिति । 'यथा' 'न' 'इदम्' ऐकमत्यं कर्म 'आप्रदिवम् एव' दुल्लोकावस्थित्यवसानम् 'अज्यम्' । "अज्यं सङ्गतम्"— इत्यनेन निपात्यते, अविनाशम् 'असत्' भवेत्, 'तथा करवामहे' 'इति' उक्तवन्तः ॥ ४ ॥

अनन्तरम्— "ते देवा इति । 'ते देवाः' 'जुष्टाः' प्रियभृताः 'तनूः' स्वस्वमूर्त्तिः । अस्य ध्याख्यानम्— "प्रियाणि धामानीति । अभिमतानि भोगायतनानि 'सार्द्धम्' एकत्र 'समवददिरे' विभज्य स्थापितवन्तः । तस्मिन् काले एव मन्त्रवन्— 'एतेन' स्थापितेन शरीरेण 'नः' अस्माकं मध्ये 'सः' समयातिक्रमकारौ 'नाना' 'असत्' विना भवेत् । एतदेव व्याचष्टे— "एतेन विष्वद्विति । 'विष्वङ्' सर्वतो भवेत्, विगीर्णो भवन्नित्यर्थः । तच्छब्दार्थं माह—

“यो न एतदतिकामादिति । ‘एतत्’ सङ्केतकर्म ‘अतिकामात्’
अतिकामेत् । “कस्योपद्रष्टुरिति । ‘उपद्रष्टा’ साक्षी, ‘कस्य’ ? तस्य
पुरस्तादिदं भवेदिति श्रेय । एव प्रश्न उपगम्य तैरेवेदं मुत्तर
मुक्तम्— “तनूनमुरेव शाकुरस्येति । तन्वो देहस्य न पातयिता
रक्षको देव ‘तनूनम्रा’^१ । अथवा सर्वतनूरात्मा प्रजापति, तस्या-
काश पुत्र, तत्पुत्रो वायुरिति स ‘तनूनम्रा’ । स च ‘शाकुर’ शक्र
सर्वं कर्तुम् । तस्य पुरस्तादित्यर्थः । स क इति, तं विशिनष्टि—
“यो वा अथ पवत इति । ‘योऽथ’ ‘पवते’ गच्छति, वायुरित्यर्थः^२ ।
वाक्षस्य वायो पुरुषचित्तद्रष्टृत्वं कथं घटत इति, तच्चाह— “सोऽथ
प्रजानां उपद्रष्टा प्रविष्ट इति । प्रविष्टस्य कथं नोपलभ्यते इति
तच्चाह— “ताविमौ प्राणोदामाविति । ‘इमौ’ प्रसिद्धौ यौ ‘प्राणो-
दामौ’ ‘तौ’ एव स इत्यर्थः ॥ ५ ॥

उक्तेऽर्थे कौकिकवचनं प्रमाणयति— “तस्मादाज्जर्मनो देवा
मनुष्यस्याजानन्तीति । दूरस्थानां देवानां कथं मनुष्यचित्तपरिज्ञानं
मित्याशङ्क्य तद्वारदारिक्येति दर्शयति— “मनसा सङ्कल्पयति
तत् प्राणं मभिपद्यत इत्यादि । प्राणप्रज्ञयोः परस्परविनाभावान्
मनसा सङ्कल्पितं प्राणं प्राप्नोति । वाक्षवायोरिव शरीरप्रवेशेन
प्राणत्वात् “प्राणो वातम्”—इत्युक्तम्^३ । अभिपद्यते सङ्कल्पितार्थं
विशिष्टं सन्नेवेति भावः । स च ‘वातः’ सर्वचाप्रतिहतगतित्वात्

१— ए० ब्रा० १ ४ ० द्रष्टव्यम् । व्याप० श्रौ० सू० ११ १ १-१ ।

२— ऐतरेये त्वन्यथैव वर्णितं तानून्यनिर्वधनम् (१ ४ ०) ।

३— इदमेव मूले (२२८ ६०) द्रष्टव्यम् ।

‘देवेभ्य आचष्टे, यथा पुरुषस्य मनः’ वर्त्तते । पुष्टे पापे वा वर्त्तते,
त मनतिवृत्त्यैवाचष्ट इत्यर्थः ॥ ६ ॥

उक्तेऽर्थे मन्त्रं प्रमाणयति—“तस्मादेत इति । “मनसा
सङ्कल्पयति, तद्वात मपि गच्छतीत्यादि^१ । स्पष्टोऽर्थः^२ ॥ ७ ॥

विशेषाभिधानाय पूर्वोक्तं तानूनम्र मनुवदति—“ते देवा
जुष्टास्तनूरित्यादिना । “तद्देवा इति । ‘तत्’ “एतेन नः स भाना-
सत्”-इत्युक्त मित्यर्थः^३ । ‘अथेतर्हि’ इदानीं मपि । अतिक्रमे बाध
माह—“के हि स्युरिति । यद्यतिक्रामेयुः, तर्हि के स्युः । उपपन्ति
माह—“अनृतं हि वदेयुरिति । देवत्व मतिहाय अनृतवदनात्
कुत्सिता मनुष्या भवन्तीत्यर्थः । देवानां सत्यवादित्वनियमे सति^४
अनृतं हीत्ययं दोषः स्यात् । स एव तेषु कुत इत्यत आह—
“एकं ह वै देवा व्रत मिति । सत्यवादफल माह—“तस्मादेषां जित
मनपजय मिति । यत् ‘अनपजयं’ जेतु मशक्यम्,^५ तत् ‘जितम्’
भवति । “तस्माद् यज्ञ इति । प्राप्नुवन्तीति शेषः । अथवा यज्ञो-
रूपा एव भवन्तीत्यर्थः । “एवं ह”—इत्यादिना उक्तार्थज्ञप्रशंसा ।

१— अस्त्येव मन्त्रोऽथर्वसंहितायाम् (१२. ४. ४) वज्रभिन्नपाठाश्रितः ।

२— अतएवोक्तं पाणिनिमुनिना स्वशिक्षायाम्—“व्यात्मा बुद्धा समे-
त्यार्थान् मनो बुद्धे विवक्षया । मन कायाभि माहन्ति स प्रेरयति
माहतम् । माहतस्त्वरसि चरन् मन्त्रं जनयति स्वरम्”—इत्यादि
२. ख. १—५ श्लो० । ३— पञ्चमो कण्डो (२२० ए०) इत्यथा ।

४— “सत्यसंहिता वै देवाः”—इति ऐ० ब्रा० १. १. ६ ।

५— “क्षय-जयो शक्यार्थे”—इति पा० सू० ६. १. ८१ ।

“तदेतत् तानूनघ्न निदानेनेति । स्वस्वशरीरसमवदानपूर्वक शपथ-
कर्म तानूनघ्नम्^१ । ‘तत्’ इदानीं मनुष्यीयमान ‘तानूनघ्नम्’ आज्य-
ग्रहणस्पर्शनात्मक कथं मेतद् भवेत् ? तत्राह— ‘निदानेन’ कारणे-
नेत्यर्थः ॥ ८ ॥

निदानं मेव दर्शयति— “ते देवाः” इत्यादिना । ‘देवा’ आज्यानि
गृह्याना एव स्वतनूरपि आज्येन ‘साङ्गं’ ‘समवददिरे’, अतः
इदानीन्तनैरपि तानूनघ्नं मेव समवदातव्यं मित्यनुमीयते ॥

प्रसङ्गात् किञ्चित् पुरुषार्थं माह— “तस्माद् न सर्वेणैवेति ।
‘सर्वेण’ बद्धजनेन सह ‘समवगति’ शपथपूर्वकं समयं ‘न’ कुर्यात् ।
तद्दोषं माह— “नेन्ने जुष्टास्तम्ब इति । ‘मे’ मम ‘जुष्टा’ अत्यन्त
प्रियभूता ‘तम्ब’ प्रियधामभूता सर्वे साकं ‘नेत्’ समभ्यवायान्
मेव सङ्गता भवेयुरिति । ‘नेत्’ परिभये । अभ्यवपूर्वादितेर्लट्^२ ।
“अथापि नेत्येष इदित्येतेन सम्ययुज्यते परिभये”—इति हि
निवृत्तम्^३ । ‘येनो ह’ येनापि खलु सह अशक्यत्वात् ‘अभ्यवेयात्’
तस्मै द्रोहं न कुर्यात् । तथाच लौकिका अपि ‘इदम्’ ‘आहु’ ।
किम् ? इति, ‘सतानूनघ्निणे’ सम्भूय शपथकारिणे ‘न द्रोघय्यम्
इति’ द्रोहो न कर्त्तव्य इति । “क्रुधद्रुहेर्येत्यादिना चतुर्थी” ॥ ८ ॥

अथ तानूनघ्नार्थं माज्यग्रहणं समन्त्रकं विधत्ते— “अथातो
गृह्यात्येवापतये त्वा परिपतय इति”^४ । अथ गृह्यामीत्यन्त एको

१— ‘पश्चरसखाय शपथरूपं माज्यस्पर्शनम्’ ऐ० ब्रा० १ ४ ७ सा० भा० ।

२— पा० सू० ४ ४ ० ।

३— निर० १ २ ६ ।

४— पा० सू० १० ४ २० ।

५— का० श्रौ० सू० ८ १ १६ ।

मन्त्रः^१ । “तनूनघ्रे शाकरायेति द्वितीयः^२ । शक्न ओजिष्ठा-
येति द्वितीयः^३ । अस्मिन् पक्षे ‘गृह्णामि’-इत्ययं सुत्तरयोरपि
मन्त्रयोरनुषज्यते । तच्च सुवेण सर्वस्य ध्रौवाव्यस्यैकवारं ग्रहणम्,
स्याख्याः सुवेण द्विर्ग्रहणम् । अथवा “तनूनघ्रे शाकराय”-“शक्न
ओजिष्ठाय”-इत्येतौ पूर्वमन्त्रग्रन्थौ, तथा सत्येक एव मन्त्रः^४ ॥

अत्र ब्राह्मणम्— “अथैत आख्यान्येव गृह्णाना जूष्ठास्तनूरिति ।
प्रत्येक माष्यग्रहणस्य श्रुतत्वात् सर्वे गृह्णीयुः । तथा च कात्यायनः—
“ध्रौवं व्रतप्रदाने गृह्णात्यापतय इति, द्विष्य स्याख्याः सुवेण तनूनघ्रे
शाकरायेति शक्न ओजिष्ठायेति, गृह्णामीति सर्वत्र साकाङ्क्षत्वात्,
पूर्वग्रन्थौ वीत्तरौ, प्रतिपुरुषं च ग्रहण माष्यानि गृह्णाना इति
श्रुतेः”-इति^५ ॥

मन्त्रस्यायं अर्थः— ‘आपतये’ आ अभिमुखं पतत्यागच्छतीति
‘आपतिः’, परिपततीति ‘परिपतिः’ वायुः; आष्य।^६ त्वां तस्मै
‘गृह्णामि’ ॥ १० ॥

“तनूनघ्र इति । उक्ताद्यौ तनूनघ्रशाकरशब्दौ^७ । ‘शक्ने’ सर्वत्र
शकाय, ‘ओजिष्ठाय’ अतिशयेन बलवते । “यो वा अयं पवते”—
इत्यादि ब्राह्मणं स्पष्टम् ॥ ११, १२ ॥

१— वा० सं० ५. ५. १ ।

२— वा० सं० ५. ५. २ ।

३— वा० सं० ५. ५. ३ ।

४— वा० सं० ५. ५. (१-२-३=) १ ।

५— का० श्रौ० सू० ८. १. १६-२३ ।

६— एतदेव व्याख्यं तानूवप्रसज्जं भवति (का० श्रौ० सू० ८. १. २४.) ।

७— पुरस्तात् (५ क० भा०, २१४ प०) द्रष्टव्यम् ।

गृहीतस्याज्यस्य सर्वैरवमर्गन विधत्ते— “अथातः समवमृगन्त्ये-
वेति^१ । स्वर्गकाले देवैः कृत मन्यसङ्केत दर्शयति— “एतद् वै
देवा भूय^२ समामिर इति । ‘एतद्’ वक्ष्यमाणं ‘भूयः समामिरे’
पूर्वाक्तसङ्केत मन्तरेण पुनस्तद्गता अभवन् । “अम गत्यादिपु^३ ।
‘यः’ ‘नः’ अस्माक मध्ये ‘एतत्’ ‘अतिक्रामात्’ अतिक्रामेत्, ‘मः’
‘इत्य’ देवभूत एव सन् ‘अमुया’ अन्यया प्रकारेण ‘असत्’ देव-
भावाद् विनश्येदित्यर्थः । न केवल देवाना मेवाय सङ्केतः,
किन्त्विदानीन्तमासुष्ठादृणा मित्याह— “तयो एवैत इति ॥ ११ ॥

“ते समवमृगन्तीति । अवमर्गनमन्त्रस्याय मर्थः^४ । हे आज्य !
तू पूर्वापरैः ‘अनाष्टृष्टम्’ आधर्षं मप्राप्त भवसि । तथा अनाधर्ष-
णीय मयमि । ‘देवानाम्’ ‘ओजः’ बलरूप ममि । ‘अनभिगस्ति’
निन्दकरहितम् । कर्त्तरि क्तिष्^५ । न केवलं तादृगेव, किन्तु
‘अभिगस्तिपाः’ । लिङ्गव्यत्यय^६ । अभिगस्तेर्निन्दायाः सकाशात् पाठ
अमि । ‘अनभिगस्तेन्यम्’ अहिंस्यम् । कृत्यार्थे केन्-प्रत्ययो नकारोप-
जनो यद्य^७ । अथवा अनभिगस्तेन स्वर्गादेः प्रदाहत्वेन सम्बन्धमि ।
यत एवं महानुभाव तम्, ‘अश्मसा’ प्रशङ्गेन, मुख्यया वृत्त्या ‘मत्य’
यथार्थस्वरूपम् ‘उपगेषम्’ उपगच्छेयम् । “गाह् गतौ”—इत्यस्य^८

१— का० श्री० सू० ८. १. २४ ।

२— आ० प० २६४ धा० ।

३— वा० सं० ५. ५ २ ।

४— पा० सू० ३. ३. १०४ ।

५— पा० सू० १. १. ८५ ।

६— पा० सू० ३. ३. १४ ।

७— आ० आ० ८५० धा० ।

“लिङ्गं लेट्”, “सिन्धुलम्”—इति^१ सिप्लं च । तेन सत्येन
‘स्त्रिते’ सुष्ठु प्राप्तौ ‘मा’ माम् ‘अधाः’ धारय ॥

मन्त्रं विभज्य व्याचष्टे— “अनाष्टया हि देवा आसन्ननाष्टया
इति^२ । पूर्वं कैरणनाष्टया अपि देवाः परस्परपरागेणाधर्मविषया
अपि सन्तः, पश्चात् सङ्केतपूर्वकेणाव्यग्रहणेन स्वग्ररीराण्यवमर्गन्तः
पुनः ‘अनाष्टयाः आसन्’, अतस्त्व मनाष्टयानां पुनरनाधर्पहेतुत्वात्
तद्रूप मसि । “सह सन्तः”—इत्यादि पदत्रय मनाष्टयत्वे हेतुत्वेन
निर्दिष्टम् । ‘सह सन्तः’ परस्परैकमत्येन वर्तमानाः, तथा ‘समानं
वदन्तः’ यदेको ब्रूते, तदन्येऽप्यनुकुर्वन्तः, ‘समानम्’ एक मेव कार्यं
मनसि ‘दध्राणाः’ धारयमाणाः । द्वितीयभागस्य तात्पर्यं माह—
“देवानां मोज इति । ओजोरूपाणां प्रियधाना मान्ये स्थापनात् ।
अनभिग्रस्त्यादिपदत्रयसैकतात्पर्यता माह— “सर्वा हि देवा
अभिग्रस्तिं तौणां इति । ‘सत्यं सुपगेयम्’—इत्येतस्य सत्यप्राप्तेः
प्रतिज्ञारूपत्वेन वागात्मकत्वात् ‘सत्यं वदानि’—इत्येवंरूपा सत्य-
प्राप्तिरुक्ता । तदेव सत्यं ‘मेदम्’—इत्यत्र ‘इदं’-शब्देन निर्दिष्टम् ।
‘स्त्रिते मा धाः’—इत्यत्र ‘स्त्रित’-शब्दार्थं माह— “स्त्रिते हि तद्देवा
इति । सुष्ठु प्राप्तव्यं स्त्रितम् ; तदत्र सत्यं मेव वदानीति प्रतिज्ञापूर्वकं
तदनुष्ठानं मेवेत्यर्थः ॥ १४ ॥

तामूनन्न मान्यं सर्वैः स्पृष्टं मपि सत् यजमानायैव दातव्यं मिति^३

१— पा० सू० १. ४. ७ ।

२— पा० सू० ३. १. ३४ ।

३— तैत्तिरीयसंहिताया मध्येष मन्त्रो व्याख्यातः (६. २. २. ५) ।

४— का० श्रौ० सू० ८. २. २. ३ ।

विधातु माह— “अथ यास्तद्देवा इति । इन्द्रशब्दस्य विवक्षित
 मर्थं माह— “एष वा इन्द्रो य एष तपतीति । इन्द्रेणै-
 तन्प्राप्तौ कोऽतिशयो सन्ध इति तत्राह— “न ह वा एष इति ।
 तापकतया, न ततापेत्यर्थं, ‘यथा ह एव’ ‘इदम्’ इदानीं परि-
 दृश्यमान तपनम् । तर्हि कथं मास ? ‘कृष्णम् एव’ कृष्णरूप मेव
 ‘ग्राम’ । तस्मात् ‘तेनैव’ ताम्रनग्राज्यस्त्रीकारजनितेनैव ‘वीर्येण’
 दुर्द्धर्षं सन् ‘तपति’ इत्यर्थं । “तस्माद् यदि बहव इत्यादि,
 प्रकृतपर्यवसानवाक्य स्पष्टम् । ‘अभ्युत्तिष्ठ’ उपरि तदाज्य माध्विष्ठ ।
 “स हि तेषा मिन्द्रभाजन भवतीति । ‘इन्द्रभाजनम्’ इन्द्रस्थानीय ।
 फलस्य साम्येऽपि गृहपतित्वेन वरणेन प्राधान्यादिन्द्रत्वम् । “यद्यु
 दक्षिणावतेति । यदि तु दक्षिणायुक्तेनैकाहादिना सोमयागेन
 दौचेतेत्यर्थं । स्पष्टं मन्यत् ॥ १५ ॥

यजमानेन क्रियमाणस्य सामोपायस्य देवैः कृतं माममूल
 मित्याह— “अथ यास्तद्देवा इति । ‘तत्’ अवत्त ‘माङ्गं’ ‘मञ्जुमे’ ।
 तदाज्येन साकं प्रक्षिप्तं शरीरकदम्बकं सहितं मेकं मभूत्,
 ‘तत्’ सामाभवत् । देवानां मत्थेनोत्पन्नत्वात् ‘मत्थं देवजं’ च
 ‘साम’ ॥ १६ ॥ ३ [४ ५] ।

इति श्रीमायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे चतुर्थाध्याये द्वितीय ब्राह्मणम् ॥

१— तत् तादृशमवत्तम् “मत्थं नृपिदध्यायमिधायाम्बुदेन”-इति वा०
 श्री० सू० ८. २. १ । ‘मत्थं = कम्पयित्वा’-इति तदसौ वा० ६० ।

(अथ द्वितीयं ब्राह्मणम्)

आतिथ्येन वै देवा इष्टा* । तान्समुदविन्दते तानू-
नत्रैः सुमशाम्यंस्तु एतस्य प्रायश्चित्ति मैच्छन् यदन्यो-
ऽन्यं पापं मुवदन्नाह पुरावभृथात् पुनर्दोक्षा मवा-
कल्पयंस्तु एता मवान्तरां दोक्षा मपश्यन्† ॥ १ ॥

तेऽग्निनैव त्वचं विपुल्याङ्गयन्त । तपो वा ऽग्नि-
स्तपो दोक्षा तुदवान्तरां दोक्षा मुपायंस्तद्युदवान्तरां
दोक्षा मुपायंस्तस्मादवान्तरदोक्षा सन्तरा मङ्गुलीराञ्चन्त
सन्तरां मुखलां पुर्यस्ता मेवैना भेतुत्सती पुर्यास्यन्त
तुथो एवैषु एतद्यदुतः प्राचीन मवत्यं वा करोत्यवत्यं
वा वृदति तुस्यैवैतत्प्रायश्चित्तिं कुरुते‡ ॥ २ ॥

सोऽग्निनैव त्वचं विपुल्याङ्गयते । तपो वा ऽग्नि-
स्तपो दोक्षा तुदवान्तरां दोक्षा मुपैति सन्तरा मङ्गुली-
रुचते सन्तरां मुखलां पुर्यस्ता मेवैना भेतुत्सती पुर्य-
स्यते प्रजा मु हैव तुहेवा उपायन्§ ॥ ३ ॥

तेऽग्निनैव त्वचं विपुल्याङ्गयन्त । अग्निर्वै मिथुनुस्य
कर्तुं प्रजनयिता तुप्रजा मुपायन्सन्तरा मङ्गुली-

* “इष्टा”-इति ग, घ ।

† “मपश्यन्”-इति ग, घ ।

‡ “कुरुते”-इति ख, “कुरुते”-इति ग, घ ।

§ “उपायन्”-इति ग, घ ।

राज्चन्त सन्तरां मेखलां तुत्प्रजा मात्मन्कुर्वन्त तृथो
ऽष्टवैपु एतुत्प्रजा मेवोपैति* ॥ ४ ॥

सोऽग्निनैव त्वचं विपुल्यद्भयते । अग्निर्वै मिथुनस्य
कर्त्ता प्रजनयिता तुत्प्रजा मुपैति सन्तरा मङ्गुलीरुचते
सन्तरां मेखलां तुत्प्रजा मात्मन् कुरुते ॥ ५ ॥

देवाना मु ह स्म दीक्षितानाम् । युः समिहारो वा
स्वाध्यायं वा विसृज्यते† तु ह स्मेतरस्यैवेतरः रूपेण-
तरस्येतर मसुररक्षसानि जिघाःसन्ति ते ह पापं वृदन्त
उपसमेयुरिति वै मां त्व मुचिकीर्षोरिति माजिघाःसी-
रित्यग्निर्हैव तृथा नान्य मुवादाग्निं तृथा नान्य‡ ॥ ६ ॥

ते होचुः । अपीत्यन्त्राः मग्नेऽवादिपूश्चरिति नैवाहु
मन्यं न सा मन्य इति॥ ॥ ७ ॥

तेऽविदुः । अयं वै नो विरक्षस्तमोऽस्यैव रूपु मसाम
तेन रुक्षाःस्यतिमोक्ष्यामहे तेन स्वर्गं लोकः सुमशु-
विष्यामह इति तेऽग्नेरेव रूपु मभवंस्तेन रुक्षाःस्यत्यु-
मुच्यन्त तेन स्वर्गं लोकः सुमाश्रुवत॥ तृथो ऽष्टवैपु

* “मेवोपैति”—इति ग, घ ।

† “विसृज्यते”—इति ग, घ, सायकसम्मतोऽय पाठ इति घाह डा. वेङ्क ।

‡ “नान्य”—इति ग, घ ।

§ “अपीत्यन्त्रा”—इति क, ख ।

॥ “इति”—इति ग, घ । * “सुमाश्रुवत”—इति च दृष्टो डा. वेङ्क ।

एतदग्नेरेव रूपं भवति तेन रुक्षाः स्यतिमुच्यते तेन
स्वर्गं लोकं सुमश्रुते स वे समिध मेवाभ्यादधदवान्तर-
दौक्षा मुपैति ॥ ८ ॥

सु समिध मभ्यादधाति । अग्ने व्रतपास्त्वे व्रतपा
दुत्यग्निर्हि देवानां व्रतपतिस्तस्मादाहुर्वाग्ने व्रतपास्त्वे
व्रतपा इति या तुव तनूरियः सा मुयि यो मुम तनू-
रेषा सा त्वयि । सह नौ व्रतपते व्रतानूति तुदग्निना
त्वचं विपुल्यङ्गयतेऽनु मे दौक्षां दौक्षापतिर्मन्यता मुनु
तुपस्तुपस्पतिरिति तुदवान्तरां दौक्षा मुपैति सन्तरा
मङ्गुलौरुचते सन्तरां मेखलां पुर्यस्ता मेवैना मेतुत्*
सतीं पुर्यस्यते ॥ ९ ॥

अथैन मुतो मुदन्तीभिरुपचरन्ति । तुपो वा ऽअग्नि-
स्तुपो मुदन्त्यस्तस्मादेनं मुदन्तीभिरुपचरन्ति ॥ १० ॥

अथ मुदन्तीरुपस्पृश्यां । राजान माष्याययन्ति
तद्यन्मुदन्तीरुपस्पृश्य राजान माष्याययन्ति वृजो वा
आज्यः रेतः सोमो नेदुज्जेणाज्येन रेतः सोमः द्विनुसा-
मेति तुस्मान्मुदन्तीरुपस्पृश्य राजान माष्याययन्ति ॥ ११ ॥

तुदाहुः । युस्मा ऽएतदाष्यायनं क्रियुत ऽआतिथ्यः

* “पुर्यस्ता मेवैतुत्”—इति ग, घ ।

† “मुदन्तीभिरुपस्पृश्यां”—इति ग, घ ।

सोमाय तु मेवाग्र* आष्याययेयुरुथावान्तरदीक्षा मथ
तानूनम्राणोति तदु तथा न कुर्याद्यज्ञस्य वा एव
कर्माच्च वा एनान्समुदविन्दते सःशम् मेव पूर्वं
मुपायन्नुथावान्तरदीक्षा मुथाप्यायनम् ॥ १२ ॥

तद्यदाप्याययन्ति । देवो वै सोमो दिवि हि सोमो
वृचो वै सोम आसीत् तस्यैतच्छुरीरं युजिरुयो यदु-
श्मानस्तुद्देपोऽशानाना मौषधिर्जायत इति ह स्माह
श्वेतुकेतुरौहालकिस्तु मेतदाहृत्याभिपुण्वन्ति तां
दीक्षोपसुद्भिस्तानूनपचैराप्यायनेन सोमं कुर्वन्तीति
तथो ऽगुवैना मेपु एतदीक्षोपसुद्भिस्तानूनपचैराप्यायनेन
सोमं करोति ॥ १३ ॥

मधु सारघ मिति वा आहुः । यज्ञो ह वै मधु सारघ
मथैत एव सरुघो मधुकृतो युद्वत्विजस्तद्यथा मधु मधु-
कृत आष्याययेयुरेव मेवैतद्यज्ञ माप्याययन्ति ॥ १४ ॥

यज्ञेन वै देवाः । इमां जितिं जिग्युष्यैषा मियं
जितिस्ते होचुः कथं न इदं मनुष्यैरनभ्यारोक्ष्युः
स्यादिति ते यज्ञस्य रुसं धीत्वा युथा मधु मधुकृतो
निर्हुयेयुर्व्विदुः यज्ञं यूपेन योपयित्वा तिरोऽभवन्नुथ
युदेनेनायोपयंस्तुस्माद्यूपो नुम ॥ १५ ॥

* “त मेवाग्र”-इति, “तु मेवाग्र”-इति चैतौ डा० वेबरदृश्यौ ।

तद्वा ऽऋषीणा मुनुश्रुत मास । ते यज्ञः सुभरन्
 युधायं यज्ञः सुभृत एवं वा ऽएषु यज्ञः सुभरति यो
 दूक्षते व्याग्वै यज्ञस्तद्यदेवाच यज्ञस्य निर्द्दितं यद्विदुग्धं
 तुदेवैतत्पुनराप्याययति ॥ १६ ॥

ते वै पुङ्गव भूत्वाप्याययन्ति । पङ्गव वा ऽऋतुव ऋतुव
 एवैतद्भूत्वाप्याययन्ति ॥ १७ ॥

त ऽत्राप्याययन्ति । अश्वशुरशुष्टे देव सोमाप्यायता
 मिति तुदस्याश्व मश्व मेवाप्याययन्तीन्द्रायैकधनविद
 ऽदतोन्द्रो वै यज्ञस्य देवता तुस्मादाहेन्द्रायेत्येकधन-
 विद ऽदुति शतुः शतः ह स वा ऽएषु देवान् प्रत्येकैक
 एवाश्वुरेकधनानाप्यायते दश दश वा तुभ्य मिन्द्रः
 प्यायता मा त्व मिन्द्राय प्यायस्वेतीन्द्रो वै यज्ञस्य देवता
 सा धैव यज्ञस्य देवता ता मेवैतदाप्याययत्या त्व
 मिन्द्राय प्यायस्वेति तुदेतस्मिन्नाप्यायनं दधात्याप्याय-
 यास्मान्सखीन्सन्ध्या मेधयेति स युत्सनोति तत्तुदाह
 युत्सन्धेत्यथ युदनुब्रूते तुदु तुदाह युक्मेधयेति स्वस्ति ते
 देव सोमसुत्या मशीयेत्येका वा ऽएतेषा माशीर्भवत्यृ-
 त्विजां च युजमानस्य च यज्ञस्योद्बुधं गच्छेमेति यज्ञ-
 स्योद्बुधं गच्छानोत्येवैतुदाह ॥ १८ ॥

अथ प्रस्तरे निह्रुवते । उत्तरतु उपचारो वै यज्ञोऽथै
तद् दक्षिणेना* न्वित्याप्याययन्त्यग्निर्वै यज्ञस्तुद्यज्ञं पृष्ठतु
कुर्वते† तन्मिथ्याकुर्वन्ति देवेभ्य आवृश्च्यन्ते यज्ञो वै
प्रस्तरस्तुद्यज्ञं पुनरारभन्ते तस्यो द्वैपा प्रायश्चित्तिस्तथो
द्वैपा नेतन्नु मिथ्याकृतं भवति नु देवेभ्य आवृश्च्यन्ते
तस्मात् प्रस्तरे निह्रुवते ॥ १९ ॥

तदाहुः । अक्ते निह्रुवीराश्नुनक्ताश्ऽइत्युनक्ते द्वैव
निह्रुवीन्ननुप्रहुरणुः ह्येवाक्तस्य ॥ २० ॥

ते निह्रुवते । एष्टा रायुः प्रेषे भुगाय ऽकृतु मृतवा
दिभ्य इति सत्युः सत्यवादिभ्य इत्येवैतुदाह नुमो द्यावा-
पृथिवीभ्या मिति तुदाभ्यां द्यावापृथिवीभ्यां निह्रुवते
ययोरिदं सुर्वं मुधि‡ ॥ २१ ॥

अथा ह समुल्लुप्य प्रस्तरम्१ । अग्नीन्मुदन्त्यापा३॥
ऽइति मुदन्तीत्यग्नीदाह ताभिरेह्यीत्युपर्युपर्यग्नि मति-
हुरति स युन्नानुप्रहुरत्येतेन ह्युत ऊर्ध्वान्युहानि
प्रचरिष्यन् भवत्युथ युदुपर्युपर्यग्नि मतिहुरति तुदेवा-
स्यानुप्रहृतभाजनं भवति तु मग्नीधे प्रयच्छति तु मग्नी-
न्निदधाति ॥ २२ ॥ ४ ॥

॥ इति तृतीयप्रपाठके चतुर्थं ब्राह्मणम् [४. ३.] ॥

* 'दक्षिणेना'—इति ग, घ ।

† "कुर्वन्ति"—इति ग, घ ।

‡ 'मधि'—इति ग, घ ।

१ प्रस्तारम्—इति ग, घ ।

२ "दन्त्यापाः"—इति ग घ

अवान्तरदीक्षां विधातु माह—“आतिथ्येन वै देवा इष्टा
तानिति । ‘ते’ ‘एतस्य’ तानूनग्रस्य त्रयधात्मकस्य दोषपरिहाराय ।
तानूनग्रस्य निन्दितत्वं माह—“यदन्योऽन्यं पापं मवदन्निति ।
“सत्यं वदानि”, मेदं सतिकमिषम्”—इत्येवं रूपं मित्यर्थः । “नाह
पुरेत्यनेन दोषपरिहारोपाय उक्तः । स्त्रीकृताया दीक्षाया अवमृश-
पर्यन्तामुर्वर्त्तने सति प्राग्गतस्य पापवदनस्य परिहारो भवति, सा
चानुवृत्तिर्न तैः कृतेत्यर्थः; मध्ये दीक्षापरित्यागादिति भावः ।
यदा स्त्रीकृताया दीक्षाया इदानीं मध्यपरित्यागात् तन्मध्ये
नूतनां ‘दीक्षा’ ‘पुनः’ ‘न’ ‘अवाकल्पयन्’, किन्तु प्रकृतदीक्षाया
अविरोधिनीम् ‘अवान्तरदीक्षाम्’ ‘अपश्यन्’ ॥ १ ॥

अवान्तरदीक्षाकल्पनप्रकार उच्यते—“तेऽग्निर्नैव त्वच मिति ।
‘विपश्चाद्भयन्त’ विविधं ‘परि’ परितः ‘आङ्गयन्त’ अवेष्टयन्;
अग्निं मेव त्वचं मकुर्वन्मित्यर्थः । अग्नेस्त्वग्भावे कः सम्बन्ध इति,
ततोच्यते—“तपो वा अग्निरिति । तपनसाधनत्वात् अग्निः ‘तपः’;
‘दीक्षा’ तु क्लेशात्मकत्वादेव ‘तपः’ । अवान्तरदीक्षां नामनिर्वचनेन
प्रशंसति—“तद्यदवान्तरा मिति । “सन्तरा मित्यादि । ‘सन्तरा
माञ्चन्त’ अतिशयेन संधिष्टा ऋद्धुल्लौरकुर्वन् । तथा ‘मेखलाम्’
अपि पूर्वां शिथिलवद्धां पुनः संलग्ना मकुर्वन् । तदेवाह—“पर्यक्षा
मेवेति । ‘पर्यक्षा मेव’ परितः क्षिप्ता मेव । अत मर्हतीति ‘प्रत्यम्’,
तद्विरोधि ‘अप्रत्यम्’ । ‘तस्य’ ‘एतत्’ अवान्तरदीक्षाख्यं कर्म
‘प्रायश्चित्तम्’, तस्य पापस्य निर्हरणं मित्यर्थः ॥ १ ॥

यदर्थं माख्यायिकासुखेनावान्तरदीचीकृता, त मिदानीं विधत्ते—
 “सोऽग्निनैवेति । ‘स’ यजमान । शिष्ट पूर्ववत् । अवान्तरदीचीं
 प्रजामाधनत्वेन प्रशंसति— “प्रजा सु हैवेत्यादिना ॥ ३ ॥

‘तेऽग्निनैव त्वच मिति । ‘अग्निर्वै’ मिथुनस्य कर्त्तृति ।
 धधूवरयोर्युग्मीभावस्याग्निसव्यपेक्षत्वात् मिथुनकर्त्ताग्निरुच्यते । सा
 प्रसिद्धि ‘वै’ शब्देनोक्ता । अश्विपत्नीतयो शुक्रशोणितरूपेण परि-
 णामस्य, पुनश्च देहाकारेण परिणामस्य चान्यधीनत्वात् ‘प्रजनयिता’ ।
 अथवा कथम् ‘अग्निर्मिथुनस्य कर्त्ता’ ? यतोऽसौ ‘मिथुनस्य प्रजन-
 यिता’ इति व्याख्यानव्याख्येयभावो द्रष्टव्य । देवानां प्रजार्थत्वं
 सुक्ता, इदानीन्तनयजमानस्यापि तदर्थत्वं माह— “तयो एवैव
 एतत् प्रजा मेवोपैतीति । ‘एतत्’ एतया अवान्तरदीक्षया ॥ ४ ॥ ५ ॥

अवान्तरदीक्षारूपेण समिदाधानं विधास्यते, तन्मन्त्रे “या
 तनूरिय सा मयि—इत्यादि वक्ष्यते, तदुपोद्घातत्वेनाख्यायिका
 माह— ‘देवानां सु ह सा दीक्षिताया मित्यादिना । ‘समिद्धारो
 वा’ समिधं हरतीति ‘समिद्धार । “हरतेरमुद्यमने च”—
 इत्युपोद्यमन इति पर्युदासात् तादृशोद्यमनस्य सम्भवात् सामा-
 न्येन प्राप्त ‘कर्मण्यण्’—इत्यण् । “स्वाध्याय वा विस्मृत इति ।
 ‘विस्मृतं’ नोच्चारयति’ कथितम् । ‘त ह’ समिदाहर्त्तारं वा
 अलिङ्ग वा मन्त्रोत्सृष्टारम् । उपलक्षणं मेतत् । अलिङ्गा मध्ये य

१— पा० सु० २ २ ६ ।

२— पा० सु० २ ० १ ।

३— उच्चारयति—इति क ।

कञ्चिन्न व्यापृतम्, तम् । 'इतरम् इतरस्य रूपेण'—'इतरम् इतरस्य रूपेण'— समिदाहर्तृरूपेण प्रवचनकर्तारम्, प्रवचनकर्तृरूपेण समिदाहर्तार मित्यर्थः । एवम् 'असुररचसानि' असुराश्च रचांसि च 'जिघांसन्ति' हन्तु मिच्छन्ति । तथा सति देवाः 'इति' खलु 'मां त्वम्' 'अचिकीर्षीः' कर्तुं मैच्छः 'इति' । 'मा' मां 'अजिघांसौः' हन्तु मैच्छः 'इति' । 'पापं वदन्तः' 'उपसमेयुः' अन्योऽन्यं प्राप्नुवन्ति । किं मग्निरपि तादृग्विषयापन्नः ? नेत्याह— "अग्निर्हेव तथा नान्य मिति । 'उवाद' उदितवान् ॥ ६ ॥

"ते होचुरिति । 'ते' असुरैरभिभूता देवाः । 'अग्ने !' 'त्वा मपि 'इत्यम्' अनेन प्रकारेण किम् 'अवादिषूर्' । प्रश्ने भुतिः^१ । तल्लोत्तरम्— 'नैवाह मन्यम्, न मा मन्यः' वा अवादौदित्यग्निः प्रत्युवाच ॥ ७ ॥

"तेऽविदुरिति । 'अयम्' अग्नि 'नः' अस्माकं मध्ये 'विरच-स्तमः' विरचो यस्मात् स विरचाः, अतिशयेन विरचाः 'विरच-स्तमः' । "अस्मैवरूप मसाम"—इत्यादि । स्पष्टम् । यद्यपि मेखला-क्षणाजिन-धारणादिक मपि दीक्षाङ्गम्, तथाप्यवान्तरदीक्षायां समिदाधानस्य मुख्यत्वात् "समिध मेधाभ्यादधदवान्तरदीक्षा मुपै-तौत्युक्तम् ॥ ८ ॥

"स समिध मभ्यादधातीति^२ । "अग्ने व्रतपा इत्यादिः^३ समिदाधानमन्तः । हे 'व्रतपा अग्ने !' 'त्वे' त्वयि व्रतस्य पातरि

१— 'जिघांसौ'—इति क ।

२— पा० सू० ८ २. १०० ।

३— का० श्रौ० सू० ८ २. ४ क ।

४— वा० सं० ५. ६. ११

सति, अह 'व्रतपाः' व्रतस्य पालयिता, भूयास मित्यर्थः । सप्तम्याः
 ग्रे-आदेशः^१ । अथवा 'व्रतपाः' भवति 'ले' लम् । “अग्निर्हि
 देवानां व्रतपति”-इत्यत्र 'हि'-शब्देन “ल मग्रे व्रतपा अग्नि देव
 आ मर्त्येषु”-इत्यादि^२ श्रुत्यन्तरप्रसिद्धिर्द्योत्यते । ‘या तव’ तेजोमयी
 ‘तनू’ अस्ति, ‘मा’ ‘इय’ ममापि भवतु, तथा ‘या मम’ इत्येतद्
 व्याख्येयम् । हे ‘व्रतपते’ अग्रे । ‘मौ’ आवां ‘सह’ ‘व्रतानि’, चरित्याव
 इति शेष । ‘तत्’ तेन तनूविनिमयेन मन्त्रगतेन । “अतु मे
 दीक्षाम्”-इति मन्त्रभागे^३ ‘दीक्षा’-शब्दश्रवणात् तन्मन्त्रभागपाठे-
 नावान्तरदीक्षां प्राप्तवान् भवति ॥

दीक्षाकृत्यनन्तर पुनरहुन्यादिसमञ्जनस्याभिधानात् आदौ
 दीक्षाकृतिः कर्त्तव्या, यथात् समञ्जन मिति क्रमोऽवगम्यते ॥ ८ ॥

अथ यद्यद्यजमानस्य तत्तन्मदन्तीभिः कर्त्तव्य मिति विधत्ते-
 “अथैन मतो मदन्तीभिरिति” । ‘एन’ सोम यजमान वा ।
 तप्ता आपो ‘मदन्य’ । अग्नेर्मदन्तीनाञ्च यन्तापकत्वात् तपोरूप-
 त्वम् ॥ १० ॥

मदन्त्युपसर्गनपूर्वकं राजायायनं विधत्ते- “अथ मदन्तीभि-
 रुपसृष्ट्य राजान मिति” । “वज्रो वा आज्य मिति । “एत वै देवा

१- पा० सू० ७ १ ३६ ।

२- वा० स० ४. १६ ।

३- वा० सं० ५ ६ २ । तैत्तिरीयकल्पमते मन्त्रान्तर इय, यजमान
 मिम वाचयति । वै० स० १. २. १० सा० मा० ३४४४ ।

४- का० श्रौ० सू० ८. २. ४ ख ।

५- का० श्रौ० सू० ८ २ ६ ।

वञ्च कृत्वा सोम मघ्नन्”—इति^१ श्रुतेराज्यस्य वञ्चत्वम् । सोमस्य सर्वौषध्यनुप्रवेशात्, रेतसश्चौषधिजन्यत्वात्^२ रेतस्त्व सोमस्य । अथवा “पञ्चम्या माज्जतावाप पुरुषवचसो भवन्ति”—इति^३ आज्जतिरूपस्य सोमस्य क्रमेण रेतोरूपेण परिणामात् रेतस्त्वम् ॥ ११ ॥

अमुद्येयपदार्थक्रमविषये किञ्चिद् ब्रह्मवादिनयोश्च मुद्गावयन्ति— तदाज्जर्घसा एतदाप्यायन क्रियत इति । ‘यस्मै सोमाय एतत् आतिथ्य क्रियते’, ‘त मेव’ ‘अग्रे’ आप्यायनादिभिः सत्कर्तुं युक्तम् । सोमसम्बन्धाभिप्रायेण चोद्य उद्गाविते यागसम्बन्धेन परिहरति— “यज्ञस्य वा एव कर्मेति । एवमकारक्रमविशिष्ट कर्मजात यज्ञस्य खलु क्रियत इत्यर्थः । ‘अच’ खलु ‘एनान्’ ‘समत्’ कलह ‘अविन्दत्’ आप्नोत् । ‘ते’ च देवा ‘पूर्वं सशम मेवोपायन्’ कलहोपशमनरूप तानूनम्र ते कृतवन्त इत्यर्थः । “अथावान्तरदौषा मिति । शपथ-जनितदोषपरिहाराय अनन्तर मेव अवान्तरदौषा कार्या । अतः परिशेषादाप्यायनस्यान्ते निवेश इति ॥ १२ ॥

“तद्यदाप्याययन्तीति । आप्यायन प्रशंसति— “दिवो वा इति । सोमस्य देवत्व समर्पयते— “दिवि हीति । अस्त्वेव सोमस्य, सोमस्याप्यायने किं मायात मित्यत आह— “वृषो वा इत्यादि । तद्रेन्द्रघातकोत्पत्त्यर्थं कृतस्येन्द्रपीतसोमशेषस्य वृचत्वेनोत्पत्तेः सोमस्य वृचत्वम् । ‘तस्य’ इन्द्रेण हतस्य वृचस्य ‘शरीर’ ‘गिरयोऽस्यान’

१— तै० स० ६ २ २ ७ । इहाप्युत्तरत्र ४ ४ ६ द्रष्टव्यम् ।

२— ‘रेतसश्चौषधिसाररूपत्वात्’—इति ४ ।

३— ऊ० ब्रा० ७ ६ १ । इहोपरिष्ठायास्तेषां कथा १४ ६, १ ।

चाभवन् । सोमाख्य वस्त्रेव सोमशरीरभूतेषु गिर्यादिषु वर्तते,
 'तत् एष' अशनाख्या^१ 'ओषधि' 'जायते',—'इति' एव श्वेतकेत
 औद्दालकि आह^२ स्म । अत 'ता मेव' गिरावुत्पन्ना मेव इदा-
 नीन्तना यजमाना 'अभिपुष्वन्ति', न साक्षात् सोमम् । अत
 'तान्' ओषधि दीक्षादिभि सस्कारै साक्षात् 'सोम कुर्वन्ति' ।
 "तथो एवैना मेघ इत्यादि ॥ १२ ॥

अतिगम्यजमानकर्तृक माष्यायन सारघमधुकल्पनया^३ प्रशंसति—
 "मधु सारघ मिति^४ वा आऊरित्यादिना ॥ १४ ॥

एतदेवाष्यायन^५ गतसारत्वपरिहारात्मना प्रशंसति— "यज्ञेन वै
 देवा इमा जिति जिग्युरित्यादिना, "यदेवाच यज्ञस्य निर्द्वीत
 यद्विदुग्ध तदेवैतत् पुनराष्याययन्तीत्यन्तेन । एतदसहृद् व्याख्या
 तम् ॥ १५, १६ ॥

"ते वै षड् भूत्वाष्याययन्तीति । स्पष्टम् ॥ १७ ॥

"त आष्याययन्तीति । आष्यायनमन्त्रस्य प्रथमभाग व्याचष्टे—
 "अशुरशष्टे देवेत्यादि^६ । यद्यष्याष्यायने सोमस्य सर्वोऽशुर्नाष्या-
 यते, तथापि मन्त्रे 'अशुरशु'-इति वीष्णाभिधानसामर्थ्येनैव प्रत्यश
 आष्याययन्तो भवन्तीत्यर्थः । "इन्द्रायैकधनविद् इति । अत्रेन्द्र-
 शब्दतात्पर्यं माह— "इन्द्रो वै यज्ञसेति । "एकधनानाष्यायते ऽथ

१— 'दूमानाख्या (! उशनाख्या)'—इति क ।

२ ३— क पुस्तकीयपाठाविह त्वत्तरन्धमजन्तौ ।

४— तै० स० २२ ८ दृष्टव्यम् ।

५— वा० स० ५ ७ १ ।

दश वेति । एक एव सोमादिरूपो हवि पदार्थ एव^१ धन येषा, ते देवा एकधना , तान् विन्दति, यज्ञे सोमपानाय लभत इतीन्द्र 'एकधनवित्' । 'तस्मात्' एकैक एवाशु शतशो दशशो वा 'एकधनान्' देवान् 'आप्यायते' वर्द्धयति, शरीरोपचय करोति, अत उक्तप्रकारेण सोमाख्यैकधनेन देवाना मेकधनत्वात् मन्त्र 'इन्द्रायैकधनविदे' 'इति' 'आह' इत्यर्थः । "आ तुभ्य मिन्द्र प्यायता मिति । हे सोम । 'तुभ्य' त्वदर्थं, त्वा पातु स इन्द्र समर्था भवत्विति । यज्ञसाधनभूतस्य सोमस्येन्द्रार्थत्वावगमादिन्द्रस्यैवाप्यायन कृत भवतीत्यर्थः । "आ त्व मिन्द्राय प्यायस्वेति । अत्र सोमाप्यायनस्येन्द्रार्थत्वावगतेस्तस्मिन्नेवाप्यायन दधातीत्युक्तम् । 'आप्याययाम्नासखीगन्त्या मेधयेति । अनेन मन्त्रभागेन धन मेधा दिव्ययाप्यायनायास्तसखिभूताना ऋत्विजा भाशासन क्रियते । अत्र 'सनि मेधा'-शब्दयो दातव्य धन मनुवचनीय मित्याह— "स यत् मनोति, तत्तदाह यत् सन्वेतीति । 'सन्वा'—'इति' एवरूपेण शब्देन यदाहार्थजातम्, 'तद्' 'यत् मनोति' धन यज्ञेन यजमान, 'तदाह' इत्यर्थः । एव सुत्तरवाक्य मपि योज्यम् । पूर्वापरीभूतस्यानुवचनस्य मेधा मन्तरेण-सम्भवात् मेधाशब्दस्यानुवचन मर्थ इति व्याख्यातम् । 'स्वप्ति ते देव सोमेति । हे 'सोम' तव 'स्वप्ति' विनाशाभाव चेम, अस्त्विति शेषः । अहं त्वदनुग्रहात् 'सुत्यां' सोमाभिषवम् 'अग्नीय' प्राप्नुयाम् । सुत्याप्राप्तिप्रार्थनायास्तात्पर्यं भाह— "एका वा एतेषा

माग्रीर्भवतीति । “यज्ञस्योदृक् मिति । उपरिभाविनी^१ ऋक्
‘उदृक्’, तथा समाग्निलक्ष्यते ॥ १८ ॥

आप्यायन मभिधाय निऋव माह—“अथ प्रस्तरे निऋवत
इति^२ । प्रस्तरस्योपरि पाणी समुटीकृत्य “एष्टा राये”-इति^३
मन्त्रजपो निऋव । निऋवशब्दोऽपलापे प्रसिद्धो लोके^४, इह
देवानां नमस्कारादिना सान्त्वन विहितम् । निऋव सोमाप्यायन
काले सम्भावितस्यातिक्रमस्य परिहाररूपेण प्रशमति—“उत्तरत
उपचारो वै यज्ञ इति । उत्तर उपचार इति व्यतिरेकप्रदर्शनाय
अभिधानं साध्यसाधनयोरभेदाभिप्रायेण । अग्रेय्यज्ञत्वं मृत्विजां
दक्षिणत उपचारेण । पश्चाद्भागस्थितस्य गार्हपत्यस्य पृष्ठतः करण
भवति, तेन ‘मिथ्या’ अहृत ‘कुर्वन्ति’ अग्रे सर्वदेवात्मकत्वात्
सर्वदेवेभ्योऽपि वर्जितो भवति । तर्हि प्रस्तरनिऋवेन कथं समा-
धानं मिति, तथाह—‘यज्ञो वै प्रस्तर इति । हविराधारकत्वेन
यज्ञनिर्वर्तकत्वात् प्रस्तरस्य यज्ञलोपचारः ॥ १८ ॥

निऋवस्य कालं निर्द्धारयितुं ब्रह्मवादिना विचारं दर्शयति—
“तदाऽऽरक्ते निऋवीराश्नमक्ताश्इतीति^५ । किम् ‘अक्ते’ प्रस्तरे

१—‘तदुपरिभाविनी’-इति छ ।

२— का० श्रौ० सू० ८ २ ८ ।

३— वा० स० ५ ७ २० ।

४— तथा चामर — ‘व्यपलापस्तु निऋव -इति (१ ६ १०), पुन
व्यपञ्चवेऽपि निऋतावपि निऋव”-इति (३ ३ २०७) घ ।

व्यपञ्चवोऽपलापो निऋतिः शाब्दं मिति तद्वैकायाम् ।

५— का० श्रौ० सू० ८ २ १०, ११ ।

निष्कवः कर्त्तव्यः, उतानक्ते ? इति विचार्यमाणत्वात् श्रुतिः^१ । अक्रस्य
अविलम्बेनाद्यौ^२ प्रहरणात् अक्ते एव प्रसरे कर्त्तव्य मित्यर्थः ॥ १० ॥

“ते निष्कवत एष्टा रायः प्रेष इति^३ । निष्कवमन्त्रस्याय मर्थः ।
हे ‘एष्टः’ ! वृजन्तस्य सम्बुद्धिः । धनं यजमानार्थं मिच्छन् अग्रे^४ ।
अत्र ब्राह्मणे सोमायाधननिष्कवातिकमस्योक्तत्वात् स एव प्रमाध्यः ।
‘रायः’ धनानि, प्रयच्छसिति शेषः । किमर्थम् ? ‘इष्टे’ अन्नाय,
‘भगाय’ सौख्याय च । तथा ‘स्यतवादिभ्यः’ सत्यवादिभ्योऽस्यभ्यम्
‘कृतं प्रयच्छ’ क्रियमाणं कर्म यथा न वृथा स्यात्, तथा कुर्वि-
त्यर्थः । सर्वदेवाग्रयाभ्यां ‘द्यावापृथिवीभ्यां’ ‘नमः’ अस्तु । स्यतशब्द-
भ्योदकयज्ञार्थेषु^५ अभिमतं मर्थं माह— “सत्यवादिभ्य इतीति ।
द्यावापृथिवीभ्यां नमस्कार एव निष्कव इत्याह— “द्यावापृथिवीभ्या
मेव निष्कवत इति । अस्तु नमस्कारेण तयोर्निष्कवः, इतरेषां
देवानां न कथं कृतं स्यादिति, तथाह— “ययोरिदं सर्वं मधीति ।
यस्मात् तयोरन्तः ‘इदं’ परिदृश्यमानं सर्वम् ‘अधि’ म्यित मिति

१— पा० सू० ८. २. ८० । २— ‘विलम्बेनाद्यौ’—इति छ ।

३— ते० सं० ६. २. १. ८ । निष्कवप्रकारस्त्वापन्तमेव स्फुटं दर्शितं ।
(औ० सू० ११ १. १२) ।

४— “पदा एष्टा इति प्रथमान्तम्”—इत्यादि ध व्याख्यातम् ऐ० ब्रा० १
४ ८ सा० भा० दृश्यम् ।

५— निघ० १. १०. ६८ (उदकम्), ३. १०. २८ (धनम्), ३. ११. ८
(सत्यम्), निघ० ६. ३. ० (यज्ञः), १०, ३, ३ (वायुः) ।

शेष । तस्मादित्यर्थः । अथ वा 'अधि'-इति सप्तम्यर्थानुवादी,
तयोरधीद् सर्वं मिति^१ ॥ २१ ॥

अध्वर्युकर्तृकं शेषं दर्शयति—“अथाह समुक्षुण्य प्रस्तरं
मग्नीन्मदन्यापादतीति^२ । 'प्रस्तर' 'समुक्षुण्य' सम्मगादृत्येत्यर्थः । हे
'अग्नीत्' । 'आप' किं 'मदन्ती' मदन्त्य तप्ता, 'ताभिरेहि'
इति, 'आह' इति शेषः । तम् प्रस्तरम् 'अग्निम् उपर्युपरि'
अग्नेरुद्धोर्द्धभावे 'अतिहरति' अनुग्रहरेत्^३ । अनुग्रहरणस्य प्रयोजनं
माह—“एतेन ह्यत ऊर्ध्वानीति । 'एतेन आतिथ्यार्थप्रस्तरेण ।
उपर्युपरि प्रहरणस्य प्रयोजनं माह—“तदेवास्यानुग्रहतभाजनं
भवतीति । 'तम्' अध्वर्युणा दत्तं प्रस्तरम्, 'अग्नीत्' अग्नीद्वयं
सुरचिते देगे 'निदधाति' स्थापयेत् ॥ २१ ॥ ४ [४ ३] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे चतुर्थाध्याये द्वितीय ब्राह्मणम् ॥

१— वा० स० ५ ७ २ ।

२— का० श्रौ० सू० ८ २ ११ ।

३— अति हति न प्रहरेत्—इति क् ।

४— का० श्रौ० सू० ८ २ १२ ।

(अथ चतुर्थं ब्राह्मणम्) ।

ग्रीवा वै यज्ञस्योपसुदः शिरः प्रवुर्ग्यः । तुस्माद् यदि
प्रवुर्ग्यवान् भवति प्रवुर्ग्येण प्रचर्याथोपसुद्धिः प्रचरन्ति
तुङ्ग्रीवाः प्रतिदधति ॥ १ ॥

तद्याः पूर्वाह्नेऽनुवाक्या भवन्ति । ता अपराह्ने
याज्या या याज्यास्ता अनुवाक्यास्तद्युतिपजति तुस्मादि-
मानि ग्रीवाणां पूर्वाणि व्युतिपक्तानीमान्यस्यौनि ॥ २ ॥

देवाश्च वा ऽश्वसुराश्च । उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे
ततोऽसुरा एषु लोकेषु पुरश्चकिरेऽयस्मयी मेवास्मिंस्लोके
रजता मन्तुरिक्षे हुरिणीं दिवि* ॥ ३ ॥

तद्देवा अस्पृण्वत । तु ऽएताभिरुपसुद्धिरुपासीदं-
स्तद्युदुपासीदंस्तुस्मादुपसुदो नाम ते पुरः प्राभिन्द-
न्निमांस्लोकान् प्राजयंस्तुस्मादाहुरुपसुदा पुरं जयन्तीति
यदुदोपासते तेनेमां मानुषीं पुरं जयन्ति ॥ ४ ॥

एताभिर्वै देवा उपसुद्धिः । पुरः प्राभिन्दन्निमां-
स्लोकान् प्राजयंस्तुथो ऽएवैषु एतन्नाहैवास्मा ऽअस्मिं-
स्लोके कुश्वन पुरः कुरुत ऽइमानेवैतुस्लोकान् प्रभि-
नुत्तीमांस्लोकान् प्रजयति तुस्मादुपसुद्धिर्यजते ॥ ५ ॥

* “दिवि”—इति ग, घ ।

† “निमांस्लोकान्”—इति क, ग, घ । एव मिद्योपरचापि सर्वत्र ।

ता वा ऽआज्यहविषो भवन्ति । वृजो वा ऽआज्य
मेतेन वै देवा वृजेणाज्येन पुरः प्राभिन्दन्निमां-
सलोकान् प्राजयंस्तयो ऽएवैष एतेन वृजेणाज्येनेमां-
सलोकान् प्रभिनुत्तौमांसलोकान् प्रजयति तस्मादाज्य-
हविषो भवन्ति ॥ ६ ॥

स वा ऽअष्टौ कृत्वो जुह्वां गृह्णाति । चतुरूपमृत्युयो
ऽइतरुयाहुश्चतुरेव कृत्वो जुह्वां गृह्णीयादष्टौ कृत्व
उपमृतीति ॥ ७ ॥

स वा अष्टावेव कृत्वो जुह्वां गृह्णाति । चतुरूपमृति
तद्वज्रमभिभारं* करोति तेन वृजेणाभिभारेणेमां-
सलोकान् प्रभिनुत्तौमांसलोकान् प्रजयति ॥ ८ ॥

अमीपोमौ वै देवानां सयुजौ । ताभ्यां साहुं
गृह्णाति विष्णव ऽएकाकिनेऽन्यतरु मेवाधार माधारयति
युः सुवेण प्रतिक्रामति वा ऽउत्तर माधारु माधार्याभि-
जित्या ऽअभिजयानूति तस्मादन्यतरु मेवाधार माधार-
यति युः सुवेण† ॥ ९ ॥

अथाश्राव्य न होतारं प्रुहणीते । सीद होतरित्येवा-

* 'मतिभार'—इति सा०—सम्मत इति डा० वेबर ।

† "सुवेण"—इति ग, घ ।

होपविशति होता होतृपुदन उपविश्य प्रसौति प्रसूतो
ध्वर्युः सुचावादत्ते ॥ १० ॥

सु आहातिक्रामनग्रयेऽनुब्रूहीति । आश्राव्याहामि
यजेति व्यपदकृते जुहोति* ॥ ११ ॥

अथाह सोमायानुब्रूहीति । आश्राव्याह सोमं
यजेति व्यपदकृते जुहोति ॥ १२ ॥

अथ यदुपभृत्याज्यं भवति । तत् समानुयमान आह
विष्णवेऽनुब्रूहीत्याश्राव्याह विष्णुं यजेति व्यपदकृते
जुहोति ॥ १३ ॥

स युत् समानुच तिष्ठन् जुहोति । न युधेदं
प्रचुरन्तश्चरत्यभिजित्या अभिजयानीत्यथ युदेता
देवता यजति वृज मेवैतत् सुशक्तरोम्यमि मनीकः
सोमः शल्पं विष्णुं कुल्लसः ॥ १४ ॥

संवत्सरो हि वृजः । अग्निर्वा अहः सोमो रावि-
रुथ यदन्तरेण तद् विष्णुरेतद्द्वै परिस्रवमानः संवत्सरुं
करोति ॥ १५ ॥

संवत्सरो वृजः । एतेन वै देवाः संवत्सरेण वृजेण

* 'जुहोति'—इति ख । एव मुत्तरचापि द्यो ।

† 'युधेद'—इति पाठ सा—सम्मत इति डा० वेबरः । 'युधेद'—इति घ ।

‡ 'मनीक'—इति क, ख । एव मिहोत्तरचापि सर्वत्र ।

§ 'कुल्लस'—इति ख । अथ मेव पाठ कडोष्देदाद् परन्त्य म्यात् साधु ।

पुर प्राभिन्दन्निमांल्लोकान् प्राजयंस्तुथो ऽएवैषु एतेन
सवत्सरेण वृजणेमांल्लोकान् प्रभिनुत्तौमांल्लोकान्
प्रजयति तुस्मादेता देवता यजति ॥ १६ ॥

स वै तिसु उपसुद उपेयात् । त्रयो वा ऽकृतुव
सवत्सरस्य सवत्सरस्यैवैतद्रूपं क्रियते सवत्सर मेवैतत्
सुःस्करोति द्विरेकया प्रचरति द्विरेकया ॥ १७ ॥

ता पद् सुम्पद्यन्ते । पद् वा ऽकृतुव सवत्सरस्य
सवत्सरस्यैवैतद्रूपं क्रियते सवत्सर मेवैतत् सुःस्का-
रोति ॥ १८ ॥

युद्यु द्वादशोपसुद उपेयात्* । द्वादश वै मासा-
सवत्सरस्य सवत्सरस्यैवैतद्रूपं क्रियते सवत्सर मेवैतत्
सुःस्करोति । द्विरेकया प्रचरति द्विरेकया ॥ १९ ॥

ताश्चतुर्विंशति सुम्पद्यन्ते । चतुर्विंशतिर्वै सवत्सर-
स्यार्द्धमासा सवत्सरस्यैवैतद्रूपं क्रियते सवत्सर मेवै-
तत् सुःस्करोति ॥ २० ॥

स युत सायुम्प्रात प्रचरति । तथा ह्येव सम्पुत
सम्पुद्यते स युत् पूर्वार्द्धे प्रचरति तुज्जयत्युथ युदपराह्णे
प्रचरति सुजित मसदित्युथ युज्जुहोतीदं वै पुरं युध्यन्ति
ता† जित्वा स्वाः सती प्रपद्यन्ते ॥ २१ ॥

* 'उपेयात्'-इति ग घ ।

† नास्त्येव यद् छ-पुष्पक

स युत्प्रचरति । तुद्युध्यत्युथ युत् सन्तिष्ठन्ते तुज्जयत्युथ
युज्जुहोति स्वा मेवैतत् सतीं प्रपद्यते ॥ २२ ॥

सु जुहोति । युया द्विरेकस्याहः प्रचरिष्यन् भवति
या ते ऽअग्नेऽयःशया तनूर्वृषिष्ठा गह्वरेष्ठा* । उग्रं वृचो
अपावधीत्त्वेपं वृचो अपावधीत् स्वाहेत्येवुरूपा हि
सासौदयस्तुयी हि सासीत् ॥ २३ ॥

अथ जुहोति । युया द्विरेकस्याहः प्रचरिष्यन् भवति
या ते ऽअग्ने रजःशया तनूर्वृषिष्ठा गह्वरेष्ठा । उग्रं
वृचो ऽअपावधीत्त्वेपं वृचो ऽअपावधीत् स्वाहेत्येवुरूपा
हि सासौद्रजता हि सासीत् ॥ २४ ॥

अथ जुहोति । युया द्विरेकस्याहः प्रचरिष्यन् भवति
या ते ऽअग्ने हरिशया तनूर्वृषिष्ठा गह्वरेष्ठा । उग्रं
वृचो ऽअपावधीत्त्वेपं वृचो अपावधीत् स्वाहेत्येवुरूपा
हि सासौहुरिणी हि सासौद् युद्युद्वादशोपसुद उपे-
याचतुरह मेकया प्रचुरेच्चतुरह मेकया ॥ २५ ॥

अथातो व्रतोपसुदा मेव । पर उर्व्वीर्व्वि ऽअन्या
उपसुदः पुरोऽक्षीरन्याः स यासा मेकं प्रथमाहं दोग्ध्युथ
द्वावुथ त्रींस्ताः पर उर्व्वीरुथ यासां चीन् प्रथमाहं

दोग्ध्यथ द्वावयैकं ताः पुरोऽह्वीर्या वै पुरोऽह्वीस्ताः पर
उर्वीर्याः पर उर्वीस्ताः पुरोऽह्वीः ॥ २६ ॥

तुपसा वै लोकं जयन्ति । तुदस्येतत् परः-पर एव
व्वरीयस्तुपो भवति परः-परः श्रेयाःसंस्तोकं जयति
व्वसीयानु ह्रैवास्मिंस्तोके भवति यु एवं व्विद्वान्
पुरोऽह्वीरुपसुद उपैति तुस्माद् पुरोऽह्वीरेवोपसुद
उपेयाद् युद्यु द्वादशोपसुद उपेयात् त्रैश्वतुरहुं दोहयेद्
द्वौ चतुरह मेकं चतुरहुम् ॥ २७ ॥ ५ ॥

॥ तृतीयप्रपाठके पञ्चमं ब्राह्मणम् [४. ४.] ॥

इत्य भातिथ्य मभिधाय अथोपसदस्तत्कालञ्चाह— “धीवा वै
यज्ञस्योपसदः, शिरः प्रवर्ग्य^१, तस्माद् यदि प्रवर्ग्यवान् भवति,
प्रवर्ग्येण प्रचर्याथोपसद्भिः प्रचरन्तीति^२ । ‘तत्’ तेन प्रवर्ग्यानन्तर^३
मुपसदनुष्ठानेन ‘धीवा.’ अवयवापेक्षया बह्ववचनम्, ‘प्रतिदधाति’
शिरसा सह योजितवान् भवति । “न प्रथमयज्ञे प्रवृज्यात्”-इति^४

१— ऐतरेयब्राह्मणे भातिथ्यस्य शिरस्व मुपसदा धीवात्वम् (१. ४. ८) ।

२— “प्रवर्ग्योपसदावत”-इति का० श्रौ० सू० ८. २. १५ ।

३— प्रवर्ग्यं मुपरिष्ठाद् वक्ष्यति (२६. ०. १) ।

४— इहैवोपरिष्ठादस्यति (२६. ०. १५) ।

निषेधसम्भवाद् “यदि प्रवर्गवान्”—इत्युक्तम्^१ । आश्वलायनोऽपि
प्रथमयज्ञेनैके घर्मम्”—इति^२ ॥ १ ॥

“तद्याः पूर्वाह्नेऽनुवाक्या भवन्ति, ता अपराह्णे याज्या इति ।
“अग्निर्दृष्टाणि जहत्तद्”—“य उग्र इव शर्वहाः”^३, “त्वं सोमामि
सत्पतिः”—“गयस्फानो अमीवहाः”^४, “इदं विष्णुर्विचक्रमे”—
“वीणि पदा विचक्रमे”^५,—इति वीणि युगलानि क्रमेणाग्नि-
सोमविष्णूनां याज्यापुरोनुवाक्याः^६ । तेष्वाम्नाः प्रातःकाशोपसदि
पुरोनुवाक्या भवन्ति, द्वितीया याम्याः; सायङ्कालीनोपसदि
तु द्वितीयाः पुरोनुवाक्याः, प्रथमा याम्या इत्यर्थः^७ । धीवाणा
मङ्गुलिवत् प्रच्छिद्भर्वाभावात् ‘अस्यीनि’—इत्युक्तम् ॥ १ ॥

उपसदो लोकजयसाधनत्वेन प्रशंसति— “देवास्य वा असुरास्ते-
त्यादिना । ‘अयस्मधीम्’—इत्यत्र “अयस्मयादीनि हृन्दसि”—इति^८
भ-सञ्ज्ञायां पद-सञ्ज्ञाया बाधादुत्थाभावः । “हरिणीं दिवौति ।
हरितवर्णीं पुरीम्, सुवर्णमयी मित्यर्थः ॥ २ ॥

“तवै देवा असृण्वतेति । ‘तत्’ पुरचयम् ‘असृण्वत’ ‘स्यु
हिंसायाम्’^९ हिंसितवन्तः, ते ‘देवाः’ । यस्मात् ‘एताभिः’

१— अतएवोक्तं कात्यायनेन “उपसदेव वाप्रवर्ग्ये”—इति ८. २. १६ ।

२— आश्व० श्रौ० सू० ४. ८. १६ । ३— ऋ० सं० ६. १६. ३४, ३६ ।

४— ऋ० सं० १. ६१. ५, १२ । ५— ऋ० सं० १. २३. १०, १८ ।

६— विहित्वास्तेनाः ऐ० ब्रा० १. ४. ८ ; आश्व० श्रौ० सू० ४. ८. ८ ।

७— ऐतरेयकेऽप्येव मेव, किञ्चिद् विशेषोऽपि तत्र द्रष्टव्यः (१. ४. ८.) ।

८— पा० सू० १. ४. २० ।

९— सा० प० १२ घा० ।

त्रिभिराग्नेयादीष्टिभिः कर्मभिः सामर्थ्येनेत्यर्थः । 'उपासीदन्' असुरनिर्गमनप्रतिबन्धानि त्रीणि पुराण्यावृत्य न्यवसन्नित्यर्थः । अत उपसदसाधनत्वादासा मुपसन्नाम सम्पन्न मित्यर्थः^१ । उक्त मुपसदा जयसाधनत्वं लोकप्रसिद्धा दृढयति— "तस्मादाहुः उपसदा पुर जयतीति । 'आहुः' अभिज्ञा कथयन्ति, 'उपसदा' उपसदन-दुर्गवेष्टनेन । अभिज्ञाना मभिधानं न स्पष्टेत्याह— "यदहेति । 'उपासते' उपेत्यावृण्वन्ति ॥ ४ ॥

"एताभिर्वै देवा इति । 'तथो एवैष एतदिति । एतया उपसदा 'एष' यजमानोऽपि पुर प्रभिनन्ति, जयति चेति शेषः । न केवलं पुरस्य जयः, अपि तु जेतव्यपुरमेव न भवेदित्याह— "नाहैवास्मा अस्मिन्नोके कथं न पुरं कुरुत इति"^२ ॥ ५ ॥

"तथो एवैष एतत्"—इति यत् सङ्गहेणोक्तम्, तदेव स्पष्टयति— "ता वा आज्यहविष इत्यादि । स्पष्टम् ॥ ६ ॥

प्रधानयागत्रयार्थं भाज्यग्रहणप्रकारं भाह— 'स वा अष्टौ हत्वा जुहुः गृह्णाति चतुरूपभृतीति'^३ । 'अष्टौ हत्वा' अष्टवारावृत्या ॥ ७ ॥

"स वा अष्टावेव हत्वा जुहुः मिति । अत्र 'एव' कारेण "अथो इतरथाहुः"—इति केषाञ्चित् पक्षो निरस्यते । "तद्यज्ञमतिभारं करोतीति । 'तत्' तेन जुहुः मष्टौ हत्वा ग्रहणेन, आज्यस्य

१— "प्रणीतामुपसत्"—इति का० श्रौ० सू० ८ २ १० दृष्टव्यम् ।

२— ऐतरेयब्राह्मण-तैत्तिरीयसंहितयोरप्येवम् (१ ४ ६, ६ २ ३) ।

३— का० श्रौ० सू० ८ ७ २६, २७ ।

वज्रत्वात्, तस्य च सुखत एवाष्टवारयहणात्, वज्र मेव सुखप्रदेश-
भारयुक्तं कृतवान् भवति ॥ ८ ॥

प्रकारान्तरेण जुक्ता महौकत्वो ग्रहणं प्रशंसति— “अग्नीषोमौ
वै देवानां सयुजौ, ताभ्यां सार्द्धं गृह्णाति; विष्णव एकाकिन इति ।
गृह्णातीति शेषः^१ । प्रकृतिवदाधारद्वयप्रसक्तौ स्तुत्यां द्वितीय
माधारं निषेधति— “अन्यतर मेवाधार मिति । ‘यं श्रुवेषाधार-
यति’ त मन्यतर मित्यर्थः । अभिजयसाधनत्वेनान्यतर माधारं
प्रशंसति— “प्रतिक्रामति वेति । उत्तराधारानन्तरं प्रतिक्रमण-
सम्भवात् तस्य चाभिजयरूपत्वात् जेतव्याभिजयाय सौच मेवाधार
माधारयेदिति स्तुतिः ॥ ९ ॥

“अथात्राय न होतार प्रवृणीत इति^२ । अध्वर्युराह ‘आत्रा-
वय’ इत्युक्त्वा, “अग्निर्देवो दैव्यो होतेत्यादि “मासुष इत्यन्तं न
ब्रूयादित्यर्थः ; किन्तु ‘सौद होतः’ इत्येव ब्रूयात् । तथा चाश्व-
लायनः— “ईक्षितः सौद होतरिति वीरु उपविशेत्”—इति ।
“होता होदृषदम उपविश्य प्रसौतीति । वेदेरुक्षरा ओषिर्होद-
यदनम् । “हृतवतौ मध्वर्यो सुच मास्यसू”—इत्यनुजानीया-
दित्यर्थः । ‘सुचौ’ जुह्वपभृतौ ॥ १० ॥

“य आहवतिक्रामचित्यादि^३ । ‘अतिक्रामन्’ आहवनीयस्य
दक्षिणभागं प्रति गन्तुं वेद्यतिक्रमं कुर्वन्, “अग्रयेऽनुब्रूहि”—‘इति’

१— तै० सं० ६. २. ३. ४-६ दृश्यम् ।

२— का० श्रौ० सू० ८. २. ३० ।

३— का० श्रौ० सू० ८. २. ३१ ।

होतारम् 'आह' । अग्नेर्यागार्थं मनुवचनं ब्रूहीत्यर्थः । पुनराश्रावण-
प्रत्याश्रावणानन्तरम् "अग्निं यज्ञ"-इति आह । याज्यां पठेति
ब्रूयादित्यर्थः । 'वषट्कृते' होत्रा "वौषट्"-इत्युक्ते ॥ ११ ॥ १२ ॥

विष्णोरनुवचनकालं माह— "अथ यदुपभृत्यान्व भवति, तत्
समानयमानं आह विष्णवेऽनुब्रूहीति । 'समानयमानः' जुह्वां
प्रक्षिपन् ॥ १३ ॥

"स यत् समानच तिष्ठन् जुहोतीति । 'अच' एतस्मिन्नेवाश्व-
नीयदक्षिणदेशे । "न यथेदं प्रचरन् सञ्चरतीति । दर्शपूर्णमासेष्ट्या
'यथेत' येन मार्गेण गतः, तेनैव पुनरपि च विरवदानाय गच्छति,
तथाच न कर्त्तव्यमित्यर्थः । तथाविधे एकैव होमः 'अभिजित्यै'
भवति । अतः 'अभिजयानि'-इति एकैव तिष्ठन् जुहुयात् ।
प्रकृतिवत् प्रतियागं माक्रमणप्रत्याक्रमणे न कार्यं, अपि तु सह-
देवातिक्रम्य चोन् यागान् कुर्यादिति तात्पर्यार्थः । अन्यादियाग-
चयं प्रशंसति— "अथ यदेता इति । कथं मेतासां यागेन यज्ञः
सञ्जातो भवतीति तद्विभज्य दर्शयति— "अग्निं मनोक मित्या-
दिना । 'अनौकम्' वज्रस्य^१ मुखप्रदेशः, 'ग्रत्स्यं' ततः पूर्वा भागः,
'कुल्लल' तत्पुच्छभागः^२ ॥ १४ ॥

१— "यज्ञं ऊत्वा सामाय"-इति का० श्रौ० सू० ८. २. ६२ ।

२— का० श्रौ० सू० ८. २. ६३ ।

३— 'मशम्य'-इति छ, च ।

४— 'कन्य'-इति छ ।

५— "अग्निं मनोकम्, सोमं शन्यम्, विष्णुं तेजसम्"-इति ते० स० ६.

२ १ १ । ऐतरेयकेऽप्येव मेव (१. ४. ८.) ।

उक्तं वज्रत्वं संवत्सरतथोपपाद्य प्रशंसति— “संवत्सरो हि वज्रो-
ऽग्निर्वा अहः सोमो रात्रिरथ यदन्तरेण तद् विष्णुरिति । अहो
रात्रेश्च योऽन्तरालः कालः, स विष्णुरित्यर्थः; पूर्वोत्तरोभयकाल-
व्यापिलादिति भावः । ‘एतत्’ चयं ‘परिश्रवमानं’ पुन पुनरावर्त्त-
मानं ‘संवत्सरं’ निष्पादयति ॥ १५ ॥

“संवत्सरो वज्र इति । स च ‘संवत्सरः’ ‘वज्रः’; वज्र-
रूपान्यादिचयावृत्तिरूपत्वात् । “तस्मादेता देवता यजतीति
उपसंहारः ॥ १६ ॥

उपसदां चित्तं विधाय प्रशंसति— “स वै तिस्र उपसद उपेयात्,
चयो वा चतव इत्यादिना^१ । “द्विरेकया प्रचरतीति^२ । आग्नेयादि-
यागचयस्य व्यापकोपसत्तया एकस्मिन्नहनि ‘दिः प्रचरति’ अनु-
तिष्ठेत् । तथाविधानुष्ठानस्य दिनचयकर्त्तव्यता वीप्स्योच्यते ॥ १७ ॥

दिनचयेऽपि द्विर्दिरनुष्ठानं प्रशंसति— “ताः षट् सम्पद्यन्त
इत्यादिना^३ ॥ १८ ॥

चित्तपक्षवदुपसद्वादशत्वपक्ष मपि विकल्पयति— “यद्यु द्वादशो-
पसद इति^४ । अस्मिन्नपि पक्षे प्रतिदिनं मुपसदोर्द्विर्दिरनुष्ठानं
विधत्ते— “द्विरेकया प्रचरति द्विरेकयेति । वीष्मा पूर्ववत् ॥ १९ ॥

‘द्विरेकया’—इत्युक्तं द्विरनुष्ठानं मनुष्यं शत्रुजयसम्पत्त्यानुकृच्छा-
त्मना प्रशंसति— “ताश्चतुर्विंशतिरित्यादिना ॥ २० ॥

१— का० श्रौ० सू० ८. २. २६ । २— का० श्रौ० सू० ८. २. २६ ।

३— तै० सं० ६. २. ६-१० दृष्टव्यम् ।

४— का० श्रौ० सू० ८. २. ४० ।

“स यत् साय प्रातरिति^१ । सम्पत्तिर्माय विभव्य दर्शयति—
 “स यत् पूर्वाह्णे प्रचरतीति । पूर्वाह्नप्रचारः । अनुजयमाचरूप, अप-
 राह्नप्रचारस्तु साकल्येन जयात्मक इत्यर्थः । आग्नेयादियागवयवत्
 दर्विहोमरूप कश्चिदुपसङ्गोमं विधत्ते— “अथ यजुहोतीति ।
 अत्रापूर्वार्यत्वाद् यच्छब्दतिरस्कारेण विधिरभ्युपगन्तव्य । विहित
 सुपसङ्गोम पूर्वयागैर्जितस्य स्वाधीनीकरणात्मना प्रशंसति— “इद
 वै पुरो युहन्ति, त्वां जित्वा स्वा सतीं प्रपद्यन्त इति । इदं हि
 लोके दृश्यत इति शेषः । जेतार प्रथमं पुर युहन्ति, भिन्दन्ति,
 पद्यात् ता जयन्ति, सुविजिताश्च पुनः स्वा मात्मीयां प्रपद्यन्त
 इति ॥ २१ ॥

लोकप्रकार प्रकृतकर्मणि विभव्य दर्शयति— “स यत् प्रचर-
 तीति । ‘प्रचार’ आनुपूर्व्येण समाप्तिपर्यन्तो यागवयवप्रयोगः, स
 एव युद्धस्थानीयः । इत्थममापनं, तत् जयस्थानीयम् । उपसङ्गोमः,
 स जितस्य स्वाधीनत्वमन्वादनात्मकः ॥ २२ ॥

प्रथमदिनोपसङ्गोमे मन्त्र विधातुं भावः— “स जुहोति यथा
 द्विरेकस्याङ्गं प्रचरिष्यन् भवतीति^२ । उक्तानुमद्भीक्ष्णं सुपसङ्गागव-
 दुपसङ्गोमोऽपि एकस्मिन्वहनि द्वि कर्तव्य इति शापनाथम् ।
 मन्त्रप्राय मर्थः^३ । हे ऋग्रे ! ‘ते’ तव या ‘तमू’ ‘अथ-प्रया’ अथमि
 श्रेते इत्यय-प्रया, अयोरूपेत्यर्थः । ‘वर्षिष्ठा’ उत्तरा, ‘गङ्गरेष्ठा’

१— का० श्रौ० सू० ८ २ ३० । तै० म० ६ ७ ३ ०, ८ दृश्यम् ।

२— का० श्रौ० सू० ८ ७ ३५ ।

३— वा० म० ४ ८ १ ।

गङ्गरे परैरनिर्गम्ये स्थाने वर्त्तमाना अस्ति, सा तनूः मम 'उपे'
'त्वे' 'वचः' 'अपावधीत्' । उपस्त्वेषयोरयंस्तेत्तिरीयके स्पष्ट
मात्रातः— "अशनया पिपासे ह वा उपं वचः, एनञ्च वैरह्यञ्च
त्वे' वचः"—इति^१ । मन्त्रे चादृगूपा तनूनिर्दिष्टा, सा न स्तुत्यर्थे-
त्याह— "एवंरूपा हि सासीदिति ॥ २३ ॥

एवं द्वितीयद्वितीयोपसम्पन्नावपि व्याख्येयौ^२ ॥ २४ ॥

एव सुपसत्तयस्य मन्त्रान् निर्दिश्य, द्वादशोपसत्पक्षे न्यायसिद्ध
मर्थं ब्राह्मणं स्वयं मेव विस्पष्टं दर्शयति— "यद्यु द्वादशोपसद
उपेयाच्चतुरह मेकया प्रचरेच्चतुरह मेकयेति । अयःशयेत्येतन्मन्त्र-
साध्या एकोपसत्, तादृशीं चतुर्ध्वहस्तु आवर्त्तयेत् । पुनश्च द्वितीय-
मन्त्रसाध्यापि चतुर्दिनं मावर्त्तयेत् । द्वितीययाण्येवम् । एवं द्वादश
सम्पन्नाः । कोऽयं उक्तो भवति ? अयःशयादीनां चयाणां मन्त्राणां
मध्ये एकैकस्य मन्त्रस्यैकोपसदं गत्वा चतुर्षु दिनेषु प्रथमं "था ते
अग्नेऽयःशया"—इति मन्त्रं मावर्त्तयेत्, पुनः पञ्चमादिषु चतुर्षु
दिनेषु रजःशयेति मन्त्रं मावर्त्तयेत्, ततो नवमादिषु चतुर्षु दिनेषु
हरःशयेति मन्त्रं मावर्त्तयेदित्यर्थः^३ ॥ २५ ॥

"अथातो व्रतोपसदा मेवेत्यादि । यासूपसत्सु यजमानो व्रतयति
पयः, ताः 'व्रतोपसदः', तासां मीमांसा क्रियत इत्यर्थः । 'पर-
वर्तीः' उपर्युपरि एकस्यादिस्तनवद्व्या व्रतवृद्धियांस्त्वस्ति, ताः 'पर-

१— तै० सं० १. २. ११ सा० भा० दृष्टव्यम् ।

२— वा० सं० ५. ८. २, ३ ।

३— का० अ० सू० ८. २. १४, १८ ।

उर्य' उपसद् । 'ता' केचनानुष्टातारोऽनुतिष्ठन्तीति श्रेय । उक्त-
वैपरीत्ययुक्ता 'परोऽह्ना' उपर्युपरि ह्रमीयस्य इत्यर्थः^१ । 'ता' केच-
नानुष्टातारोऽनुतिष्ठन्तीति । तद्द्विविधाना मण्युपसदां स्वरूपतो
विचार्यमाणे पर्यवमानस्यैकरूप्याश्च वस्तुतो भेदोऽस्ति ॥ १६ ॥

अद्यापि परोऽह्नीरेवोपेयात्, कस्माद्धेतोरिति तच्चाह—“तपसा
वै लोक जयन्तीति । परोऽह्नीषु उपर्युपरि स्तनह्नासेन पयोह्नामात्
तयोर्द्विरुपर्युपरि भवति, तथा लोक मण्युपर्युपरि जयति । तथा
पण्डर्वो-पक्षे स्तनवाङ्मन्यमन्त्रवेग शरीरक्षयाभावात् चिरकालं
भूक्तोके 'वसीयानेव' वसुमत्तर एव 'भवति'^२ । द्वादशोपसत्पक्षो
मतप्रकारः कथं मिति, तच्चाह—“यद्यु द्वादशेति” । प्रथम 'चतुरह'
प्रथमेषु चतुर्षु दिनेषु प्रतिदिन 'चोत्सीन्' स्नानान् 'दोहयेत्'
दिनौचे चतुरहे 'दो-दो', तृतीये च 'एकैकम्'^३ इति ॥ १७ ॥
५ [४ ४] ॥

इति श्रीमायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनअतपयब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे चतुर्थाध्याये चतुर्थे ब्राह्मणम् ॥

१—“विस्तृतं प्रथमायां दोहयति, एकापक्षदेवोत्साहयो”—इति का० श्री०

सू० ८ ४ १, २ ।

२— का० श्री० सू० ८ ४ ३ । ३— का० श्री० सू० ८ ४ ४ ।

४— त० म० ६ २ ४ ०-१४ दृष्टम् ।

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।

पुमर्थाश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेयरः ॥ ४ ॥

ब्रह्माण्ड गोमदस्य कनकहयतुलापूरुषौ स्वर्णगर्भम्,
सप्ताब्धीन् पञ्चसीरींस्त्रिदशतल्लताधेनुधौवर्णभूमीः ।
रत्नोक्तां रक्षावाजिद्विपमहितरथौ सायणिः सिद्धनाथो,
अश्राणीदियचक्रं प्रथितविधिमहाभूतयुक्त घटश्च ॥
धान्याद्रिं धन्यजन्मा तिलभव मतुलः स्वर्णजं वर्णमुख्यः,
कार्पासीयं कृपावान् गुडकृत मज्जो राजत राजपूज्यः ।
आल्योत्थं प्राज्यजन्मा लवणज मनृणः शार्करं चार्कतेजाः,
रत्नाढ्यो रत्नरूपं गिरि मल्लत मुदा पाचसास्त्रिङ्गनार्थः ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्तक-

श्रीहरिहरमहाराजमासान्धधुरन्धरेण

सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

तृतीयकाण्डे चतुर्थाध्यायः समाप्तः ॥ ४ ॥

॥ इति तृतीयकाण्डे तृतीयः प्रपाठकश्च समाप्तः^१ ॥

१—“कण्डोसह्या १२२”—इति क, ख, “कण्डिकासह्या १२१”—इति ग, घ । तत्र १ ब्रा० ११ क०, २ ब्रा० २६ क०, ३ ब्रा० १६ क०, ४ ब्रा० २२ क०, ५ ब्रा० २० क०, सङ्ग्रहणया १२२ इति सिद्धम् ।

अथ

चतुर्थप्रपाठके प्रथम ब्राह्मणम्,

अपि वा

पञ्चमाध्याये प्रथम ब्राह्मणम् ।

॥ हरिः ॐ ॥

तद्य एष पूर्वार्द्धो व्यपिष्ठ स्थूणाराजो भवति ।
तस्मात् प्राङ् प्रक्रामति त्रीन् विक्रमांस्तुच्छङ्कुं निहन्ति
सोऽन्तःपातः* ॥ १ ॥

तस्मान्मध्यमाच्छङ्कोः† । दक्षिणा पञ्चदश विक्रमान्
प्रक्रामति तुच्छङ्कुं निहन्ति सा दक्षिणा श्रोणिः ॥ २ ॥

तस्मान्मध्यमाच्छङ्कोः‡ । उदङ् पञ्चदश विक्रमान्
प्रक्रामति तुच्छङ्कुं निहन्ति सोत्तरा श्रोणिः ॥ ३ ॥

तस्मान्मध्यमाच्छङ्कोः§ । प्राङ् पुङ्विंशतं विक्रमान्
प्रक्रामति तुच्छङ्कुं निहन्ति स पूर्वार्द्धः॥ ४ ॥

तस्मान्मध्यमाच्छङ्कोः¶ । दक्षिणा द्वादश विक्रमान्
प्रक्रामति तुच्छङ्कुं निहन्ति स दक्षिणोऽस्रः ॥ ५ ॥

* 'त'-इति, †-इ-ए 'इने'-इति, ॥ 'ङ्कुं'-इति अ ग, घ ।

तस्मान्मध्यमाच्छक्नोः* । उदङ् हादश विक्रमान्
प्रक्रामति तुच्छकुं निहन्ति स उत्तरोऽस्य स्या मात्रा
व्वेदेः ॥ ६ ॥

अथ यत् त्रिंशद्विक्रमा पश्चाद् भवति । त्रिंशदक्षरा
वै त्रिराद् विराजा वै देवा अस्मिंल्लोके प्रत्यतिष्ठं-
स्तथो ऽएवैष एतद्विराजैवास्मिंल्लोके प्रतितिष्ठति ॥ ७ ॥

अथो ऽपि त्रयस्त्रिंशत्स्युः । त्रयस्त्रिंशदक्षरा वै
त्रिराद् विराजैवास्मिंल्लोके प्रतितिष्ठति ॥ ८ ॥

अथ यत् पुटत्रिंशद्विक्रमा प्राची भवति । पुट-
त्रिंशदक्षरा वै दृढतौ दृढत्या वै देवाः स्वर्गं लोकं
सुमानुवत तथो एवैष एतद्दृढतैव स्वर्गं लोकं सुम-
श्रुते सोऽस्य दिव्यादवनौयो भवति ॥ ९ ॥

अथ यच्चतुर्विंशतिविक्रमा पुरस्ताद्भवति । चतु-
र्विंशत्यक्षरा वै गायत्री पूर्वार्धे वै यज्ञस्य गायत्री
पूर्वार्धे एष यज्ञस्य तस्माच्चतुर्विंशतिविक्रमा पुरस्ताद्
भवत्येषा मात्रा व्वेदेः ॥ १० ॥

अथ यत्पद्यादुरीहसो भवति । पद्यादुरीहसो पृथु-

* 'दो' - इति ग, घ ।

† 'अस्मिंल्लोके' - इति क, ग, घ । एतन्मन्त्रश्चापि ।

ओणिरिति वै योषां प्रशंसन्ति युद्धेव पश्चादुरीयसी
भुवति पश्चादेवैतदुरीयः प्रजुननं करोति तुस्मात्*
पश्चाद् वुरीयसः प्रजुननादिमाः प्रजाः प्रजायन्ते ॥ ११ ॥

नासिका ह वा ऽएषा यज्ञस्य सुदुत्तरवेदि† ।
अथ युदेना मुत्तरां वेदेरुपकिरुति तुस्मादुत्तर-
वेदिर्नामि ॥ १२ ॥

दुव्यो ह वा ऽइदं मुग्ने प्रजा आसुः । आदित्याश्चै-
वाङ्गिरसश्च ततोऽङ्गिरसः पूर्वे यज्ञः सुमभरंस्ते यज्ञो
सम्भृत्योचुरमि मिमां नः श्वःसुत्या मादित्येभ्यः प्रब्रूह्य-
नेन नो यज्ञेन याजयतेति‡ ॥ १३ ॥

ते ह्यदित्या ऊचुः । उपजानीत युथास्मानेवाङ्गिरसो
याजुयान्नु॑ वयं मुङ्गिरस इति ॥ १४ ॥

ते होचुः । न॥ वा अन्येन यज्ञादपक्रमणं मस्त्युन्तरा
मेव सुत्यां धियामहा॑ ऽइति ते यज्ञः सुज्जहुस्ते यज्ञो
सम्भृत्योचुः श्वःसुत्यां वै त्वं मस्मभ्यं मग्ने प्रावोचोऽथ व्वयु

* 'तुस्मात्'-इति ग ।

† 'वेदि'-इति ग, घ ।

‡ 'याजयेति'-इति सा०-सम्मत इति डा० वेङ्कट ।

§ 'जुयाम्'-इति ग ।

॥ गार्हपत्येन पदं ग पुस्तके ।

॥ 'धियामहा'-इति सा०-सम्मत इति डा० वेङ्कट ।

मद्यसुत्या मेव तुभ्यं प्रब्रूमोऽङ्गिरोभ्यश्च तेषां नस्त्वः
होतासीति* ॥ १५ ॥

तेऽन्य मेव प्रतिप्रजिघ्युः। अङ्गिरसोऽच्छ ते हाप्यङ्गि-
रसोऽम्येऽन्वागत्य चुक्रुधुरिव कथं नु नो दूतश्चरन् न
प्रत्यादद्या इति ॥ १६ ॥

सु होवाच। अनिन्द्या वै मावपतु सोऽनिन्द्यैर्वृतो
नाशक मुपक्रमितु मिति तुस्मादु हानिन्द्यस्य वृतो
नापक्रामेत् तु ऽएतेन सद्यःक्रियाङ्गिरस आदित्यानया-
जयन्त्सु सद्यःक्रीः† ॥ १७ ॥

तेभ्यो व्वाचं दुक्षिणा मानयन्। तां न प्रत्यगृह्णन्‍
हास्यामहे यदि प्रतिग्रहीष्याम इति तदु तुद्यच्चस्य कुर्म
न व्यमुच्यत युद्वाक्षिण मासीत् ॥ १८ ॥

अथैभ्यः सूर्यं दुक्षिणा मानयन्। तं प्रत्यगृह्णं-
स्तुस्मादु ह स्माहुरङ्गिरसो व्वयं वा ऽश्रुर्त्विजीनाः
स्मो व्वयं दक्षिणीया ऽश्रुपि वा ऽश्रुस्माभिरेष
प्रतिग्रहीतो यु एष तुपतीति तुस्मात् सद्यःक्रियो ऽश्वः
श्वेतो दुक्षिणा ॥ १९ ॥

* 'सीति'—इति ग, घ ।

† 'क्री'—इति ग, घ ।

‡ 'प्रत्यग्रहा'—इति क ।

तस्य रुक्मः पुरुस्ताद्भवति । तदेतस्य रूपद्वियते
 यु एष तुपति यद्यश्च॥ श्वेतं नु विन्देदपि गौरेव
 श्वेतः स्यात्तस्य रुक्मः पुरुस्ताद्भवति तदेतस्य रूपद्वियते
 यु एष तुपति ॥ २० ॥

तेभ्यो ह व्याक् चक्रोध । केन मुदेष श्रेयान् बन्धुनाश्च
 केनाश्च युदेतं प्रत्यग्रहीष्ट न मा मिति सा द्वैभ्योऽप-
 चक्रामु सोभयानुन्तरेण देवासुरान्संयत्तान्तिस्॥ ह्री
 भूत्वादुदाना चचार ता मुपैव देवाऽश्मन्त्रयन्तोपुसुरा
 अग्निरेव देवानां दूत आस सहुरक्षा इत्यसुररक्षस
 मुसुराणाः* ॥ २१ ॥

सा देवानुपावर्त्युन्त्युवाच । युद्ध उपोवर्त्तेय किं
 मे तत् स्यादिति पूर्वा मेव त्वामेराहुतिं प्राप्स्यसीत्यथ
 द्वैषा देवानुवाच यां भुया काञ्चाशिय माशासिष्यध्वे सा
 वः सुर्वा सुमर्हिष्यत इति सैवं देवानुपावर्त्त ॥ २२ ॥

स युद्धार्यमाणोऽग्नौ । उत्तरवेदिं† व्याघादयति
 युदेवैना मदो देवा अब्रुवन् पूर्वां त्वामेराहुतिं
 प्राप्स्यतीति तदेवैना मेतत् पूर्वां ममेराहुतिं प्राप्नोति

* 'मुसुराणाम्'-इति ख ।

† ज्या । उत्तरवेदि'-इति क ।

व्वाग्धेपा निदानेनाथ युदुत्तरवेदि मुपकिरुति यज्ञ-
स्यैव सर्वत्वाय व्वाग्धि यज्ञो व्वागु क्षेपा* ॥ २३ ॥

तां वै युगशम्येन विमिमौते । युगेन युव दुरन्ति
शुम्यया युतो दुरन्ति युगशम्येन वै योग्यं युञ्जन्ति सा
युदेवादुः सिंही भूत्वा शान्तेवाचरत्तुदेवैना भेतुद्यज्ञे
युनक्ति ॥ २४ ॥

तुस्मान्निवृत्तदक्षिणां न प्रतिगृह्णीयात् । सिंही हैनं
भूत्वा क्षिणोति नो हा माकुर्वीति सिंही हैवैनं भूत्वा
क्षिणोति नो हान्यस्मै दद्याद्यज्ञं तुदन्युचात्मनः कुर्वीति
तस्माद्योऽस्यापि पाप इव समानुबन्धुः स्यात्तस्मा ऽर्णां
दद्यात् स यदुदाति तुदेनः सिंही भूत्वा नु क्षिणोति
यदु समानुबन्धवे ददाति तुदु नान्युचात्मनः कुरुत
ऽपुपो निवृत्तदक्षिणायै प्रतिष्ठा ॥ २५ ॥

अथ शुम्याञ्च स्प्यञ्चादत्ते । तद्य एय पूर्वार्द्धं
उत्तरार्द्धं शङ्कुर्भुवति तस्मात् प्रत्यङ् प्रुकामति धौन्वि-
क्रमांस्तघात्वालं परिलिखति सा घात्वालस्य माचा
नाच माचास्ति युवैव स्वयं मनसा मुन्येतुग्रेणोत्करं
तघात्वालं परिलिखेत् ॥ २६ ॥

* 'क्षेपा'—इति म, घ ।

† 'प्रतिष्ठा'—इति म, घ ।

सु व्वेद्यन्तात्* । उदीचीः शुभ्यां निदधाति स पुरि-
लिखति तप्तायनी मेऽसूतीमा मेवैतुदाहास्याः हि
तप्त एति† ॥ २७ ॥

अथ पुरस्तात् । उदीचीः शुभ्यां निदधाति स पुरि-
लिखति व्वित्तायनी मेऽसूतीमा मेवैतुदाहास्याः हि
व्विविदान‡ एति ॥ २८ ॥

अथानुवेद्यन्तम्१ । प्राचीः शुभ्यां निदधाति स
पुरिलिखत्युवतान्मा नाथिताद्वितीमा मेवैतुदाह युच
नाथैतुन्मावताद्विति॥ ॥ २९ ॥

अथोत्तरतः१ । प्राचीः शुभ्यां निदधाति स पुरिलिख-
त्युवतान्मा व्यथिताद्वितीमा मेवैतुदाह युच व्यथैतुन्मा-
वताद्विति** ॥ ३० ॥

अथ हरति । युच हरति तुदग्रीदुपसीदति स वा
ऽअग्रीना मेव नामानि गृह्णन्हरति यान् वा ऽअमून्
देवा ऽअग्नेऽग्रीन् होत्राय प्रावृणत ते प्राधन्वंस्तु ऽइमा
एव पृथिवीरुपासर्पन्निमा महैव दे ऽअस्याः पुरे तेनैवै-
तुन्निदानेन हरति ॥ ३१ ॥

* 'न्तात्'-इति ग, घ ।

†, ‡ 'एति'-इति ग, घ ।

§ 'अथानुवेद्यन्त'-इति क, ख । ॥ 'द्विति'-इति ग, घ ।

१ 'एत'-इति ग, घ ।

** 'द्विति'-इति ग, घ ।

स प्रहरति । विदेदग्निर्नुभो नामाग्ने ऽञ्जिर आयुना
 नाम्नेह्वीति स यत् प्राधन्वंस्तदायुर्दधाति तत् सुमीरयति
 योऽस्यां पृथिव्या मसूति योऽस्यां पृथिव्या मसूति हत्वा
 निदधाति यत्तेऽनाष्टष्टं नाम यन्नियं तेन त्वादध ऽहुति
 यत्तेऽनाष्टष्टं रुक्षोभिर्नाम यन्नियं तेन त्वादध ऽहुत्यैवै-
 तुदाह्वानु त्वा देवतीतय ऽहुति चतुर्युः हरति देवेभ्यस्त्वा
 जुष्टाः हरामीत्येवैतुदाह तां वै चतुःसक्तेश्चात्वालाह-
 रति चतस्रो वै दिशः सर्वाभ्य एवैना मेतुद्दिग्भ्यो
 हरति ॥ ३२ ॥

अथानुव्यूहति । सिद्धसि सपत्नसाह्वी देवेभ्यः कल्प-
 स्वेति सा युदेवादुः सिद्धी भूत्वाशान्तेवाचरत्तुदेवैना
 मेतुदाह सिद्धसूति सपत्नसाह्वीति त्वया व्ययुः
 सपत्नान् पापौयसः क्रियास्मेत्येवैतुदाह देवेभ्यः कल्प-
 स्वेति योपा वा ऽउत्तरवेदिस्ता मेवैतुदेवेभ्यः कल्प-
 यति ॥ ३३ ॥

तां वै युगमाचूर्णं वा सर्वतः करोति । युजमानस्य वा
 दश-दश पदानि दशाक्षरा वै विराट् चाग्वै विराट्
 वाग् यज्ञो मध्ये नाभिका मिव करोति समानत्रासोनो
 व्याधारयाणौति ॥ ३४ ॥

ता महिरुभ्यक्षति । सा युदेवादुः सिद्धी भूत्वाशान्ते

वाचरच्छान्तिरापस्ता मद्भिः शमयति योषा वा
ऽउत्तरवेदिस्ता मेवैतद्देवेभ्यो हिन्वति तुस्मादद्भिरभ्यु-
क्षति ॥ ३५ ॥

सोऽभ्युक्षति । सिद्धसि सपत्नसाहू देवेभ्यः शुन्ध-
स्वेत्युथ सिक्ताभिरनुविकिरत्यलङ्कारो न्वेव सिक्ता
भ्राजन्त ऽइव हि सिक्ता ऽअग्नेर्वा ऽएतद्वैश्वानरस्य भस्म
यत्सिक्ता ऽअग्निं वा अस्या माधास्यन् भवति तयो
दैना मग्निर्नु हिनस्ति तुस्मात् सिक्ताभिरनुविकिरति
सोऽनुविकिरति सिद्धसि सपत्नसाहू देवेभ्यः शुभ-
स्वेत्युथैनां ह्यादयति सा छुन्नैताः राविं व्वसति ॥
३६ ॥ १ ॥

॥ इति चतुर्थप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् [५. १.] ॥

। श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निश्चित वेदा यो वेदेभ्योऽखिल जगत् ।

निर्गमे त मद् वन्दे विद्यातीर्थमद्देशरम् ॥ १ ॥

आतिथ्यातानूमन्ने च भोमाथायननिङ्गवो ।

उपसञ्चेति पञ्चाथाद्यतुर्थं निरूपिता ॥ २ ॥

अथ प्रथमे भौमिकवेदिकरणादिक निरूप्यते । अथ यदुक्तं
कात्यायनेन— “श्रीपवसण्यात् पूर्वोऽहनि पौर्वाहिक्या प्रथमं वेदो

मिमौते"-इत्यादि । तदेतदाह— “तद्य एष पूर्वाक्षां वर्षिष्ठः
 खूणाराजो भवति, तस्मात् प्राङ् प्रकामति चीन् विक्रमास्तच्छङ्कुः
 निहन्तीति । ‘य एष’ खूणाराजः ‘पूर्वाक्षाः’ पूर्वाङ्गे मर्हतीति
 पूर्वाक्षाः^१, प्राचीनवशस्य पूर्वभागे आहवनीयपुरोदेशे वर्त्तमान,
 पृथुस्तम्भोऽस्ति, ‘सोऽन्त पात’^२ ऐष्टिकवेदेर्महावेदेऽन्तरालसञ्चर ।
 ‘तस्मात्’ स्तम्भात् ‘प्राङ् प्रकमान् प्रकामति चीन्’ । ‘तत्’ तत्र
 द्वितीयप्रक्रमावसाने ‘शङ्कुः’ निहन्त्यात्, स्थापयेत्^३ ॥ १ ॥

दक्षिणश्रोणिप्रमाणमाह— “तस्मात्क्षङ्कोर्दक्षिणेति । मध्यम-
 शङ्कोर्दक्षिणतः पञ्चदशविक्रमावसाने शङ्कुः स्थापयेत् । ‘सा दक्षिणा
 श्रोणि’ मर्यादा भवति” ॥ २ ॥

एव मुत्तरश्रोणिवाक्यमपि— “तस्मान्मध्यमाक्षङ्कोरुदङ्कि-
 त्यादि” ॥ ३ ॥

आयामस्य पश्चाद्भागावधिप्रदर्शनावधिमाह— “तस्मा-
 न्मध्यमाक्षङ्कोः षड्विंशतविक्रमान् प्रकामतीति” ॥ ४ ॥

अथ दक्षिणोत्तरावधौ दर्शयति— “तस्मान्मध्यमाक्षङ्कोरिति ।
 ‘तस्मात्’ पुरोदेशस्थात् ‘मध्यमाक्षङ्कोः’ श्रोणितः सकाशात्

१— ‘शालाया पूर्वाङ्गे मव पूर्वाक्षां’-इति या० दे० ।

२— स निहतः शङ्कुः अन्तःपातसञ्चको भवतीति पिष्टभुतिककादयः ।

३— का० श्रौ० सू० ८ १ ० ।

४, ५— का० श्रौ० सू० ८ १ ६, १० ।

६— का० श्रौ० सू० ८ १ ८ ।

अस्योरीषग्रूनत्वाद् उभयतो द्वादशप्रक्रमाभिधानम्^१ । इत्थं सर्वतो
मितायां वेदिमात्रायां न्यूनाधिकत्वशङ्का माशङ्क्य स्वयं मेव
व्यवच्छिनत्ति— “एषा मात्रा वेदेः”—इति^२ ॥ ५, ६ ॥

अथ विहितं वेदिमानं क्रमेण प्रशंसिपुरादौ पद्यान्मानं
प्रशंसति— “अथ यत् चिंशद्विक्रमा पद्याद् भवतीति । चिंशत्पदे,
विराजः प्रतिपादं दशाक्षरत्वात् चिंशदक्षराणि । स्पष्टं मन्यत् ॥ ७ ॥

पद्यान्माने पचान्तरं माह— “अथो अपि त्रयस्त्रिंशत्
स्युरिति । ‘अथो’-शब्दः पचं व्यावर्त्तयति । “न वा एकेनाक्षरेण
छन्दांसि वियन्ति”—इतिन्यायात्^३ प्रतिपादं मेकैकाधिक्येन
विराजस्त्रयस्त्रिंशदक्षरत्वम् ॥ ८ ॥

अथ प्रागायामस्येयन्तां प्रशंसति— “अथ यत् षड्चिंशद्विक्रमा
प्राची भवतीति । चतुर्विंशत्यक्षरगायत्र्यास्तुरक्षराधिक्येनोष्णिगादि-
क्रमेण दृष्टव्याः षड्चिंशदक्षराणि भवन्ति । स्पष्टं मन्यत् ॥ ९ ॥

प्राग्दिगवस्थितयोरंशयोः प्रमाणं मिलित्वा प्रशंसति— “अथ
षड्चतुर्विंशतिविक्रमा पुरस्ताद् भवतीति । ‘पुरस्तात्’ पूर्वार्द्धां दिग्नि
विस्तारेण ‘चतुर्विंशतिविक्रमा भवति’ । “पूर्वार्द्धो वै षड्द्वयेति ।
‘षड्द्वय’ षड्भाङ्गस्य, वेदिस्वरूपस्य ‘एषः पूर्वार्द्धः’ । गायत्र्याः
पूर्वार्द्धत्वं “गायत्र्यं वै प्रातस्सुवनम्”—इतिश्रुतेः^४ सिद्धम् ॥ १० ॥

१— का० श्रौ० सू० ८. १. ११ ।

२— अथ याज्ञिकदेवहता पद्धतिश्चास्ति ।

३— ऐ० ब्रा० १. १. ६, २. ५ ५ दृश्यम् ।

४— ऐ० ब्रा० ६. १. २ दृश्यम् (निष० ७. १. १.) ।

श्रोणिभागस्योत्तल मंसभागस्य ह्रस्वत्वं यदस्ति, तत् प्रशंसति—
 “अथ यत् पश्चाद्वरीयसी भवतीति । श्रोणिभागस्य त्रिंशत्-
 प्रक्रमत्वोक्तेः, शंसभागस्य चतुर्विंशत्यभिधानात् पश्चाद्वरीयस्त्वम् ।
 यस्मादुक्ते ‘पृथुश्रोणिः योया’ प्रशस्ता, तस्माद् वेद्याः पश्चाद्भाग-
 स्यापि श्रोणित्वात् पृथुत्वं युक्तं नित्यर्थः । श्रोणिपृथुत्व कुत्रोप-
 युज्यते ? इति, तदुपयोग माह— “तस्मात् पश्चाद्वरीयस इति ।
 प्रजायन्तेऽवेति ‘प्रजननं’, पश्चाद्भागे उत्तरं यत् तत् ‘पश्चाद्वरीयः’ ।
 तादृक्प्रजननात् प्रजायन्ते, अतः प्रजननहेतुत्वात् पश्चाद्वरीयस्त्वं
 प्रशस्तम् ॥ ११ ॥

धार्यवाद सुत्तरवेदिनिर्माणं विधत्ते— “नासिका इ वा एषा
 यज्ञस्येति । नासिकाया मुखप्रदेशादपि समुच्छ्रितत्वात् उत्तरवेदे-
 र्मुदोच्छ्रितता कर्त्तव्या । उच्यते सुत्तरवेदिनामनिर्वचनदारेण
 प्रशंसति— “अथ यदेना सुत्तरां वेदेरुपकिरतीति । यस्माद्
 ‘वेदे.’ सौमिक्याः ‘उत्तराम्’ अत्युद्यतम् ‘उपकिरति’ मुदं क्षिपति,
 ‘तस्मात्’ वेदेः प्रागवयवभूतस्य प्रदेशस्योद्यततरत्वात् ‘उत्तरवेदिः’
 इति ‘नाम’ सम्पन्नम् ॥ १२ ॥

अयोत्तरवेदिव्याघारणविध्यर्थं मास्थायिका माह— “दध्यो इ
 वा इदं मये प्रजा आसुरिति । ‘अये’ सृष्टेः पूर्वम्, ‘दध्यः’
 द्विविधा एव ‘प्रजाः’ ‘आसु’ अभवन् । काम्ना. ? ‘आदित्याद्यै-
 वाङ्गिरस्य’ । ते ‘अङ्गिरसः’ ‘पूर्व’ आदित्येभ्यः पूर्वभाविनः भन्तो

‘यज्ञ’ सम्भृतवन्त । सम्भृतयज्ञा ते ‘अग्निम्’ इत्तम् ‘ऊचु’— हे अग्ने । त्व ‘न’ अस्माकम् ‘इमा’ ‘य सुत्या’ परेद्युक्रियमाण मभिषवम् ‘आदित्येभ्य प्रब्रूहि’ त्व मपि ‘अनेन’ सोमयागेन ‘न’ अस्मान् ‘याजयेति । एव मुक्तोऽग्निरादित्येभ्य पूर्वभाविन वृत्तान्त प्रोवाच ॥ १३ ॥

“ते हादित्या ऊचुरिति । ता इत्य व्यचारयन् । कथम् ? ‘यथा’ येन प्रकारेण ‘अस्मानेव’ अङ्गिरस ‘याजयान्’ याजयेयु, ‘वय’ तु ‘न’ तान् याजयाम तत्प्रकारस्त्रिग्यता मिति ॥ १४ ॥

‘ते’ होचुरिति । विचार्येत्य मूषु । “न वा अन्येन यज्ञा-दपक्रमण मस्तीति । ‘अन्येन वक्ष्यमाणात् साद्यस्कासुष्ठामात् अन्येन ‘यज्ञात्’ अङ्गिरोभिरनुष्ठेयमानात् अस्मात् ‘अपक्रमण मस्ति’, अत ‘सुत्या मन्तरा मेव’ अङ्गिरसा सुत्यात पूर्व मेवास्माक सुत्या ‘प्रियामहै’ व्यवस्थापयिष्याम ‘इति’ विचारितवन्त । ‘ते’ ‘यज्ञ सुत्यास्तुषण ‘सम्भृत्य’ अग्निम् ‘ऊचु’ । ‘त्वम्’ अस्मभ्य ‘य सुत्याम्’ ‘अग्ने !’ प्रावोच । ‘अथ’—शब्दस्त्वर्थे । ‘वय’ तु ‘तुभ्यम्’ ‘अङ्गिरोभ्यश्च ‘अद्यसुत्या’ अद्य क्रियमाणा सुत्या अद्यसुत्या, तां ‘प्रब्रूम’ । ‘तेषा’ तथा कुर्वता मस्माक ‘त्व’ ‘होता’ भव ॥ १५ ॥

‘तेऽन्य मेव प्रति प्रजिष्युरिति । एव मुक्तवन्तस्तु ‘अङ्गिरस’ एतद्वृत्तान्तावबोधनाय अग्निप्रतिनिधिम् ‘अन्यम्’ ‘प्रजिष्यु’ । “हि गतौ दृष्टौ च” प्रेरयन् । ते अङ्गिरस ‘अग्नयेऽन्वागत्य’ ‘चुक्रुधु’ ।

१— ‘प्रियामहै’—इति डा० वेबर दृष्ट भाष्ये ।

२— सा० प० १० धा० ।

क्रुधद्रुहेष्यादिना क्रुधियोगे चतुर्थी^१ । “कथं नु नो दूत इति ।
क्रोधप्रकार उक्तः । ‘न प्रत्यादृथाः’ आदरस्य प्रत्यादर न कृतवा-
नसि ॥ १६ ॥

अग्रेरुत्तरम्— “स होवाचानिन्द्रा वै मावृषतेत्यादि । प्रासङ्गिकं
किञ्चिद्धर्मविशेष विधत्ते— “तस्मादु हानिन्यस्य वृतो नापक्रान्ते-
दिति । ‘स,’ ‘सद्यःक्री,’ एकाह सोमयाग’ । ‘एतेन आङ्गिरसः
आदित्यान् अजयन्’ । दौचाशोमक्रयादौना सद्य एव क्रियमाण-
त्वात् ‘सद्यःक्रीः’ इति नाम ॥ १७ ॥

“तेभ्यो वाचं दक्षिणा मिति । तेभ्यः’ साद्यस्कयाजकेभ्यः
‘वाचम्’ एव दक्षिणात्वेन प्रादुरित्यर्थः । वाग्दक्षिणाया निरा-
करणस्याभिप्राय माह— “हास्यामहे यदि प्रतिपद्यीष्याम इति ।
‘यदि’ स्त्रीकरिष्यामः, तर्हि ‘हास्यामहे’ त्यचामहे, दक्षिणोत्तर-
काल मपि वाचोऽपेक्षितत्वात्, तथा सति यज्ञोऽदक्षिणः स्यात् ।
असु, को दोष इत्यत आह— “यद् दाक्षिण मामीदिति ।
दक्षिणासम्बन्धि ‘दाक्षिण’ कर्म । ‘तद्’ ‘यज्ञस्य’ सम्बन्धि ‘कर्म’,
‘न व्यमुच्यत’ विमुक्तं न आसीत्, सम्पूर्णं नाभवदित्यर्थः ॥ १८ ॥

“अथैभ्यः सूर्य मित्यादि । स्पष्टम् । “तस्मादु ह स्माऊरिति ।
‘आऊः अङ्गिरसः’ स्वयं ब्रुवते— ‘आर्त्विजीनाः^१ स्मः’ सम्यगृत्विक्क-
योग्याः स्मः । तथा ‘दक्षिणीयाः’ दक्षिणायोग्याः । आर्त्विजीनल-

१— पा० सू० १. ४. २० ।

२— “यत्तत्विग्भ्यां तत्त्वमर्हन्तीत्युपसङ्ख्यानम्”—इति ५. १. ७१ सू० वा० ।

दक्षिणीयत्वयोरुभयोरपि हेतुरुच्यते— “अस्माभिरेव प्रतिगृहीत इति । एतच्छब्दार्थं माह— “य एव तपतीति” इति । प्रसङ्गात् साधस्कस्य दक्षिणा माह— “तस्मात् सध क्रियोऽथ श्वेत इति । अथ सूर्यप्रतिनिधित्वेन दीयते । सूर्यस्याश्वत्वेनोपासनाविधानात्^१, अन्वाग्रनसाम्याच्च^२ सूर्यस्याश्वत्थानीयत्वम् सोऽपि वर्षसाम्याच्च श्वेतो भवेत् ॥ १८ ॥

“तस्य इक्ष्वा, पुरस्ताद् भवतीति । तस्य पुरोदेशे ‘इक्ष्वा’ हिरण्यफलको वर्तुलाकारो भवेत्^३ । ‘यद्यप्य मित्यादि स्पष्टम् ॥ २० ॥

“तेभ्यो ह वागित्यादि । ‘तेभ्य’ अङ्गिरोभ्य ‘वाक्’ क्षुपित-वत्यासीत् । “केन मदेय श्रेयान् बन्धुना ह इति । ‘केन’-इति असूयार्थं भुति^४ । ‘मत्’ मत्त सकाशात् ‘केन’ ‘बन्धुना’, बध्नातीति बन्धु, विशेषगुण , केन विशेषगुणेन ‘एव’ सूर्य ‘श्रेयान्’ अति श्रेयेन प्रशस्य । प्रशस्यहेतुभूतानां सर्वगुणानां अभिधानाय पुन ‘केनाह’-इति पक्षम् । ‘यदेत प्रत्यपहीष्टेति । ‘यत्’ येन अति-श्रेयेन ‘एतम्’ आदित्यम् ‘प्रत्यपहीष्ट’, ‘न माम्’ । अप्यविद्यमान

१— “उवा वा अश्वस्य मेध्यस्य हिर ”-इत्याग्नेदेव १० ४ ० ।

२— “य कक्षाध्वान मन्त्रुवीताय स वचनोय श्यात्”-इति, ‘यश्च कक्षाव् ? अन्त्रुतेऽध्वान मन्त्राग्रतो भवतीति वा’-इति च निघ० १ ४ १ २ ० ५ ।

३— ‘यद्य सुवर्गोऽग्नौ दक्षौ णुपाम्यति’-इत्याह्निक मिश्रिवोपनिषाद् (१० ४ २ ११) दृश्यम् ।

४— पा० सू० ८ ७ १०३ ।

कोऽतिशयस्तत्र दृष्टः ? न कोऽप्यस्तीत्यर्थः । ‘उभयान् सयत्तान् देवासुरान्’ परस्परकलहायोपयुक्तान् देवान्सुरांश्च ‘अन्तरेण’ मध्ये ‘सा’ अङ्गिरोभ्योऽपक्रान्ता वाक् । ‘सिद्धौ भूत्वा’ ‘आददाना’ जिघत्सया^१ समीपस्य सर्वं स्त्रीकुर्वती ‘चचार’ । तदानीम् ‘अग्निरेव देवानां दूतः’ अभवत्, असुरार्पाङ्गानाय सहरचोनामकोऽसुरो दूतोऽभवदित्यर्थः ॥ २१ ॥

“सा देवानिति । उभयैरप्याहता सती पूर्वं देवान् प्रत्येव उपावर्त्तमाना । आगमनोत्कोचरूप किञ्चित् अर्थयामास । ते च देवाः अग्नेः पूर्वभाविनी माग्याहुति मागमनोपाधिना प्रादुः । ‘सा’ ‘देवान्’ इदम् ‘उवाच’ । हे देवाः । ‘या कां च आग्निपम्’ ‘आग्नाविध्यध्वे’ इच्छय, ‘सा’ सर्वाऽप्याग्नीः ‘वः’ युष्माकं ‘समर्द्धिष्यते’ सद्गृह्णा भविष्यतीति । ततः सा प्रतिनिवृत्ता-सीत् ॥ २२ ॥

इदानीं मुत्तरवेदीयाधारण विधत्ते— “स यद् धार्यमाणेऽप्रा-मुत्तरवेदिं याधारयतीति । अग्नौ उत्तरवेदेरुपरि धार्यमाणे सति, ता मुत्तरवेदि याधारयेदित्यर्थः । “यदेवैना मित्यादि । एतद्वा-धारणेन या आहुति, अपवृत्तायै वेदिरूपायै वाचे देवैः कल्पिता, सा कृता भवति; अतो याधारयेदित्यर्थः । उत्तरवेद्या माधार-णेन वाच, किं माघात मित्यत आह— “वाग्धेया निदानेनेति ।

१— ‘जिघत्समाना (? जिघत्सया)’—इति छ ।

२— नाभ्येनत् पद इतिरिक्तेषु पुस्तकेषु ।

अत एव वागात्मकत्वात् उत्तरवेदिप्रचेपस्यैवापगताया वाचो वर-
धनरूपत्वात् उत्तरवेद्युपतापेन यज्ञ सफलो भवतीत्यर्थः १ ॥ २१ ॥

उत्तरवेद्या मानादिषाधन द्रव्य विधत्ते— “ता वै युगग्राम्ये-
नेति । युगेन ग्राम्यया चेत्यर्थः । युगवच्छस्यायाः अपि साधनत-
मसीत्याह— “युगेन यव हरन्तीति । ‘यव’ यस्मिन् देशे ‘युगेन
हरन्ति’, ‘यत’ यस्मात् तव ‘ग्राम्यया’ अपि ‘हरन्ति’, अतो
युगवच्छस्याया अपि हरणक्रियासम्बन्धोऽस्येवेत्यर्थः । तत् कुत इत्यत
आह— “युगग्राम्येन वा इति । ‘योग्य’ योजनार्हं मयम् । ‘अद’
विप्रकृष्टकाले, देवाभ्युरयोर्युद्धकाले ‘वा’ यज्ञस्य सम्बन्धिनी वाक्
‘सिद्धी भूत्वा’ ‘अग्रान्ता’ कूरा सती ‘अचरत्’ । ‘तत्’ तव युगेन
ग्राम्यया च मानेन ‘एनां’ वाचम् ‘एतत्’ इदानीं ‘यज्ञे’ योजितवान्
भवति ॥ २४ ॥

प्रासङ्गिक कश्चिसिष्यम विधत्ते— “तस्मात्तद्वृत्तदक्षिणा ॥
प्रतिगृह्णीयादिति । अन्येन परित्यक्ता दक्षिणा । “नो ह अमा
कुर्वीतेति । ‘अमा’ सह, स्वात्मनेत्यर्थः, ‘नो ह’ नैव कुर्वीत १ ।

१— तै० स० ६ २ ७ सा० भा० इत्ययम् ।

२— “वाचिश्रदङ्कुलप्रमायां ग्राम्या वारण्यीम्”—इत्यादि का० श्रौ० ४ ६
२० सू० ४० या० दे० । ‘ग्राम्या समानाकारो यायामार्हपरिमितः
काष्ठविशेषः ग्राम्या”—इत्यादि तै० स० १ १ ६ अथु० सा० भा०
(तै० प्रा० ३ २ ६) । “ग्राम्या सदृशी बाहुपरिमिता ग्राम्या ।
तया यतुदिक्षु उत्तरवेदीं परिमिमोते —इति च तै० स० ६ २
७ अथु० सा० भा० ।

३— ‘अन्येन परित्यक्ता दक्षिणा ममा सह स्वात्मनि ॥ कुर्वीत’—इत्येव ह ।

‘चिपोति’ दिनस्ति । ‘चिणु हिंसायाम्’^१ । “नो हान्यस्मा
इत्यादि । स्पष्टम् । ‘अस्य’ यजमानस्य । ‘समानबन्धु’ एकविधि-
निबन्धनः, एकविषय इत्यर्थः । तादृशोऽन्यः ‘पाप इवापि स्यात्’
पापौ यदि भवेत्, ‘तस्मै दद्यात्’ । तादृग् विधाय दाने उक्त-
दोषद्वयराहित्यं दर्शयति— “स यद् ददाति तदेन मित्यादिना ।
‘एषा उ निवृत्तदचिणायै प्रतिष्ठा’ निवृत्तदचिणायै गतिरित्यर्थः ।
अथ वा यजमानबन्धुरेव तस्या आस्यद मित्यर्थः ॥ १५ ॥

“अथ मन्वाद्येत्यादि । ‘एष’ शङ्खुः ‘पूर्वाङ्गः’ सन्निधि ‘उत्त-
राङ्गः’ भवति । सौमिकवेदेऽत्तरांसस्य शङ्खुरित्यर्थः । ‘तस्मात्’
शङ्खोः सकाशात् ‘प्रत्यङ्’ प्रत्यङ्मुखः ‘चीन्’ ‘विक्रमान्’ प्रक्रमान्
‘प्रक्रामति’^२ । तत्र चात्वालार्थं परितो लेखनं कुर्यात्, ‘सा चात्वा-
लस्य माचा’ । यैवोत्तरवेदेऽहता, सैवेत्यर्थः, चात्वालखननोत्पन्नैव
मृदा उत्तरवेदिकरणात् । तदेवाह— “मात्र माचास्तीति ॥

उत्तराङ्गशङ्खोः प्रत्यङ्प्रक्रमे चात्वाल इति यः पत्र उक्तः, तेन
सह विकल्पितं पत्र माह— “यत्रैव स्वयं मनसा मन्येताग्नेषोत्कर
मिति” ॥ १६ ॥

१— त० उ० ४ धा० । २— “पूर्वाङ्गे भव पूर्वार्द्ध”-इति या० दे० ।

३— ‘त्रिपद प्रक्रम, अर्द्धचतुर्थपदो वा । पदं पञ्चपदाङ्गुल द्वादशाङ्गुलं
वा’-इत्यादि शुक्लसूत्रे ७. १५, १६ ।

४— “यत्रोत्तरवेदेर्वावाकारौ । महावेद्याः ग्राम्यागे मृत्तिकाप्रक्षेपेण
निष्पाद्यमान पक्व आकारः । व्यापस्तम्बमते तद्विषया मन्वा उक्ता ।
मृत्तिका चात्वात्मनोति तद्रूपोऽपर आकारः । तद्विषया बौधायनमते
मन्वा”-इति तै० सं० १. २. १२ सा० भा० ।

चात्वालस्य भवत परिखेखनप्रकारं तन्मन्त्राय दर्शयति— ‘म वेद्यन्तादुदीचीं शम्या मिति’^१ । दक्षिणश्रोणिरूपवेद्यन्तादित्यर्थः । ‘म परिलिखति’ शम्यानुगुण्येन लेखनं कुर्यात् । अनेनैव पद्यादवधि-निर्देशं कृतो भवति । तस्य मन्त्र — “तप्तायनी मेऽमीति”^२ । हे भूमे ! ‘तप्तायनी’ अस्मि तप्तं पुमान् यस्या मिति तप्तायनी, तद्रूपा भवसि । मन्त्र व्याचष्टे— ‘इमा मेवैतदाहेति । ‘हि’ यस्मात् ‘तप्त’ पुरुषो दारिद्रेण दुःखितः सन् धनादिमाधनेच्छया ‘एति, तस्मादित्यर्थः ॥ २७ ॥

“अथ पुरस्तादित्यादि”^३ । स्पष्टम् । “अस्या हि विविदान एतीति । ‘विविदान’ धनादिकं लब्धवान् पुरुषः पुनः ‘अस्याम्’ एव खलु ‘एति’ गच्छति । अतो ‘वित्तायनी’ भूम्यभिधानं युक्तमित्यर्थः ॥ २८ ॥

‘अथानुवेद्यन्त मिति । ‘अनुवेद्यन्तं प्राचीं शम्या निदधाति’^४ । अनेन चात्वालस्य दक्षिणमीमोच्यते । तत्र खगनमन्त्रस्याय मयं— ‘मा’ मां ‘नायिताद्’ याचिताद् हिरण्यादिरूपादयान् भूमे । ‘अवतात्’ रक्ष । ‘यच्च नाथे तस्मावतादित्येति’^५ । ‘यच्च’ यस्मिन् विषये ‘नाथे’ याचे धनादिकम्, ‘तत्’ तस्मात् त्वं माम् ‘अवतात्’ अव, रक्षेत्यर्थः ॥ २९ ॥

१— का० औ० सू० ५ ३ २०, २१, २५ ।

२— वा० स० ५ ८ १ । ३— का० औ० सू० ५ ३ २०, २५ ।

४— वा० स० ५ ८ २ । ५— का० औ० सू० ५ ३ २५, २५ ।

६— वा० स० ५ ८ ३ । ७— इतः परम् ‘८’ इति छ ।

“अथोत्तरत इति” । चात्वाल्ह्योत्तरावधि परिलेखनस्य^१
 “अवताना व्यथितात्”—इति^२ मन्त्रः । तस्य व्याख्यानम्— “यत्र
 व्यथै तन्मावतादिति । ‘यत्र’ यस्मिन् विषये ‘व्यथै’ लाभोपाय
 मजानानो व्यथितः स्यात्, ‘तत्’ तस्मात् सकाशात् ‘अवतात्’
 अव ॥ ३० ॥

खाताया मृदद्यात्वालाद् उत्तरवेदिं^३ प्रति हरणं विधत्ते—
 ‘अथ हरतीति । ‘यत्र हरति’, ‘तत्’ तत्र, उत्तरवेदिप्रदेशे
 ‘अग्नीत् उपसौदति’ उपविशति आग्नीध्रः^४ । ‘अग्नीनां’ ‘नामानि’
 वक्ष्यमाणानि^५ ‘मृच्छन्’ एव हरेत् । ससु अग्निषु चात्वाल्ह्यप्रदेशे
 तन्नामग्रहणं सुपपद्यते, त एवात्र कृत इत्यत्राह— “यान्वा अमून्
 देवा अग्नेऽग्नीनिनि । ‘होवाथ’ होमनिष्यादनाथ, हविर्वहनाथ
 ‘प्रावृणत’ प्रावृणन् । ‘ते प्राधन्वन्’ । धन्वतिर्गतिकर्मा^६ । ‘इमाम्’
 ‘अहैव’ । अहेति विनिगृह्यार्थः^७ । इमां पृथिवीं परिविदेय
 असुरादयोऽपि ‘उपासपन्’ । ‘तेनैव’ ‘एतत्’ एतेन ‘निदानेन’
 मूलकारणेनैव हरणं कृतवान् भवति ॥ ३१ ॥

१— का० श्रौ० सू० ५. ३. २०, २५ ।

२— ‘परिलेखने’—इति कृ ।

३— वा० सं० ५. ८. ४ ।

४— “उत्तरवेदिरिति चात्वाल्ह्यमृदा खलस्य वक्ष्यमाणसंस्कारसंस्तृतस्य
 स्थितिजस्य नामधेयम्”—इति का० श्रौ० ५. ३. १६ सू० या० २० ।

५— वेदिपरिग्रहः पुरस्तात् १. २. ३. १ (१ भा० १५१ पृ०) द्रष्टव्यम् ।

६— “व्याहृतीय” पुरस्तात्, मार्गालोयो दक्षिणतः, आग्नीध्रीय उत्तरतः
 इतोद्देवोपरिष्ठात् (६. २. २१.) द्रष्टव्यम् ।

७— भा० पृ० ५८० या० ।

८— निरु० १. २. ४ ।

“स प्रहरतीति” । ‘स’ मृदो हर्ता अध्वर्यु, स्थेन ‘प्रहरति’ खनेत । मन्त्रस्याय मर्थः— हे ‘अङ्गिर’ अङ्गिरोनामकर्षिष्ण । ‘अग्ने ।’ त्वम् । “यौऽङ्गारा आसस्तेऽङ्गिरसोऽभवन”—इति^१ श्रुति । आहुत्याधारभूत । ‘नमो नाम विदेत्’ । न भातीति ‘नम’, एतत् ‘नाम’ विदेदित्यर्थः । यदा, नमो नामाग्निरिति ‘विदे’ जानीया इत्यर्थः । तच्च ‘आयुना’ एतदात्मना ‘नाम्ना’ अभिधानेन युक्त ‘एहि आगच्छ’ । “स यदित्यादि । “आयुर्दधातीति । ‘आयु’-शब्द सामान्येन श्रुति । ‘तत्’ अवधारित ‘समीरयति’ उत्तरवेदि प्रति सम्यक् प्रेरयति^२ । तच्च मन्त्र — “योऽष्टा वृथिव्या समीति” ‘य’ त्वम् ‘अस्या’ खाताया भूम्या भवमि, तत्वा समीरयामीत्यर्थः ॥

आनीताया मृदो वेद्याकारेण स्थापन समन्त्रक विधत्ते— ‘क्षत्वा निदधाति यत्तेऽनाष्टष्ट मिति’ । मृदा एकौभूत ! यत् ते, यदा हे तिररोहिताग्निविशिष्टे । मृत् । ‘यत्’ ‘ते’ ‘अनाष्टष्ट’ रजोभिरहिस्त्रम्, ‘यज्ञिय’ यज्ञार्हं ‘नाम’, ‘तेन’ नाम्ना ‘त्वा’

१— का० श्रौ० सू० ५ ३ २६ ।

२— तत्पाठस्तु वा० म० ५ ८ ५ ।

३— ऐ० ब्रा० १ ३ ८ । निरु० ३ ३ ५ ।

४— का० श्रौ० ५ ४ ३० — वा० म० ५ ८ ६ ।

५— इरयति—इति छ ।

६— का० श्रौ० सू० ५ ३ २८ — वा० म० ५ ८ ० ।

७— का० श्रौ० सू० ५ ३ २६ — वा० म० ५ ८ ८ ।

त्वाम् 'आदधे' स्थापयामि । “योऽस्याम्”—इतिमन्त्रेण^१ चिवारं
हरेत्^२ ॥

चतुर्थवारहरणमन्त्रस्थाय मर्थः— “हे आह्रियमाणपदार्थ !
'त्वा' त्वाम् 'अनु' पूर्वं हरणञ्चय मनुकृत्य, आहरामीति शेषः ।
किमर्थम् ? 'देववीतये' देवा व्यन्ति हविर्भक्षयन्ति अत्रेति देव-
वीतिर्यज्ञस्तदर्थम्^३ ॥

अर्थसिद्ध मन्त्र प्रशंसति— “तां वै चतुःस्रकेरिति । चतस्रः
स्रक्तयो यस्य आत्मास्य, स तथोक्तः । चतुरस्रात् साकल्येन
हरतीत्यर्थः ॥ ३१ ॥

“अथानुस्यूहतीति” । अनुक्रमेण स्यूहनं मृगसारणं कुर्यात् ।
“सिद्धसि”—इति^४ स्यूहनमन्त्रः । हे अनुस्यूह्यमाने । वेदे । त्वं
'सिंही असि' प्रागुक्तप्रकारेण सिंही भवसि । कीदृशी ? 'सपत्न-
साही' शत्रूणा मभिभविसी । तादृशी त्वं 'देवेभ्यः' तेषा मर्याय
'कल्पस्य' योषारूपा सती भोगसाधनं भवेत्यर्थः ॥

सिद्धसीति मन्त्रभागस्य तात्पर्यं माह— “वा यदेवादः सिंही
भूत्वेति । उक्तः सिंहीभावः । सपत्नसाहीत्यस्य तात्पर्यं माह— “त्वया
वयं सपत्नानिति । “देवेभ्यः कल्पस्येत्यस्य तात्पर्याभिधानम्—
“योषा वेत्यादि ॥ ३२ ॥

१— वा० सं० ५. ८. ७ । २— का० औ० सू० ५. ३. ३०, ३१ ।

३— का० औ० सू० ५. ३. ३२.— वा० सं० ५. ८. ८ ।

४— का० औ० सू० ५. ३. ३२ ।

५— वा० सं० ५. १०. १ “कल्पस्य” ।

“ता वै युगमात्री वेत्यादि^१ । षडशौत्यङ्गुलपरिमिता ‘युग-
मात्री’ । दिक्चतुष्टयापेक्षया “दश दश”-इति वीक्षा । युगमात्रस्य
पूर्वं मभिहितत्वात् तत् परित्यज्य दशपदपक्ष प्रशंसति— “दशाक्षरा
वै विराडिति । सर्वत्र विराजमानत्वात् वाचा उच्चार्यमाणत्वाच्च
विराड्=वाक्’ । मन्त्रादिरूपतया निष्पाद्यमानत्वाद् ‘वाग्=यज्ञ’ ।
अतो द्वारद्वारिकया यज्ञसम्बन्धाद् दशसङ्ख्या युज्यत इति स्तुति ।
“मध्ये नाभिका मिव करोतीति^२ । अस्या नाभिर्नाभिका । तस्या
निर्माणप्रयोजन माह— ‘समानवेति । एकत्र स्थित्वा सर्वभो-
क्तरवेद्या ध्याधारणस्याशक्यत्वात् तत्सिद्धये मध्ये नाभिकरण
मित्यर्थ^३ ॥ २४ ॥

वेद्या अद्विरभ्युक्षण विधत्ते— “ता मद्विरभ्युक्षतीति^४ । अभ्यु-
क्षणस्य प्रयोजनद्वयम्— सिद्धौ भूत्वा अग्रान्ताया शान्तिरेक
प्रयोजनम्, स्निग्धभावेन रमणीयत्वं मपरम्, तदुभय मुच्यते— “वा
यदेवाद इत्यादिना । “ता मेवैतद्देवेभ्यो हिस्यतीति । हिस्यति
प्रीणनकमा^५ । तस्या अभ्युक्षणेन प्रीणन देवेभ्योऽर्थाच्च भवति,
योषात्वेनाभिधानात् । योषाया अलङ्करणेन पत्यु प्रीतिर्भवतीति
सुप्रसिद्धम् ॥ २५ ॥

१— का० श्रौ० सू० ४ २ २२ ।

२— का० श्रौ० सू० ५ ४ २६ ।

३— तैत्तिरीयभाष्ये (स० ६ २ ०) सर्वं मतम् स्पष्टं ध्यात्वा
मितीह सङ्क्षेपेन व्याख्यायते सायणेन ।

४— का० श्रौ० सू० ४ २ ४० ।

५— आ० प० ४ ६१ धा० ।

“सोऽभ्युवतीति^१ । अभ्युवणमन्त्रः— “सिंघधीति^२ । अथ
 स्पष्टार्थः । सिकतानां प्रक्षेपस्योक्त मलद्वाररूपत्वं समर्थयते—
 “भाजन्त इव हि सिकता इति । अतिधवलत्वाद् भाजमाना
 भवन्ति । वेद्यलङ्कारत्वेन प्रशस्य अग्निसंयोगलतमन्तापनिवर्त्तकत्वेन
 प्रशंसति— “अग्नेर्वा एतद् वैश्वानरस्य भस्मेत्यादिना । अन्यवयव-
 भूतानां मेव सिकतानां मुत्तरवेद्यवयवत्वमभादनेन भूमेः स्नाङ्गस्य
 स्नात्मदाहकलाभावात् हिंसापरिहार इत्यभिप्रायः । सिकताप्रकिरण-
 मन्त्रार्थस्तु स्पष्ट एव^३ ॥

अथोत्तरवेदेर्द्यञ्जितृचशाखया प्रच्छादनं विधत्ते— “अथैनां
 क्वादयतीति^४ ॥ १६ ॥ १ [५. १.] ॥

इति औषायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

तृतीयकाण्डे पञ्चमाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

(अथ द्वितीयं ब्राह्मणम्)

इध्मो मभ्यादधति । उपयुमनीरुपकल्पयन्त्याज्यमुधि-
 अयति सुवुं च सुचं च सुमार्थ्यथोत्पूयाज्यं पञ्चगृहीतुं
 गृह्णीते यदा मुदौत इध्मो भुवति ॥ १ ॥

१— का० औ० सू० ५. १. ३० ।

२— वा० सं० ५. १०. २ “शुम्भस्य” ।

३— वा० सं० ५. १०. ३ “शुम्भस्य” ।

४— का० औ० सू० ५. ४. १. ।

अथोद्यच्छन्तीधाम्* । उपयच्छन्त्युपयुमनीरुथाहामुये
प्रहियमाणायानुब्रूह्येकस्फुयानूदेहीत्यनूदैति प्रतिप्र-
स्थातैकस्फुयैतस्मान्मध्यमाच्छङ्कोर्यु एष वेदेर्जघनाई
भुवति तद्यदेवाचान्तःपातेन गार्हपत्यस्य वेदेर्व्यवच्छिन्नं
भुवति तदेवैतदनुसुन्तनोति ॥ २ ॥

तद्वैके । आत्तरवेदेरनूदायन्ति तदु तथा नु कुर्या-
देवैतस्मान्मध्यमाच्छङ्कोरनूदेयात्त ऽध्यायन्त्यागच्छन्त्युत्तर-
वेदिम्† ॥ ३ ॥

प्रोक्षणीरध्वर्युरादत्ते । सु पुरुस्तादेवाग्रे प्रोक्षत्युदङ्
तिष्ठन्निन्द्रघोपुस्त्वा वसुभिः पुरुस्तात्यात्वित्तीन्द्र-
घोपुस्त्वा वसुभिः पुरुस्ताज्ञोपायत्वित्येवैतुदाह‡ ॥ ४ ॥

अथ पश्चात्प्रोक्षति । प्रचेतास्त्वा रुद्रैः पश्चात्पात्विति
प्रचेतास्त्वा रुद्रैः पश्चाज्ञोपायत्वित्येवैतुदाह ॥ ५ ॥

अथ दक्षिणतः प्रोक्षति । मनोजवास्त्वा पितृभि-
र्दक्षिणतः पात्विति मनोजवास्त्वा पितृभिर्दक्षिणतो
गोपायत्वित्येवैतुदाह ॥ ६ ॥

अथोत्तरतः प्रोक्षति । विश्वकर्मो त्वादित्यैरुत्तरतः

* 'ध्र' । सु'-इति क, 'ध्र'-इति ख, 'ध्रम्'-इति ग, घ ।

† 'वेदिम्'-इति ग, घ ।

‡ 'हु'-इति ख । एव मुत्तरेष्वपि तिष्ठम् ।

पात्विति विश्वकर्मा त्वादित्यैस्त्तरतो गोपायत्तित्येवै-
तदाह ॥ ७ ॥

अथ याः प्रोक्षण्यः परिशिष्यन्ते । तद्ये ऽएते पूर्वं
सक्तौ तयोर्या दक्षिणा ता* न्यन्तेन वहिर्व्वेदि निनय-
तीदु महुं तप्तं व्वार्वहिर्द्वा यज्ञान्निःसृजामौति सा
युदेवादः सिःहौ भूत्वाशान्तेवाचरत्ता मेवास्या एतच्छुचं
वहिर्द्वा यज्ञान्निःसृजति युदि नाभिचुरेद्यद्यु ऽअभिचु-
रेदुदिशेदिदु महुं तप्तं व्वार सु मभि निःसृजामौति तु
मेतुया शुचा विध्यति स शोचन्नेवामुं लोके मेति† ॥ ८ ॥

स युद्धार्यमाणेऽग्नौ । उत्तरवेदिं व्याधारयति युदेवै-
ना मदो देवा अत्रुवन् पूर्वां त्वाग्नेराहुतिः प्राप्स्यतीति
तुदेवैना मेतत्पूर्वा मग्नेराहुतिः प्राप्नोति युदेवा देवा-
नुब्रवीद्यां मुया काञ्चाशिप माशासिष्यध्वे सुा वः सुर्वा
सुमर्द्धिष्यत ऽहुति ता मेमयाचर्त्विजो युजमानायाशिप
माशासते सास्मै सुर्वा सुमृद्यते ॥ ९ ॥

तद्वा ऽएतदेकं कुर्व्वन् द्वयं करोति । युदुत्तरवेदिं
व्याधारयत्यथ यैपा‡ मध्ये नाभिकेव भवति तस्यै ये
पूर्वं सक्तौ तयोर्या दक्षिणा ॥ १० ॥

* 'ता'-इति च डा०-वे०रेण वृष्टः ।

† 'मेति'-इति ग ।

‡ 'यैपा'-इति क, ख ।

तस्या माधारयति । सि॒ह्यसि स्वाहेत्यथापरयोरुत्त-
रस्याः सि॒ह्यस्यादित्यवुनिः स्वाहेत्यथापरयोर्दक्षिणस्याः
सि॒ह्यसि ब्रह्मवुनिः क्षत्रवुनिः स्वाहेति बह्वी वै युजुः-
घाशीस्तद् ब्रह्म च क्षत्रं चाशास्ते ऽउभे व्यीर्ये ॥ ११ ॥

अथ पूर्वयोरुत्तरस्याम्* । सि॒ह्यसि सुप्रजावनौ
रायस्पोषवुनिः स्वाहेति तुप्रजा माशास्ते यदाह
सुप्रजावनिरिति रायस्पोषवनिरिति भूमा वै राय-
स्पोषस्तुङ्गमान माशास्ते ॥ १२ ॥

अथ मध्य ऽन्नाधारयति । सि॒ह्यस्यावह देवान्
युजमानाय स्वाहेति तुदेवान् युजमानायावाहयत्यथ
तुच मुद्यच्छति भूतेभ्यस्त्वेति प्रजा वै भूतानि प्रजाभ्य-
स्त्वेत्येवैतुदाह† ॥ १३ ॥

अथ परिधीन् पुरिदधाति । भ्रुवोऽसि पृथिवीं द॒ह्येति
मध्यमुं भ्रूवद्विदस्यन्तरिक्षं द॒ह्येति दक्षिण मच्युत-
द्विदसि दिवं द॒ह्येत्युत्तर मग्नेः पुरीष मसीति सम्भारु-
नुपनिवपति तद्यत्सम्भारा भुवन्त्यग्नेरेव सर्व्वत्वाय ॥ १४ ॥

शरीरं ह्येवास्या पीतुदारु । तद्यत् पीतुदारवाः‡

* 'स्याः'-इति ख, ग, घ ।

† 'द्यु'-इति ख ।

‡ 'तद्यास्तेतुदाग्वा'-इति ख, ग

परिधयो भवन्ति शरीरेणैवैन मेतत् समर्द्धयति कृत्स्नं
करोति ॥ १५ ॥

मांससु हेवास्य गुल्गुलु* । तद्यद् गुल्गुलुं भवति
मांसेनैवैन मेतत् समर्द्धयति कृत्स्नं करोति ॥ १६ ॥

गन्धो हेवास्य सुगन्धितेजनम् । तद्यत् सुगन्धितेजनं
भवति गन्धेनैवैन मेतत्समर्द्धयति कृत्स्नं करोति ॥ १७ ॥

अथ यद् वृष्णे स्तुका भवति । वृष्णेर्ह वै द्विपाणे
ऽश्रुन्तरेणाभिरेकाः राशि मुवास तद्यद्देवाचाम्नेर्यक्तं
तुदिहाप्यसदिति तुस्माद् वृष्णे स्तुका भवति तुस्माद्या
शीर्ष्णी नेदिष्ठः स्यात्ता माच्छिद्याहरेद् यद्यु तां नु
विन्देदपि या मेव काच्छाहरेत्तद्यत्परिधयो भवन्ति
गुप्या ऽएव दूरु ऽइव ह्येन मुत्तरे परिधय ऽआगुच्छन्ति ॥
१८ ॥ २ ॥

॥ चतुर्थप्रपाठके द्वितीयं ब्राह्मणम् [५. २.] ॥

उत्तरवेदिनिर्माण मभिधाय अचोत्तरवेद्या मग्निप्रपञ्चनप्रयोग
उच्यते— “इमं मभ्यादधतीति† । आहवनीयेऽग्नौ प्रणीयमानाना
मङ्गाराणां सम्पादनाय काष्ठममूहं स्थापयेयुरित्यर्थः । “उपयमनी-

* , † ‘गुल्गुलु’-इति सा.-सम्मतः पाठ इति डा० वेबर ।

१— का० श्री० सू० ५ ४. २ ।

रित्यादि । 'उप' अग्रेरधस्तात् यम्यन्ते इत्युपयमन्य भिक्ता^१ ।
 व्याधारणार्थम् 'आज्यम्' अग्नौ 'अधि'श्रयति' विलापयेत् । आज्य
 सुत्पूत कृत्वा सुवेण मुचि पञ्चवार गृहीयात् ॥ १ ॥

'अथोद्यच्छन्तौति'^२ । इध्ने प्रदीप्ते सति 'अथ अनन्तर मेव
 'इधम्' अङ्गारता प्राप्त मूर्द्धं धारयेत् । इधपात्रस्थाध 'उपयमनी'
 उपयच्छेत् । 'अग्नये प्रह्वियमाणाय' उत्तरवेदि प्रति नीयमानाय
 तदनुगूल सूक्त पठेति होतार ब्रूयात् । 'एकस्फया' एक स्फ्यो
 यस्या रेखाया सा तथोक्ता तथा सा मनुगच्छ स्फ्येन रेखा
 कुर्वन्ननुगच्छेति प्रतिप्रस्थातार ब्रूयात्^३ । एकस्फ्यामुगमनस्यावधि
 माह— "आ एतस्मान्नाधमाच्छद्ध्योऽय एष वेदेर्जघनाद्धा भवतीति ।
 'वेदे' सौमिक्या 'जघनाद्धे' 'य एष' शङ्कुर्भवति । सूणाराजात्
 प्रक्रमत्रितये य शङ्कुरन्त पात स्थापित, स एव मध्यमशङ्कु,
 तावत्पर्यन्त मित्यर्थः । "गार्हपत्यस्य वेदेरिति । 'यत् प्रणयति स
 गार्हपत्य'—इतिन्यायादाहवनीयादुत्तरवेदि प्रति प्रणयनस्योक्तत्वात्
 आहवनीय एव गार्हपत्य इत्युच्यते । रेखाकर्षणेनान्त पात्यरूपो
 व्यवच्छेद परिद्धतो भवति^४ ॥ १ ॥

१— उपयम्यत उपगृह्यतेऽग्निराभिरित्युपयमन्य भिक्ता—इति या० दे० ।

२— अग्निरथ सप्तम्यर्थानुवादी ।

३— का० श्रौ० सू० ५ ॥ ७ ।

४— 'प्रतिप्रस्थाता होतार ब्रूयात्'—इति उ, च ।

५— का० श्रौ० सू० ५ ॥ ८ ।

रेखानुगतिविषये केषाञ्चित् पञ्च भुपन्वस्य कपच्छेदपरि-
हाराय प्रयोजनाभावाभिप्रायेण निराचष्टे— “तद्वैके ओत्तरवेदेरनू-
दायन्तीति^१ ॥ २ ॥

“प्रोचणीरध्वर्युरित्यादि^२ । अध्वर्याः प्रोचणादानविधानात्
अग्निप्रणेत्या अग्नीदेव ‘अग्ने’ उत्तरादिभ्यः पूर्वम्, ‘पुरस्तात्’ पूर्वस्थां
दिशि ‘प्रोचति’, ‘उदङ्’ उदङ्मुखस्तिष्ठन् ।

मन्त्रस्थाय मर्थः^३ ।— इन्द्र इति घुष्यते ग्रन्थते इति
‘इन्द्रघोषः’ इन्द्रनामा देवः, सः ‘वसुभिः’ सहितः ‘धातु’ रक्षतु,
असुरादिभ्यः सकाशात् ‘गोपायतु’ इत्यर्थः । ‘प्रचेताः’ प्रकृष्टप्रज्ञो
वह्मणः । ‘पितरः’ अग्निव्यात्ताप्रमुखाः । ‘मनोजवाः’ मनोवेगोपम-
वेगः । ‘विश्वकर्मा’ विश्वविषयं कर्म यस्य स एतन्नामको देवः ।
निनेतव्यायाः दक्षिणपूर्वस्तक्तेः स्पष्टप्रदर्शनाय पूर्वदिग्गतस्तुति-
दधोपन्यासः ॥ ४, ५, ६, ७ ॥

“अथ याः प्रोचण्य इति । “ता न्यन्तेनेति । ‘ताः’ प्रोचणीः
‘न्यन्तेन’ अत्यन्तान्तदेशेन । तत्रापि स्तुतन्ते प्रोचणीये श्रेयनिनयन-
प्रसक्तावाह— “वद्विर्वेदौति^४ ।

निनयनमन्त्रस्थाय मर्थः^५ ।— ‘इदं’ प्रोचणीशेषं ‘तप्तम्’, ‘वेद्याः’
सिद्धीरूपायाः क्रौर्यव्युत्सादनतः तस्मिन् सन्तापप्राप्तेः सम्भवात् अव-

१— का० श्रौ० सू० ५. ४. १० ।

२— का० श्रौ० सू० ५. ४. ११ ।

३— तत्पाठो वा० सं० ५. ११. १ ।

४— का० श्रौ० सू० ५. ४. १२ ।

५— वा० सं० ५. ११. २ ।

अष्ट मन्त्रज्ञं भवति, तथाविधं वा; 'यज्ञाद्' यज्ञसाधनाद् वेदिदेशात् 'बहिः निःसृजामि' । "सा यदेवाद इत्यादि निनय-
नार्थवादः स्पष्टः ।

अयं निनयनमन्त्रोऽभिचारेच्छाराहित्यविषय इत्याह— "यदि
नाभिचरेदिति । 'यदि' अभिचारं कर्तुं मिच्छेत्, तदा 'यज्ञाद्
बहिः' स्यात् 'अमू ममि निःसृजामि'-इत्यादिशेत् । अमु
मित्यत्र द्वेयस्य नाम गृहीयात् । 'सः' अभितप्तः 'श्रोचन्नेवासुं
लोक मेति' दुःखेन प्राणान् जहातीत्यर्थः ॥ ८ ॥

इदानीं प्राप्तावसरत्वात् व्याघारणमाह— "स यद् धार्यमाणे-
ऽप्राविति । आग्नीध्रेण उत्तरवेदेरुपरि देशे 'अग्नौ धार्यमाणे' सति
अध्वर्युः व्याघारयति । "यदेवेना मद इत्यादिक मुत्तरवेदेर्विध्यर्था-
ख्यायिकाप्रसङ्गे व्याख्यानम् । यस्मादपक्रान्ताया वाचः प्रतिनिवृत्तये
देवैर्व्याघारणं दत्तम्, तस्मादेवेत्य मेतत् कर्त्तव्य मित्यर्थः । यस्माच्च
व्याघारणपरितुष्टया वाचा सर्वाङ्गीः समृद्धिरूपो धरो देवेभ्यो
दत्तः, तस्माद् यजमानार्थं मृत्विग्निराग्राह्यमानाना माग्निषां
समृद्धये चोत्तरवेदिव्याघारणं कर्त्तव्य मित्यर्थः ॥ ९ ॥

"तद्वा एतदेक मिति । 'एकम्' उत्तरवेदिव्याघारणं कुर्वन्
'द्वयं करोति' व्याघारणं यजमानाग्रीराग्रामनश्चेत्यर्थः । उत्तर-
वेदिमध्यङ्गतावायतुः सन्नेरुत्तरनाभेरक्षणाया व्याघारप्रकार उच्यते—

“अथ येषां मध्ये नाभिकेव भवतीत्यादिना^१ । ‘ये पूर्व्वे सक्ती’ ईशानाग्नेयदिग्गते, ‘तयोः’ मध्ये ‘दक्षिणा’ सक्तिराग्नेयदिग्गता, ‘तस्यां’ “सिद्धसि स्थाहा?”-इति^२ ‘व्याधारयति’ । “अथापरयो-
त्तरस्या मिति । नामेः पश्चाद्दिग्गतयोर्मध्ये ‘उत्तरस्यां’ वायव्य-
दिगवस्थितायां सक्त्वा मित्यर्थः । आदित्यान् यजमानार्थं वनति
भजत इति ‘आदित्यवनिः’, तादृशी ‘सिद्धसि’, तुभ्य स्थाज्जत मस्तु ।
‘अथ’ ‘अपरयोः’ । ‘दक्षिणस्यां’ नैर्ऋतकोणकोष्ठे इत्यर्थः । अथ
ब्रह्मचरोभयाशासनस्याभिप्राय माह— “बङ्गी वै यजुःखाग्रीरिति ।
‘यजुःयु’ आग्रीःपरेषु प्रायेण ‘बङ्गी आग्रीः’ बङ्गविधान्याशास-
नान्युपलभ्यन्ते । अतो युक्त मित्यर्थः । ‘अथ’ ‘पूर्व्वयोत्तरस्याम्’
ईशानसक्त्वां ‘सुप्रजावनिः’ शोभनपुत्रादिसत्त्वप्रजासम्भक्ती, ‘राय-
स्योषवनिः’ रायस्योयो धनपुष्टिः ॥ १०, ११, १२ ॥

“अथ मध्य व्याधारयतीति । मध्यव्याधारणमन्त्र— “सिंघास्या-
वह देवान्”-इत्यादि^३ । स्वार्थः । ‘अथ’ ‘सुवम्’ ‘उद्यच्छति’
ऊर्द्धं धारयेत् । सुगुहमनमन्त्रस्य^४ भूतशब्दस्य भूतकार्यं मर्त्यं
इत्याह— “प्रजा वै भूतानीति ॥ १३ ॥

“अथ परिधीन् परिदधातीति^५ । तन्मन्त्रस्यार्थः^६ ।— हे परिधे!
न यस्मात् ‘भ्रुवोऽसि’, अतः ‘वृचिवी’ ‘दृंह’ दृढा कुरु । अनेन

१— का० श्रौ० सू० ५. ४. १४ ।

२— वा० सं० ५. १२. १-४ ।

३— वा० सं० ५. १२. ५ ।

४— का० श्रौ० सू० ५. ४. १५ ।

५— वा० सं० ५. १२. ६ ।

६— का० श्रौ० सू० ५. ४. १६ ।

मध्यमपरिधिं परिदधाति । ध्रुव मविचलं चियति निवपतीति
 'ध्रुवचित्' । अच्युत परैरच्यावितं यथा न चलति तथा चियतीति
 'अच्युतचित्' । उत्तरवेदिनाभिदेशे गुग्गुलुसुगन्धितेजनादिसम्भार-
 प्रक्षेप^१ समन्त्रक विधत्ते— "अग्नेः पुरीष मसीति^२ । "सम्भारानुप-
 निवपतीति^३ । स च सम्भारनिवापः 'अग्नेः' 'मर्म्मत्वाय' कृत्स्नत्वाय
 मन्वद्यते । गुग्गुल्वादीना मन्वद्यवयवत्वं स्वयं मेव वक्ष्यति^४, अतस्तेषां
 मग्निना संयोजनेन स सर्वः सम्पूर्णो भवति ॥ १४ ॥

"शरीरं हैवेति । 'अस्य' अग्नेः 'पीतुदारः' उदुम्बरविशेषः ।
 "स यो वनस्पतिष्ववसत् तां पुतुद्रौ"—इति च तैत्तिरीयके अव-
 णात्^५ पीतुदारुणोऽग्नेः शरीरत्वम् ॥ १५ ॥

"मामं हैवाग्येति । "यन्मामं सुपद्यत तद् गुग्गुन्धिति श्रुतेः^६
 गुग्गुलोरग्नेर्मांसत्वम् ॥ १६ ॥

"गन्धो हैवाग्येति । "या मोषधीषु तां सुगन्धितेजने"—इति
 श्रुतेः^७ सुगन्धितेजनादौषधिविशेषे अग्नेरेकरात्रनिवासात् अग्ने-
 र्गन्धः सुगन्धितेजने सङ्क्रान्तः^८ । तदुपवापेन अग्नेर्गन्धाख्याशस्य
 सुमर्द्याजना । अतः कृत्स्नत्व मग्नेः ॥ १७ ॥

१— 'सम्भाराणां प्रक्षेप'—इति । २— या० सं० ५. १२. ४ ।

३— का० श्रौ० सू० ५. ४. १७ ।

४— अत्रुपद मेव १५-१६-१८-कण्डोषु ।

५, ६, ७— ते० स० ६. २. ८. ४ ।

८— 'अविशेषे अग्नेर्गन्धः सङ्क्रान्तः'—इति ह ।

“अथ यद् वृष्णे स्तुका भवतीति । वृष्णिर्मेष, तस्य स्तुका रोम^१ । स्तुकाया अभ्यवयवत्त्वं मुपपादयति— ‘वृष्णेह वै विषाणे अन्तरेणेति । “या पशुषु ता पेलस्थान्तरा शृङ्गे’-इति^२ तैत्तिरी-यकम् । “या ग्रीष्णं नेदिष्ठ स्यात् ता माच्छिद्याहरेदिति । वृष्णे-रक्षामे कथं मित्यत आह— “अपि या मेव का चाहरेदिति । तदवान्तरजातिसम्बद्धा मपीत्यर्थः । परिधीना परिधान, तद्वार-विशेषत्वं चोक्तम्, इदानीं तदावश्यकत्वं माह— “तद् यत् परि धयो भवन्तीत्यादि । यस्मात् ‘उत्तरे उपरि क्रियमाणा’ ‘परि-धय’ ‘दूरे विप्रकृष्टकाले होमकाले’ ‘आगच्छन्ति, अतो-ऽग्नेर्गुप्तिस्तावत्पर्यन्तं मपेक्षिता तस्मादिदानीं मवश्यकर्तव्य मित्यर्थः ॥ १८ ॥ २ [५ २] ॥

इति सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

तृतीयकाण्डे पञ्चमाध्याये द्वितीय ब्राह्मणम् ॥

(अथ तृतीय ब्राह्मणम्)

पुरुषो वै यज्ञ^{*} । पुरुषस्तेन यज्ञो युदेन पुरुषस्तनुतु ऽएष वै तायुमानो यावानेव पुरुषस्तावान्विधीयते तस्मात्पुरुषो यज्ञ[†] ॥ १ ॥

१—“स्तुका शिरारोमाणि”-इति या० दे० । २— तै०स० ६ २ ८ ६ ।

^{*}, [†] ‘य’-इति म, घ ।

अशुर एवास्य हविर्द्वानम् । ज्वैष्णवुं देवतयाद्य
युदस्मिन्सोमो भवति हविर्वै देवानाः सोमस्तुस्मा-
द्धविर्द्वानं नाम ॥ २ ॥

मुख मेवास्याहवनीयः । स युदाहवनीये जुहोति
यथा मुख ऽआसिञ्चेदेवं तत्* ॥ ३ ॥

स्तुपु ऽएवास्य युपः । बाहू ऽएवास्याग्नीध्रीयश्च
मार्जालीयश्च ॥ ४ ॥

उदुर मेवास्य सुदः । तस्मात् सुदसि भक्षयन्ति युद्धीदं
किञ्चाश्रुन्त्युदुर ऽएवेदः सर्वं प्रतितिष्ठत्यथ युदस्मिन्
विश्वे देवा ऽश्रुसौदंस्तुस्मात् सुदो नाम तु ऽउ एवास्मि-
न्नेते ब्राह्मणा विश्वगोचाः सौदन्ति ॥ ५ ॥

अथ यावेतौ जघनेनाग्नी† । प्रादावेवास्यैतावेप
वै तायुमानो यावानेव पुरुषस्तावान्विधीयते तस्मात्पु-
रुषो यज्ञः ॥ ६ ॥

उभयतोद्वारः हविर्द्वानं भवति । उभयतोद्वारः
सुदस्तुस्मादयं पुरुष ऽआन्तः सन्तृणः प्रणित्ते हविर्द्वाने
ऽउपतिष्ठते‡ ॥ ७ ॥

* 'वत्'—इति म, घ ।

† 'ग्नी'—इति ग, घ ।

‡ 'उपतिष्ठते'—इति क ।

ते समुववर्त्तयन्ति । दक्षिणेनैव दक्षिण मुत्तरेणो-
त्तरं यदुर्पयिस्तदक्षिणः स्यात् ॥ ८ ॥

तुयोः समुववर्त्तयोः । छदिरधि निदधति यदिच्छदिर्नु
विन्देयुच्छदिससम्मितां भित्तिं* प्रत्यानह्यन्ति रराध्यां
पुरिश्चयन्त्युच्छायौभ्यां छदिः पथ्यादधिनिदधति छदिः-
सम्मितां वा भित्तिम् ॥ ९ ॥

अथ पुनः प्रपुष्ट । चतुष्टुहौत माज्यं गृहीत्वा
सावित्रं प्रसवाय जुहोति सविता वै देवानां प्रसवितु
सवितुप्रस्तताय† यज्ञं तनवामहा ऽहुतिं तुस्मात्सावित्रं
जुहोति ॥ १० ॥

स जुहोति । युञ्जते मुन उत युञ्जते धिय इति
मुनसा च वै व्वाचा च यज्ञं तन्वते स यदाह युञ्जते मुन
ऽहुतिं तन्मुनो युनक्तुत युञ्जते धिय इति तद्वाचं युनक्ति
धियाधिया ह्येतया मनुष्या जुज्यूपन्त्युनूक्तेनेव प्रकामो-
द्येनेव गाथाभिरिव तुभ्यां युक्ताभ्यां यज्ञं तन्वते ॥ ११ ॥

विप्रा विप्रस्य दृढतो विपथित इति । ये वै
ब्राह्मणाः शुश्रुवाः सोऽनूचानास्ते विप्रास्तानेवैतदुभ्याह

* 'भित्ति'—इति ग ।

† 'भित्तिम्'—इति ग । 'भित्तिम्'—इति घ ।

‡ 'प्रस्तता'—इति क ।

वृहतो विपश्चित इति यज्ञो वै वृहन्विपश्चितश्च मेवै-
तदुभ्याह वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इदिति वि हि
होत्रा दधते युजं तन्वाना महौ देवस्य सवितुः
पुरिष्टुति* स्वाहेति तुत्साविचुं प्रसवाय जुहोति ॥ १२ ॥

अथापरं चतुर्थहोत माज्यं गृहीत्वा । उपनिष्क्रामति
दक्षिण्या द्वारा पुत्नी निष्क्रामयन्ति स दक्षिणस्य हवि-
र्द्धानस्य दक्षिणायां वर्त्तन्त्याः हिरण्यं निधाय जुहोतीदं
विष्णुर्विचक्रमे वेधा निदधे पदम्* । समूढ मस्य पाःसुरे
स्वाहेति सःस्रवं पुत्न्यै पाणावानयति साक्षस्य सन्ताप
मुपानक्ति देवश्रुतौ देवेष्टाघोपत मिति प्रयच्छति प्रति-
प्रस्थात्रे सुचं चाज्यविलापनौ च पर्य्याणयन्ति पुत्नी मुभौ
जघुनेनाग्नौ ॥ १३ ॥

चतुर्थहोत माज्यं गृहीत्वा । प्रतिप्रस्थातोत्तरस्य हवि-
र्द्धानस्य दक्षिणायां वर्त्तन्त्याः हिरण्यं निधाय जुहोती-
रावती धेनुमती हि भूतः स्रवसिनी मुनवे दशस्या† ।
व्यक्ताभ्रा रोदसी विष्णवेते दाधुर्यं पृथिवी मभितो
मयूखै स्वाहेति सःस्रवं पुत्न्यै पाणावानयति साक्षस्य
सन्ताप नुपानक्ति देवश्रुतौ देवेष्टाघोपत मिति तद्युदेवं
जुहोति ॥ १४ ॥

देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः* । तेऽसुररक्षसेभ्य आस-
 ज्नाद् विभयाच्चकुर्व्वजो वा ऽआज्यं तु ऽएतेन वृज्जेणा-
 ज्येन दक्षिणतो नाप्रा रुक्षाऽस्यवाघ्नस्तथैषां नियानुं
 नान्ववायंस्तथो ऽएवैषु एतेन वृज्जेणाज्येन दक्षिणतो
 नाप्रा रुक्षाऽस्यवहन्ति तथास्य नियानुं नान्ववयन्ति
 तद्युदैष्णवीभ्या भृग्भ्यां जुहोति वृष्णवः हि हवि-
 र्हुनिम् ॥ १५ ॥

अथ यत्पुत्र्यक्षस्य सन्तापु मुपानुक्ति । प्रजुनन मेवै-
 तुक्रियते यदा वै स्त्रियै च पुःसुथ सन्तप्यतेऽथ रेतः
 सिच्यते तत्तुतः प्रजायते पुरागुपानुक्ति पुराग्येव रेतः
 सिच्यतेऽथाह हविर्हुनाभ्यां प्रवर्त्यमानाभ्या मनुद्रू-
 होति† ॥ १६ ॥

अथ व्याचयति । प्राची प्रेत मध्वरुं कल्पयन्ती
 ऽइत्यध्वरो वै यज्ञः प्राची प्रेतं यज्ञं कल्पयन्ती ऽइत्ये-
 वैतुदाहोर्द्धं यज्ञं नयतं मा जिह्वरत मित्यूर्द्धं मिसुं
 यज्ञं देवलोकं नयत मित्येवैतुदाह मा जिह्वरत मिति
 तुदेतुष्मा ऽअक्षला माशास्ते समुद्रह्येव प्रवर्तयेयुर्यथा

* 'मा'—इति म, घ ।

† 'द्रूहोति'—इति म, 'द्रूहोति'—इति घ ।

नोत्सुर्जेता मसुर्या वा ऽस्या वाग् याक्षे नेद्विहासुर्या
वाग्बुदादिति युद्युत्सुर्जेताम् ॥ १७ ॥

एतद्वाचयेत् । खुज्जोष्ठ मावदतं देवी दुर्व्ये ऽश्रायु-
र्मा निर्वादिष्टं प्रजां मा निर्वादिष्ट मिति तस्यो द्वैपा
प्रायश्चित्तिः ॥ १८ ॥

तदाहुः । उत्तरवेदेः प्रत्यङ् प्रकामे त्रीन्विक्रमांस्तु-
द्धविर्द्धाने स्थापयेत् सा हविर्द्धानयोर्माचेति नाच*
मावास्ति युचैव स्वयं मुनसा मुन्येत नाहैव सचा-
त्यन्तिके नो दूरे तुत् स्थापयेत् ॥ १९ ॥

ते ऽश्रभिमन्त्रयते । अच रमेथां व्युर्षन् पृथिव्या
ऽहुति व्युर्षं ह्येतत् पृथिव्यै भवति दिवि ह्यस्याहवनीयो
भवति नभ्यस्थे करोति तद्धि क्षेमस्य रूपम्† ॥ २० ॥

अथोत्तरेण पर्येत्याध्वर्युः । दक्षिणः हविर्द्धान मुप-
स्तभाति विष्णोर्नु कं व्यौर्याणि प्रवोचं यः पाथिवानि
व्विमने रुजाः‡ सि । यो ऽश्रुस्कभायदुत्तरः सधुस्थं व्विचक्र-
माणुस्त्रेधोरुगायो विष्णवे त्वेति मेथुी मुपनिहन्ती-
तरुतस्तुतो युदु च मानुषे§ ॥ २१ ॥

अथ प्रतिप्रस्थाता॥ उत्तरः हविर्द्धान मुपस्तभाति

* 'नाम'—इति म ।

† 'रूपम्'—इति म, घ ।

‡ 'ये'—इति म, घ ।

§ 'ता'—इति म, घ ।

दिवो वा विष्णो ऽउत वा पृथिव्या महो वा विष्णो
 ऽउरोरन्तरिक्षात् । उभा हि हुस्ता व्यसुना पृणस्वा
 प्रयच्छ दक्षिणादोतु सव्याद्विष्णवे त्वेति मेथौ मुपनिह-
 न्तीतरुतस्तुतो यदु च मानुषे तद्यद्वैष्णवैर्यजुर्भिरुप-
 चरन्ति वैष्णवः हि हविर्दानम् ॥ २२ ॥

अथ मध्यमुं छदिरुपस्पृश्य व्याचयति । प्र तद्विष्णु-
 स्तवते व्यीर्येण मृगो नु भीमः कुचरो गिरिष्ठाः* ।
 युस्योरुषु चिपु विक्रमणेधधिक्षियन्ति भुवनानि विष्टे-
 तौदुः हैवास्यैतच्छीर्षकपालं यदिदु मुपुरिष्ठादुधौव
 ह्येतत् क्षियन्त्यन्यानि शीर्षकपालानि तुस्मादाहाधि-
 क्षियन्तीति ॥ २३ ॥

अथ रराव्या मुपस्पृश्य व्याचयति । विष्णो रराट
 मस्रोति ललाटः हैवास्यैतदथोच्छ्राया ऽउपस्पृश्य व्याच-
 यति विष्णोः अपचे स्य इति सुक्ते हैवास्यैते ऽअथ
 युदिदुं पश्चाच्छदिर्भवतीदुः हैवास्यैतच्छीर्षकपालं युदिदुं
 पश्चात् ॥ २४ ॥

अथ लसपूजन्त्या स्पन्दया प्रसीव्यति । विष्णोः
 स्यूरसीत्यथ ग्रन्थिं करोति विष्णोर्ध्रुवोसीति नेद् व्यव-

पुद्याता ऽदुति तं प्रकृते कुर्मन्विष्यति तयो हाध्वर्युं वा
युजमानं वा ग्राहो नु विन्दति तन्निष्ठितं* मभिमृशति
वैष्णव मसूति वैष्णवः हि हविर्द्धानम् ॥ २५ ॥ ३ ॥

॥ इति चतुर्थप्रपाठके तृतीयं ब्राह्मणम् [५. ३.] ॥

उत्तरत्र सदोहविर्द्धानादिक विधास्यति^१, तदुपोद्घातत्वेन तेषां
पुरुषाकारसन्निवेशता माह— “पुरुषो वै यज्ञ इत्यादिना । अत्र
यज्ञशब्देन तदाधारभूत सदोहविर्द्धानादिक उच्यते । प्रतिज्ञाते
पुरुषत्वे हेतु माह— “पुरुषत्वेन यज्ञ इति । ‘तेन’ कारणेन
‘यज्ञ’ ‘पुरुष’ इत्यर्थः । हेतु विवृणोति—“यदेन पुरुषस्तनुत
इति । यस्मात् पुरुषेण यज्ञस्तायते, तेन यज्ञ पुरुष इत्यर्थः ।
तत् किं पुरुषेण जायमानं सर्वोऽपि पुरुषः ? नेत्याह— “एष वै
जायमानो यावानेव पुरुषः, तावान् विधीयत इति । पुरुषाकारेण
जायमानत्वात् पुरुष इत्यर्थः ॥ १ ॥

“अग्निर एवास्तेति । हविर्द्धानस्य यज्ञाग्निरस्त्वे कारण माह—
“वैष्णव देवतयेति । विष्णुदेवताकैर्मन्त्रैर्निर्मातव्यत्वाद् वैष्णव-
त्वम् । विष्णोः सर्वदेवतानां मुत्तमत्वात्, अग्निरगोऽप्यङ्गानां मुत्तम-
त्वात्, युक्तं हविर्द्धानस्य अग्निरस्त्वम् । हविर्द्धानं नाम-निर्वचनेन
प्रशंसति— “अथ यदग्निमिति ॥ २ ॥

* ‘तं निष्ठितं’—इति क, डा० वेबर दृष्टयः ।

१— इहेव ब्राह्मणे मन्त्रस्या कण्ड्याम (१०६ ३१७ पृ०) दृष्टव्यम् ।

“सुख मेवाह्वाननीय इति । आह्वनीयस्य सुखत्वमाह्यं दर्शयति— “स यदाह्वनीये जुहोतीति । अत्र प्रक्षेपसाम्यात् सुखमित्यर्थः ॥ २ ॥

“स्तूप एवास्य यूप इति । ‘स्तूप एव’ ‘अस्य’ यज्ञस्य ‘स्तूपः’ केशमिषयः; दैर्घ्यसाम्यात्^१ । हविर्द्वान्त्योत्तरस्याम् ‘आग्नीध्रीष’, दक्षिणस्यां मार्जानीयः, अत एव ‘बाह्व’, उभयतः समानत्वात् तौ बाह्वस्थानीयौ ॥ ४ ॥

“उदर मेवास्य सद इति । सदसि भक्षणसम्भवात् भक्षणसाम्यात् ‘सदः उदरम्’ । ‘सदः’ शब्दो धौगिक इत्याह— “अथ यदग्निं विश्वेदेवा भोदन्तीति । भोदन्त्यवेति सदः । विश्वेदेवा वस्त्रादिरूपेण नानाजातीयाः । ब्राह्मणेषु कथं विश्वदेवत्वं मिति, तत्राह— “ब्राह्मणा विश्वगोत्रा भोदन्तीति ॥ ५ ॥

“अथ यावेतौ जघनेमाग्नी इति । सौमिकवेदेः पद्याङ्गागे ‘अग्नी’ आह्वनीयगार्हपत्यौ, तौ जघनदेशवर्त्तितात् ‘पादौ’ । उपपादितं मयं गमयति— “एष वै तायमान इति ॥ ६ ॥

“उभयतो दार मिति^२ । हविर्द्वानं सदस्येभ्योभयम्, ‘उभयतो-दारम्’ प्राक् पद्याह । यस्मात् पुरुषरूपो यज्ञ उभयतोदारक, ‘तस्मात्’ ‘पुरुषः’ मनुष्यः ‘आन्तम्’ अन्तर्पथन्तं ‘सदृष्ट’ सुपिराहन् भवति । आन्तसाम्यात् पुरुषाकारस्य यज्ञस्य सिद्धम् । हवि-

१— नास्त्येतत् यद ऋ-पुस्तके ।

२— का० श्रौ० सू० ८. १. २० द्रष्टव्यम् ।

द्वानिप्रवर्त्तनायोभयोर्निर्णिज्य स्थापन विधत्ते— “प्रणिक्ते हविर्द्वानि
उपतिष्ठेते”—इति । अत्र कात्यायन — “अपनिवपनात् कृत्वा
हविर्द्वानि स्थापयति पृष्ठ्या सुभयत इति^१ ॥ ७ ॥

“ते समववर्त्तयन्तौति । ‘दक्षिणे’ पृष्ठ्यास्थमधरज्ज्वोर्दक्षिण-
देशेन^२ ‘दक्षिण’ हविर्द्वानम्, तथा ‘उत्तरेण उत्तरम्’ ‘समववर्त्त-
यन्ति’ । ‘यद्’ ‘वर्षीय’ अतिशयेन वृद्धम्, ‘तद्’ ‘दक्षिण’
हविर्द्वानं कर्त्तव्यम्^३ ॥ ८ ॥

“तयो समववृत्तयोरिति । ‘समववृत्तयोस्तयो’ ‘अधि’ उपरि
‘हृदि’ त्वणमय कटम्, उभयत स्थापयेत् । तदभावे ‘भित्ति’ वा
प्रत्यानद्येत् । तथा च कात्यायन — “वर्षीयो दक्षिणम्, तयोश्चदि-
रध्यस्यति, भित्ति वाभावे”—इति^४ । ‘रराव्या’ हविर्द्वानयोर्मुख-
प्रदेशे ‘उच्छ्रायीभ्या’ तोरणकाष्ठाभ्याम् अन्तराले परिश्रये, ‘पश्चात्’
पृष्ठभागेऽपि ‘हृदि’ ‘अधि’ निदधात् । तदभावे ‘भित्ति’
पूर्ववत् कर्त्तव्या^५ ॥ ९ ॥

१— का० श्रौ० सू० ८ ३ २१ ।

२ “एशाम = वेदिमध्ये प्राकप्रतीथो शङ्खोर्द्धा रज्जुम्”—इति तै० ब०
(१० २ १३—६ १ ६) भाष्ये सायण । “वदीमध्ये वर्त्तमाना प्राची
रेखा एषा”—इति या० दे० (८ ४ २७) ।

३— का० श्रौ० सू० ८ ४ २२ ।

४— “भित्ति हृदिषा तुल्याम्, वेणुशकलै कृत किञ्चलम्” इति या० दे० ।

५— का० श्रौ० सू० ५ ३ २२, २३, २४ ।

६— पुरस्तात् = ४ १६ दृश्यम् ।

हविर्दानप्रवर्त्तनाभ्यनुज्ञापनाय सावित्रं होमं विधत्ते— “अथ पुनः प्रपद्य चतुर्गृह्येत माव्यं गृह्येत्ता सावित्रं प्रसवाय जुहोतीति^१ । व्याघारणायाज्यं यद्दीतुं पूर्वं माहवनीयं प्रति गतत्वात् ‘पुनः प्रपद्य’-इत्युच्यते । सत्स्वयेषु देवेषु सवित्रे किमर्थं ह्येत इत्यत आह— “सन्निता देवाना मिति । देवानां मध्ये सविता अनुज्ञाकर्त्ता ॥ १० ॥

होममन्त्र आह— “म जुहोतीति । मन्त्रस्थाय मर्थः^२— ‘विप्राः’ मेधाविनः, अध्वर्युप्रमुखाः चत्विजः ‘विप्रस्य’ विगेषेणाभिमतफल-पूरकस्य प्रापकस्य, ‘वृहतः’ महतः, ‘विपश्चितः’ मेधाविनः, यज्ञस्य इतरे विपश्चितोऽप्यविपश्चितः, असौ तु ‘यज्ञो वृहन् विपश्चित्’; अतः पदद्वयमामर्थाद् यज्ञ एवाभिमतः । तं यज्ञं सवित्रा प्रसूतं ‘मनः’ ‘धियः’ बुद्धौय ‘युञ्जते’ । अन्तःकरणस्य मनसः वृथह-निर्दिशात् ‘धौ’-शब्देन तत्पूर्विका वागुच्यते । तथा ‘होचाः’ वय-ङ्कर्त्तारः, सप्त होचकाश्च यज्ञविषये सवित्रानुज्ञाता एव मनो धियश्च ‘विदधे’ विदधते, कुर्वते । “लोपस्त आत्मनेपदेषु”-इति^३ तल्लोपः । क्लृप्त ईदृङ् माहाव्यं सवितु रिति, तथाह— यस्मात् सविता ‘एक इत्’ एक एव ‘वयुनावित्’ । वयुन मिति प्रज्ञा-नाम^४, प्रज्ञावानित्यर्थः । यदा वीथते गम्यत इति वयुनं यज्ञ-

१— “चतुर्गृह्येतं शान्नादार्ये जुहोति युञ्जत इति” का० श्रौ० ८. १. २८ ।

२— पाठस्यास्य “युञ्जते”-इत्यादि वा० मं० ५. १४. १ ।

३— पा० सू० ७. १. ४१ ।

४— निघ० ४. ८. १० ।

मार्ग । “वयुन वेते”-इति निरुक्तम्^१ । तस्य वेदिता एक एव ।
तस्य सवितुर्देवस्य ‘परिष्टुति’ ‘मही’ महती ‘खाद्या’ स्तुतिरूप
द्रव्य खाज्जत मन्तु ॥

मन्त्र व्याचष्टे— “मनसा च वै वाचा चेत्यादिना । ‘धी’-
शब्दस्य विवक्षित मर्थं भाव— ‘उत युञ्जते धिय इति । “तदा च
युनक्तीति । ‘धिया-धिया’ यदा यदा बुद्धिर्जायते, तदा-तदा
खलु ‘एतया वाचा जुह्वन्ति’ जीवितु मिच्छन्ति । अत
केवलबुद्धेर्जीवनसाधनत्वाभावेन वाचोपेक्षितत्वात् धी’-शब्देन तत्पू
र्विका वागुच्यते । जीवनसाधनत्वमेव विग्रहयति— “अनूक्तेने-
वेति । ‘अनुक्तम्’ अनुवचनम् अध्ययनादिकम् । ‘प्रकाम’
स्वैच्छिकलोकिकभाषणम् । ‘गाथा’ गद्यपद्यात्मिका ॥ ११ ॥

विप्रा विप्रस्य वृद्धत इति । मन्त्रगतस्य प्रथमविप्रशब्दस्याभि-
मत मर्थं भाव— “य वे ब्राह्मणा इति । अल्लिज इत्यर्थः ।
‘एतत्’ ‘विप्रा’-इति पदम्, ‘तानेव’ ब्राह्मणानेव ‘अभ्यास’ ब्रूते
इत्यर्थः । वृद्धिपश्चिच्छब्दाभ्या यज्ञो विवक्ष्यत इत्याह— “यज्ञो
वै वृद्धन् विपश्चिदिति । ‘होवा’-शब्देन यज्ञकर्त्तारोऽभिमता ।
‘दधे’-इत्येतद् ‘दधते’ इत्यस्य म्याने इति व्याचष्टे— “वि हि
होवा दधते यज्ञ तन्वाना इति । ‘तत्’ सावित्र प्रमवाय जुहो
तीति । यस्मान्मन्त्रे “सवितुर्देवस्य”-इति सविता देव श्रूयते,
‘तत्’ तस्मादेव मन्त्रमाध्य ‘सावित्र’ होम ‘प्रमवाय’ जुहुयात् ॥ १२ ॥

१— निरु० “वयुन वेत, वाचिर्वा यज्ञा वा”-इति ५ ३ ७ ।

अथापर मित्यादि^१ । दक्षिणहविर्द्वानि शकटवर्त्मनि होमार्थं
मन्यत् 'चतुर्दशीत मान्यं गृहीत्वा' प्राचीनवशादुपनिष्क्रामेत् ।
'पत्नी' च अचधुराभ्यञ्जनाय 'दक्षिण्या दारा' निष्क्रामेत् । 'सः'
अध्वर्युः । 'दक्षिणस्य' 'हविर्द्वानस्य' शकटस्य दक्षिणचकरेखायां
'हिरण्य निधाय' अध्वर्युर्जुहुयात् ॥

होममन्त्रस्याथ सङ्गृहीतोऽर्थः^२— 'इद' विश्वं 'विष्णुः' त्रिविक्र-
मावतारधारौ 'विक्रमे' विक्रान्तवान् । विक्रमणप्रकार माह—
'वेधा' चिप्रकारेण, चिपु स्थानेषु चित्तादिषु 'पद' 'निदधे'
स्थापितवान् । 'अस्य' विष्णोः 'पासुरे' रजोयुक्ते पदे लोकचयं
'समूढम्' गृहीत सन्निहित मानीदित्यर्थः । 'स्वाहा' इदं सृजत मन्त्र
'सस्तव' जुहुल्लिप्तम् । 'भा' पत्नी सस्त्रवेणाज्येन 'अस्य' 'मन्ताप'
मन्तयते चक्रमद्वर्षेणेति मन्तापः, चक्रवलयमंस्पर्शप्रदेशः । चक्रद्वयम्
'उपानक्ति' अनुमोमाञ्जनं कुर्यात्, न प्रतिलोमम् । पुनः पाणि
मावर्त्तयेत् । तथा च कात्यायन— "पत्नी पाणिभ्यां ग्रेय प्रति-
गृह्णाचधुरावनक्ति पराग् देवश्रुताविति"—इति^३ ॥

आञ्जनमन्त्रस्याथ मर्थः^४— हे 'देवश्रुतौ' ! देवान् यावद्यत
इति देवश्रुतौ, अचधोराधारप्रदेशौ । युवां 'देवेषु' मध्येऽभ्यान्
'आघोषतम्' ते मम्यग् यजन्तोति शब्द कुरुतम् ॥

१— का० श्रौ० सू० ८. २. ३१.

२— पाठस्तद— वा० म० ५. १५. १ ।

३— का० श्रौ० सू० ८. ७. २० ।

४— मन्त्रस्य— वा० श्रौ० ५. १७. १ ।

“पर्याणयन्ती सुभौ जघनेनाग्नौ”-इति । दक्षिणहविद्वानाञ्जना
नन्तर प्रादक्षिण्यक्रमेण उभौ ‘जघनेन’ आहवनीयगार्हपत्ययो
पथाङ्गागेन यत्रौ पर्याणयन्ति परितो गमयन्ति ॥ १३ ॥

“चतुर्गृहीत माज्य मिति । प्रतिप्रस्थाता उत्तरहविद्वानक्ष
दक्षिणवर्त्तन्या ‘हिरण्य निधाय’ इरावती’ इति मन्त्रेण ‘चतुर्गृ-
हीत माज्य जुहुयात्’ ॥

मन्त्रस्याय मर्थ— “हे द्यावापृथिव्यौ । युवा ‘मनवे मनु-
य्याय यज्ञमानाय’ इरावती अन्नवत्यो, ‘धेनुमती’ बङ्गधेनुयुक्ते च
भूतस भवतम् । तथा ‘सूयवसिनी’ शोभनघासयुक्ते ‘दशस्या’
दशस्यौ, अभिमतफलदास्यौ भवतम् । एव महानुभाव एते रोदस्यौ
हे ‘विष्णो । न व्यसृञ्चा’ विविध सृक्षभितवानधि । तथा
विशेषेण पृथिवीम् ‘अभिष’ सवत मयूखे’ मयूखवतमन्तै-
जैर्विस्तेजोभिवा ‘दाधर्धं धारयसि । तादृशाय तुभ्यम् इदं मुनर-
हविद्वान दक्षिणचक्रमार्गे ह्यमान मन्त्र ‘स्वाहा’ सुहुत मन्त्र ॥

सम्भव मित्यादि पूर्ववत् । तद्यद्व जुहोतीति । ‘यद्’ यदा
एव घर्तमद्वये जुहोति, ‘तत्’ तदा ‘सस्व पश्यै’ पश्य। ‘पाणौ’
इति पूर्वत्र सम्बन्ध ॥ १४ ॥

विहित मार्गद्वयम् रक्षमा मागानुगमनपरिहारमाधनत्वेन
प्रशंसति— देवा ह वे यज्ञ तत्त्वाना इत्यादिना । आण्यस्य
यज्ञस्य अमृतं नियात्यचेति नियातो मार्ग । स्पष्टं मन्यत । मन्त्र

योर्विष्णुदेवताकत्वं हविर्द्वानयोरुचित मित्याह— “तद्यदेष्णवीभ्या
मिति । हविर्द्वानस्य वैष्णवत्वं “शिर एवास्य हविर्द्वान मित्य-
चोक्तम्^१ ॥ १५ ॥

“अथ यत् पश्यचस्येत्यादि । सन्ताप्यमानस्याचस्योपाञ्जन सेव
प्रजननोत्पादनम् । यस्मात् स्त्रीपुरुषयोः सम्भोगकाले सन्तापेन रेतस
उत्पादनद्वारा प्रजननसम्भवस्तस्मात् सन्तापोपाञ्जनरूपम् । उपा-
ञ्जनस्य परागूपतां विधाय प्रशंसति— “परागुपाजकौति ॥ १६ ॥

“अथ वाचयतीति^२ । ‘अथ’ प्रैवानन्तरं हविर्द्वानयोः प्रवर्त्तन-
काले ‘वाचयति’ । मन्त्रस्थाय मर्थः^३— हे हविर्द्वानि । ‘प्राची’
प्रागञ्जने प्रगच्छतम् ‘अध्वर’ सोमयागं ‘कल्पयन्ती’ फलजननसमर्थं
कर्तुं शक्ते । ‘यज्ञ’ सोमयागम् ‘ऊर्द्ध’ स्वर्गलोकं ‘नयतम्’ प्राप-
यतम् । ‘मा जिह्वरतम्’ चलनभ्रमं मा कुरुतम् ॥

“अध्वरो वै यज्ञ इति । “ध्वरतिर्हि साकर्मा”^४ । हिंसा नास्ती-
त्यध्वरः स ‘यज्ञः’ । नयत मित्युक्ते किमिति कर्मापेक्षायां तद्
दर्शयति— “ऊर्द्धं मिमं यज्ञं देवलोकं नयत मिति । कृत्वा चल-
नम्^५, तदभावः ‘अङ्गला’ । तयोः प्रवर्त्तनकाले ‘समुद्गृह्येव’
सम्यगुद्भूतं गृहीत्वेव । तस्य व्याख्यानम्— “यथा मोक्षार्जता मिति ।

१— द्वितीयकाण्डीभाष्य द्रष्टव्यम् (३१२ पृ०) ।

२— का० श्रौ० सू० ८. १ ।

३— वा० सं० ५. १० २ ।

४— निरु० १. ३ ३ ।

५— “क्षल क्षल चलने”—इति आ० प० ८०५ धा० ।

दुष्टध्वनिविमर्गो यथात्यन्तकर्षणे च नोत्पद्येता मित्यर्थः । अक्षध्वनेः
श्रवणकटुत्वादसुर्यत्वम् ॥ १७ ॥

“एतद् वाचयेदिति” । प्रमादात् ध्वन्युत्पत्तौ “खं गोष्ठम्”-
इति” ‘एतद् वाचयेत्’ । हे ‘देवी’ हविर्द्वानि । हे ‘दुर्य’ गृहेषु
साधुरूपे । युवां ‘खं’ यजमानस्य स्वभूत ‘गोष्ठ’ गवां स्थानम्
‘आवदत्’ सर्वतः शब्दयतम्, पशवः समृद्धाः स्युरिति ब्रूत मित्यर्थः ।
‘आयुः’ अस्मदायुषं ‘मा’ ‘निर्वाधिष्टम्’ । ‘प्रजां’ पुत्रादिरूपां
च ‘मा निर्वाधिष्टम्’ । ‘तस्य’ ध्वनेरसुर्यस्य ‘एषा’ मन्त्रोच्चारण-
रूपा ‘प्रायश्चित्तिः’ ॥ १८ ॥

हविर्द्वानयोः स्थापनप्रदेशे पक्षान्तर मभिधातुं केषाञ्चित् पक्ष
माह— “तदाङ्गरिति । ‘उत्तरवेदे’ पश्चात् सञ्चराय, विक्रमत्रयं
परित्यज्य, यत्र देशे तयोः स्थापनं भवति, ‘मा हविर्द्वानयोर्मांश्चा’
स्थापनप्रदेशप्रमाणम् । स्वपक्ष माह— “नाचेति । तत्र स्थापयेदिति
शेषः । “मनसा यत्र मन्येतेति विशिनष्टि— “नाह्वेति । ‘मन्त्रा’
अभिमतदेशेऽपि अतिदूर मतिममीपक्ष विमृश्य मध्ये स्थापयेदि-
त्यर्थः । तथा च कात्यायनः— “पश्चादुत्तरवेदेऽस्मिन् प्रक्रमेण
मत्या वा”-इति” ॥ १९ ॥

“ते अभिमन्त्रयत इति । स्थापनानन्तर हविर्द्वानि अभिमन्त्र-
येत— “अत्र रमेषा मिति” । ‘पृथिव्यै’ पृथिव्याः ‘वर्षणि’ शरीरे,
अत्र देशे हविर्द्वानि, ‘रमेषाम्’ रति कुरुतम् । “दिवि ह्वयेति ।

एतद्विद्वानस्य पृथिवौले हेतुः । यस्मात् उपरिभाग उत्तरवेदि-
रूपः, 'आहवनीयः' दुलोकस्थानीयः, अतस्तदधोवर्त्तिवेदिदेशस्य
पृथिवीशरीरत्वं युज्यते । 'नभ्यस्ते करोति' यथा नाभ्याधारफलके
भूमिष्ठे भवतः, तथा कुर्यात् । "नाभि नभं च"-इति^१ यत्प्रत्यय-
योगे नभादेशः । उत्तरच प्रदेशस्य भूम्यर्धे भंगः कदाचित् भवेत्,
अत एव 'तत्' 'चेमस्य रूपम्' भवति । २० ॥

"अयोत्तरेण पर्येत्येति"^२ । दक्षिणहविर्द्वानस्योत्तरतः 'परौत्य'
पुरोदेशं गत्वा 'दक्षिणं हविर्द्वानम्' 'उपस्तश्वाति' । यथाधो न
पतेत्, तथा कस्मिंश्चित् काष्ठे स्थापयेत् ॥

तन्मन्त्रः— "विष्णोर्तुं कम्"-इति^३ 'विष्णोः' त्रिविक्रमावतारस्य
'वीर्याणि' 'प्रवोचम्' प्रववौमि । कानि तानि? तदुच्यन्ते— 'य.'
विष्णुः 'पार्थिवानि' पृथिवीविकारान्, 'रजांसि' "लोका रजां-
स्युच्यन्ते"-इति निरुक्तम्^४, लोकान् विविधं परिच्छिन्नवान् । 'य.'
च 'उत्तरम्' उपरितमं 'सधस्यं' महस्यानं दुलोकम् 'अस्कभायत्'
स्तम्भितवान् । किं कुर्वन्? 'चेधा' चिप्रकारेण 'विश्वं' 'वित्तक्रमाण.'
विविधं क्रममाणः सन्, 'उरुगाय.' वज्रभिर्महात्मभिः, वज्रविधं वा
श्रुत्यादिमुखेन गोचरमान् । यो विष्णुरेव भवति, तस्य वीर्याणि
प्रवोचम् इति ॥

१— पा० ५. १. २ सू० ८५ ग० सू० ।

२— का० श्रौ० सू० ८. ०. ६ ।

३— वा० स० ५. १८. १ ।

४— निरु० ४ ३ ३ ।

“विष्णवे तेति^१ मेयी उपहन्तीति^२ । हे ‘मेयी’ स्तम्भ ।
 ‘विष्णवे’ हविर्द्वांनशकटाय ‘त्वा’ त्वाम् उपहन्तीत्यर्थः । कस्मिन्
 देशे निहन्त्यादिति, त माह— “इतरतस्ततो यदु च मानुषे”-इति ।
 ‘मानुषे’ शकटधारणे ‘यत्’ स्थानम् ईषाणभागः, तदुत्तरव ‘मेयी’
 स्तम्भं निहन्त्यादित्यर्थः । तथा च सूचकार उभयोरपि दक्षिणतो
 निहन्तमस्येदं ब्राह्मणवाक्य प्रमाणयामास— “उभे वा दक्षिणतः,
 इतरतस्ततः, यदु च मानुष इति श्रुते”-इति^३ ॥ ११ ॥

“अथ प्रतिप्रस्थातेति^४ । दक्षिणहविर्द्वांनोत्तमममन्त्रस्थाय मर्थः^५—
 हे ‘विष्णो ।’ ‘दिव’ द्युलोकात् ‘वा’ अथवा ‘पृथिव्याः’ सकाशात्
 हे ‘विष्णो ।’ ‘महः’ महतो गुणात्, ‘उरोः’ विस्तीर्णात् ‘अन्तरि-
 चात्’ उभौ हस्तौ तावकौ ‘वसुना’ धनेन ‘पृणस्त्र’ पूरयत । ततो
 ‘दक्षिणात्’ हस्तात्, अपि चोत्तराच्च ‘आ’ सर्वतः ‘प्रयच्छ’ पूर्णं
 वसु यजमानार्थम् ॥

“विष्णवे त्वा”-इति^६ उत्तरहविर्द्वांनस्य मेयी प्रतिप्रस्थाता
 उपहन्त्यात्^७ । “इतरतस्तत इति पूर्ववत्” ॥ ११ ॥

१—वा० सं० ५. १८. २ ।

२—का० श्रौ० सू० ८. ४. ७ ।

३—का० श्रौ० सू० ८. ४. १०-१२ ।

४—का० श्रौ० सू० ८. ४. ८ ।

५—तत्पाठस्त्वेष — वा० सं० ५. १८. १ ।

६—वा० सं० ५. १८. २ ।

७—का० श्रौ० सू० ८. ४. ८ ।

८—एकविंशकण्डो (३ पं०) प्रयथा ।

“अथ मध्यमं कदिरित्यादि^१ । “तयोः समवृत्तयोश्चदिरधि-
निदधातीति । कदिः प्रागुक्तम्^२ । तत् ‘उपसृज्य’ “प्र तद्विष्णुः”-
इति^३ वाचयेत् ॥

तस्यार्थः— ‘विष्णुः’ ‘वीर्येण’ वीरस्य कर्म वीर्यम्, तेन निमि-
त्तेन ‘प्रसूयते’ प्रसूयते । वीर्येण सूत्रमाने दृष्टान्तः— “मृगो न
इति । ‘लुपटः’ कुत्सितं हिंसन् सञ्चरन् ‘भौमः’ सर्वप्राणिभौति-
जनकः, ‘गिरिष्ठाः’ गिरिस्थायी, ‘मृगो न’ मिहत्तुल्यः । ‘यस्य’
विष्णोः, ‘उरुपु’ लोकत्रयस्थापकत्वेनातिविलृतेषु ‘त्रिषु’ ‘विक्र-
मणेषु’ ‘विश्वा’ सर्वाणि ‘भुवनानि’ लोकाः ‘अधिक्षिपन्ति’ अधि-
निवसन्ति ॥

अथवा माह्वाणुसारेणार्थं मन्त्रोऽधियज्ञपरतया व्याख्येयः ।
‘विष्णुः’ हविर्द्वानाख्यः, तस्य यत् उपरि वर्त्तमान मध्यम कदि-
रस्ति, तत् सूत्रयत इत्यर्थः । उत्तरवेदेः प्रत्यक् त्रिषु विक्रमेष्वती-
तेषु निधीयमानस्य यस्य उपरि शीर्षकपालम्यानीय मध्यम कदि-
रस्ति, तस्य ‘अधि’ उपरि सर्वतो विश्वा भुवनानि भवन्तीति ।
भुवनानि उपरि शीर्षकपालस्थानानि अन्यानि कदींषि क्षिपन्ति
निवसन्ति ॥

अधिक्षिपन्तीत्येतं मन्त्रभागं व्याचष्टे— “इदं देवास्यैतच्छीर्ष-
कपालं मिधादिना ॥ २२ ॥

१— का० श्रौ- सू० पृ. ३, २२ ।

२— मन्त्रो कदशा (११३ सू० पृ. ८) इत्यम् ।

३— वा० सं० १. १०. १ ।

“अथ रराय्या मुपसृश्येति^१ । ‘रराय्या’ रराटी मित्यर्थः । अस्य हविर्हानस्य ‘एतत्’ रराय्यास्य मङ्गलं ललाटं खलु ‘अथ’ अतः ‘उच्छ्राय्य’, दारशाखे दारस्योभयपार्श्ववर्तिनीं तृणादिनिर्मिते प्रावरणे, तौ ‘उपसृश्य’ ‘वाचयति’— “विष्णोरिति^२ । ‘विष्णो’ हविर्हानस्य ‘अग्ने’ सृक्षिणी, ओष्ठसन्धी^३ ‘स्य’ भवथ । अन्न-शब्दार्थं माह— ‘सुके हेवास्येते इति । पश्चाच्छदिष्य स्याम प्रशमति— ‘अथ यदिद पश्चाच्छदिरिति । ‘इदं पश्चाच्छदि’ हविर्हानास्यस्य यज्ञाग्निरसं पश्चात्, कपालस्थानीय मित्यर्थः ॥

अत्र मध्यच्छदिष्य उपरिगतानि चोष्णपि कृदीपि उदगघाणि कर्त्तव्यानि, चयाणां मयि प्रागद्यौकरणे पश्चाच्छदिरिति श्रूयमाणं पश्चादित्युक्तं न युज्यते । तथाच कात्यायन— ‘उदगघाणि कृदीपि भवन्ति पश्चाच्छ्रुतेरिति’ । २४ ॥

“अथ लसूजन्त्या सन्ध्या प्रमीयतीति^४ । ‘लसूजनी’-नाम सोमनसाधनसूच्यादिः, तत्र सन्ध्याया रज्ज्वेत्यर्थः । दारशाखा दर्भ-रावेष्ट्य, रज्जा “विष्णो सूरसि”—‘इति’ मन्त्रेण^५ मीयेत् । हे दार्यै । यदा हे रज्जो । त्वं ‘विष्णो हविर्हानस्य ‘सू’ श्रुतप्रदेश ‘असि’ । हे गन्धर्मानप्रदेशः । त्वं विष्णो हविर्हानस्य ‘ध्रुव’ अप्रच्यु-तावयव ‘अभि’^६ । अतस्त्वा गन्धर्मातीत्यर्थः^७ ॥

१— वा० श्रौ० सू० ८ ४ १५ ।

२— वा० स० ५ २१ १ ।

३— ‘यास्ये सन्धी’-इति क् ।

४— का० श्रौ० सू० ८ ४ १० ।

५— का० श्रौ० सू० ८ ४ १८ ।

६— वा० स० ५ २१ २ ।

७— वा० स० ५ २१ ३ ।

८— का० श्रौ० सू० ८ ४ १८ ।

यन्विकरणप्रयोजन माह— “नेद् व्यवपद्याता इतीति । अवाग्
विविधं नैव पतेदित्येव मर्थ मित्यर्थः । ‘त’ यन्वि ‘कर्मन्’ कर्मणि
‘प्रकृते’ प्रकर्षेण कृते परिसमाप्ते ‘विथति’ विमुञ्चेत्^१ । तत ऊर्द्धं
मपि बन्धने सति तदपराधेन ‘अध्वर्यु’ ‘यजमान’ च ‘पाहः’
गृह्णाति, विधेये सति स न भवतीत्यर्थः । “निष्ठित मभिमृशति
वैष्णव मसीतीति^२ । ‘निष्ठित’ सीवनेन सुनिष्पन्नम्^३ । स्पष्ट
मन्यत् ॥ २५ ॥ ३ [५. २.]

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनग्रन्थपञ्चमाह्णभाष्ये

तृतीयकाण्डे पञ्चमाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

(अथ चतुर्थं ब्राह्मणम् .)

द्वयं वा ऽश्रुभ्युपरवाः खायन्ते* । शिरो वै यज्ञस्य
हविर्हानं तद् यु ऽइमे शीर्षंश्चत्वारः कूपा ऽइमावुह
द्वाविमौ द्वौ तुनेवैतत्करोति तुस्मादुपरवान् खनति ॥१॥

१— का० श्रौ० सू० ८. ४. २० ।

२— का० श्रौ० सू० ८, ४. २१ ।

३— मन्त्रस्त्वत्र— वा० स० ५. २१. ४ ।

* ‘खायन्ते’—इति ख, ग ।

देवाश्च वा ऽअसुराश्च । उभये प्राजापत्या पस्पृधिरे
ततोऽसुरा एषु लोकेषु कृत्यां व्वलगान्निचख्नुस्तै-
वुच्चिद्देवानभिभवेमेति ॥ २ ॥

तद्वै देवा ऽअस्पृण्वत । तु ऽएतैः कृत्यां व्वलगान्नुदख-
नन्यदा वै कृत्या मुत्खुनन्त्यथु सालसा मोघा भवति
तथो ऽएवैषु एतद्यद्यस्मा ऽअच कुश्चिद् द्विपन् भ्रातृव्यः
कृत्यां व्वलगान् निखुनति तानेवैतदुत्किरति तुस्मादु-
परवान् खनति स दक्षिणस्य हविर्हानिस्याधोऽध प्रउगं
खुनति ॥ ३ ॥

सोऽग्नि मादत्ते । देवस्य त्वा सवितु प्रसुवेऽश्विनो-
र्बाहुभ्यां पूष्णो हुस्ताभ्या माददे नार्य्यसूति समान
एतस्य युजुषो बन्धुर्योपो वा ऽएषा यदुच्चिस्तुस्मादाह
नार्य्यसूति ॥ ४ ॥

तान् प्रादेशमाचं विना पुरिलिखति । इदु महः
रुक्षसां ग्रीवा ऽअपि छन्तामीति व्वज्जो वा ऽअग्निर्व्वज्जै-
वैतुन्नाद्वाणाः रुक्षसा ग्रीवा ऽअपि छन्तति ॥ ५ ॥

तद्यावेतौ पूर्व्वौ । तयोर्दक्षिण मेवाग्रे पुरिलिखेदद्या-
परयोरुत्तर मद्यापरयोर्दक्षिण मुध पूर्व्वयोरुत्तरम् ॥ ६ ॥

अथो ऽइतरुयाहु । अपरयोरेवाग्र ऽउत्तरं पुरिलिखे-
दद्य पूर्व्वयोर्दक्षिण मद्यापरयोर्दक्षिण मुध पूर्व्वयोरुत्तर

मित्यथो ऽश्रुपि समीच एव पुरिलिखेदेतुं त्वेवोत्तमं
पुरिलिखेद्यु एष पूर्वयोरुत्तरो भवति ॥ ७ ॥

तान् यथापरिलिखितु मेव यथापूर्वम् खनति । वृहु-
न्नसि वृहुद्रवा इत्युपस्तौत्येवैनानेतुन्महुयत्येव यदाह
वृहुन्नसि वृहुद्रवा इति वृहती मिन्द्राय व्याचं व्वदेतीन्द्रो
वै यज्ञस्य देवता व्वैष्णवः हविर्दानं तत् सेन्द्रं करोति
तस्मादाह वृहती मिन्द्राय व्याचं व्वदेति ॥ ८ ॥

रक्षोहुणं व्वलगहुन मिति । रुक्षसाः ह्येते व्वलगुणां
व्वधाय* खायुन्ते व्वैष्णवी मिति व्वैष्णवी हि हविर्दाने
व्वाक् ॥ ९ ॥

तान् यथाखातु मेवोत्किरति । इदं महं तु व्वलग
मुत्किरामि युष्मे निष्ठो यु ममात्यो निचखानेति
निष्ठो वा वा ऽश्रमात्यो वा कृत्यां व्वलगान् निखनति
तानेवैतदुत्किरति ॥ १० ॥

इदं महं तु व्वलग मुत्किरामि । युष्मे समानो य
मसमानो निचखानेति समानो वा वा ऽश्रसमानो वा
कृत्यां व्वलगान् निखनति तानेवैतदुत्किरति ॥ ११ ॥

इदं महं तु व्वलग मुत्किरामि । युष्मे सुमन्धुर्य

मसुम्बन्धुर्निचखानेति सुबन्धुर्वा वा ऽश्रुसबन्धुर्वा कृत्यां
व्वलगान् निखनति तानेवैतदुत्किरति ॥ १२ ॥

इद् महं तु व्वलग मुत्किरामि । यम्मे सजातो य
मसजातो निचखानेति सजातो वा वा ऽश्रुसजातो वा
कृत्यां व्वलगान् निखनति तानेवैतदुत्किरत्युत् कृत्यां
किरामीत्यन्तत उद्वपति तुत् कृत्या मुत्किरति ॥ १३ ॥

तान् बाहुमात्रान् खनेत् । अन्तो वा ऽप्योऽन्तेनै-
वैतुत् कृत्यां मोहयति तानक्षया सन्तृन्दन्ति युद्धक्षया
न शक्रुयादपि समीचस्तस्मादिमे प्राणाः परः
सन्तृष्टाः ॥ १४ ॥

तान् यथाखातु मेवावमशेयति । खराडसि सपत्नहा
सचराडभिमातिष्ठा जनराडसि रक्षोहा सर्व्वरा-
डस्यमिचहेत्याशीरुवैपेतस्य कुर्मण ऽआशिष्य मेवैतद्दा-
शास्ते ॥ १५ ॥

अथाध्वर्युश्च युजमानश्च सुम्भृशेते । पूर्व्वयोर्दक्षिणे*
ऽध्वर्युर्भवत्युपरयोरुत्तरे युजमानः सोऽध्वर्युः पृच्छति
युजमान कि मचेति भद्र मित्याह तन्नो सहेत्युपाऽश्व-
ध्वर्युः† ॥ १६ ॥

अथापरयोर्दक्षिणेऽध्वर्युर्भवति । पूर्वयोरुत्तरे युज-
मानः स युजमानः पृच्छत्यध्वर्यो किं मचेति भद्रं मित्याह
तुम्ह इति युजमानस्तद्युदेवः सम्मृशेते प्राणानेवैतत्
सयुजः कुरुतस्तुस्मादिमे प्राणाः परः संविद्रेऽथ यत्पृष्टो
भद्रं मिति प्रत्याह कल्याणं मेवैतुन्मानुष्यैर्वाचो
व्वदति तुस्मात् पृष्टो भद्रं मिति प्रत्याहाथ प्रोक्षत्येको
वै प्रोक्षणस्य बन्धुर्मेध्यानेवैतत्करोति ॥ १७ ॥

स प्रोक्षति । रक्षोहृणो वो व्वलगह्नन् इति रक्षो-
हृणो ह्येते व्वलगह्नन् इति प्रोक्षामि व्वैष्णवानिति
व्वैष्णवा ह्येते* ॥ १८ ॥

अथ याः प्रोक्ष्यः परिशिष्यन्ते । ताः अवटेष्वन-
यति तद्याऽइमाः प्राणेष्वपस्ता युवैतदधाति तुस्मादेषु
प्राणेष्विमाऽश्वापः ॥ १९ ॥

सोऽवनयति । रक्षोहृणो वो व्वलगह्नन् इति व्वनयामि
व्वैष्णवानित्यथ बह्वीपि प्राचीनाग्राणि चोदीची-
नाग्राणि चावस्तृणाति तद्यानीमानि प्राणेषु लोमानि
तान्येवैतदधाति तुस्मादेषु प्राणेष्विमानि लोमानि ॥ २० ॥

* 'ह्येते'—इति ग, घ ।

†, ‡ 'प्राणैः'—इति घ ।

सोऽवस्तृणाति । रक्षोहृणो वो व्वलगह्नोऽवस्तृणामि
व्वैष्णवानित्यथ वहुँऽपि तनूनीवोपुरिष्ठात् मुच्छादयति
केशा ह्वैवास्यैते* ॥ २१ ॥

अथाधिपुवणे फुलके ऽउपदधाति । रक्षोहृणौ वां
व्वलगह्ना ऽउपदधामि व्वैष्णवी ऽहुति हुनू ह्वैवास्यैते
ऽश्रुथ पुर्युहति रक्षोहृणौ वां व्वलगह्नौ पुर्युहामि
व्वैष्णवी ऽहुति हुहुहत्येवैने ऽएतदुशिथिले करोति ॥ २२ ॥

अथाधिपुवणं पुरिलुत्तं भवति । सर्व्वुरोहितं जिघ्ना
ह्वैवास्यैषा तद्यत् सर्व्वुरोहितं भवति लोहिनीव
ह्योयुं जिघ्ना तन्निदधाति व्वैष्णवु मसौति व्वैष्णवुः
ह्येतत्† ॥ २३ ॥

अथ ग्रावण उपायहरति । दुन्ता ह्वैवास्य ग्रावाणस्त-
द्यद् ग्रावभिरभिपुण्वन्ति युधा दद्भिः षायादेवं तत्तान्
निदधाति व्वैष्णवा स्येति व्वैष्णवा ह्येतु ऽण्त्तुदु यशस्य
शिरः सुःस्कृतम्‡ ॥ २४ ॥ ४ ॥

॥ इति चतुर्थप्रपाठके चतुर्थं ब्राह्मणम् [५.४.] ॥

* 'ते'-इति ४, घ ।

† 'ह्येतत्'-इति ४, घ ।

‡ 'सुःस्कृतम्'-इति घ, ग ।

सोमाभिषवायोपरवाणां^१ खननं विवचुः खननस्योभयार्थता
माह— “द्वयं वा इति । प्रयोजनद्वयं मभिलक्ष्य खायन्त इत्यर्थः ।
प्रथमं प्रयोजनं माह— “गिरो वै यज्ञस्येति । यस्मात् गिरमि
‘चत्वारः कूपाः’ कर्णच्छिद्रे द्वे, नासिकाच्छिद्रे द्वे, इति ‘चत्वारः’
‘कूपाः’ कृपवस्त्रिप्रदेशाः । ‘इमौ’-इति अभिनयोक्तिः । हवि-
र्ज्ञानस्यापि यज्ञगिरोरूपत्वात् तत्र चतुरः ‘उपरवान्’ खनेत्^२ ॥ १ ॥

द्वितीयं प्रयोजनं माह— “देवाश्च वा असुरास्येति । देव्यवधार्थं
भूमौ स्थापिताः कृत्याविशेषाः ‘वसगाः’, तान् निखातवन्तः ।
‘उत’ ‘एवञ्चित्’ एव मपि युद्धेनाशकुवन्तः । अनेमाप्युपायेन ‘देवान्
अभिमवेम’-‘इति’ तेषां मभिप्रायः ॥ २ ॥

“तद्वै देवा असृष्टतेति । ‘तत्’ असुरैः कृतं खननाख्यम्
‘असृष्टत’ देवा तदुत्खननेन हिंसितवन्तः । हिंसाप्रकारं माह—
“त एतैरिति । ‘एतैः’ उपरवैः । ‘अथ’ कृत्योत्खननानन्तरं मेव
‘वा’ कृत्या ‘असृष्टा’ खन्यापारं खननं कर्तुं मसहमाना, अतएव
‘भोधा’ व्यर्था भवति । यथा देवेषु, एवं मनुष्येषु अयं कृत्या-
परिहारोपाय इत्याह— “तद्यो एवैष एतदिति । खननप्रदेशं
माह— “स दक्षिणस्य हविर्ज्ञानस्येति । ईषाद्वयसंयोजनप्रदेशः

१— “उपरवा नाम कूपका, तेषां चोपरि अधिषवणफलके निधीयेते,
तयोत्तरपरि अधिषवणचर्मं, तत्र सोमोऽभियूयते, तस्मिन् यावभि-
र्हन्त्यमाने वादित्रोदरवत् सपिराक्ते कूपा जम्भौ^३ मुपरवन्तोत्युपरवा
इत्यभिधीयन्ते”-इति या० दे० (का० श्रौ० ८. ४. २५) ।

२— का० श्रौ० सू० ८. ०. २५ ।

‘प्रउगम्’^१, तस्य ‘अधोऽध’ सन्निहिताध पदे । ‘अधोऽध’-शब्द
योगात् प्रउग मिति द्वितीया^२ ॥ ३ ॥

खननायाभ्यादान समन्तक विधत्ते— “सोऽग्नि मादत्त इति” ।
‘देवस्य त्वा’-इति^३ । ‘नार्यसि -इति’^४ मन्त्रान्तरम् । नरस्यापत्य
स्त्री ‘नारी’ । हे अग्ने । त्व नारी असि । इत्यपि स्तुति । यत्
प्राक् “देवस्य त्वा’-इत्यस्य ब्राह्मण मुक्तम्, तदच्चातिदिशति—
“समान एतस्य वन्धुरिति । एतस्य यजुष, देवस्य त्वेत्यस्य यजु-
र्मन्त्रस्येत्यर्थ । आदीयमानाया अभ्या^५ स्त्रीत्वान्मन्त्रे नारीशब्दे-
नाभिरभिहितेत्याह— “योषा वा एपेत्यादि ॥ ४ ॥

तान् प्रादेशमान विनेति^६ । मध्ये मध्ये प्रादेशमाधान्तराल
विहाय समचतुरस्रे खननप्रदेशे चतुरोऽवटान् प्रादेशमाचान् परि-
लिखेदित्यर्थ । “इद मह मिति लेखनमन्त्र” ॥ ५ ॥

अवटखनने द्वौ प्रकारौ,— अष्टाया सम्यक् चेति । अष्टायापि
द्विविधोपपद्यते, तत्रैक प्रकार माह— “तद्यावेतौ पूरौ तयोर्दक्षिण
मेवाय इत्येवमादिना । वादय्याग्नेयनैर्हृतेऽनक्रमेणेत्यर्थ^७ ॥ ६ ॥

१— ‘प्रउग प्राप्तयुग मीवासकृमान्परार्द्धम्’-इति या० दे० ।

२— पा० सू० १ ३ २ वा० ३ ।

३— का० ओ० सू० ८ ५ १ ६ २ ८ ।

४— वा० स० ५ २२ १ ।

५— वा० स० ५ २० २ ।

६— “आहरन्त्यनया मृद मित्राग्नि खनिचम्”-इति या० दे० ।

७— का० ओ० सू० ५ ८ ६ ।

८— वा० स० ५ २२ ३ ।

९— उपरिष्ठाच्चतुर्दशौ वयस्यौ (३६५ ८०) अष्टया ।

स्वकीयं सम्यक् परिलेखनपक्षमाह— “अथो इतरथाञ्जरिति।
“अथो अपि समीच एवेति। आग्नेयादिप्रादक्षिण्यक्रमेणेत्यर्थः^१ ॥ ७ ॥

य एष पूर्वथोरुत्तरः, त मुत्तर कुर्यादित्यभिधानात् खनन
मपि परिलेखनक्रमेण कर्त्तव्य मित्याह— “तान् यथा परिलिखित
मेवेति^२ । तच्च मन्त्रः— “इहससौति^३ । हे अवट । त्वं ‘इहन्’
स्वरूपतो महान् ‘असि’ । तथा ‘इहद्रवाः’ प्रभूतध्वनिरसि । अतो
‘इहतौ’ महतौ ‘वाचम्’ ‘इन्द्राय’ इन्द्रार्थम्, सोमस्येन्द्रार्थत्वात्
उपरवखननस्य स्तुतिकरीं वाचं ‘वद्’ शब्दय ॥

पुनर्वाग् विशेष्यते—‘रक्षोहणम्’ । हन्तेः “वज्रसं हन्दसि”-
इति^४ क्षिप् । रक्षांसि हन्ति, तादृगीम् । ‘वलगहनं’ वलगान्
हन्तीति वलगहा, तां वलगहनम् । ‘वैष्णवीम्’ विष्णुदेवत्यां
वाचम् । वदेति सम्यन्धः ॥

मन्त्रं चतुर्धा विभज्य व्याचष्टे— “इहससि इहद्रवा इत्यु-
पसौत्येवैनानित्यादिना । प्रत्यक्षतो इहत्त्वइहद्रवत्वयोः प्रतीतेरुप-
स्तुत्यभिधान मित्यर्थः । सा च किमर्थेत्यत आह— महपत्येवेति ।
“इन्द्रो वा इत्यादि । “इन्द्राय”—इत्यभिधानेनान्यदेवताकस्य हवि-
र्हान्त्योपरवाधारभूतस्य सेन्द्रत्वं हतवान् भवतीत्यर्थः । “रक्षोहण
मित्यादि^५ । स्पष्टम् ॥ ८, ९ ॥

१— का० श्रौ० सू० ८. ३. २—५ ।

२— का० श्रौ० सू० ८. ५. ७ ।

३— वा० स० ५. २२. ४ ।

४— पा० सू० ३. २. ८८ ।

५— वा० स० ५. २३. १ । पूर्वमन्त्रशेष एष ।

खाताया मृद उदपनेऽपि खननकम एवेत्याह— “तान् यथाखात मेवेति^१ । चतुर्णां खातानां चत्वारो मन्त्राः^२ । “यं मे निष्ठा य ममात्यो निचखान”—इति प्रथमगर्त्तं । “यं मे समानो य मममानः”—इति द्वितीये । “य मे सबन्धुर्य मसबन्धुः”—इति तृतीये । “यं मे सजातो य मसजातः”—इति चतुर्थे । “इदं महं तं वलग मुत्किरामि”—इति, “निचखान”—इति च सर्वशेषः ॥

‘इदं’ मृदुत्करणप्रकारेणाहतम्, निष्पेनामात्येन वा खातम्, वलगहत्याविशेषम्, मृद्व्याचेषेण ‘उत्किरामि’ ऊर्द्धं प्रक्षिपामि । ‘तम्’—इत्युक्तम्, क मित्याह—“य मित्यादि । ‘निष्ठा’ अस्मत्तो नीचः । “सनाभिर्यं निष्ठाः”—इत्यादिमन्त्रवर्णात्^३ नीचार्थता ‘निष्ठा’-शब्दस्य । ‘अगात्यः’ सहवर्त्तमानः । ‘अमा’-शब्दः सहवचनो गृह-वचनो वा, तच्च भवोऽमात्यः । “अय्यात् त्यप्”, एकगृहदामौ-त्यर्थः । तयोरेव कलहस्य सम्भावितत्वात् । सहोत्पन्नो वा । निखा-तवान् । त मुत्किरामीति सम्बन्धः । “निष्ठा वेत्यादि प्रथमस्थो-त्किरणम् । निष्ठामात्ययोर्वलगोत्किरणरूप मित्यर्थः । समानः सदृशः बन्धुः ‘सबन्धुः’, समानबन्धनः । एकस्मिन्नेव विषये व्यापार-वानित्यर्थः । ‘सजातः’ सहोत्पन्नः । स्पष्टं मन्यत् ॥ १०—१४ ॥

खननस्य प्रमाणं माह— “तान् वाङ्मगानिति^४ । अहुनि-प्रादेशाद्यपेक्षया वाङ्मप्रमाणस्य अन्तत्वात्, ततोऽधिकात् प्रदेशात्

१— का० श्रौ० सू० ८. ५. ८ । २— वा० सं० ५. २४. २, ३, ४, ५ ।

३— ऋ० सं० १०. १३३. ४ (६. ०५ १६) ।

४— पा० सू० ४. २. १०४ ।

५— का० श्रौ० सू० ८. ५. १० ।

मृदुद्धरणस्याशक्यत्वात् वाङ्मन्त्रस्थान्तत्वम् । छिद्राणां मन्त्रप्रदेश-
सन्तर्जनं तत्प्रकारं न विधत्ते— “तानदृष्ट्या सन्तृन्दन्तीति” ।
पूर्वयोर्दक्षिणस्यापरयोर्दक्षरस्य चान्तरालदेशम् । अनेनावशिष्टयो-
रप्युक्तं भवति । “अपि समीच इति” । वक्रस्याशक्यत्वे समीचेवा-
भिहन्त्यात् । “तस्मादिति । अर्थवादः पञ्चदशसाधारणः । यस्मादेते-
ऽन्तःसन्तृष्टाः, ‘तस्मात्’ ‘इमे’ ‘प्राणाः’ मुखच्छिद्राणि अन्तःसन्तृ-
ष्टानि ॥ १४ ॥

तान् यथाखात मेवावमर्शयतीति । ‘अवमर्शयति’ अन्तःप्रदे-
शस्य भिन्नोक्तत्वपरिहाराय समुपेतम् । तन्मन्त्रचतुष्टयस्यार्थः—
स्वयं मेव राजत इति वा, स्वकीयं मेव राज्यं मयेति वा
‘स्वराट्’ । हे उपरव । तादृक् त्वम् ‘अभि’ । ‘सपत्न्या’ भव ।
अस्मानपि सपत्न्यस्य शत्रोर्हर्षनेन स्वराजं कुर्विति भावः । ‘सचा’
सह, एकधा एकोद्योगेन राजत इति ‘सचाराट्’ । अभितो चिंस-
कोऽभिमातिः, तस्य हन्ता ‘अभिमातिहा’ । सर्वेषु राजत इति
‘सर्वराट्’ । मितः सकाशात् चाता ‘मिचः’, अतथाभूतः ‘अमिचः’

१— का० श्रौ० सू० ८. ५. ११ । “अदृष्ट्याशब्दोऽयं कर्णवर्धनः” ।

(अदृष्ट्या) अदृष्ट्या—वक्रमार्गेण, कौटिल्येन । उपरिष्ठादपीहेव

“अथ यददृष्ट्यावद्यति”—इत्यादि (इ. ८. ३. २०) । ऋ० सं० १.

१२२. ८, ८. ०. ३५ । वा० सं० ५. १२ । उणादिः इ. १७ ।

२— का० श्रौ० सू० ८. ५. १२ । “अदृष्ट्या सम्प्रेदनाशक्तौ ऋषुभावेनैव
समिन्ध्यात्”—इति तत्र या० दे० ।

३— चत्वारि यन्त्रं विधौ परवाणि । वा० सं० ५. २०. १—४ ।

अत्र कात्यायनः— “स्वराडित्यवमर्शयति यथास्वातं प्रतिमन्त्रम्”—
इति^१ ॥ १५ ॥

“अध्वर्युश्च यजमानश्च सम्मृशेते”—इति^२ । ‘सम्मृशेते’ परस्परं
हस्तसंस्पर्शं कुर्याता मित्यर्थः^३ । तयोर्दिशं व्यवस्थापयति— “पूर्वयो-
र्दक्षिणेऽध्वर्युः भवति, अपरयोस्तरे यजमानः”—इति । सोऽध्वर्युणा
किं मच्च विद्यत इति पृष्ठो यजमानो भद्र मिति प्रतिब्रूयात् ।
“तन्मौ सह”—‘इति’ ‘उपांशु’ वदतोऽध्वर्योरित्य मभिप्रायः—
यज्ञसंस्पृष्टं यद् यत् फलम्, तस्य सर्वस्य यजमानस्वामिकत्वात्
उच्चैरभिधानं मयुक्त मिति^४ ॥ १६ ॥

“अथापरयोर्दक्षिणेऽध्वर्युरिति^५ । पूर्वस्मिन् सम्मर्शनवाक्येऽध्वर्युः
पृच्छेत्, अथ तु यजमान इति विशेषः । यजमानस्य स्वामित्वेन
स्वातन्त्र्यादध्वर्युदृष्ट्यापि भद्रस्य स्वद्रव्यत्वात् “तन्मौ”—‘इति’
ब्रूयात् । सम्मर्शेन प्राणसयोगहेतुत्वेन प्रशंसति— “तद्यदेव मिति ।
सह युञ्जते इति ‘सयुज’, अन्तरेकीभूतान् हतवन्तौ भवतः । अत
इदानीन्तना मनुष्यशिरस्याः प्राणाः ‘सविद्रे’ संविद्रेते, सङ्गता

१— का० श्रौ० सू० ८. ५. १३ ।

२— का० श्रौ० सू० ८. ५. १४ ।

३— “अवमर्शनानन्तरं मध्वर्युयजमानौ उपरवयो स्तं स्तं दक्षिणं दक्षं
प्रवेश्य व्यस्तया सम्भेदनमार्गेण परस्परं सम्मृशेते संस्पर्शं कुर्याते”—
इति आच (का० श्रौ०) या० दे० ।

४— का० श्रौ० सू० ८. ५. १५-१८ ।

५— का० श्रौ० सू० ८. ५. १९, २०, २१ ।

भवन्ति । “लोपस्त आत्मनेपदेषु”—इति^१ ‘त’-लोपः, “वेत्तेर्विभा-
षा”—इति रुट्^२ । ‘भद्रम्’—‘इति’ प्रतिवदनं यदस्ति, तद् ‘एतत्
मानुष्यै वाचः कल्याणम् वदति’ हस्तसंस्पर्शनकालकृतभद्रवचनप्रति-
वदन मित्यर्थः । तस्मात्सौकिकवचनेषु भद्रत्वाय अवश्यं भद्रवचनं
कर्त्तव्यम् ॥

“अथ प्रोचतीति । प्रतिगत्तं प्रोचणम् । प्रोचणस्य मेधत्व-
लक्षणोऽर्थवादः सर्वत्रैकविध एवेत्याह— “एको वै प्रोचणस्य
बन्धुरिति ॥ १७ ॥

समन्त्रकं प्रोचणं विधत्ते— “स प्रोचतीति । ‘रचोहणः’—इति^३
वङ्गवचननिर्देशात् सहप्रोचणम् । पृथक्प्रोचणपक्षे मन्त्रावृत्तिः ।
तथाच कात्यायनः— “प्रोचत्येवान् रचोहण इति, भेदे मन्त्रा-
वृत्तिः साक्षिपातित्वात्”—इति^४ । मन्त्राणां^५ क्रियासहावर्त्तनत्वेन
व्यभिचारादित्यर्थः । सहतपक्षे वङ्गवचन मौपचारिकम् । स्पष्टो
मन्त्रार्थः ॥ १८ ॥

“अथ याः प्रोचस्य इति । अवटेषु प्रोचणीशेषावनयनं प्रशं-
सति— “तद्या इमाः प्राणेष्वप इति । ‘प्राणेषु’ कर्णमासादिविव-
रेषु ‘याः’ ‘आपः’ सन्ति, ‘ताः एव’ ‘एतत्’ एतेनावनयनेन यज्ञ-
गिरक्षोपरवाख्यप्राणेषु स्थापितवान् भवति । “तस्मादित्यादि ।
‘एषु प्राणेषु’ मनुष्यप्राणेषु ॥ १९ ॥

१— पा० सू० ७. १. ४१ ।

२— पा० सू० ७. १. ७ ।

३— वा० सं० ५. २५. १ ।

४— का० श्रौ० सू० ८. ५. २२, २३ ।

५— ते पञ्च मन्त्राः— वा० सं० ५. २५. १-५ द्रष्टव्याः ।

“सोऽवनयतीति । स्रष्टोऽवनयनमन्त्र^१ । अवटेषु अन्तर्बर्हि-
स्तरणविधितदर्थवादतन्मन्त्रा पूर्ववद् व्याख्येया । अवनयनावस्तर-
णयोन्याय प्राचणवत् । “अवनयनावस्तरणे चावटवत्”—इति हि
सूचम्^२ । यूपवटवत् अवनयावस्तरणे कार्यं द्रव्यार्थं । अवटानां
सुपर्यपि सूक्षाणां बर्हिषा माच्छादनं विधत्ते— “अथ बर्होषि
तनूनीति^३ । “केशा हैवास्येत इति । निर्दिश्यमानानि यद्यपि
बर्होषि, तथापि प्रतिनिर्दिश्यमानकेशापेक्षया ‘एते’—इति
पुम्निङ्गता ॥ २०, २१ ॥

“अथाधिपवणे फलके इति । ‘अधि’ उपरि सूयन्ते सोमो-
ऽनयोरिति^४ ‘अधिपवणे’ द्वे ‘फलके’ उपदध्यात् । “रक्षोहणौ वा
वस्त्रगहनौ”—इत्युपधानमन्त्र^५ । स च स्रष्टार्थं । ‘ते’ च ‘अस्य’
हविर्द्धानस्य शिरस इत्युपधानीये । अत्र कात्यायन— “अथाधि-
पवणे फलके ब्रह्मलान्तरे प्रचालिते प्राची अरन्निमात्रे सक्तृषे
वोपदधाति’—इति^६ ॥

“अथ पर्यूहतीति^७ । फलके । ‘परिदृहति’ परितो मृदा
दृढीकृयात् ॥ २० ॥

“अथाधिपवण मिति । “सर्वरोहित मित्यादि^८ । एतच्च

१— वा स० पू २५ २, ३ ।

२— का औ० सू० ८ ५ २४ ।

३— का० औ० सू० ८ ५ २५ क ।

४— ‘अधि’ उपरि सूयन्ते सोमा ययोरिति—इति छ थ ।

५— वा० स० पू २५ ४, ५ ।

६— का० औ० सू० ८ ५ २५ ख ।

७— का० औ० सू० ८ ५ २५ ग ।

८— का० औ० सू० ८ ५ २६ ।

रक्तवर्णाया जिह्वायाः स्थाने भवति । तच्च “वैष्णव मसि”—इति-
मन्त्रेण^१ ‘निदध्यात्’ अधिषवणफलकयोरुपरि स्थापयेत् ॥ २३ ॥

“अथ शावण इत्यादि^२ । अधिषवणचर्मणि अभिषवसाधनान्
पाषाणान् पञ्च आहरन्ति । ते ‘शावाणः’ ‘अस्थ’ ‘दन्ताः’ दन्त-
स्थानीयाः । तदेवोपपादयति—“तद्यद् शावभिरिति । “दङ्घिः
श्यात् एवं तदिति । यथा दन्तैर्भक्षयति, एवं तत् । “सा
भक्षणे”—इति^३ धातुः । “एतद् यज्ञस्येति । “पुरुषो वै यज्ञः”—
इति प्रतिज्ञाय, “शिर एवास्थ हविर्हानम्”—इति यद्विह्वानस्य
शिरस्त्वं निर्दिष्टम्^४, तदिदं ‘यज्ञस्य शिरः संकृतं’ मध्यम-
हिरादि-सोमाभिषवशावान्तानां यज्ञाङ्गानां शिरोललाटादि-
दन्तान्तकन्पनया हविर्हानस्य शिरस्त्वं साधित मित्यर्थः । केवलं
प्रयोगजातं मानुपूर्व्येणाभिधाय तत्तदवयवरूपकन्पनयाभिधीयते,
तेन तत्तदङ्गजातं तत्तदवयववधानेनानुष्ठीयमानं सत् महते फलाय
भवतीत्युक्तं भवति^५ ॥ २४ ॥ ४ ॥

इति सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे पञ्चमाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

१— वा० सं० ५. २५. ६ ।

२— का० श्रौ० सू० ८. ५. २८ । मन्त्र — वा० सं० ५. २५. ७ ।

३— यदा० य० ४५ धा० ।

४— द्वितीय-ब्राह्मणस्य प्रथमद्वितीये कण्डिके दृश्ये ।

५— एतच्च सर्वं तै० सं० ६. २. ७ दृश्यम् ।

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।
पुमर्थाश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ ५ ॥

ब्रह्माण्ड गोमहस कनकहयतुलापूरुषौ स्वर्णगर्भम्,
सप्ताब्धीन् पञ्चसीरींस्त्रिदशतल्लताधेनुसौवर्णभूमौः ।
रत्नोक्तां रुक्मवाजिद्विपसहितरथौ सायणिः सिङ्गनायौ,
व्यश्राणीद्विचक्रं प्रचितविधिमहाभृतयुक्त घटश्च ॥
धान्याद्रि धन्यजन्मा तिलभव मतुलः स्वर्णज वर्णमुख्यः,
कार्पासीयं कृपावान् गुडकृत मजडो राजत राजपूज्यः ।
आज्योत्थ प्राज्यजन्मा स्रवणज मनूण शार्कर चार्कतेजाः,
रत्नाढ्यो रत्नरूपं गिरि महत शुदा पाचमाप्तिङ्गनार्थः ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्तक-
श्रीहरिहरमहाराजमासान्धधुरन्धरेण
सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये
तृतीयकाण्डे पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ५ ॥

[अथ षष्ठाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्]



उदुर मेवास्य सुदः । तुस्मात् सुदसि भक्षयन्ति युद्धीदं
किञ्चाश्रुन्त्युदुर ऽएवेदः सुर्वं प्रतितिष्ठत्यथ युदस्मिन्
विश्वे देवा ऽश्रुसौदंस्तुस्मात्सुदो नृम तु ऽउ ऽएवास्मिन्नेते
ब्राह्मणा विश्वगोचाः सौदन्त्यैन्द्रं देवतया ॥ १ ॥

तन्मध्य ऽश्रौदुम्बरीं मिनोति । श्रुन्नं वा ऽङ्गुर्दुम्बुर
उदुर मेवास्य सुदस्तन्मध्यतोऽन्नाद्यं दधाति तुस्मान्मध्य
ऽश्रौदुम्बरीं मिनोति ॥ २ ॥

अथ यु एष मध्यमः शङ्कुर्भवति । व्वेदेजघनार्धे
तुस्मात् प्राङ् प्रुकामति पुङ् विक्रमान् दक्षिणा सप्तम
मुपक्रामति सम्पुदः कामाय तुदवटं पुरिलिखति ॥ ३ ॥

सोऽग्नि मादत्ते । देवस्य त्वा सवितुः प्रसुवेऽश्विनो-
र्बाहुभ्यां पूष्णो हुस्ताभ्या माददे नार्यसूति समानु
एतस्य यजुषो बन्धुर्योषो वा ऽएषा यदग्निस्तुस्मादाह
नार्यसूति* ॥ ४ ॥

अथावटं पुरिलिखति । इदं महः रुक्षसां ग्रीवा
 ऽअपि कृन्तामीति व्यञ्जो वा ऽअभि* व्यञ्जेणैवैतन्नाष्ट्राणां
 रुक्षसां ग्रीवा अपि कृन्तति† ॥ ५ ॥

अथ खनति । प्राञ्च मुत्कर मुत्करति । युजमानेन
 सम्मायौदुम्बरी पुरिवासयति ता मुग्गेण प्राची निदधा-
 त्येतावन्मात्राणि बहूँऽष्टुपुरिष्टादधिनिदधाति‡ ॥ ६ ॥

अथ युवमत्यः प्रोक्षण्यो भवन्ति । आपो ह वा
 ऽओषधीनाः रुसस्तुस्मादोषधयः केवल्यः खादिता न
 धिन्वन्त्योषधय ऽउ ह्यापाः रुसस्तुस्मादुपः पीताः
 केवल्यो न धिन्वन्ति यद्वैवोभ्यः सुऽसृष्टा भुवन्त्युथैव
 धिन्वन्ति तुर्हि हि सुरसा भवन्ति सुरसाभिः प्रोक्षा-
 णीति ॥ ७ ॥

देवाश्च वा ऽअसुराश्च । उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे
 तुतो देवेभ्यः सुर्वा एवौषधय ऽइयुर्युवा हैवैभ्यो
 नेयुः ॥ ८ ॥

तद्वै देवा ऽअस्पृण्वत । तु ऽएतैः सुर्वाः सपुत्राना
 मोषधीरयुवत यद्वयुवत तुस्माद्युवा नाम ॥ ९ ॥

ते होचुः । हुन्त यः सुर्वासा मोषधीनाः रुमस्तं युवेपु
 दुधामेति स यः सुर्वासा मोषधीनाः रुस ऽआसीत्

युवेष्टदधुस्तस्माद्युवान्या ऽश्रोपधयो म्वायन्ति तुदेते
 मोदमाना वर्द्धन्त ऽएव५ ह्येषु रुस मुदधुस्तथो ऽएवैषु
 ऽएतैः सुर्वाः सपुत्राना मोषधीर्युते तुस्माद्युवमत्यः
 प्रोक्षण्यो भवन्ति ॥ १० ॥

स युवानुवपति । युवोऽसि यवयास्मद्द्वेपो यवयारा-
 तीरिति नात्र तिरुहित मिवास्त्यथ प्रोक्षत्येको वै
 प्रोक्षणस्य बन्धुर्मेध्या मेवैतत्करोति ॥ ११ ॥

स प्रोक्षति । दिवे त्वान्तरिक्षाय त्वा पृथिव्यै त्वेती-
 मानेवैतल्लोकानूर्जा रुसेन भाजुयत्येषु लोकेषूर्जः
 रुस दधाति ॥ १२ ॥

अथ या प्रोक्षण्य परिशिष्यन्ते । ता ऽअवष्टेऽवनयति
 शुन्धन्तां लोकाः पितृपुदना इति पितृदेवत्यो वै कूप-
 खातस्तु मेवैतन्मेध्यं करोति ॥ १३ ॥

अथ बर्हीऽपि । प्राचीनाग्राणि चोदीचीनाग्राणि
 चावस्तृणाति पितृपुदन मसीति पितृदेवत्यं वा ऽअस्या
 ऽएतद्भवति यन्निखातः सा यथानिखातौपधिषु मिता
 स्यादेव मेतास्वोपधिषु मिता भवति ॥ १४ ॥

ता मुच्छ्रयति । उद्दिवः स्तभानान्तरिक्षं पृथक् दुःहस्व
 पृथिव्या मितौमानेवैतल्लोकानूर्जा रुसेन भाजुयत्येषु
 लोकेषूर्जः रुस दधाति ॥ १५ ॥

अथ मिनोति । द्युतानुस्त्वा मारुतो मिनोत्विति यो
वा ऽअयं पवत ऽएषु द्युतानो मारुतस्तुदेना मेतेन
मिनोति मित्रावरुणौ ध्रुवेण धर्मणेति प्राणोदानौ वै
मित्रावरुणौ तुदेनां प्राणोदानाभ्यां मिनोति* ॥ १६ ॥

अथ पुर्यूहति । ब्रह्मवुनि त्वा क्षववुनि रायस्योपवुनि
पुर्यूहामीति बह्वी वै यजुःप्राशौस्तद् ब्रह्म च क्षवं
चाशास्त ऽउभे व्यीर्ये रायस्योपवनीति भूमा वै राय-
स्योपस्तद्भूमान माशास्ते† ॥ १७ ॥

अथ पुर्युपति । ब्रह्म दृहह क्षवं दृह्वायुर्दृह प्रजां
दृहेत्याशीरेवैपैतस्य कुर्मण ऽआशिष मेवैतद्वाशास्ते
सम्भूमि पर्युपणं करोति गुर्तस्य वा ऽउपरिभूम्युयैव
देवचा तथा द्वागर्तमिद्ववति‡ ॥ १८ ॥

अथापु ऽउपनिनयति । युत्र वा ऽअस्यै खुनन्तः क्रूरी-
कुर्वन्त्यपघ्नन्ति शान्तिरापस्तुदद्भिः शान्त्या शमयति
तुदद्भिः सुन्दधाति तुस्मादपु ऽउपनिनयति? ॥ १९ ॥

अथैव मभिपुद्य व्याचयति । भ्रुवासि भ्रुवोऽयं यज-
मानोऽस्मिन्नायतने प्रजुया भूयादिति पशुभिरिति वैव
यं कामं कामुयते सोऽस्मै कामः समृद्धते॥ ॥ २० ॥

* 'ति'-इति ख । † 'स्ते'-इति ग, घ । ‡ 'ति'-इति ग, घ ।

§ 'ति'-इति ख ।

॥ 'ते'-इति ख ।

अथ सुवेणोपहृत्याज्यम् । विष्टप मभि जुहोति
 दृतेन द्यावापृथिवी पूर्येद्या मिति तुदिमे द्यावापृथिवी
 ऽज्ज्वा रुसेन भाजयत्यनुयोरुर्ज्ज् रुसं दधाति ते रुस-
 वत्या ऽउपजीवनौये इमाः प्रजा ऽउपजीवन्ति* ॥ २१ ॥

अथ हृदिरधिनिदधाति । इन्द्रस्य हृदिरसूत्यैन्द्र-
 हि सुदो विश्वजनुस्य छायेति विश्वगोषा ह्यस्मिन्
 ब्राह्मणा ऽआसते तदुभयतश्छदियौ ऽउपदधात्युत्तरत-
 स्त्रौणि परस्त्रौणि तानि नुव भवन्ति त्रिष्ट्वै यज्ञो नुव
 वै त्रिष्टत्तस्मान्नुव भवन्ति ॥ २२ ॥

तदुदीचीनवश्शः सुदो भवति । प्राचीनवश्शः
 हविर्हुन मेतद्वै देवानां निष्केवल्यं युद्धविर्हुनं तुस्मा-
 त्तु नान्नन्ति नु भक्षयन्ति निष्केवल्युद् ह्येतद्देवानाः स
 यो ह तुवाञ्जीयाद्वा भक्षयेद्वा मूर्ध्ना हास्य विपतेद्वैते
 मिश्रे यदुग्नीध्रं च सुदश्च तुस्मात्तयोरन्नन्ति तुस्माद्भक्ष-
 यन्ति मिश्रे ह्येते ऽउदीची वै मनुष्याणां दिक् तुस्मा-
 दुदीचीनवश्शः सुदो भवति ॥ २३ ॥

तत्परिश्रयन्ति । परित्वा गिर्व्वणो गिर इमा भवन्तु
 विश्वतः । बृहायु मनु वृद्धयो जुष्टा भवन्तु जुष्टय

वै गिर्वा विशो गिरो विश्वैतत् क्षवं पुरि-
दिदं क्षच मुभयतो विशा पुरिदृढः* ॥ २४ ॥

लस्रूजन्था स्पन्दया प्रसीव्यति । इन्द्रस्य
। ग्रन्थिं करोतीन्द्रस्य भ्रूवोऽसूति नेद
। ऽदुति प्रकृते कुर्मन् विष्यति तृथो हाध्वयुं
नं वा ग्राहो नु विन्दति तन्निष्ठितं मभिमृ-
तुीत्यैद्रः हि सुदः* ॥ २५ ॥

विह्वानयोः । जघनार्जुः समन्वीक्ष्योत्तरेणा-
पोति तुस्यार्जुं मन्तर्व्वेदि स्यादर्जुं वहिर्व्वेद्युथो
योऽर्जुदन्तर्व्वेदि स्यात् कुनीयो वहिर्व्वेद्युथो
। मेवान्तर्व्वेदि स्यात् तन्निष्ठितः मभिमृशति
सूति द्वयेनैतद्वैश्वदेवं युदस्मिन् पूर्व्वेद्युर्व्विश्वे
तौवुरौपूपवसन्ति तेन वैश्वदेवम् ॥ २६ ॥

वै यज्ञं तन्वानाः । ते ऽसुररक्षसेभ्य ऽआसङ्गाद्
तुस्तान्॥ दक्षिणतो ऽसुररक्षसान्धासेजुस्तान्त्सु-

ति ग, घ ।

छत'-इति क, डा०-वेबरदृष्ट्य ।

इति ख । 'सद'-इति ग, घ ।

छत'-इति घ डा० वेबरेख दृष्ट ।

ति क डा०-वेबरदृष्ट्य ।

दसो जिग्युस्तेषा मेतान्* धिष्णानुद्वापयाञ्चकुर्य
ऽएतेऽन्तःसदसः† ॥ २७ ॥

सर्व्वे ह स्म वा ऽएते पुरा ज्वलन्ति । युथार्य माहव-
नीयो युथा गार्हपत्यो युथाग्नौध्रीयस्तद्युत ऽएनानुद्वा-
पयंस्तुतं ऽएवैतन्नु‡ ज्वलन्ति तानाग्नौध्रे मग्निं सुहृद्भु-
स्तानुप्यर्द्धं मुग्नीध्रस्य जिग्युस्ततो विश्वे देवाः ऽअमृतत्वं
मुपाजयंस्तुस्माद्वैश्वदेवम्॥ ॥ २८ ॥

तान् देवाः प्रतिसुमैन्धत । युथा प्रत्यवस्येत्तुस्मा-
देनान्तुवने सवन ऽएव प्रतिसुमिन्धते तुस्माद्यः सुमृद्धः
स ऽआग्नीध्रं कुर्याद्यो वै ज्ञातोऽनुवानः स सुमृद्धस्तुस्मा-
दग्नीध्रे प्रथमाय दुक्षिणां नुयन्त्युतो हि विश्वे देवा
ऽअमृतत्वं मुपाजयंस्तुस्माद्युं दीक्षिताना मबुल्यं विन्दे-
द्वाग्नीध्र मेनं नयतेति ब्रूयात्तदुनार्त्तं तन्नारिष्यतीति
तद्यदुतो विश्वे देवा ऽअमृतत्वं मुपाजयंस्तुस्माद्वैश्व-
देवम्॥ ॥ २९ ॥ ५ ॥

॥ इति चतुर्थप्रपाठके पञ्चमं ब्राह्मणम् [६.१०] ॥

* 'मेता'-इति क, डा०-वेधरदृष्ट्य ।

† 'सदस'-इति ख । 'सदसः'-इति ग, घ ।

‡ 'त न'-इति क, ख ।

§ 'मुपाजय'-इति क, डा०-वेधरदृष्ट्य । एवं मुत्तरकविद्विधाया मपि ।

॥ 'वम्'-इति ग, घ ।

॥ 'वम्'-इति ग, घ ।

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्ममे, त महं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

यज्ञशिरस्त्वं हविर्द्वानिस्थोऽस्का, तत् समर्थं, इदानीं सदसो यज्ञोदरत्वं प्रतिपादयितुं पूर्वोक्तं मनुवदति— “उदर मेवास्य सदस्तस्मात् सदसि भक्षयन्तीत्यादिना । “ऐन्द्रं देवतयेति । यथा हविर्द्वानिं विष्णुदेवत्वम्, एवं सद इन्द्रदेवत्व मित्यर्थः । तृतीया विधाने, “प्रकृत्यादिभ्य उपसङ्ख्यानम्”—इति^१ ॥ १ ॥

“तन्मध्य ऽश्रौदुम्बरी मित्यादि^२ । ‘तन्मध्यतः’ तस्य सदसो मध्यदेशे ‘श्रौदुम्बरी’ स्तूनां ‘मिमुयात्’ । श्रौदुम्बर्या मध्यदेश-स्थापनयोग्यतां दर्शयति— “अन्नं वा ऊर्गित्यादिना । “देवा वा ऊर्जं व्यभजन्त, तत उदुम्बर उदतिष्ठत्, ऊर्वा उदुम्बरः”—इति श्रुतेः^३ ऊर्ध्वपत्न सुदुम्बरस्य । मध्ये ऊतशेषस्य भक्षणात् सदस उदरत्वम्, अतः सदोमध्ये श्रौदुम्बरीमानेन उदरमध्येऽन्न स्थापितम् ॥ १ ॥

मध्यदेशं विशिष्टमिति— “अथ य एष मध्यमशङ्कुरित्यादिना । भौमिकवेद्या जघनार्द्धस्य मध्यदेशे यः शङ्कुर्विहितः । ततः प्राक् षट् प्रक्रमान् विक्रम्य, सप्तमं दक्षिणाभिमुख विक्रम्य, तत्र श्रवटं परिलिखेत् ॥ २ ॥

१— पा० सू० १. ३ १८. वा० १ ।

२— का० श्रौ० सू० ८. ५ ३० ।

३— तै० ब्रा० १. १. ३ १० ।

अवटखननार्थं मरुयादान समन्वक विधत्ते— “सोऽभि मादत्ते^१
देवस्य त्वेति^२ । व्याख्यात मेतत् ॥ ४ ॥

“अथावट परिलिखतीति^३ । अवटपरिलेखनमन्त्रस्थाय मर्थ—
‘इदम्’ एतेन परिलेखनेन ‘रक्षसा’ ‘यौवा’ कण्ठावयवानपि
‘हन्तामि’ हिनन्ति । वज्रवक्तौक्षणधारत्वात् अभिर्वज्रत्वेन सूयते ।
‘नाद्याणा’ नाशकानाम् । स्पष्ट मन्यत्^४ ॥ ५ ॥

“अथ खनतीति^५ । ‘उत्कर’ “खात मृन्निचय ‘प्राञ्चम्’
अवटस्य समीपे प्राग्देशे ‘उत्किरति’ । ‘यजमानेन सम्पाद्य’ यज-
मानप्रमाण कृत्वा ‘परिवासयति’, अवग्रिष्ट मग्नं हिनन्ति । ‘ताम्’
औदुम्बरशाखाम् ‘अग्रेण’ अवटस्य प्राग्देशे ‘प्राचीं’ प्रागधा
स्थापयेत् । ‘एतावन्मात्राणि’ औदुम्बरीप्रमाणानि ‘वर्हीषि’
‘उपरिष्ठात्’ औदुम्बर्या उपरि ‘निदधाति’ आच्छादयेदित्यर्थः ॥ ६ ॥

औदुम्बरीप्रोक्षणसाधनानां मया यवसाहित्य विधाय प्रशंसति—
“अथ यवमस्य प्रोक्षणी भवन्तीति । उक्तं मया रसल युत्वा
समर्थयते— “तस्मादोषधयः केवल्य इति । ‘तस्मात्’ गतरसत्वात्
‘न धिन्वन्ति’ न प्रीणयन्ति । केवलतण्डुलभक्षणे हृत्प्रेरदर्शनात् ।
“धिन्विष्यन्त्यो र च”—इत्युपपत्त्यर्थः^६ । तत्सन्निधोगेन वकारस्थाका-
रादेशः । ओषधीनां प्रतिज्ञातं मप्रसन्नत्वं मुपपादयति— “तस्मा-

१— का० श्रौ० सू० ८ ५ ३१, ३२, ३३, ६ २ ८ क ।

२— वा० स० ५ २६ १, २ । ३— का० श्रौ० सू० ६ २ ८ ख ।

४— वा० स० ५ २६ ३ । ५— का० श्रौ० सू० ६ २ ८—१४ ।

६— या० सू० ३ १ ८० ।

दापः पीताः केवल्य इति । यतो 'यदा' 'उभयः' ओषधय
 आपञ्च 'ससृष्टाः' स्युः, 'अथ' तथा सति 'धिन्वन्ति', 'तर्हि' तथा
 सति 'सरसाः' 'भवन्ति' भवेयुः । केनाभिप्रायेण ? इत्याह—
 "सरसाभिः प्रोक्षणीति ॥ ७ ॥

अथ शब्दव्युत्पत्तिप्रदर्शनमुखेन यवान् प्रशंसति— "देवाश्च वा
 असुराश्चेत्यादिना । 'सर्वा एव ओषधयः इयुः' देवेभ्यः सकाशात्
 पलायिताः ॥ ८ ॥

"तद्वै देवा असृण्वतेति । 'असृण्वत' सर्वा ओषधीर्वाञ्छि-
 तवन्तः । तदेव विग्रहयति— "त एतैः सर्वाः सपत्नाना
 मोषधीरयुवतेति । 'ते' 'एतैः' यवैः 'अयुवत' अमिश्रणम् ।
 'तस्माद्' धवनसाधनत्वाद् 'यवाः' इति तन्नामनिर्वचनम् ।
 ओषधीनां धवनसाधनाः सम्पन्नाः इति यवस्तुतिः ॥ ९ ॥

"ते होचुरिति । सर्व्वीयधिरसानां यवेषु स्थापनं प्रत्यक्ष
 मिति प्रमाणेन दृढयति— "तस्माद् यवान्या ओषधयो ग्लाय-
 कीति ॥ १० ॥

"स यवानावपतीति^१ । यवावापे मन्त्र माह— "यवोऽभि
 यवयेति^२ । हे यवपदार्थः । त्वं 'यवोऽभि' पृथक्कृत्तामि, अतः
 'यवय' अस्मत्तो द्वेष्टुम् पृथक् कुरुत । 'अरातीः' अदामशीलान् ॥

"अथ प्रोक्षतीति^३ । औदुम्बरीः । "एको वै प्रोक्षणस्य वन्धु-

१— का० श्रौ० सू० ६. २. १५ क ।

२— वा० सं० ५. २६. १ ।

३— का० श्रौ० सू० ६. २. १५ ग ।

रिति । यत्र-यत्र प्रोचण मस्ति, तस्य सर्वस्यापि मेघ्य मेतत् करो-
तीति एवं रूपं ब्राह्मण मेक मेवेत्यर्थः ॥ ११ ॥

“स प्रोचतीति । हे उदुम्बरशाखाय । ‘त्वा’ त्वाम् ‘दिवे’
द्युलोकाय, तदरीभावाय, प्रोचामीति शेषः^१ । एव मुत्तरवाक्येऽपि
योज्यम्^२ ॥ १२ ॥

“अथ याः प्रोचण्य इति^३ । “शुन्वता मिति” मन्त्रेण प्रोचणी-
शेष भवटेऽवनयेत् । पितरः सौदम्येषु इति ‘पितृषदनाः’ भृत्यधो-
वर्त्तिनो लोकाः । प्रायेण गर्तस्य पित्र्यकार्येषु दर्शनात् अवटस्य
पितृषदमलम् तदेवाह— “पितृदेवत्यो वै कूपः खात” इति ॥ १३ ॥

“अथ वर्त्तणीषीत्यादि^४ । सुविशदम्^५ । “या ययानिखाता
ओषधिषु मिता स्यात्, एव मेतास्त्रोधधीषु मिता भवतीति ।
वने ‘अनिखाता’ दृढमूला स्वभावेनोत्पन्ना ‘यया’ ‘ओषधिषु’
सदोत्पन्नेषु हृणगुल्मादिषु मध्ये ‘मिता’ भवति, सर्वहिंके गर्तं
‘मिता’ शाखायि ‘एवं’ भवतीत्यर्थः ॥ १४ ॥

“ता मुच्छ्रयतीति^६ । ‘उच्छ्रयति’ ऊर्द्धं स्थापयेत् । तन्मन्त्र-

१— का० श्रौ० सू० ६ २ १६ ।

२— ग० सं० पू० २६ २, ३, ४ त्रयो मन्त्रा ।

३— का० श्रौ० सू० ६ २ १७ ।

४— वा० स० पू० २६. ५ ।

५— का० श्रौ० सू० ६ २ १८ ।

६— अत्र मन्त्र — वा० स० पू० २६ ६ ।

८— का० श्रौ० सू० ८ ५. ३४ । “ऊर्द्धा करोति” ।

स्याय मर्थ १— हे उदुम्बरशाखे । तवायभागेन 'दिवम्' 'उत्तम्भान' उत्तम्भन कुरु, शरीरस्थौल्येन 'अन्तरिक्ष' 'पृष्ण' पूरय, 'पृथिव्या' 'दृहस्व' दृढा भव, पृथिवी मपि दृढा कुर्वित्यर्थ, पृथिव्या' ग्रैथिल्ये शाखाया अपि दाढ्यायोगात् । ऊग्रूपस्थौदुम्बरस्य लोकत्रयेऽपि सम्बन्धात् लोकेष्वर्गमस्यापन हत भवति । स्पष्ट मन्यत् ॥ १५ ॥

“अथ मिनोतीति” । औदुम्बरीमानमन्त्र १— ‘द्युताम’ दीप-मान, एतन्नामको वायुर्देव, ‘मारुत’ मरुता देवाना वायूना सम्बन्धी, स ‘मिनोतु’ अवटे प्रक्षिपतु । तथा ‘मित्रावरुणौ’ देवौ ‘भुवेण’ अविचलितेन ‘धर्मणा’ धारणेन मिनुताम । स्पष्ट मन्यत् । मित्रावरुणशब्दधोरर्थं भाह— “प्राणोदानौ वै मित्रावरुणाविति । एतदधिदेवतम्, अहोरात्राभिमानिनौ देवाविति” अध्यात्मम् ॥ १६ ॥

समन्तक पर्युहण विधत्ते— ‘अथ पर्युहति’ ब्रह्मवनि त्वेति । हे शाखाद्रव्य । ‘ब्रह्मवनि’ ब्रह्मण सम्भक्तृ ‘त्वा’ त्वाम् ‘पर्युहामि’ प्रक्षिपामि । एव मुत्तरवाक्यान्यपि योज्यानि ॥

मन्त्र व्याख्ये— “यक्नी वा इति । प्रायेण ‘यजु पु’ मन्त्रेषु ‘आशी’ यक्नी परिदृश्यते । अतोऽत्र ब्रह्मवन्नोभयरूप फल माग्रास्यते । “भूमा वै रायस्योप इत्याद्यसकृद् गतम्” ॥ १७ ॥

१— वा० स० ५ २० १ ।

२— का श्रौ० सू० ८ ५ ३५ । व्यवटमध्ये प्रक्षिपति ।

३— वा० स० ५ २० २ । ४— ऐ० ब्रा० ॥ २ ३ ३८५म ।

५— का० श्रौ० सू० ६ ३ १० । यूपवट पृथयति ।

६— वा० स० ५ २० ३ । ७— पुरस्तात् २८८, ३०३ ८० ।

“अथ पर्यषतीति^१ । ‘पर्यषति’ परितः सङ्घट्टयेत् । “सधौ गतौ”—इति^२ धातुः । “ब्रह्मा दृष्टेत्यादिर्दृष्टमन्त्रो^३ यजमाना-
पेक्षितस्य कर्मफलस्य प्रतिपादक इत्याह— “आग्नीरेवैतस्य कर्मण
इति । ‘एतस्य’ आखादृष्टकर्मणः फलरूपाग्नीः प्रतिपाद्यत इत्यर्थः ।
परिघट्टनं = पर्यर्षणम्, भूमिप्रमाण मद्भिः कर्त्तव्य मित्याह—
“समभूमि पर्यर्षण मिति । भूम्या समं ‘समभूमि’, ‘पर्यर्षण’
भूमिसमं ‘करोति’ । व्यतिरेक माह— “गर्त्तस्य वा इति । “अथैवं
देवचेति । ‘अथ’-शब्दः उक्तवैलक्षण्यद्योतनार्थः । एवं साम्ये
सति ‘देवचा’ देवेषु अश्वितो भवतीत्यर्थः । “तथा हागर्त्तमिद्
भवतीति । ‘तथा ह’ तथा सति, भूमिसाम्ये सति ‘अगर्त्तमिद्’
अगर्त्तमिता भवति । भिनोतेः कर्मणि क्षिप् ॥ १८ ॥

“अथाप उपनिनयतीति^४ । ‘उपनिनयति’ मृत्परमाणूनां
संक्षेपाय ‘अस्यै खनन्तः’ अस्याः भूम्याः भागं दारयन्तः, ता मेव
भूमिम् अकूरां ‘कूरीकुर्वन्ति’ । ‘आपः’ तु शमनहेतुत्वात् ‘शान्तिः’,
अतः ‘तत्’ तेन ‘अग्निः’ ‘शान्त्या’ शान्तिरेकत्वादेकवचनम् ।
क्रौर्यशमन मदृष्टं प्रयोजनम् ; अग्निः सम्भानं तु रुंहतिहेतु दृष्टं
प्रयोजनम् ॥ १९ ॥

१— का० श्रौ० सू० ६. ३. ११ । “परितः कुट्टनेन पाश्र्वनधः प्रवेशयति,
पिष्टयतीत्यर्थः”— इति तत्र या० २० ।

२— तु० प० ७ धा० ।

३— वा० मं० ५ २७. ४ ।

४— का० श्रौ० सू० ६. ३. १२ ।

“अथैव मभिपद्येति^१ । ‘अभिपद्य’ शाखा मालम्भ, एव ‘वाचयति’
 भुवासीत्येवम्प्रकारेण^२ । हे शाखे ! त्वं मिदानौ हतप्रकारेण ‘भुवा’
 अविदन्ना ‘असि’ । ‘अय’ ‘यजमान’ अपि ‘अस्मिन्’ स्वीकीये
 एव गृहे ‘प्रजया’ ‘पशुभि’ सहितं सन् ‘भुव’ भवतु । न केवलं
 ‘प्रजया पशुभि’ इत्यभिधानेन तद् द्वयं समृद्धते, किन्तु चिं ?
 प्रजापशुव्यतिरिक्तं मन्यच्च धर्मादिकं ‘य यं कामं कामयते’ स
 सर्वोऽप्युभयकामनयैव समृद्धते । अथ ‘पशुभिरिति वा’
 इति ‘वा’-शब्देन ‘प्रजया’-इत्यनेन मन्त्रपदेन ‘पशुभि’-इत्यस्य
 विकल्पः^३ ॥ २० ॥

औदुम्बरीशाखायां होम विधत्ते— “अथेति । “विष्टप मभि
 जुहोतीति । ‘विष्टप’ विशाखम् ‘अभि’ विष्टपस्यापभागस्याभित,
 यथा शाखाया अग्रमूलाभागे मध्यदेशस्य अक्ता भवन्ति, एव माज्य
 ‘जुहोति’ ॥

तन्मन्त्रस्याय मर्थं^४— ‘द्यावापृथिवी’ हे द्यावापृथिव्यौ ! शाखाय-
 मूलभागवर्त्तिन्यौ पुनः ‘हतेन’ हयमानेन ‘पूर्व्यथाम्’ पूर्णौ भवत ।
 अथ सूत्रम्— “सुवेण विशाखे जुहोति हतेन द्यावापृथिवी इति
 भूमिप्राप्ते स्वाहा करोति”— इति^५ ॥

द्यावापृथिवीपूर्व्यभिधानस्य प्रयोजनं माह— “तदिमे द्यावा-

१— का० श्रौ० सू० ८ ५ ३६ ।

२— वा० स० ५ २८ १ ।

३— का० श्रौ० सू० ८ ५ ३७ ।

४— पाठस्त्वस्य— वा० स० ५ २८ २ ।

५— का० श्रौ० सू० ८ ५ ३८, ३९ ।

पृथिवी ऊर्जा रसेन भाजयतीत्यादिना । ऊर्ध्वपौदुम्बरयुक्तेनाज्येन
यत् द्यावापृथिवीपूरणम्, तत् ऊर्ध्वसेनैव द्यावापृथिवीप्रापणं कृतं
भवति । तेन तयोः किङ्कृतं भवति ? “अनयोर्हृजं रमं दधाति” ।
स्यष्ट मन्यत् ॥ २१ ॥

मध्यमच्छदिर्निधानं विधत्ते— “अथ छदिरधिनिदधातीन्द्रस्य
छदिरसीति^१ । इन्द्रदेवत्वत्वात् सदोऽचेन्द्रः, तस्याच्छादक मसि ।
तथा ‘विश्वजनस्य छायासि’ विशेषां सदसि स्थितानां जमानां
छायाकारौ असि । एतयोर्मन्त्रभागयोर्वाह्ये स्यष्टे^२ ॥

“उभयतश्छदिषौ उपदधातीति^३ । मध्यमस्य छदिषः ‘उभयतः’
दक्षिणोत्तरयोः, — तानि मध्यमश्चदौषि चैष्यपि प्रमाय, तेषाम्
‘उत्तरतः चैषि’ छदौषि उपदधात्, तथा ‘परः’ परस्तादपि
दक्षिणतोऽपि ‘चैषि’ ‘उपदधाति’^४ ॥

छदिषां नवत्वं प्रशंसति— “तानि नव भवन्तीति । चिद्वत्-
स्तोमसाध्यत्वात् यज्ञस्य चिद्वत्त्वम् । स च ‘चिद्वत्’ स्तोमो ‘नव वै’
नवस्तोत्रियात्मकः खलु ; “तिसृभ्यो हिङ्गरोति स एकयेत्यादि-
सामन्नाह्वयोक्तप्रकारेण चिद्वत्स्तोमे तिसृणा मृषां नवत्वसम्पाद-
नात्^५ । तस्मात् छदिषां नवत्वं युक्तम् ॥ २२ ॥

१— का० श्रौ० सू० ८. ६. १० । छदिस्तृणमय कट ।

२— मन्त्रपाठस्य वा० सं० ५ २८. ३ ।

३— का० श्रौ० सू० ८. ६. ११ ।

४— “मन्त्र प्रतिच्छदिशवर्तनीय” — इति का० सू० ८. ६. ११ या० दे० ।

५— सा० ता० ब्रा० श्रौ० १४० ।

सदस उदगायतत्वं विधत्ते— “तदुदीचीनवश सदो भवतीति । सदस उदीचीनवशत्वं प्रशंसितुं हविर्द्धानस्य सदोवैलक्षण्यं दर्शयति— “प्राचीनवशं हविर्द्धानं मित्यादिना । ‘एतत्’ हविर्द्धानं ‘देवानां निष्केवल्यम्’ मनुष्यलक्षणाभावेन निःशेषेणैव देवानां केवलं भवति । “भवे हृन्दमि”—इति^१ यत् । “तस्मात् तच्च नाश्रन्ति, न भक्षयन्तीति । ‘नाश्रन्ति’ पुरोडाशादिकम्, ‘न भक्षयन्ति’ सोमम् । प्रमादात् भक्षणे दोष माह—“भूर्द्धानं ह्यस्य विपतेदिति । उक्तवैपरीत्यं माग्नीध्रसदसोर्दर्शयति— “अथैते मिश्र इति । ‘एते मिश्रे’ सोमश्च स्वादिपाठाश्रयत्वात् दैवम्, भक्षणसम्भवात् मानुष्ये चेति ‘मिश्रे’ भवतः । “उदीची वै मनुष्याणां दिगिति । प्रायेणोदीच्या दिशि मनुष्यवृद्धिर्दर्शनात् मनुष्यसम्यन्वयपदेन ॥

सदोनिर्माणप्रकारं सूचकार आह— “नाभिदग्नं सदं, मत्या वा, उदग्वग्नम् अष्टादशारत्नं, एकविंशतियत्तुविंशतिर्वा, नवतिर्यक्, अर्द्धायामो वा, औदुम्बरौ मध्ये, पृष्ठ्या नेके^२, इन्द्रस्य हृदिरिति^३ मध्यमं हृदिरारोण्यापरपूर्वं च, चिवर्गौ चोत्तरतः”—इति^४ । अष्टादशारत्न्याटयस्तस्य पश्चात् उदगायामविषये विकल्पिता, तिर्यक्प्रमाणविषये नवारत्निलं अर्द्धायामत्वं च विकल्पितम् ।

१— पा० सू० ४ ४ ११० ।

२— “एके ग्रहस्य पूजार्थम्”—इति चात्र या० २० ।

३— वा० सू० ५ २८ ३ ।

४— का० श्रौ० सू० ८ ६ १-११ ।

उक्तपरिमाणे सदसि औदुम्बरौ मध्या भवति, पृष्ठ्यां^१ दक्षिणतः
स्थिता वेत्यर्थः^२ ॥ २३ ॥

सदसः परिश्रयणं समन्त्रक विधत्ते— “तत् परिश्रयन्ति^३
परि त्वा गिर्वण इतीति^४ । मन्त्रस्याय मर्थः— हे ‘गिर्वण.’ गौर्भिः
वननीय इन्द्र । ‘त्वा’ त्वाम् ‘इमाः’ अस्माभिः प्रयुज्यमानाः
‘गिर.’ स्तुतिरूपा वाचः ‘विश्रतः’ सर्वतः ‘परिभवन्तु’ । किञ्च
‘वृद्धायुम्’ वृद्धा आयवो मनुष्याः, ऋत्विग्यजमानलक्षणा यस्य स
तथोक्तः, तादृशम् ‘अतु’ ‘वृद्धय.’ समृद्धिमत्यो भवन्तु । तथा
‘जुष्टयः’ प्रौढयन्त्रो वाचः ‘जुष्टाः’ प्रौढाः ‘भवन्तु’ । तत्र गिरां
च वृद्धिजोषावुपर्युपरि वर्द्धया मित्यर्थः ॥

प्रथमपाद व्याचष्टे— “इन्द्रो वै गिरां, विशो गिर इत्यादिना ।
इन्द्रस्य देवेषु मध्ये क्षत्रियजातित्वात् गिराञ्च स्त्रीत्वाद् धञ्जलाच्च
विश्रां रूपत्वम्, अतो गौर्भिरिन्द्रपरिग्रहाभिधानात् क्षत्रियस्रो-
भयतस्तत्क्षेमाय प्रजाः कल्पितवान् भवति ॥ २४ ॥

सदसो दारशाखाप्रभृतीनां हविर्हानिञ्च दर्भैराच्छाद्य सीवना-
दिक^५ विधत्ते— “अथ लस्युज्येत्येवमादिना^६ । सीवनपन्थीकर-

१— एषाशब्दार्थः ३१४ ए० २ टी० इत्यर्थः ।

२— “पूर्वनिखाता मौदुम्बरौ स्थूणा सदसो मध्ये कुर्वात्”—इति या० दे० ।

३— का० श्रौ० सू० ८ ६. १२ क ।

४— वा० सं० ५ २६. १ ।

५— सीवनपन्थीकराभिर्मर्शानानीत्यर्थः ।

६— का० श्रौ० सू० ८ ६ १२ ख ।

णाभिमर्शनवाक्यानि हविर्द्धानवद् व्याख्येयानि, मन्त्रेष्वेन्द्रत्वं विशेषः^१ ॥ २५ ॥

आग्नीध्रस्य स्थान माह— “अथ हविर्द्धानयोरित्यादिना^१ । हविर्द्धानशकटयोः पश्चाद्भागस्य साम्येन य उत्तरो देशः, तत्र ‘आग्नीध्रम्’ आग्नीध्रीय मण्डपं कुर्यात् । तत्रापि त्रयः पक्षाः । आग्नीध्रीयस्य यावत् परिमाणं तस्यार्द्धं सौमिकवेद्या उत्तरभागे स्त्रीकुर्यादित्येकः पक्षः । अर्द्धादधिकं मग्न वेद्याः स्त्रीकुर्यादिति द्वितीयः । सर्वं मपि सौमिकवेद्या मिति तृतीयः । तदेतत् पक्षत्रयम् “तस्यार्द्धं मन्त्रवर्दीत्यादिनोक्तम् । ‘निष्ठित’ निष्पन्नमाग्नीध्रीयम्, “वैश्वदेव मग्नि”—“इति”^२—मन्त्रेण अभिमृशेत्^३ । अस्य वैश्वदेवत्वं कारणद्वयेन । तत्र प्रथमं कारणं माह— “यदस्मिन् पूर्वधुरिति । ‘वसतीवर्धः’ सोमाभिषवार्था आप’, तासु विश्वेदेवा सुत्यादिनात् पूर्वधुरधिवसन्ति; अतो वैश्वदेवत्वम् । तथा चोपरिष्ठादास्त्रास्यते— “ता आग्नीध्रे सादयति विश्वेषां देवानां भागधेयौ स्वेति”— इति^४ । तदासु विश्वान् देवान् संवेद्ययतीत्यतो विश्वेषां देवानां माश्रयभूतानां मया माधारभूतत्वात् वैश्वदेवत्वम् ॥ २६ ॥

१— वा० सं० ५ ३० १-३ ।

२— का० श्रौ० सू० ८. ६ १३ ।

३— वा० सं० ५. ३०. ४ ।

४— का० श्रौ० सू० ८ ६. १४ ।

५— उपरिष्ठात् ० प्र० २ ब्रा० १६ क० ।

द्वितीय कारण माह— “देवा ह वा इत्यादिना । “तान्स-
दसो जिग्युरिति । ‘तान्’ सदोनिविष्टान् देवान् ‘सदसः’
सकाशात् जितवन्तः, ततो निष्काशितवन्त इत्यर्थः । न केवलं
तानेव देवान्, अपि तु ‘अन्तस्सदस’ सदोमध्येऽवस्थितान्
‘धिष्ण्यान्’ अग्नीन् नाशयन्, तेषां अग्नीनां तत्र सङ्गाव एव
नास्ति ॥ २७ ॥

तत्र ते न सन्तीति चेत् कथं ज्वलन्तीत्याह— “सर्वे ह स
वा एत इति । “तानाग्नीध्र मग्निं सदसधुरिति । सदसो निष्का-
शिता आग्नीध्रप्रविष्टा, तत्राप्यसुरैः सदङ्गाः, ते देवा आग्नीध्रधिष्ण्य-
गतस्थाग्नेः ‘अर्द्धं’ समीपं प्राप्य ‘तान्’ असुरान् ‘जिग्यु’ । ‘ततः’
आग्नीध्रस्थाग्ने. सामर्थ्याद् ‘विद्ये देवा.’ ‘अमृतत्वम्’ असुरहतहिंसा-
रहितत्वम् प्राप्ता इत्यर्थः । ‘तस्मात्’ विशेषां देवानां माश्रयत्वाद्
‘वैश्वदेवम्’ वैश्वदेवत्वम् ॥ २८ ॥

“तान् देवा इति । ‘तान्’ उद्घाटितान् धिष्ण्यान् ‘देवा.’
‘प्रतिसमैन्धत’ पुनरदीपयन् । ‘यथा’ येन प्रकारेण ‘प्रत्यवस्येत्’
प्रतितिष्ठेत् । यदा प्रत्यवसानं भोजनम्, यथा आहुत्याधारो
भवेत्, तथा समैन्धत । “तस्मादेनानिति । स्पष्टम् । “तस्माद् य
इति । ‘तस्मात्’ आग्नीध्रस्य विशेषां देवानां जयहेतुत्वात् ‘य
समृद्धः’, ‘स’ ‘आग्नीध्र’ आग्नीध्रस्य कर्म ‘कुर्यात्’ । “यो वा इति ।
‘यो वै’ ‘ज्ञातः’ अयं सदाचारीति विदितः, ‘अनूचानः’ साङ्ग-
प्रवचनाध्यायी ‘समृद्ध’ । आग्नीध्रस्य श्रेष्ठ्यं दक्षिणाप्रायस्यभाक्त्वेन
समर्थयते— “तस्मादग्नीध्रे प्रथमायेत्यादि ॥

अथ

पञ्चमप्रपाठके प्रथम ब्राह्मणम्,

अपि वा

षष्ठाध्याये द्वितीय ब्राह्मणम् ।

॥ हरिः ७ ॥

व्विजुमानो हैवास्य धिरण्याः । इमे समङ्का ये वै
समङ्कास्ते व्विजुमान एतु ऽउ हैवास्यैतु ऽआत्मनुः* ॥ १ ॥

दिवि वै सोम आसीत् । अथेह देवास्ते देवा
अकामयन्ता नः सोमो गच्छेत्तेनुगतेन यजेमहीति तु
ऽएते माये ऽअस्तजन्त सुपर्णीं च कद्रूं च व्यागेव सुप-
र्णीयुं कद्रूस्ताभ्यां समुदं चक्रुः ॥ २ ॥

ते हुत्तार्यमाने ऽजचतुः । यतरा नौ दुवोयः परा-
पुश्यादात्मानं नौ सा जयादिति तथेति सा ह कद्रू-
रुवाच पुरेक्षस्वेति ॥ ३ ॥

* 'ऽआत्मान'—इति सा०—सम्मत पाठ इति डा०-वेदर ।

सा ह सुपुण्यवाच । अस्य* सलिलस्य पारेऽश्वः श्वेतु
स्थाणौ सेवते तु महं पश्यामीति तु मेव त्वं पश्यसीति
तः होत्यथ ह कद्रूवाच तस्य ब्वालो न्यपञ्जि तु ममं
वातो धूनोति तु महं पश्यामीति ॥ ४ ॥

सा युत् सुपुण्यवाच । अस्य सलिलस्य पार इति
व्वैदिर्व्वै सलिलं व्वेदि मेव सा तुदुवाचाश्वः श्वेतु
स्थाणौ सेवत इत्यग्निर्व्वाऽश्वः श्वेतो यूप स्थाणुरथ
युत् कद्रूवाच तस्य ब्वालो न्यपञ्जि तु ममं वातो
धूनोति तु महं पश्यामीति रश्नो ह्यैव सा† ॥ ५ ॥

सा ह सुपुण्यवाच । एहीदं पुताव व्वेदितुं यतरा नौ
जुयतौति सा ह कद्रूवाच त्वु मेव पत त्वं वै न आख्या-
स्यसि यतरा† नौ जुयतौति ॥ ६ ॥

सा ह सुपुण्यं पपात । तुह तुथैवास युथा कद्रूवाच
ता मागता मभ्युवाद त्वु मजैपीशरहा इ मिति त्व
मिति होवाचैतुद्याख्यानः सौपुण्यंकाद्रव मिति ॥ ७ ॥

सा ह कद्रूवाच । आत्मानं वै त्वाजैपं दिव्यसौ
सोमस्तुं देवेभ्य आहर तेन देवेभ्य आत्मानं निष्क्रीणी-

* 'युस्य'-इति ग, घ ।

† 'सा'-इति ग, घ ।

‡ 'यतरा'-इति ग, घ ।

धेति* तथेति सा छुन्दाऽसि सस्तजे सा गायत्री दिवः
सोम माहरत् ॥ ८ ॥

हिरण्ययोर्हं कुशोरन्तरुवदित आस । ते ह स्म
क्षुरुपवी निमेषुं निमेष मभिसुन्धतो दीक्षातपसौ हैव
ते ऽआसतुस्तु मेते गन्धर्वाः सोमरक्षा जुगुपुरिमे
धिष्ण्या इमा हुषाः† ॥ ९ ॥

तयोरन्यतरां कुशी माचिच्छेद । तां देवेभ्यः प्रददो
सा दीक्षा तया देवा अदीक्षन्त ॥ १० ॥

अथ द्वितीयां कुशी माचिच्छेद । तां देवेभ्यः
प्रददो तत्तपस्तया देवास्तप उपायन्नुपसदस्तपो क्षुप-
सुदः ॥ ११ ॥

खदिरेण ह सोम माचखाद । तुस्मात् खदिरो युदे-
नेनाखिदत् तुस्मात् खादिरो यूयो भवति खादिरु
स्फ्योऽच्छावाकस्य हैनं गोपनायां जहारु सोऽच्छावाको
ऽहीयत ॥ १२ ॥

तु मिन्द्राग्नी ऽअनुसुमतनुताम् । प्रजानां प्रजात्यै
तुस्मादैन्द्रामोऽच्छावाकः‡ ॥ १३ ॥

* 'निष्क्रिणीयेति'—इति पाठस्य दृष्टो डा० वेवरेण ।

† 'इमे क्षत्रका'—इति सा०—सम्मत इति डा० वेवर ।

‡ 'क'—इति ग, घ ।

तस्माद् दीक्षिता राजानं गोपायन्ति । नेत्रोऽप-
हुरानिति तस्मात्तच्च सुगुप्तं चिकीर्षेद्यस्य ह गोपनाया
मपहुरन्ति ह्रीयते ह ॥ १४ ॥

तस्माद् ब्रह्मचारिण आचार्यं गोपायन्ति । गृहान्
पशून्नेत्रोऽपहुरानिति तस्मात्तच्च सुगुप्तं चिकीर्षेद्यस्य
ह गोपनाया मपहुरन्ति ह्रीयते ह । तेनैतेन सुपर्णी
देवेभ्य आत्मानं निरुक्लीणीत तस्मादाहुः पुण्यलोक
ईजान इति ॥ १५ ॥

अष्टणुः ह वै पुरुषो जायमान एव । मृत्यो-
रात्मना जायते स यद्युजते यथैव तुत् सुपर्णी देवेभ्य
आत्मानं निरुक्लीणीतैव मेवैष एतन्मृत्योरात्मानं
निष्क्रीणीते ॥ १६ ॥

तेन देवा अयजन्त । तु मेते गन्धर्व्याः सोमरक्षा
अन्वाजग्मुस्तेऽन्वागुत्याब्रुवन्नु नो यज्ञ आभजत मा
नो यज्ञादन्तुर्गातास्त्वेव नोऽपि यज्ञे भाग इति ॥ १७ ॥

ते होचुः । किं नस्तुतः स्यादिति यथैवास्यामुच
गोप्तारो ऽभूमैव मेवास्यापीह गोप्तारो भविष्याम
इति ॥ १८ ॥

तथेति देवा अद्भुवन् । सोमक्रयणा व इति तानेभ्य
एतत् सोमक्रयणाननुदिशत्यथैनानद्भुवंस्तृतीयसवने वो

घृत्याहुतिः प्राप्स्यति नु सौम्यापहृतो हि युष्मत्सोम-
पीथस्तेन सोमाहुतिं नाहंयेति सैनानेषा तृतीयसवनं
ऽएव घृत्याहुतिः प्राप्नोति नु सौम्या युच्छालाकैर्हि-
ष्यन् व्याधारयति ॥ १९ ॥

अथ युद्धौ होष्यन्ति । तुहोऽविष्यतीति स युद्धौ
जुह्वति तुदेनानवत्यथ युद्धः सोमं विभ्रत उपर्युपरि
चरिष्यन्ति तुहोऽविष्यतीति स युदेनानसोमं विभ्रत
उपर्युपरि चरन्ति तुदेनानवति तुस्मादध्वर्युः समुया
धिष्यन्नातीयादध्वर्युर्हि सोमं विभुर्ति तु मेते व्यात्तेन
प्रत्यासते सु एतेषां व्यात्त मापद्येत तु मग्निर्वाभि-
दुहेद्यो वायुं देवः पशूना मौष्टे सु वा हैन मभिमन्येत
तुस्माद्यद्यध्वर्योः शालाया मर्यः स्वादुत्तरेणैवामीध्रीयः
सुच्चरेत् ॥ २० ॥

ते वा ऽएते* । सोमस्यैव गुप्त्यै न्युष्यन्त ऽआहवनीयः
पुरुस्तान्माज्जालीयो दक्षिणतु आमीध्रीय उत्तरतोऽय
ये सुदसि ते पथात्† ॥ २१ ॥

तेषां वा ऽअर्हानुपकिरन्ति । अर्हानुनुदिशन्त्येत ऽउ
ह्वैतुदधिरेऽर्हान् उपकिरन्वर्हानुनुदिशन्तु तथा युष्मा-

ल्लोकादागताः स्मो दिवस्तुथा तं लोकं प्रति प्रज्ञा-
स्यामस्तुथा न जिह्वा* एष्याम इति ॥ २२ ॥

स यानुपकिरुन्ति । तेनास्मिंल्लोके प्रत्यक्षं भवन्त्यथ
याननुदिशुन्ति तेनामुस्मिंल्लोके प्रत्यक्षं भवन्ति ॥ २३ ॥

ते वै द्विनामानो भवन्ति । एतु ऽउ हैवैतद्विधिरे न
वृा ऽएभिर्नामभिररात्सम येषां नः सोम मप्राहार्पुर्हुन्त
द्वितीयानि नामानि करुवामह्वा ऽइति ते द्वितीयानि
नामान्यकुर्वन्त तैरराधुवन् यानुपहृतसोमपीथान्त्सतो-
ऽथ यज्ञ ऽआभजस्तुस्माद् द्विनामानस्तुस्माद्वाह्मणो
ऽन्द्यमाने द्वितीयं नाम कुर्वन्ति राधोति हैव यु एवं
व्विद्वान् द्वितीयं नाम कुरुते† ॥ २४ ॥

स युदमौ जुहोति । तद्देवेषु जुहोति तुस्माद्देवाः
सन्त्युथ यत्सुदसि भक्षयन्ति तुन्मनुष्येषु जुहोति तुस्मा-
न्मनुष्याः सन्त्युथ युद्विद्वानयोर्नाराशः साः सूदन्ति
तुत्पितृषु जुहोति तुस्मात्पितुरः सन्ति ॥ २५ ॥

या वै प्रजा यज्ञेऽनन्वाभक्ताः । पुराभूता वै ता एव
मुवैतद्या इमाः प्रजा अपराभूतास्ता यज्ञ ऽआभजति
मनुष्यानुनु पशवो देवानुनु वृयाः स्योपधयो वृन-

* 'जिह्वा'—इति क, हा०—वेवरेणाप्येव दृष्ट ।

† 'ते'—इति म, घ ।

स्पृतयो यदिदं किञ्चैव मु तत्सुर्वं यज्ञ आभक्तं ते ह
 स्मैतु ऽउभये देवमनुष्याः पितरः सुम्पिवन्ते सैषा
 सम्पा ते ह स्म दृश्यमाना एव पुरा सुम्पिवन्त ऽतैतर्ह्य-
 दृश्यमानाः ॥ २६ ॥ १ ॥

॥ इति पञ्चमप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् [६. २.] ॥

धिष्ण्यपदार्थविधानार्थं^१ माह्यायिका माह— “विजामानो
 देवास्तेत्यादिना । ये ‘धिष्ण्याः’, ते ‘अस्य’ यज्ञस्य ‘विजामानः’
 भ्रातरः, बान्धवाः । कुत इत्यत आह— ‘इमे’ ‘समङ्गाः’ समान-
 चिह्नाः, यत एव भर्ता विजामान इत्यर्थः । समानचिह्नानां
 भ्रातृत्वे ध्याप्तिं दर्शयति— ‘ये वै समङ्गास्ते विजामान इति ।
 ‘एत उ’ एते खलु ‘अस्य’ यज्ञस्य ‘आत्मानः’^२, अतो विजामान
 इत्येतदुपपन्नम् । तस्मात् सोमयागे धिष्ण्याः^३ कर्त्तव्या इत्यर्थः ॥ १ ॥

सूत्रवेनोक्तं विग्रहयितु माह— “दिवि वै सोम आसीदपेह
 देवा इत्यादिना । ‘इह’ भूलोके ‘त एते माये’ वस्तुतो अतथा-
 भूते । सुपर्णीकद्रुस्तयोः किं वास्तवं रूप मिति तद्दर्शयति—
 “वागेव सुपर्णीयं कद्रूरिति । ‘समदं चक्रुः’ परस्परं कलह मुद-
 पादयन् ॥ १ ॥

१— ‘धिष्ण्योपधानपदार्थविधानार्थ’—इति क ।

२— ‘यत्वार’—इति क ।

३— पुरस्तात् १७६ पृ ३ टीप्पनी दृष्टव्या ।

“ते हर्त्तीयमान इति । ‘चर्तीयमाने परस्पर कलहायमाने ।
 ‘चर्ति’ सौचो धातु^१ । ‘ऊचतु’ । कथम् ? ‘नौ’ आवयोर्मध्ये
 ‘यतरा’ ‘दवीय’ अत्यन्त दूर ‘परापश्चात्’ पश्येत । सा’ दूर-
 दर्शिनी सुपर्णी दूरम् ‘ईक्ष्व’-इति’ ‘उवाच ॥ २ ॥

“सा हेति । सा’ दूर पश्यन्ती ‘सुपर्णी’ ‘उवाच’ । कि
 मिति, उच्यते— “अस्य सलिलस्य पारे अथ श्वेत स्थाणौ शेवते,
 त मह पश्यामि इति” । अस्यार्थं श्रुतिरेवाविष्करिष्यति । ‘त मेव’
 मया दृष्ट श्वेताश्च मेव हे कद्रु ।^२ ‘त्वम्’ अपि ‘पश्यसि’—‘इति’,
 न तु ततोऽतिरिक्तम् । सा ‘कद्रू’ दूर विलोक्य ‘त हि’—इति’
 ‘उवाच’ । त मय खलु त्व पश्यसीत्यर्थं । ततोऽधिक मपि दृष्ट्वा
 कद्रू पुनर्ब्रूते । कि मिति, उच्यते— “तस्य वासो न्यपञ्चि, त
 ममु वातो धूनोति, त मह पश्यामि इति” । ‘वास’ पुच्छ
 ‘न्यपञ्चि स्थाणौ निषक्त मभूत्, ‘त वास वात’ वायु ‘धूनोति’
 कल्पयति । ४ ॥

सुपर्णमिहितस्य अस्य सलिलस्येत्यादेस्तात्पर्यं श्रुतिरेवाह—
 ‘सा यत् सुपर्णुवाचेति । अस्य सलिलस्येत्यादि । ‘सलिल’
 सागरादिमन्त्रं यथा अनतिलङ्घ्यं भवति एव वेदिरपीति
 सलिलत्वेन निरूप्यते । अग्रे शुक्रभास्वरत्वात् सर्वांगनत्वाच्च श्वेत
 रूपत्वम् । यूपस्य स्थाणुल तु साचादेव । कद्रु यदुक्त तस्य वास
 इत्यादिकम् तदभिप्रायं दर्शयति— अथ यत् कद्रूरित्यादिना ।

१— पा० सु० ३ १ २६ द्रष्टव्यम् ।

२— “कद्रूकमश्वज्योष्कन्दसि”—इति पा० सु० ४ १ ०१ ।

“रगना हैव सेति । वासवदतिदैर्घ्याद्युपवेष्टिता रगना वाल
मित्युच्यते ॥ ५ ॥

“सा ह सुपर्णवाचेति । “सा ह कद्रूरित्यादि । सुपर्णा श्वेता-
यादेर्दर्शनार्थं माह्वता कद्रूः, सुपर्णी-खट्वष्टस्य वासस्य सुसिद्धत्वात्
‘व मेव’ दृष्टावयोः कस्या जय इति ब्रूहीत्यर्थः ॥ ६ ॥

“सा ह सुपर्णी पपातेति । एव सुक्ता सुपर्णी गत्वा कद्रून्
वासव मवगत्य पुनः ‘आगतां’ ‘तां’ सुपर्णी कद्रूः ‘उवाच’—
“त मजैषीरहाह मिति” । प्रश्ने कृतिः^१ । तथा दृष्टा सुपर्णी
‘त मजैषीः’—‘इति’ उवाच । विहितस्याख्यानस्य प्रसिद्धत्वाविष्कर-
णाय नाम करोति— “एतच्छाख्यान मिति । ‘एतत्’ “दिवि वै
सोम आसीदित्यादि, “होवाचेत्येतदन्त मित्यर्थः^२ ॥ ७ ॥

“सा ह कद्रूवाचेति । पराजितया सुपर्णा गायत्र्यादि-
च्छन्दांसि सृष्ट्वा गायत्र्या दिवि स्थितं सोम माह्वत्य देवेभ्यः
सकाशात् आत्मनिष्कयणं कृत मित्यर्थः “सा ह कद्रूवाच
आत्मानं वै त्वाजैष मित्यादिभोक्तः ॥ ८ ॥

“सा गायत्री दिवः सोम माहरत्”—इति यत् सङ्ग्रहेणोक्तम्,
तद् विस्पष्टयति— “हिरण्यस्योर्ध्वं कुग्रोरित्यादिना । ‘हिरण्यस्योः

१— मा० सू० ८. २. १०० ।

२— द्वितीयकाण्डोक्तं सप्तमकण्ठान्तं मिति यावत् । श्वे० ब्रा० ३. २. १, २,
६. १. ६ उपोष्यपि दृश्यम् । “इयं वै कद्रूरसौ सुपर्णी कन्दासि
सौपर्ण्येया”—इत्यादि च तै० सं० ६. १. ६ १ । महाभारतेऽप्यादि-
पर्वण्येषा कथा संहिता, तथा भागवतेऽपि ६. ६. २१ ।

कुशोः आयुधयोः 'अन्नः' 'अवहितः' आच्छद्यः भोमी ऽभूत् ।
 "जानपद इत्यादिना अयोविकारार्थान् कुशशब्दात् ङीप् । 'ते'
 कुशौ 'चुरपवी' चुरधारे इव' तौच्छणाय 'निमेषं-निमेष' सर्वदे-
 त्यर्थः । 'अभिसन्धत्तः' यथान्यो नापहरेदेवं रचत इत्यर्थः । कुशो-
 र्वास्तवस्वरूपमाह— "दौघातपसायिति । "त मेते गन्धर्वा इति ।
 'सोमरक्षाः' सोमरचकाः 'एते गन्धर्वाः' 'तं' सोमं 'जुगुप्तुः' । ते
 के ? ये 'इमे' सदमि वर्त्तमानाः 'धिष्यन्ताः', ('इमाः होचकाः')
 इमे होचकाः, होत्वर्जमैवावरुणादयः^१ ॥ ८ ॥

"तथोरन्यतरां कुशौ माचिष्वेदेति । गायत्री 'तां' द्वित्या च
 'देवेभ्यः' 'प्रददौ' । 'तथा देवा अदौघन्त' ॥ १० ॥

"अथ द्वितीया मिति । गायत्र्या द्विजा द्वितीया कुशौ
 देवेभ्यो दत्ता, सा तपोनामोपसद इत्याह— "तपो द्युपसद
 इति ॥ ११ ॥

१— पा० सू० ४. १. ४२ ।

२— नाम्येनत् यदं छ-पुस्तके ।

३— "होत्राग्रव्यं स्त्रीलिङ्गोऽपि पुवधान् होत्रकामभिधत्ते"— इति ऐ०
 ब्रा० ६ प० ३५० ६ क० सा० भा० । "होत्रकाणां— मैत्रावरुण-
 ब्राह्मणार्धन्यश्वावावाताम्"— इति ऐ० ब्रा० ६. ०. ५ सा० भा० ।
 "मुख्यवर्जिता दादग्रभिर्ज्ञो होत्रका"— इति आश्व० श्रौ० सू०
 १. २. २६ ८० । इति परिभाषया प्रतिवेदं त्रयो होत्रका भवन्ति ;
 पशुर्षु वेदेषु चतुर्णां होत्रभर्तृद्वाष्टमष्टाष्टी मुख्यत्वान् । आश्व० श्रौ०
 ४. १. ३ सूत्राणि द्रष्टव्यानि ।

“खदिरेण हेति । सोमाहरणसमये खदिरस्थातिमारत्वात् तं
साधनं कृत्वा सोमं भक्षितवती, अतः खादनसाधनत्वात् खदिर
इति नाम सम्पन्नम् । अतः खदिरस्य सोमाहरणोपयोगात् सोमयागे
यूपः स्फुट्य खादिरौ कर्त्तव्यौ । ‘अच्छावाकस्य’ ‘गोपनायाम्’ । होत्र-
काणां मेव सोमरक्षकगन्धर्वरूपत्वात् अच्छावाकाख्यो होत्रका यदा
सोमरक्षकेषु मध्ये रक्षितवान्, तदा गायत्री ‘जहार’ ; अतः
‘अच्छावाकः’ ‘अहीयत’ हीनो निरुद्धोऽभूत् । अतएवेतरहोत्रकावत्
प्रथमत एव सदःप्रवेश मपि [न] समालमत ॥ १९ ॥

“त मिन्द्राग्नी इति । ‘तं’ हीन मच्छावाकम्, ‘इन्द्राग्नी’
ऐन्द्राग्रस्तपाठेन सन्तुष्टौ, ‘अनुसमतस्तुताम्’ सन्तान मनुप्रवेश
मकुर्वताम् । अतः ‘अच्छावाकः’ ‘ऐन्द्राग्रः’ इन्द्राग्निदेवताकः ।
तथा चोत्तरं अच्छावाकसोमकाले आवास्यते— “अहीयत वा
अच्छावाकस्त मिन्द्राग्नी”—इत्यादिना ॥ १२ ॥

“तस्माद् दीक्षिता राजान मित्यादि, औपोद्वातिकं वाक्यम् ।
स्पष्टम् । ‘अपहरान्’ अपहरेयुः ॥ १४ ॥ ॥ १५ ॥

सोमाहरणप्रसङ्गात् सुपर्णी-दृष्टान्तमुखेन मृत्युभयपरिहाराय
सोमयागस्यावश्यकर्त्तव्यता माह— “अणं ह वै पुरुषो जायमान एव
मृत्योरात्मना जायत इत्यादिना । ‘जायमान एव मृत्योः’ अण-
भावे जनन मेवोपाधिरित्यर्थः । इदं मृणं प्राप्तिमाच्यवदन्यत

१— ‘अच्छावाकसमसोमकाले’—इति छ ।

२— उपरिष्ठाद् (४ २. १. १, २.) दृश्यम् ।

आयात न भवति, किन्तु स्वत एवायात मित्येव मर्थं माह—
'आत्मना'—इति ॥ १६ ॥

“तेन देवा अयजन्तेत्यादि । ‘तेन’ गायत्र्याहतेन । “अनु नो
यज्ञ आ भजतेति । ‘न’ अस्मानपि अस्मिन् ‘यज्ञे’ ‘अन्वाभजत’
अन्वाभाजयत, हविर्भागयुक्तान् युष्मानस्मानपि भागिन. कुरुत ।
उक्तवैपरीत्यप्रतिषेध — “मा नो यज्ञादिति । ‘अन्तर्गता’ अन्त-
रितान् मा काष्टं । “इषो गा लुडि”—इति^१ गादेश्चे, “गातिस्था”
—इति^२ षिचो लुक् ॥ १७ ॥ ॥ १८ ॥

“तथेतीति । “सोमकयणा व इतीति । सोम क्रीयते
यैगन्धर्वादिभि, ते ‘सोमकयणा’, ‘व’ युष्माक ‘तान्’ भागान्
एतस्मिन् सोमकयणकाले ‘एभ्य’ गन्धर्वेभ्य, धिष्यन्त्यरूपेणावस्थितेभ्य
‘अनुदिशति’ अनुदिशेत्, एते युष्मभ्य भागा इति ब्रूयात् । ‘एत्या’
एतमाध्या, ‘सा’ ‘द्वतीयमश्ने’ युष्मान् ‘प्राप्स्यति’, ‘न सोम्या’, ‘अपदतो
हि युष्मसोमपीथ’ इति । पातव्य सोम ‘सोमपीथ’ सोमस्यापदत-
त्वादित्यर्थ । “यच्छालाकैर्धिष्यन् व्याधारयतीति । ‘यद्’ यथा
आहुत्या ‘शालाकै’ दणममुहै विद्वतान् ‘धिष्यन्’ इतेन
‘व्याधारयति’ मैषा इतेति ॥ १८ ॥

“अथ यद्गो होय्यन्तीति । ‘अथ’ प्रदीपनानन्तरम्, ‘अग्नी’
प्रदीप्ते, अग्निस्वित्यर्थ । ‘होय्यन्ति’, ‘तद्’ आष्य ‘व’ युष्मान् ‘अवि-

यति' तर्पयिष्यति 'इति' देववाक्यम् । तच्चात्पथं श्रुतिः स्वय मेव दर्शयति— "स यद्गमौ जुहुतीति । तर्हि सोमाहुतिः कथं लभ्यत इति तत्राह— "अथ यद् वः सोमं विभ्रत उपर्युपरि चरिष्यन्ति, तद् वोऽविष्यतीति । स्पष्ट मन्यत् । सोमधारकस्याध्वर्योर्धिष्याति-क्रमं प्रसक्तं निषेधति— "तस्मादध्वर्युः समया धिष्येत्प्रातौधा-दिति । "त मेते व्यात्तेन प्रत्यासत इत्यादि । 'तम्' अध्वर्युम् 'एते' सोमरक्षकाः धिष्येताग्रयः 'व्यात्तेन' विवृतेनास्तेनोपलब्धिताः सन्तः, प्रतीक्ष्य निवसन्ति । 'सः' अपि धिष्येताग्रयानतिक्रामन् 'एतेषां' 'व्यात्तं' विवृतं मुखं प्रविशेत् । प्रवेशे का हानिरित्यत आह— "त मग्निर्वाभिदधेद् यो वायं देवः पशूना मिति । "स वा हैन मभि मन्तेतेति । अभिमानो हिंसेच्छा । तर्हि सञ्चारेऽपेक्षिते क उपाय इति तं दर्शयति— "तस्माद् यद्यध्वर्योः शालाया मिति । 'यदि' 'अर्थः स्यात् शालायां' प्रामांशे प्रयोजनं भवेत् ॥ २० ॥

धिष्येतानां सोमरक्षकान् मभिधातुं सर्वेषां तद्रक्षकान् माह—
"ते वा एते सोमस्यैवेति ॥ २१ ॥

सर्वेषां सोमरक्षकान् समाने सदोगतानां धिष्येतानां निव कथ मितरेषा अनुदेशनं नास्तीत्याह— "तेषां वा अर्द्धानुपकिरन्त्यर्द्धा-ननुदिशन्तीत्यादिना । अनुदेशो नाम विद्यमानपदार्थ एवं भव-तीति निर्देशः । अत एवाहवनीयादौ तत्तद्गन्धर्वात्मना "सम्प्राडधि कृणानुः"—^१इत्याद्यनुदेशः क्रियते । अर्द्धा धिष्येताः कर्त्तव्याः, केचन

अनुदेश्या इति विधिरुच्यते^१ । द्वैतस्य कारण माह— “तथा यस्मादिति । ‘तथा’ सति, धिष्यन्निवापाभावे सति यल्लोक पूर्व मवस्थितं द्युलोकं ‘प्रति प्रज्ञास्याम’ जानीम इति, “तथा न जिह्वा एष्याम इतीति । द्युलोकं सर्वथा परित्यज्य भूमौ कृतनिवासानां पुनर्धुंगमने सति जिह्वाता स्यात् । सर्वथा केवलं अनुदेशने भूलोके प्रत्यक्षता न स्यात् । अत उभयार्थं मुभयथाकारणम् ॥ २९, ३० ॥

यथा स्थानद्वैविध्यम्, एव नामद्वैविध्यं सपि, तत्तु सङ्केतपूर्वकं मित्याह— “ते वै दिनामानो भवन्त्येत उ द्वैतद्विधिर इति । नामान्तरधारणविषये सति चक्रुरित्यर्थः । पूर्वेषां नाद्या मपरितोषे कारण माह—“न वा एभिर्नामभिररात्तेति । ‘न अरात्स’ सङ्ख्या न भवामि । ‘येषां मित्यादि स्पष्टम् । “विभुरसि प्रवाहण”^२— इत्याद्यान्युपस्थानमन्त्रेषु प्रतिपादितामि दिनामानि । द्वितीयनाम्ना प्राप्तां सङ्ख्यं दर्शयति— “यानपद्यतमोगपीथान्क्षतोऽयं यज्ञ आग-
जन्निति । यज्ञभागान्तु “द्वितीयमवने वो एत्याहुति प्राप्यती-
त्युक्तं मित्यर्थः” ॥ २४ ॥

अथ प्रसङ्गात् सोमयागं देवमनुष्यपितृद्वारेण सर्वजगत्स्थिति-
हेतुरिति प्रशंसति— ‘स यदग्नौ जुहोतीति । अग्नौ तत्तद्देवोद्देशेन
सोम एव सर्वदेवेषु होमो भवति । ‘तस्मात्’ यज्ञभागान्नाभात्

१— “यद्वैतं न मन्त्रं वाचसनेयिनः समामनन्ति, यद्वैतं मन्त्रोक्तोक्तमे
प्रचर्योपसन्तौ—इति व्याप० आ० सू० ११ १४ ७ ।

२— वा० श० ३ २१ १ । ३— द्रुमन्तात् (१६३ ए० ३० य०) दृष्टम् ।

‘देवाः’ ‘सन्ति’ आत्मानं लभन्ते; इदानीं मपि ‘अपराभूताः’
अविनष्टा वर्तन्त इत्यर्थः। एवं मनुष्यपितृवाक्ये अपि धोव्ये।
“अथ यद्विविद्भानयोर्नाराशंसाः सौदन्ति, तत् पितृषु जुहो-
तीति। इविविद्भानशकटस्य दक्षिणभागे चमसेषु^१ ये सोमा ऊता-
वशिष्टा भक्षिताः पुनराय्यायिताश्च वर्तन्ते, ते नाराशंसाः, तेन
पितृदेवतयाः। तत्र स्थापनेषु पितृषु जुहोति ॥ २५ ॥

“या वै प्रजा इति। ‘या वै प्रजाः’ देवपितृमनुष्यव्यतिरिक्ताः,
असुररक्षःप्रभृतिकाः, ‘ताः’ ‘पराभूताः’ विनष्टा अभवन्। याप्येवं
पूर्वं मासीत् परमा च। ‘एतद्’ इदानीं मपि, ‘अपराभूताः’
‘याः’ सन्ति, ‘ताः’ देवाद्याः ‘यज्ञे’ ‘आभजति’। अस्तु तेषां यज्ञ-
भागः, तदितरेषां पशुपक्षिप्रभृतीनां कथं यज्ञेऽनुप्रवेश इति,
तत्प्रकारं माह— “मनुष्यामनुपशव इति। वयमा मन्तरिक्षसञ्चार-
सान्येन देवानुप्रवेशाभिधानम्; ओषध्यादीनां रक्षकाभावेन देवा-
धीना स्थितिः। “उभये देवमनुष्याः पितरः इति। देवमनुष्य
एको राशिः, पितरस्यैकः, द्वैराश्यं मापन्ना उभयेऽपि ‘सम्पिबन्ते’
साहित्येनैकीभावेन पानं कुर्वन्ति। ‘सैषा’ ‘सम्पा’ सह पीतिः।
“आतश्चोपमर्गे”-इति^२ भावे अङ्। प्रथमं देवैरग्निमुखेन पानम्,

१— “अथ यद्यमसो देवमानस्तस्मिन् देवा ध्यमता मादयन्ते”-इति ऋ०
सं० १०. १६. ८। “द्यौदुम्बरेण चमसेन धनुं सस्त्रिणा”-इति चैत्र-
शोपनिषत् (७. २. ११. २) आम्नास्यते।

२— पा० सू० १. १ १०६।

पश्यान्मनुयै सदसि शेषपानम्, पश्चान्नारागसेन पितृणाम्
इत्येवरूपानुसन्धेयेत्यर्थः । तेषां मागमनं तेन न दृश्यते, कुत
सहपानं मिति, तच्चाह— ‘ते ह स्म दृश्यमाना एवेति’ ॥ १६ ॥
१ [६ २] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

तृतीयकाण्डे षष्ठाध्याये द्वितीय ब्राह्मणम् ॥

[अथ तृतीय ब्राह्मणम्]

सुर्वं वा ऽप्योऽभि दीक्षते । यो दीक्षते यज्ञः स्रग्ध्रि
दीक्षते यज्ञः स्रग्ध्रि वेदः सुर्वं मनु तुं यज्ञः सम्भृत्य यु
मिमु मभि दीक्षते सुर्वं मिदं व्विस्तृजते ॥ १ ॥

युदैसर्जिनुनि जुहोति । स युदिदं सुर्वं व्विस्तृजते

१— ‘सिष्णान् निवपति’—इत्यादीनि का० श्रौ० सूत्राणीष्ट समीक्षित
तथ्यानि (८ ६ १५-२२) । “वात्वालाद्विष्णुशानुवपति—इत्या
दीनि षाष० श्रौ० ११ १४ १-६ सूत्राणि चैवमर्थज्ञानि ।

तद् वैसर्जिनानि* नाम तुस्माद्योऽपि व्रतः स्यात्सो-
रमेत युद्धुऽन्यत्र चरेद्वाद्विद्येत यद्वै जुहोति
वेदः सुर्वं विवृजते ॥ २ ॥

युद्धेव वैसर्जिनानि जुहोति । यज्ञो वै विष्णुः सु-
भ्य इमां विवृणोति विवृणोति यैषा मियं विवृणोति-
मेव प्रथमेन पदेन पस्पारायेदु मन्तुरिष्टं द्वितीयेन
व मुत्तमेनैताम्बुवैषु एतस्मै विष्णुर्यज्ञो विवृणोति
क्रमते युज्जुहोति तुस्माद्वैसर्जिनानि जुहोति† ॥ ३ ॥

सोऽपराह्णे वेदिः स्तुतीर्त्वा । अर्द्धव्रतं प्रद्वाय सम्भु-
त इध्मु मभ्यादधत्युपयुमनीरुपकल्पयन्त्याज्य मुधि-
प्रति सुचः सुमार्घ्यपुस्ये राजानं युजमानः कुरुतेऽयं
मक्रयण्यै पदुं जघुनेन गार्हपत्यं पुरिकिरति पदा वै
तितिष्ठति प्रतिष्ठित्या एव‡ ॥ ४ ॥

तद्वैके । चतुर्धा कुर्वन्ति युवाहवनीय मुहुरन्ति
रूपयुमनीषु चतुर्भागं मुक्षं चतुर्भागेणोपाञ्जन्त्ये-
रूपयुमनीषु चतुर्भागं जघुनेन गार्हपत्यं चतुर्भागं
रिकिरति ॥ ५ ॥

* 'वैसर्जिनानि'-इति स्यात् सायणसम्मतः । एव मिहोतरादि ।

भाष्यं (३८३ पृ० ६ पं०) दृश्यम् ।

† 'ति'-इति ग, घ ।

‡ 'व'-इति ग, घ ।

तदु तथा नु कुर्यात् । सार्द्धं मेव पुरिकिरेज्जघ-
नेन गार्हपत्यं मथोत्पूयाज्यं चतुर्गृहीते जुह्वां चोपभृति
च गृह्णाति पञ्चगृहीतुं पृषदाज्यं ज्योतिरसि विश्व-
रूपं विश्वेषां देवानां समिदिति विश्वदेवः हि पृष-
दाज्यं धारयन्ति सुचो यदा प्रदीप्त इध्मो भवति ॥ ६ ॥

अथ जुहोति । त्वः सोम तनूकृद्भ्यो द्वेपोभ्योऽन्य-
क्षतेभ्य उरु युन्तासि व्वरूयः स्वाहेति तुदेतेनैवास्यां
पृथिव्यां प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठत्येतेनेमं लोकः स्पृणुते* ॥ ७ ॥

अथाप्तुवे द्वितीया माहुतिं जुहोति । जुपाणोऽअप्तु-
राज्यस्य वेतु स्वाहेत्येष उ हैवैतदुवाच रुक्षोभ्यो व्वै
विभेमि युथा मान्तरा नाद्रा रुक्षाःसि नु हिनुसन्नेवं
मा कुनीयाःस मेव व्वधात्† हत्वातिनयत स्तोको मेव
स्तोको ह्यप्तुरिति तु मेतत् कुनीयाःस मेव व्वधात्
हत्वात्यनयन्स्तोको मेव स्तोको ह्यप्तू रुक्षोभ्यो भीषा
तुस्मादप्तुवे द्वितीया माहुतिं जुहोति ॥ ८ ॥

उयच्छन्तीधम्‡ । उपयच्छन्त्युपयुमनीरुयाहामुये

* 'ते'—इति ग, घ ।

† 'व्वधात्'—इति पवर्गीयादिपाठ इह, उत्तरत्र घ सर्वत्र ग घ पुस्तकयोः ।

‡ 'धम्'—इति ग, घ ।

प्रहियुमाणायानुब्रूहि सोमाय प्रणीयमानायेति वामुये
प्रहियुमाणायानुब्रूहीति त्वेव ब्रूयात् ॥ ९ ॥

आददते ग्रावणः । द्रोणकलशं व्यायव्यानीधुं कार्पूर्य-
सयान् परिधीनाश्ववालं प्रस्तरु मैष्ठुब्धौ विधृती*
तदर्हिरुपसुन्नडं भवति वपाश्रुपण्यौ रशने ऽअरुणी
ऽअधिसुन्यनः शुक्लो व्युपणौ तुत्समादाय प्राञ्च
आयन्ति सु एषु ऊर्ध्वो यच्च एति ॥ १० ॥

तदायुत्सु व्याचयति । अग्ने नय सुपथा राये ऽअस्मा-
न्विश्वानि देव व्युनानि विद्वान्† । युयोध्यस्मज्जुहुराण
सेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेमेत्यग्निं मेवैतत्पुरु-
स्तात्करोत्यग्निः पुरुस्तान्नाम्ना रुक्षाः स्वपद्मनेत्यशुभये-
नानाम्नेण हरन्ति त ऽआयन्त्यागच्छन्त्याग्नीध्रं त माम्नीध्रे
निदधाति ॥ ११ ॥

स निहिते जुहोति । अयं नो ऽअग्निर्व्वरिवस्त्रणीत्वयं
मृधः पुरु एतु प्रभिन्दुन् । अयं व्याजान् जयतु‡ व्याज-
सातावयः शूचून् जयतुॴ जुर्हयाणः स्वाहेति तुदेते-

* 'विधृती'-इति ग, घ ।

† 'विद्वान्'-इति ग, घ ।

‡ 'व्याजान् जयतु'-इति क, ख ।

ॴ 'मृधं जयतु'-इति घ, ख ।

नैवैतस्मिन्नन्तरिक्षे प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठत्येतेनैतुंल्लोकः*
 स्पृणुते ॥ १२ ॥

तुदेव निदधति ग्राव्णः । द्रोणकलशं व्यायुव्यान्
 यथेतर मादायायन्ति तदुत्तरेणाहवनीय मुपसाद-
 यन्ति ॥ १३ ॥

प्रोक्षणीरध्वर्युरादत्ते । सु इधु मेवाग्रे प्रोक्षत्युध
 वेदि मुयास्मै बर्हिः प्रयच्छन्ति तुत्पुरुस्ताद्वन्थ्यासाद-
 यति तत्प्रोक्ष्योपनिनीय विस्रुस्य ग्रन्थि माश्ववालः
 प्रस्तरु उपसुन्नहो भवति तुं गृह्णाति गृहीत्वा प्रस्तरु
 मेकवृद्धिं स्तृणाति स्तीर्त्वा बर्हिः कार्पर्यमुयान् परि-
 धीन् पुरिदधाति परिधाय परिधीन्त्समिधावभ्या-
 दधात्यभ्याधाय समिधौ ॥ १४ ॥

अथ जुहोति । उरु व्विष्णो व्विक्रमस्वोरु शुयाय
 नत्कृधि । घृतं घृतयोने पिव प्र यज्ञुपतिं तिर स्वाहेति
 तुदेतेनैवैतस्यां दिशि प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठत्येतेनैतुं
 लोकः स्पृणुते युदेतया जुहोति ॥ १५ ॥

युदेव वैष्णव्यर्चा जुहोति । कुनीयाः सं वा ऽएन मेतु-
 दधात् कृत्वात्यनैषु स्तोक मेव स्तोको ह्यस्तु मेतदुभयं

प्राप्य यु एवैष तं करोति यन्नु मेव यज्ञो हि विष्णु-
स्तस्माद्वैष्णव्यर्चा जुहोति ॥ १६ ॥

अथासुद्य सुचः । अपु उपस्पृश्य राजानं प्रपा-
दयति तद्युदासुद्य सुचो ऽपु उपस्पृश्य राजानं प्रपादु-
यति वृज्जो वा ऽआज्यः रेतः सोमो नेहुज्जेणाज्येन रेतः
सोमः हिनुसानूति तस्मादासुद्य सुचो ऽपु उपस्पृश्य
राजानं प्रपादयति ॥ १७ ॥

स दुक्षिणस्य हविर्दानस्य नीडे क्षणाजिन मास्तु-
णाति । तुदेन मासादयति देव सवितरेषु ते सोमस्तुऽ
रक्षस्व मा त्वा दभन्ति तुदेनं देवायैव सवित्रे परि-
ददाति गुह्यै ॥ १८ ॥

अथानुस्तज्योपतिष्ठते । एतत् त्वं देव सोम देवो
देवांर॥ऽउपागा* इदु महं मनुष्यान्तसहु रायस्योपेणे-
त्यग्नीषोमौ वा ऽएतु मन्तर्जम्भा ऽआदधाते यो दूक्षत
ऽआग्नावैष्णवः ह्यदो दीक्षणीयः हविर्भवति यो वै
विष्णुः सोमः सु हविर्वा ऽएषु देवानां भवति यो दूक्षते
तुदेन मन्तर्जम्भा ऽआदधाते तत्प्रत्यक्षः सोमान्निर्मुच्यते
यदाहैतत् त्वं देव सोम देवो देवांर॥ऽउपागा इदु महं

* 'देवांरऽउपागा'-इति क, ए । एव मुत्तत्र च ।

† 'मन्तर्जम्भ'-इति च पाठभेदेन सोक्षतम् आ० वे० । एव मुत्तत्र च ।

मनुष्यान्सह रायस्योषेणेति भूमा वै रायस्योपः सह
भूमेत्येवैतदाह ॥ १९ ॥

अथोपनिष्क्रामति । स्वाहा निर्व्वरुणस्य पाशान्मुच्य
इति व्वरुणपाशे वा ऽण्यो ऽन्तुभवति योऽन्यस्यासंस्तु-
त्प्रत्यक्षं व्वरुणपाशान्निर्मुच्यते यदाह स्वाहा निर्व्वरुणस्य
पाशान्मुच्य इति* ॥ २० ॥

अथेत्याहवनीये समिध मभ्यादधाति । अग्ने व्रत-
पास्त्वे व्रतपा इत्यग्निर्हि देवानां व्रतपतिस्तुस्मादाहुर्मे
व्रतपास्त्वे व्रतपा इति या तुव तनूर्मय्युभूदेपा सा त्वयि
यो मुम तनूर्मय्युभूदियः सा मुयि । यथायथं नौ व्रत-
पते व्रतान्यनु मे दीक्षां दीक्षापतिरुमःस्तानु तुपस्तुप-
स्पतिरिति तुप्रत्यक्ष मग्नेर्निर्मुच्यते स स्वेन सुतात्मना
यजते तुस्मादस्यावाश्रन्ति मानुषो हि भुवति तुस्मा-
दस्याव नाम गृह्णन्ति मानुषो हि भुवत्यथ युत्पुरा-
नाश्रन्ति युथा हविषो ऽहुतस्य नाश्रीयादेवं तत्तुस्मा-
दीक्षितस्य नाश्रीयादथावाङ्गुलीर्व्विस्तृजते ॥ २१ ॥ २ ॥

॥ इति पञ्चमप्रपाठके द्वितीयं ब्राह्मणम् [६. ३.] ॥

वैसर्जनीयानि विधातु माह—“सर्वं वा एषोऽभि दीक्षत इति । यो दीक्षते एष इति सम्वन्धः । कथं सर्वं मभीति, तत्राह—“यज्ञं ह्यभिदीक्षत इति । यज्ञस्य कथं सर्वत्व मिति, तत्राह—“यज्ञं ह्येवेद सर्वं मन्विति । ‘इदं सर्वं’ ‘यज्ञम्’ ‘अनु’सृत्य उत्पन्नम्, कर्मफलं वा सर्वस्य जगतः । ‘य मिमं’ सर्वं भूतं ‘यज्ञम्’ ‘अभि’-लक्ष्य ‘दीक्षते’, ‘तं’ यज्ञं ‘समृत्य’ वैसर्जनहोमान्तं प्राचीनं मङ्ग-जातं कृत्वेत्यर्थः । कृष्णाजिनमेखलादिकं तदिदं ‘सर्वं’ ‘विष्टजते’ । पूर्वं व्रतपरित्यागासम्भवात् होमानन्तरं व्रतपरित्यागः ॥ १ ॥

“यद् वैसर्जिमानि जुहोतीति । विषर्जनसाधनत्वाद् वैसर्जना-नीति^१ नाम सम्यक्त्वम् । ‘तस्माद्’ विषर्जनसम्बन्धित्वाद् ‘योऽपिप्रतः’ स्यात् व्रतं भोजनं, यजमानेन सह प्राप्तभोजनः स्याद्, बन्धुवर्गः स्यादित्यर्थः । “स मपिप्रतान् ऋयध्व मिति सम्येयति”—इत्यापस्तम्बे-नोक्तम्^२ । ‘सः’ यजमानः ‘अन्वारभेत’ । यद्यपि कश्चिद् ‘अन्यत्र’ देशान्तरे वर्त्तते, ‘तन्नाद्रियेत’; सर्वथाज्ञातस्य इति बुद्धिं न कुर्वात् । तथाच कात्यायनः— “अपिप्रतास्यान्वारभन्ते यजमानं वाससाच्छा-दयत्येनाश्चरन्तु नाद्रियेत”—इति^३ । ‘यद् वै’ यदेव जुहोति वैसर्ज-नानि, ‘तदेवेदं’ ‘सर्वं’ व्रतं ‘विष्टजते’ विषर्जयेत् ॥ २ ॥

१— तदेव ‘वैसर्जिमानि’—इतीकारमध्यं धर्तं न स्यात् सायणस्य ।

२— आप० श्रौ० सू० ११. १६ १२ ।

३— का० श्रौ० सू० ८. ६. ३६, ३७, ३८ । येषां यजमानव्रतेऽपि व्रतत्वं मलि, दायाद्येनाविभक्ता इति पिष्टभूति । अपिप्रता गोचरा इति

वा भवसि । ज्योतिर्विशेष्यते— “विश्वरूप मिति । वैचित्र्याद् विश्व-
रूपत्वम् । आज्यस्य साधारण्येन इतरद्रव्यवत् प्रतिनियतदैवतत्वा-
भावात् पृथदाज्य मपि विशेषा देवाना समिदित्युच्यते । अनेक-
द्रव्यात्मकत्वाद्वा वैश्वदेवत्वम्^१ ॥ ६ ॥

इदानीं समन्त्रक माहवनीये वैसर्जनहोम विधत्ते— “अथ
जुहोति त्व सोम तनूकृज्य इति^२ । जुह्वा व्यापृतत्वात् प्रचरण्या
होम^३ ।

मन्त्रस्याथ मयं— हे ‘सोम ।’ ‘त्व’ ‘तनूकृज्य’ तनू शरीर
कृन्तति तुन्दतीति तनूकृन्ति रक्षासि, दिवन्तीति देवासि, अन्ये
अस्मदिरोधिभिरभिचरद्भि कृतानि प्रेरितानि, तादृग्नेभ्यो निय-
न्तासि । यथा तादृगानि अस्मान् न बाधन्ते, तथा पालयसि ।
तस्मात् त्व मेवास्माकम् ‘उह’ प्रभृत ‘वह्य’ बलम् ‘असि’ । तस्मै
तुभ्य मिदं सुज्जत मस्तु ॥

तदेतेनेत्यादि । वैसर्जनाना लोकपयजयरूपत्वस्योक्तत्वात् गार्ह-
पत्यहोमं पृथिव्या प्रतिष्ठारूप । अस्या जायापत्ययोश्च प्रतिष्ठोपपद्यत
इति तदर्थं माह— “एतेनेम लोक सुणुत इति” ॥ ७ ॥

आहुत्यन्तर समन्त्रक विधत्ते— “अथाग्नवे दितीया माहुति

१— “ध्रुवाया पुरस्तात् पृथदाज्य दधिमित्र पक्षग्रहोत् ज्योतिरसोति
समिदन्ते”-इति का० श्रौ० सू० ५ ४ २६ ।

२— वा० सू० ५ २५ २ । ३— का० श्रौ० सू० ८ ० १ ।

४— “वैसर्जनानि जुहोति रक्षासा मयह्ये”-इत्यादि तै० सं० ६ १ २ ६ ।

मिति' । 'अप्सुः' सूक्ष्मरूपः सोमः । सः 'अप्सुः', आज्यस्य 'जुषणः' प्रीयमाणः 'वेतु' भक्षयतु आज्यम्, 'स्वाहा' सुजत मसु ॥

मन्त्रतात्पर्यं माह— "एष उ हैवेति । 'एषः' मन्त्रः एव, 'एतद्' वक्ष्यमाणम् 'उवाच' । एतच्छब्दार्थं माह— "रक्षोभ्यो वा इत्यादिना । "यथा मान्तरिति । प्रणयनकाले मध्यमार्गं गालामुखीयद्विविद्भानयोरन्तराले इत्यर्थः । "कनीयांस मेव बधात् क्वेति । रचःकृताद् 'बधात्' हेतोः 'कनीयांसं कृत्वा' । कनीयः-शब्दार्थं माह— "स्लोक मेवेति । "स्लोको क्षत्रुरित्यादि सष्टम् ॥ ८ ॥

"उचच्छन्तीध मिति' । "उपयच्छन्नुपयमनीरिति । इधा-धानोपयमनुपकम्पादीनां तु 'कृते' प्रदीप्तेभ्यगतम् अग्निम् 'उच-च्छन्ति' ऊर्द्धं धारयेत् । तदाधारेषु नीयमानाः शिकता अपि 'उपयच्छन्ति' अधो धारयेत् ।

अग्नीषोमप्रणयनप्रेषविषये विकल्पपक्षं निराकृत्य 'अग्नये प्रह्रिय-माणाय'-इति पक्षं सिद्धान्तयति— "अथाहामय इत्यादिना ॥ ८ ॥

१— का० श्रौ० सू० ८. ७. २ ।

२— तत्पाठस्तु— वा० सं० ५. १५. १ ।

३— इ०० पृष्ठार्थां ४ पङ्क्तितो दृश्यम् ।

४— ५ अ० २ ब्रा० १ क० (२८५, २८६ प०) दृश्यम् ।

५— का० श्रौ० सू० ८. ७. १, ४ ।

“आददते पाव्ण इत्यादि^१। ‘पाव्ण’ सोमाभिषवार्थान्
पाषाणान्^२। ‘द्रोणकलश’ सोमाधार, ग्रभृत पात्रविशेष^३।
‘वायथ्यान्’ यद्वा^४, वायुदेवत्यानि सोमपात्राणि^५। “पाव्णो
वायथ्यानि”—इत्यादि श्रुतेरेव^६ पात्राणां वायथ्यत्वम्। ‘इधम्’^७।
कार्त्तर्यपरिध्याद्या^८ पश्या^९। “तद्वर्धिरुपसन्नद्ध भवतीति”^{१०}।
आतिथ्याया मासीर्षं मित्यर्थं, “यदातिथ्याया वर्धिरुपसदस,
तदाम्रीपोमीयस्य”—इति श्रुते^{११}। ‘वपात्रपण्यौ’ पशुवपात्रपण्यसाधने

१—‘आददते’ मन्त्रादाय यावद्द्रोणकलशसोमपात्राणीध्मचतुष्टयपक्ष
सम्राज वपात्रपण्यौ दृश्यते शकलवृत्तय मरणी च”—इति का० श्रौ०
सू० ८ ७ ५।

२—पक्ष यावाणोऽभिषवार्था पाषाणा ।

३—द्रुममयो वैकृत, यस्योपरिधारायद्वा गृह्यन्ते ।

४—‘वायथ्यानि यद्वा’—इति छ ।

५—श्व प्रहपात्राणि, दश चमसा, परित्त्वा, ऋतुपात्रे, उर्वापात्रे,
स्याल्यस्तस्य, पूतभृदाध्वनीयौ उदसन, सोमासन्दौ इत्येवमादीनि ।

६—तै० स० ६ २ २ १० ।

७—‘इधं विशतिकालकम्’—इति का० श्रौ० ८ ७ ५ सू० ४० ।

८—‘परिध्याद्या’—इत्येव छ ।

९—‘कार्त्तर्यमप्या परिधय’—इति का० श्रौ० सू० ८ १ १२। “कार्त्तर्यं
श्रीपर्णी, तन्मया’ इति तत्र या० दे० ।

१०—का० श्रौ० सू० ८ १ १५ इतिर्दृष्ट्या ।

११—ऐ० ब्रा० १ ४ ८ सा० भा० दृश्यम् । जै० सू० ४ २ २८, ३०
१४ अधिकरण मेतदिधारार्थक मेव । तत्रैव १२ १ ४२, ४२
१८ अधिकरण मपि ।

कार्त्तयशाखे । 'रश्ने' द्युपपत्त्यर्थे द्वे । 'अरणी' द्वे । 'अधिमन्दनः
गकलः' उत्तरारणेरधस्तात् स्थायः । 'दृषणौ' दृषणस्थानीयौ
दर्भौ । एतान् सोमार्थान् आग्नीषोमीयार्थांश्च 'समादाय' 'प्राञ्चः'
'आयन्ति' गच्छेयुः । "स एष ऊर्द्धो यज्ञ एतीति । अध्वर्यु-
प्रमुखैर्यज्ञाङ्गानां मुद्यमनाद् 'यज्ञः' एव 'ऊर्द्धः' एति' ऊर्द्धं गतो
भवति ॥ १० ॥

"तदायत्सु वाचयतीति" । तेषु सर्वेषु 'आयत्सु' "अग्ने नय"—
इति 'वाचयति' अध्वर्युः ।

तस्मात्त मयः ।— हे 'अग्नेः' । 'देव ।' 'नय' प्रापय 'अस्मान्'
'राये' धनार्थं 'सुपथा' शोभनेन मार्गेण । त्वं 'विद्वानि' 'वयुनानि'
मार्गान् 'विद्वान्' जानन् । किञ्च 'जुष्टराणं' कौटिञ्चम्, आचरतः
'एनः' पापं कुटिष्ठं चेत्युभयम् 'अस्मात्' अस्मात्तः 'युयोधि' पृथक्
कुरु । 'ते' तुभ्यं 'भूयिष्ठा' अतिप्रभृता 'नम उक्तिं' 'विधेम'
करामेति ॥

"अग्निं जेदेत्यादि । स्पष्टम् । "त आयन्तीति । प्राञ्चो गता
आगच्छेयुः । कुत्रागच्छेयुः ? आग्नीष मार्गच्छन्ति । भौमिरुवेदे-
दक्षरेण मार्गेणागतम् 'आग्नीष्टे निदधाति' तं प्रणीतमग्निम् ॥ ११ ॥

“स निहिते जुहोतीति । ‘स’ अध्वर्युं ‘निहिते’ अग्नौ स्थापिते । तत्र होममन्त्रोऽयम्— “अथ नो अग्निरिति” ।

तस्याय मर्थ ।—‘अयम्’ ‘अग्नि’ ‘न’ अस्माक ‘वरिव’ धन ‘क्षणोत्’ । तथा ‘अयम्’ एव ‘मृध’ सङ्गामान् ‘प्रभिन्दन्’ ‘पुर एतु’ । तथा ‘अय’ ‘वाजसातौ’ सङ्गामे ‘वाजान्’ ‘जयतु’ अस्मा-
दर्थम् । ‘अय’ ‘जर्हयाण’ पुन-पुन ह्वयन् ‘शूचून्’ जयतु ।
‘स्वाहा’ सुज्जत मस्त इद माज्यम् ॥

‘तदेतेनेत्यादि । आत्मासुखीयाग्नीध्रीथोत्तरवेदीना क्रमेण भूम्यादिलोकचयात्मकत्वात् ‘अन्तरिक्षे’ ‘सृणुते’ पासयति” ॥ १२ ॥

“तदेव निदधतीति” । स्थापयेद् यावादिकम् । ‘इतरम्’ इध्रवर्हिरादिकम्, अग्नीषोमीयार्थम् । “उत्तरेणाहवनीय सुपसाद-
यन्तीति” । उत्तरवेदिस्थस्यैवाहवनीयत्वात्तदुत्तर इत्यर्थ ॥ १३ ॥

“प्रोक्षणीरध्वर्युरादत्त इति” । प्रोक्षणीरादाय अध्वर्युरिध्र मेव पूर्वं प्रोक्षेत्” । ‘प्रोक्षणीरध्वर्युरादत्ते स इध्र मेव पूर्वं प्रोक्षती-
त्यादिना प्राकृत प्रयोग पुनरभिधीयते तत्र विशेषविधानार्थं प्रस्तर पृथक् गृहीत्वा वर्हिरेकावृष्टैव नृणीयात् । “खरोत्तरार्द्धे
एकवृत् स्तरण पश्चादोत्तरवेदे इति” हि सूत्रम् ॥ १४ ॥

१— आत्मातन्त्रयम्— वा० म० ५ ३० १ ।

२— का० श्रौ० सू० ८ ० १० । ३— का० श्रौ० सू० ८ ० ८ ।

४— का० श्रौ० सू० ८ ० १० । ५— का० श्रौ० सू० ८ ० ११ ।

६— का० श्रौ० सू० ८ ० १२ ।

७— का० श्रौ० सू० ८ ० १० १४ । एकवृत्— एकवृत्ति ।

“अथ जुहोतीति^१ । ‘अथ’ आधानसमिदाधानपर्यन्तं^२ पञ्चमं
मङ्गजातं कृत्वा, पश्चाद् वैसर्जनीयं होमं तुरीयं ‘जुहोति’, “उरु
विष्णो”—इति मन्त्रेण^३ ।

अयं मन्त्रार्थः ।—हे ‘विष्णो !’ यज्ञात्मक ! त्वम्, ‘उरु’ प्रभूतं
धुलोकपर्यन्तं ‘विक्रमस्व’ विक्रमणं कुरु । विक्रमणप्रयोजनं माह—
‘उघाय’ अस्माकं निवासाय ‘उरु’ विस्तीर्णं ‘क्षधि’ कुरुत ।
‘हतयोने’ अग्ने ! ‘हतं’ ऊतं ‘पिब’ । ‘यज्ञपतिं’ यजमानं ‘प्रतिर’
प्रपूर्वस्तिरतिर्वर्द्धने वर्धते । ‘स्वाहा’ सुऊतं मम ॥

“तदेतेनेत्यादि । पूर्ववत्” ॥ १५ ॥

मन्त्रस्य यद् वैष्णवत्वं प्राक् प्रतिपादितम्, तस्याल्पपरि-
हारेण स्थाभाविकरूपप्राप्तिरूपत्वेन प्रगंसति— “यदेव वैष्णव्यर्था
जुहोतीत्यादिना । “त मेतदभयं प्राप्य य एवैष तं करोतीति ।
‘एतत्’ एतेन, वैष्णवत्वकरणेन ‘अभयं’ नाशकरसोभयरहितं कृत्वा
‘एषः’ सोमः पूर्वं ‘य एव’ यादृग्यज्ञरूपः, ‘तं’ तादृरूपं ‘करोति’ ।
विष्णुत्वप्रापणेन कथं स्थाभाविकरूपप्राप्तिरिति तच्चाह— “यज्ञो
हि विष्णुरिति ॥ १६ ॥

“अथासाद्य सुचोऽप उपसृज्य राजानं प्रपादयतीति । ‘आसाद्य’
उत्तरवेदेः पश्चाद्देशे बर्हिषि ‘सुचः’ आसाद्य ‘राजानं’ सोमं

१— का० श्रौ० सू० पृ० ०. १५, १६ ।

२— ‘आधानसमिदाधानपर्यन्तं’—इति च ।

३— वा० सं० ५. २८. १ ।

४— २८६ पृ० १४ मं०, ३६० पृ० ८ पं० दृश्यम् ।

‘प्रपादयति’ हविर्द्वान् प्रवेशयति^१ । उदकोपस्पर्शेन प्रशंसति— ‘तस्मा
दामाद्येत्यादिना । “वक्षो वा इत्यादि । प्राग् व्याख्यातम्^२ ॥ १७ ॥

‘स दक्षिणस्येति । ‘दक्षिणस्य हविर्द्वानस्य’ ‘नीडे’ परिवृते
मध्यप्रदेशे क्षणाजिनोपरि सोम निदध्यात् । “दक्षिणे ऽनसि
क्षणाजिन मास्तीर्य तस्मिन् सोम निदधाति”—इति^३ सूत्रम् ।
‘देव सवितरेष ते’—इत्यासादनमन्त्र^४ । स्पष्टोऽर्थः । हे सोम ।
त्वा ‘मा दभन्’ मा हिंसिषु ॥ १८ ॥

‘अथानुसृज्योपतिष्ठत इति । ‘अनुसृज्य विदृज्येत्यर्थः ।
तथाच कात्यायन— ‘एतच्च मिति विदृज्योपतिष्ठते’—इति^५ ।

मन्त्रस्यार्थः^६ ।— हे ‘सोम देव ।’ ‘त्वम्’ इदानीं ‘देवान्’
‘उपागा’ प्राप्तोऽसि, ‘अहम्’ अपि मनुष्य सन् ‘एतत्’ इदानीं
‘मनुष्यान्’ अस्मदीयान् ‘उपागा’ प्राप्तोऽसि । न केवलम् अहं मेव
किन्तु ‘रायस्योपेण सह’ धनपोषणसहित एव ॥

यजमानस्याग्नीषोमयोर्जम्भानुप्रवेशेन तदीयधनस्यापि अनुप्रवे-
शात्, इदानीं निर्गमसाहित्य मपेक्षितम् । “अग्नीषोमौ वा एत
मन्तर्जम्भ इत्यादिकम्, एतत् मन्त्रब्राह्मणम्, “अथ प्रतिप्रस्थाता

१— तस्य सोमानयनं यजमानकृतृकं मन्त्रकर्तृकं वा भवति । का० श्रौ०
सू० ११ १ १६, १७ दृश्यम् ।

२— ए० २५० प० १७ दृश्यम् । ३— का० श्रौ० सू० ८ ७ १० ।

४— वा० स० ५ ३६ १ । ५— का० श्रौ० सू० ८ ७ १८ ।

६— तत्पाठस्तु— वा० स० ५ ३६ २ ।

अयेण शाला मग्नीषोमीयेण यशुना—इत्यत्र^१ व्याख्यातम् । तत्
 “एतत्त्वं देव सोम देवो देवा उपागा इदं महं मनुष्यान्”—
 इत्यभिधानेन^२ ‘प्रत्यक्षम्’ एव ‘सोमाद्’ विमुच्यते ॥ १८ ॥

हविर्हानात् समन्त्रकं निष्क्रमणं विधत्ते— “अथोपनिष्क्राम-
 तीति । “स्वाहा निर्वहणस्येति । “स्वाहा निरिति निष्क्रम्य”—
 इति सूचम्^३ । मन्त्रे^४ बहणपाग्रप्रसङ्गं दर्शयति— “बहणपागो वा
 एषोऽन्तर्भवतीति ॥ १० ॥

“अथेत्याहवनीये समिध मभ्यादधातीति^५ । समिध सेवाभ्या-
 दधदवान्तरदौचा उपेति “अग्ने अतपा”—इति^६ । तत्र स्वग्ररौर
 मग्नावेव संख्याय अग्निग्ररौरस्य धारण मुक्तम्, इह तु तद्वैपरित्येन
 यथायथं ग्ररौरस्वीकार इति विशेषः । “स स्वेन सतात्मना
 यजत इति । पूर्वं मन्यात्मना सता, इदानीं ‘स्वेन’ यजमानात्मना
 ‘सता’ ‘यजते’; स्वग्ररौरस्य पुनः—प्राप्तत्वात् । दौचिताम्रनिषेध-
 भावाभावधोरप्यय सेवाभिप्राय इत्याह— “तस्मादस्यावाग्मनीति ।
 तस्मादिति हेतुं विवृणोति— “मानुषो हीति । नामग्रहणस्यापि
 मानुषभाव एव; अतोऽर्थाद् वैसर्जनहोमपर्यन्तं दौचितस्य नाम न
 गृह्णीयादिति विधिरुचीयते । “यथा हविषोऽङ्गतस्य नाश्रौया-
 देवं तदिति^७ । ‘अङ्गतं’ देवातिथिषु मनुष्यो ‘नाश्रौयात्’, ‘एवं तत्’

१— २०१८० अं० अष्टमम् ।

२— वा० सं० पृ. ३६. २ ।

३— का० श्रौ० सू० ८. ७ १६ ।

४— वा० सं० पृ. ३६. ४ ।

५— का० श्रौ० सू० ८. २. ४ ।

६— वा० सं० पृ. ४० ११ ।

७— ऐ० ब्रा० २ १. ३ अष्टमम् ।

अपि भवति; धनस्यापि यजमानेन सह प्रवेशादित्यभिप्राय ।
 “नामग्रहणभोजने अस्यात कुर्वन्तीति^१ सूत्रम् ॥ २१ ॥ २ [६.१.] ॥

इति मायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
 माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये
 द्वितीयकाण्डे षष्ठाध्याये द्वितीय ब्राह्मणम् ॥

[अथ चतुर्थं ब्राह्मणम्.]

यूपं ब्रह्मयन् वैष्णव्यर्चा जुहोति । वैष्णवो हि यूप-
 स्तुस्माद्वैष्णव्यर्चा जुहोति ॥ १ ॥

युद्धेवु वैष्णव्या जुहोति । यज्ञो वै विष्णुर्यज्ञेनैवैत-
 द्युप मुच्छैति तुस्माद्वैष्णव्यर्चा जुहोति ॥ २ ॥

स यदि सुचा जुहोति । चतुर्थहीत माज्यं गृहीत्वा
 जुहोति यद्यु सुवेण सुवेणैवोपहत्य जुहोत्युरु विष्णो
 विक्रमस्वोरु क्षुयाय नस्कृधि । घृतं घृतयोने पिब प्र
 प्र यज्ञपतिं तिर स्वाहेति ॥ ३ ॥

यदाज्यं पुरिशिष्टं भवति । तदादत्ते यत्तुष्टाः शुस्त्रं
 भवति तत्तद्वादत्ते त आयायन्ति स यं यूपं जोपुयन्ते ॥ ४ ॥

तु मेव मभिमृश्य जपति । पश्चादैव प्राङ् तिष्ठन्नभि-
मन्त्रयतेऽत्यन्यारं॥*ऽश्रुगां नान्यारं॥ऽउपागा मित्युति
ह्यन्यानेति नान्यानुपैति तुस्मादाहुत्यन्यारं॥ऽश्रुगां
नान्यारं॥ऽउपागा मिति ॥ ५ ॥

अर्वाक् त्वा पुरेभ्यो ऽविदं परोऽवरेभ्य इति । अर्वा-
ग्येनं पुरेभ्यो दृश्यति यु ऽएतस्मात्पुराञ्चो भवन्ति परो-
ऽवरेभ्य इति पुरो ह्येन मुवरेभ्यो दृश्यति यु ऽएतस्माद-
र्वाञ्चो भवन्ति तुस्मादाहर्वाक् त्वा पुरेभ्यो ऽविदं परो-
ऽवरेभ्य इति ॥ ६ ॥

तं त्वा जुषामहे देव ब्वनस्पते देवयज्याया ऽहुति ।
तद्यथा बहूनां मुध्यात्साधुवे कुर्मणे† जुयेत सु रातुमना-
स्तुस्मै कुर्मणे स्यादेव मेवैन मेतुदहूनां मुध्यात्साधुवे
कुर्मणे जुयते सु रातुमना ब्रुयनाय भवति ॥ ७ ॥

देवास्त्वा देवयज्यायै जुषन्ता मिति । तद्वै समृद्धं युं
देवाः साधुवे कुर्मणे जुषान्तै तुस्मादाह देवास्त्वा देव-
यज्यायै जुषन्ता मिति‡ ॥ ८ ॥

अथ सुवेणोपस्पृशति । विष्णवे त्वेति ज्यैष्णवो

* 'न्यारं'-इति क, ख । इहोत्तरभाष्येनं सर्वत्र ।

† 'ऽश्रुगां'-इति घ पाठो डा-वेदरेण दृष्टः ।

‡ 'कुर्मणे'-इति ग, घ । § 'मिति'-इति घ ।

हि यूपो यज्ञो वै विष्णुर्यज्ञाय ह्येनं दृश्यति तुस्मादाह
विष्णवे त्वेति* ॥ ८ ॥

अथ दर्भतरुणकु मन्तुर्दधाति । ओषधे वायस्वेति
वृजो वै परशुस्तथो हैन मेघ वृजः परशुर्न
हिनस्त्यथ परशुना प्रहरति स्वधिते मैनः हिंसी-
रिति वृजो वै परशुस्तथो हैन मेघ वृजः परशुर्न
हिनस्ति ॥ १० ॥

स यं प्रथमः शुक्ल मपच्छिनत्ति । त मादत्ते तं वा
ऽश्वनक्षस्तर्भं दृष्टेदुत ह्येन मुनसा ब्रुहन्ति तुष्टानो† न
प्रतिवाधते ॥ ११ ॥

तं प्राञ्चं पातयेत् । प्राची हि देवानां दिगुथो उदञ्च
मुदीची हि मनुष्याणां दिगुथो प्रत्यञ्चं दक्षिणायै
त्वैवेनं दिशः पुरिविवाधिपेतैषा वै दिक् पितॄणां तुस्मा-
देनं दक्षिणायै दिशः पुरिविवाधिपेत ॥ १२ ॥

तुं प्रच्यवमान मुनुमन्वयते । द्यां मा लेखीरन्तुर्दिष्टां
मा हिंसीः पृथिव्या सुम्भवेति वृजो वा ऽप्यु भवति
यं यूपाय ब्रूयन्ति तुस्माद्ब्रूयात् प्रच्यवमानादिमे लोकाः

* 'त्वेति'-इति ख । 'त्वति'-इति ग, घ ।

† 'तुष्टानो'-इति घ पाठो आ० वेवरेण दृष्ट ।

‡ 'वि'-इति ख । एव मिहोत्तरञ्च घ ।

सुरेजन्ते तुदेभ्य एवैन मेतुल्लोकेभ्यः शमयति तुथेमुं-
ल्लो*काञ्छान्तो नु हिनस्ति ॥ १३ ॥

स यदाह । द्यां मा† लेखौरिति दिवं‡ मा हिःसी-
रित्येवैतदाहान्तरिक्षं मा हिःसीरिति नाच तिरुहित
मिवास्ति पृथिव्या समवेति पृथिव्या सुज्जानौष्ठेत्येवै-
तदाहायः हि त्वा स्वधितिस्तेतिजानः प्रणिनाय
महते सौभगायेत्येषु ह्येनः स्वधितिस्तेजमानः प्रणु-
यति॥ १४ ॥

अथावृश्चन मभिजुहोति । नेदतो नाद्रा रुक्षाः-
स्यनूत्तिष्ठानिति वृजो वा ऽआज्यं तद्वृजेणैवैतन्नाद्रा
रुक्षाःस्यवबाधते तथातो नाद्रा रुक्षाःसि नानूत्तिष्ठ-
न्त्यथो रेतो वा ऽआज्यं तद्वृनस्पतिष्वेवैतद्रेतो दधाति
तस्माद्रेतस आवृश्चनाद्वृनस्पतयोऽनु प्रजायन्ते ॥ १५ ॥

स जुहोति । अतस्त्वं देव वृनस्पते शतवल्गो॥
विरोह सहस्रवल्गो॥ व्वि वयः रुहेमेति नाच तिरुहित
मिवास्ति ॥ १६ ॥

* 'मांल्लो'-इति ख, 'मांलो'-इति घ ।

† 'मा'-इति ग, घ ।

‡ 'दिवं'-इति ग, घ ।

५ 'प्रणयति'-इति घ ।

॥ 'शतवल्गो'-इति घ पाठो डा०-वेबर-दृष्ट ।

॥ 'सहस्रवल्गो'-इति घ डा०-वेबर-दृष्ट पाठ ।

तं परिवासयति । स यावन्त मेवाग्र परिवासयेत्
तुवान्स्यात् ॥ १७ ॥

पुञ्चारत्निं परिवासयेत् । पाङ्क्तो यज्ञः पाङ्क्तः पशुः
पुञ्चतुवः संवत्सरस्य तुस्मात् पुञ्चारत्निं परि-
वासयेत् ॥ १८ ॥

पुडरत्निं परिवासयेत् । पड्वाऽञ्चतुवः संवत्सरस्य
संवत्सरो व्वजो व्वजो यूपस्तुस्मात् पुडरत्निं परि-
वासयेत् ॥ १९ ॥

अष्टारत्निं परिवासयेत् । अष्टाक्षरा वै गायत्री
पूर्वाह्णो वै यज्ञस्य गायत्री पूर्वाह्णं एषु यज्ञस्य तुस्मा-
दष्टारत्निं परिवासयेत् ॥ २० ॥

नुवारत्निं परिवासयेत् । चिष्टद्वै यज्ञो नुव वै चिष्टत्
तुस्मान्नुवारत्निं परिवासयेत् ॥ २१ ॥

एकादशारत्निं परिवासयेत् । एकादशाक्षरा वै
चिष्टुब् व्वजस्त्रिष्टुब् व्वजो यूपस्तुस्मादेकादशारत्निं परि-
वासयेत् ॥ २२ ॥

द्वादशारत्निं परिवासयेत् । द्वादश वै मासाः
संवत्सरस्य संवत्सरो व्वजो व्वजो यूपस्तुस्माद् द्वादशा-
रत्निं परिवासयेत् ॥ २३ ॥

त्रयोदशारत्निं परिवासयेत् । त्रयोदश वै मासाः

संवत्सरस्य संवत्सरो वृजो वृजो यूपस्तुस्मात्तुयोदश-
रत्निं परिवासयेत् ॥ २४ ॥

पुञ्चदशरत्निं परिवासयेत् । पुञ्चदशो वै वृजो
वृजो यूपस्तुस्मात् पुञ्चदशरत्निं परिवासयेत् ॥ २५ ॥

सप्तदशरत्निर्वाजपेययूपः । अपरिमित एव स्या-
दुपरिमितेन वा ऽएतेन वृज्येण देवा अपरिमित मज्जयं-
स्तुथो ऽएवैषु एतेन वृज्येणापरिमितेनैवापरिमितं जयति
तुस्मादुपरिमित एव स्यात् ॥ २६ ॥

स वा ऽअष्टाश्रिर्भवति । अष्टाक्षरा वै गायत्री पूर्वार्द्धो
वै यज्ञस्य गायत्री पूर्वार्द्ध एषु यज्ञस्य तुस्मादष्टाश्रि-
र्भवति ॥ २७ ॥ ३ ॥

॥ इति पञ्चमप्रपाठके तृतीयं ब्राह्मणम् [ई. ४.] ॥

अथ यूपप्रयोग उच्यते—“यूपं ब्रह्मन्नित्यादिना । ‘ब्रह्मन्’
छेत्यन् । ‘वैष्णव्यर्चा’ आश्वनीये जुहुयात्^१ । “मास्य देवता”-
इत्यण्^२ । “दिव मा लेखीरन्तरि च मा हिमौ पृथिव्या सम्भव-
मि”-इतिमन्त्रेण^३ । मन्त्रादो लोकत्रयाक्रमणस्योक्तत्वेन विष्णु-
साम्याद् वैष्णवत्वं मतस्तदर्थवाच्यो वैष्णवत्वं युक्तम् ॥ १ ॥

१— का० श्रौ० सू० ६ १ १६ ।

२— पा० सू० ४ १ २४ ।

३— वा० स० १ ४९ १ । तत्र “द्यां मा लेखीरिति पाठः ।

“चक्षो वैष्णव्यत्वं प्रशंसति— “यदेव वैष्णव्या जुहोतीति ।
 “यज्ञेनैतेतद्यूप मच्चैतीति । यज्ञेनैव यूप मभिलक्ष्य गतवान्
 भवति ॥ १ ॥

“स यदि सुचेत्यादि । स्पष्टम् । “उरु विष्णविति । एष मन्त्रो
 वैसर्जनौहोम मधिकृत्य व्याख्यातः^१, अत एव ब्राह्मणे नेह व्याख्यातः ।
 अथ सूत्रम्— “यूपाज्जतिं जुहोति चतुर्गृहीत सुवेण वोरु विष्ण-
 विति^२ ॥ ३ ॥

“यदाज्यं परिशिष्टं भवतीति । अवशिष्ट माज्य मध्वरुरादत्ते ।
 “यत्तच्छा इति । ‘यत्’ तत्तत्कस्य ‘शस्त्रं भवति’ वागीमिशानं
 शिलादौ । जोषयन्ते यं यूपायास्त मिति, त आयन्तीति
 सम्बन्धः^३ ॥ ४ ॥

“त सेव मभिमृश्य जपतीति” । ‘तम्’ यूपम् ‘एवम्’ ‘अभि-
 मृश्य जपति’ “अत्यन्यानगाम्”—इत्येवरूपेणेत्यर्थः । अथवा अभिमर्शनं
 न कर्त्तव्यम्, ‘पद्यात्’ ‘प्राङ्’ ‘तिष्ठन् एव’ ‘अभिमन्त्रयते’ । अथ
 “यूप मभिमृशत्यन्यानमिति प्राङ् तिष्ठन्नभिमन्त्रयते वा पालाशं
 यज्जलपर्णम्”—इत्यादि^४ सूत्रं द्रष्टव्यम् ॥

मन्त्रस्थाय मर्थः^५ ।— हे पुरोवर्त्ति-पलाशादिरूपवृत्त ! तव
 प्राप्तेः पूर्वम् ‘अन्यान्’ यूपानपि नानाजातीयान् वृक्षान् ‘अत्यगाम्’

१— पुरस्तात् ५ प्र० २ ब्रा० १५, १६ क० (३८०, ३६१ ए०) द्रष्टव्यम् ।

२— का० श्रौ० सू० ६. १. ४ । ३— का० श्रौ० सू० ६. १. ५ ।

४— का० श्रौ० सू० ६. १. ६ क० । ५— का० श्रौ० सू० ६. १. ६-१० ।

६— आस्रातश्चैष— वा० म० ५. ४२. १ ।

अतिक्रम्य त्वां प्राप्तोऽस्मि । एवम् 'अन्यान्' ब्राह्मणोक्तातिरिक्तानपि 'नोपागाम्' नापगच्छामि । 'त्वा' त्वाम् 'परेभ्य' त्वत्तोऽणुपरि वर्त्तमाना ये सन्ति, तेभ्य 'अर्वाक्' अधस्तात् प्रथमं वर्त्तमानम् 'अविदम्' । तथा 'अवरेभ्यः' पूर्वभाविनः सकाशात् त्वां 'परः' परस्ताद् वर्त्तमानम् 'अविदम्' । आद्यन्तयोर्वर्त्तमानानां वाता-
तपादिहृतदोषसम्भवात् निष्ठष्टत्वम्, अतः सर्वेषां मध्ये वर्त्तमान त्वा
मेव निर्दोष मविद मित्यर्थः । हे देव । वनस्यते । 'त' तादृश
'त्वा' त्वां 'जुषामहे' इति ॥

मन्त्रभागस्य तात्पर्यं भाह— "तद्यथेति । 'यथा' 'बहूनां'
पुरुषाणां 'मध्यात्' एक मवह्व्य 'आधवे' शोभनीये 'कर्मणे'
'जुषेत' सेवेत, 'सः' जुष्टा 'एतमनाः' दत्तचित्तः, कर्मार्यं मङ्गीकृत-
ममस्कः सन् 'तस्मै कर्मणे' तत् कर्म कर्तुं भवेत्, अथवा 'कर्मणे'
एतमनाः स्यात्' कर्म कर्तुं बुद्धिः प्रवृत्तेत्यर्थः । 'एव मेवैतत्' इति
दाष्टान्तिकाभिधानं सुकार्यम् ॥ ५-७ ॥

"देवास्त्वेति । देवानां जोषणाभिधानस्य प्रार्थनायाः प्रयोजनं
भाह— "तद्वै समृद्धं यं देवाः आधवे कर्मणे जुषान्तेति ॥ ८ ॥

"अथ सुवेणेति^१ । "विष्णवे त्वा"—"इति"^२ मन्त्रेण 'सुवेण'
'उपसृगति' । 'विष्णवे' यूपयेत्यर्थः । स्पृशाभीति शेषः । कथं
यूपस्य विष्णुत्व मिति, तच्चाह— "वैष्णवो यूप इति । 'यूपः'
'वैष्णवो हि' विष्णुदेवत्यः खलु । तदेव कथं मिति, तच्चाह—

“यज्ञो वै विष्णुरिति । यज्ञस्यापि विष्णुत्वे यूपस्य किं भायात्
मित्यत आह—“यज्ञाय ह्येन दृश्यतीति ॥ ८ ॥

“अथ दर्भतरुणक मिति^१ । “शोधधे चायस्व”—‘इति’^२ कुश-
तरुणेन यूप व्यवहित कुर्यात् । हे ‘शोधधे ।’ त्वं प्रहारव्यथातो
‘एन’ वृत्त ‘चायस्व’ । ‘यज्ञो वै परशु’ हेदकत्वात् परशोर्वज्रत्वम् ।
“स्वधिते मेनम्”—‘इति’^३ हेदनमन्त्रं स्याष्ट एव ॥ १० ॥

“अथ य प्रथम मिति । प्रथमश्चिन्न शकल रूपावटे प्रक्षेपार्थं
माददौत^४ । “त वा अगच्छस्तम्भ मित्यादि^५ । न विद्यते ‘अचल’
शकटाङ्गस्य स्तम्भो यस्मिन् प्रसूतकर्मणि, ‘तम् अगच्छस्तम्भम्’, अच-
सत्सर्गो यथा न स्यात्, एव सर्व दृष्टेदित्यर्थ^६ । तत्प्रयोजनं माह—
“उत ह्येन मनसेति । अक्षो ह्यनसा यूप नयेयुः, तदा अक्ष मा
वधिष्टेति ॥ ११ ॥

यूपस्थाध पातनविषये प्रागादिदिक्त्रयं विकल्पयति—“त प्राञ्च
पातयेदित्यादिना । अन्यस्या दिशि पातनं निषेधति । “दक्षिणायै
त्वैनं दिशं परिविवाधिषेतेति^७ । ‘एन’ यूप ‘दक्षिणायै

१— का० श्रौ० सू० ६ १ १२ ।

२— वा० स० ५ ४२ ३ ।

३— वा० स० ५ ४२ ४ ।

४— का० श्रौ० सू० ६ १ १३ ।

५— का० श्रौ० सू० ६ १ १४ ।

६— “स्यागुरुनसोऽक्षं स्तम्भातीत्यक्षस्तम्भ, न अक्षस्तम्भोऽनक्षस्तम्भ, यथा मण्डूक शकटस्य अक्षं मवशिष्टं स्यागुरुं स्तम्भाति, तथा नोषं किन्द्यादित्यर्थ—इति घात्र या० ३० ।

७— का० श्रौ० सू० ६ १ १० । ‘परिविवाधिषेतेति’—इति च

‘दक्षिणस्या’ ‘दिशः’ परिबाधकं कारयितुं मिच्छेदित्यर्थः; तस्याः
पितृदेवत्वान् ॥ १२ ॥

“तं प्रच्यवमानं मनुमन्त्रयत इति । तत्प्रयोजनं माह— “वज्रो
वा एष भवतीति । “स्फ्यसृतीयं रथसृतीयं यूपसृतीयं मिति-
श्रुतेः^१ वज्रावयवत्वाद् यूपस्य वज्रत्वम् । अतो वज्रपात इव यूपार्थ-
वृत्तपातः । “लोकाः सरेजन्त इति । “भ्यसते रेजत इति भयवेप-
नयो.”-इति^२ यास्कः ॥ १३ ॥

“स यदाहेति । “पृथिव्या सम्भव”-इत्यस्य^३ तात्पर्यं माह—
“सञ्जानीष्वेत्येवैतदाहेति । सम्प्रति मैकमर्थं प्राप्नुहीत्यर्थः । “अथं
हि त्वेति”^४ । ‘अथ’ खलु ‘स्वधिति’ छेदनसाधनपरशुः ‘तेतिजानः’
निशितो भवन् ‘महते’ ‘सौभगाय’ सुभगत्वाय, अष्टाश्वराधाकारा-
अथणाद्धि सुभगवते, अथवा सुभगो यज्ञः, स एव सौभगः, तदर्थ-
त्वात् प्रणयनस्य । ‘प्रणिनाथ’ प्रणयनं कृतवान्, पृथक् कृतवानित्यर्थः ।
छेदनाभावे प्रणयनासम्भवात् पूर्वशेषत्वपक्षे परशुना यज्ञार्थं क्षिप्तस्त्वं
लोकत्रयं मपीडयन्नधः पतित्यर्थः । पृथग्विनियोगपक्षे उक्तलक्षणं
त्वं शोधयामीत्यर्थः^५ ॥ १४ ॥

आम्रस्वनक्षोमं विधाय प्रप्रंसति— “अथाव्रश्चन मभिजुहोति

१— ते० स० ५. २६. ४ । इन्द्रो वृत्राय वच्चे प्राहुरदित्यादि द्रष्टव्यम् ।

२— निरु० ३. ४. ४ ।

३— वा० सं० ५. ४३. १ ।

४— वा० सं० ५. ४३. २ ।

५— “अथं हि त्वेति शोधनम्”-इति का० श्रौ० सू० ६. १. १८ ।

नेदतो नाद्वेत्यादिना । आ समन्ताद् प्रयत्नम् 'आप्रयत्नम्', तदभि-
तस्मिन् जुहोति । उक्तहोमविषये सूत्रकारो विकल्पयामास—
'अतस्त्व मित्याप्रयत्नेऽभिजुहोति, यूपे वा तत्संस्कारात् स्थाणौ
श्रुतेयेति' । होमसाधनस्याव्यस्य द्वे सामर्थ्ये, वज्ररूपेण रचकत्वम्,
रेतोरूपेणोत्पादकत्वं चेति । अतः आप्रयत्नप्रदेशहोमो वज्र । तस्मात्
स्थानाद्राक्षसादिकं सुत्पन्नं न भवेत्, उत्पन्नञ्च परिकृतं भवति,
तथा तच्च आप्रयत्नप्रदेशे रेतःस्थापनात् ग्राह्या यज्जधा
जायन्ते ॥ १५ ॥

स जुहोतीति । आप्रयत्नहोममन्त्रस्यायं मन्त्रः ।— हे 'वनस्पते !
देव !' 'त्वम्' 'अतः' अस्मात् प्रदेशात् 'यतवल्गु' अपरिमिताङ्कुर-
सन् 'विरोह' प्रादुर्भव । 'वय' च 'सहस्रवल्गु' सन्त 'विरुहेम'
विविधं प्रादुर्भवेम ॥ १६ ॥

"तं परिवासयतीति" । 'त' यूपं वक्ष्यमाणेन कृत्वा 'परि-
वासयति' आच्छिन्नन्ति । परिवासने विशेषः माह— 'स यावन्त
मेवायं इति । 'अग्ने' प्रथमम्, प्रथमच्छेदकाले 'यावन्त यावत्परि-
माणं परिवासयेत्', 'तावानस्यात्' तावतैव भवितव्यम्, स्थापेक्षित-
प्रमाणाय न पुनश्चिन्त्यादित्यर्थः ॥ १७ ॥

यूपमानविषये पञ्चारत्निप्रमृतिपञ्चद्वारत्निपर्यन्तान् यज्ञं

१— का० श्रौ० सू० ६ १ २०—२२ ।

२— 'आप्रयत्नाद् वृक्षाणां भूवास उत्तिष्ठन्ति' तै० स० २ ५. १ ४ ।

३— वा० स० ५ ४९ २ ।

४— का० श्रौ० सू० ६ १ २२ ।

प्रकारान् विकल्पितान् दर्शयति— “पञ्चारत्निं परिवासयेत्, पाङ्क्तो यज्ञ इत्यादिना^१। “यो वै यज्ञे हविष्यङ्गिं वेद”-इत्यादिना^२ यज्ञस्य हविरादिपञ्चमङ्गायोगात् पद्मोः पाङ्क्तत्वम् ॥ १८ ॥

“षडरत्नि मिति । “संवत्सरो वज्र इति । संवत्सरस्य, वृष-प्रहरणकाले पुनःपुनरावर्त्तनसाम्यादा, संवत्सरनिर्वर्त्तकस्यादित्य-स्यासुरघातकत्वादा, सारभूतत्वादा वज्रत्वम् ॥ १९ ॥

“अष्टारत्निं परिवासयेदिति । “पूर्वाङ्गो वै यज्ञस्य गायत्रीति । साक्षादवयवत्वेन ‘गायत्री’ प्रातस्सुवनसम्बन्धाद् यज्ञस्य ‘पूर्वाङ्गः’; एषः यूपोऽपि पुरस्तात् मौथमानत्वात् ‘पूर्वाङ्गः’ ॥ २० ॥

“नवारत्नि मिति । “चिष्टै यज्ञ इति । चिष्टदादिस्तोममाध्य-त्वात्, सवनभेदेन चिष्टत्वादा, ‘यज्ञस्त्रिष्टुत्’ । स च ‘चिष्टत्’ स्तोमः ‘नव वै’; स्तोत्रियमवकरूपत्वात्^३ ॥ २१ ॥

“एकादशारत्नि मिति । “वज्रस्त्रिष्टुभिति । त्रिष्टुभा सह प्रजा-पतेः सकाशादुत्पन्नत्वात् । स चोत्पत्तिरिन्द्रद्वारा वेदितव्या^४ ॥ २२ ॥

“द्वादशारत्नि मिति । उक्तं संवत्सरस्य वज्रत्वम्^५ ॥ २३ ॥ २४ ॥

“पञ्चदशारत्नि मिति । “पञ्चदशो वै वज्र इति । एतदपि

१— का० श्रौ० सू० ६. १. २४-२६ । २— ऐ० ब्रा० २. ३. ६ ।

३— ता० ब्रा० २ प्र० १-३ खण्डाः द्रष्टव्याः ।

४— “प्रजापतिः — ० त मिन्द्रो देवतान्वष्टज्यत, त्रिष्टुप् इन्द्रो वृहत् साम”-इत्यादि तै० सं० ७. १. १. ७ ।

५— उनविंशकण्ठीयास्थानं (४०५ पृ० ४ पं०) द्रष्टव्यम् ।

“उरसो बाहुभ्या पञ्चदश निरभिमीत, त मिन्द्रो देवतान्वष्ट-
ज्यन्त”-इति श्रुते^१ पञ्चदशसेन्द्रसम्बन्धाद् द्रष्टव्यम् ॥ २५ ॥

“सप्तदशारत्निर्वाजयेय यूप इति”^२ । अतोऽत्र स न गृह्यते ॥

इत्य बहन् पक्षानुपन्यस्तातोऽप्यधिक मप्युन्मान मनुजानाति-
“अपरिमित एव स्यादिति । तत्र कारण माह— ‘अपरिमितेन
वेति । वज्रस्याचिन्त्यमहिमत्वात् देवाना प्रयोजनानुसारेण तत्प्र-
माणस्त्रीकारात् यूपोऽप्यपरिमितो भवेदित्यर्थ ॥ २६ ॥

“स वा अष्टात्रिभवंतीत्यादि”^३ । स्पष्टम् । कात्यायनोऽपि पञ्चा-
रव्यादिपक्षान् विकल्पयामास— ‘पञ्चारत्नि पञ्चदशपर्यन्त सोमे,
दशमप्रचतुर्दशवर्ज अपरिमितो वा’-इति”^४ ॥ २७ ॥ ६ ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

तृतीयकाण्डे षष्ठाध्याये चतुर्थे ब्राह्मणम् ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्द निवारयन् ।

पुमर्थास्तुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वर ॥ ६ ॥

१— ते० स० ७, १ १ ७ ।

२— ‘सप्तदश वाजयेय, एकविंशतिरश्वमघे’-इति का० श्रौ० सू०

६ १ ३३ ३४ । वाजयेयाहुभूतेऽघ्नोद्योमीय इति यावत् ।

३— का० श्रौ० सू० ६ १ २७ ।

४— का० श्रौ० सू० ६ १ ३१ ३२ ।

ब्रह्माण्डं गोमहसं कनकहयतुलापूरुषौ स्वर्णगर्भम्,
 सप्तार्धेन पञ्चमीरौस्त्रिदशतलताधेनुसौवर्णभूमौ ।
 रत्नोत्सां रुक्मवाजिद्विपसहितरथौ सायणि सिद्धनार्यौ,
 व्यश्राणीद्विश्वशक्रं प्रथितविधिमहाभूतयुक्तं घटञ्च ॥
 धान्याद्वि धन्यजन्मा तिलभव मत्स्य स्वर्णज वर्णमुख्य,
 कार्पासौघ कृपावान् गुडकृत मज्जो राजत राजपूज्य ।
 आज्येत्य प्राज्यजन्मा लवणज मनृण शार्कर चार्कतेजा,
 रत्नाढ्यो रत्नरूप गिरि मल्लत मुदा पाचसात्सिद्धनार्य ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तक
 श्रीहरिहरमहाराजसासाज्यधुरन्धरेण
 सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
 माध्यन्दिनग्रन्थपञ्चाङ्गभाष्ये
 तृतीयकाण्डे षष्ठोऽध्यायः समाप्तः ॥ ६ ॥

[अथ सप्तमाध्याये प्रथम ब्राह्मणम्]

अग्निं मादत्ते । देवस्य त्वा सवितुः प्रसुवेऽश्विनो-
र्बाहुभ्यां पूष्णो हुस्ताभ्या माददे नार्यसौति समानु
एतस्य यजुषो बन्धुर्योपो वा ऽएषा यदग्निस्तुस्मादाह
नार्यसौति* ॥ १ ॥

अथावटं पुरिलिखति । इदं महः रुक्षसां ग्रीवा
अपिक्वन्तामौति वृजो वा ऽअग्निर्वृजैरेवैतन्नाष्ट्राणां
रुक्षसां ग्रीवा अपिक्वन्तति ॥ २ ॥

अथ खनति । प्राञ्च मुत्कर† मुत्किरत्युपरेण सम्भाया-
वटं खनति तदग्रेण प्राञ्चं यूपं निदधात्येतावन्मात्राणि
बर्हिःपुष्ट्युपुरिष्टादधिनिदधाति तदेवोपुरिष्टाद्यूपशकलु
मधिनिदधाति पुरस्तात्पार्श्वतश्चपालं मुपनिदधात्यथ
यवुमत्यः प्रोक्षण्यो भवन्ति सोऽसुवेव बन्धुः‡ ॥ ३ ॥

स युवान्नावपति । युवोऽसि यवयासमद्देपो यवया-
रातीरिति नात्र तिरोहितं मिवास्त्यथ प्रोक्षत्येको वै
प्रोक्षणस्य बन्धुर्मेध्य मेवैतत्करोति ॥ ४ ॥

* 'सौति'-इति ग, घ ।

† 'मुत्कर'-इति ग, घ ।

‡ 'बन्धु'-इति ग, घ ।

स प्रोक्षति । दिवे त्वान्तरिक्षाय त्वा पृथिव्यै त्वेति
व्यज्रो वै यूप एषां लोकाना मभिगुह्या ऽएषां त्वा
लोकाना मभिगुह्यै प्रोक्षामीत्येवैतुदाह ॥ ५ ॥

अथ याः प्रोक्षण्यः परिशिष्यन्ते । ता अवटे ऽवनयति
शुन्धन्तां लोकाः पितृपुदना इति पितृदेवृत्यो वै.कूपः
खातस्तु मेवैतन्मेध्यं करोति ॥ ६ ॥

अथ बर्हीहिपि । प्राचीनाग्राणि चोदीचीनाग्राणि
चावस्तृणाति पितृपुदन मसीति पितृदेवृत्यं वा ऽअस्यै-
तद्भवति यन्निखातः स यथानिखात ओषधिषु मितः
स्यादेव मेतास्वोषधिषु मितो भवति ॥ ७ ॥

अथ यूपशकलं प्रास्यति । तेजो ह वां ऽएतद्बुन-
स्पतीनां युद् बाह्याशकलं*स्तस्माद्यदा बाह्याशकलं
मपतय्युवन्युथ शुष्यन्ति तेजो ह्येषा मेतत्तद्यूपशकलं
प्रास्यति सुतेजसं मिनवान्नीति तद्युदेयु एव भवति
नान्यु एष हि युजुष्कृतो मेध्यस्तस्माद्यूपशकलं
प्रास्यति ॥ ८ ॥

स प्रास्यति । अग्नेणौरसि स्वावेशु उन्नेतृणा मिति
पुरुस्तादा ऽअस्मादेपोऽपच्छिद्यते तुस्मादाहाग्नेणौरसि

* वाच, इत उत्तरत्र च 'बाह्याशकलं'-इत्येव सायणसम्मत पाठ इति
डा० वेङ्कट । परं मस्ति तत्र-तत्र च पाठभेदः ।

स्वावेशु उन्नेतॄणां मित्येतस्य वित्तादुधि त्वा स्थास्यती-
त्युधि ह्येनं तिष्ठति तुस्मादाहैतस्य वित्तादुधि त्वा
स्थास्यतीति ॥ ६ ॥

अथ सुवेणोपहत्याज्यम् । अवटु मभिजुहोति नेदधु-
स्तान्नाद्रा रुक्षाःस्युपोत्तिष्ठानिति वृजो वा ऽआज्यं
तद्वज्रेणैवैतुं नाद्रा रुक्षाःस्युपवाधते तथाधुस्तान्नाद्रा
रुक्षाःसि नोपोत्तिष्ठन्त्यथ पुरस्तात् परीत्योदङ्मुसौनो*
युप मनन्ति सु आह यूपायाज्यमानायानुब्रूहीति† ॥ १० ॥

सोऽनन्ति । देवुस्त्वा सविता मुध्वानत्किंति सविता वै
देवानां प्रसविता युजमानो वा ऽएष निदुग्धेन यद्यूपः
सर्वं वा ऽइदं मुधु यदिदं किञ्च तुदेन मनेन सर्वेण सुऽ-
स्पर्शयति तुदस्मै सवितुः प्रसविता प्रसौति तुस्मादाह
देवुस्त्वा सविता मुध्वानत्किंति‡ ॥ ११ ॥

अथ चपाल मुभयतुः प्रत्युज्य प्रतिमुञ्चति । सुपि-
प्पलाभ्यस्तुौपधीभ्य इति पिप्पलाः हैवास्यैतत्तद्यन्मध्ये
सुङ्गहीत मिव भवति तिर्यग्वा ऽइदं दृष्टे पिप्पल
माहतः स युदेवेदुः सन्वन्धनं चान्तरुपेनित मिव
तुदेवैतत्करोति तुस्मान्मध्ये सुङ्गहीत मिव भवति ॥ १२ ॥

* 'दङ्मुसौनो'-इति क, ख ।

† 'ति'-इति ग, घ ।

‡ 'किंति'-इति ख ।

आन्तु मग्निष्ठा मनक्ति । युजमानो वा ऽअग्निष्ठा रुस
 आज्यः रुसेनैवैतद्युजमान मनक्ति तुस्मादान्तु मग्निष्ठा
 मनक्त्यथ परिव्ययुणं प्रति समन्तं पुरिमृशत्यथाहो-
 ऽश्रीयुमाणायानुब्रूहीति ॥ १३ ॥

स उच्छ्रयति । या मुग्नेणास्पृष्टु ऽआन्तुरिक्षं मध्ये-
 नाप्राः पृथिवी मुपरेणाहःहौरिति वृजो वै यूप एषां
 लोकाना मभिजित्यै तेन वृज्जेणेमांलोकानस्पृणुतुऽएभ्यो
 लोकेभ्यः सपुत्रान्निर्भजति ॥ १४ ॥

अथ मिनोति । या ते धामान्यश्मसि गुमध्यै युच
 गावो भूरि शृङ्गा अयासः अत्राह तुदुरुगायस्य विष्णोः
 परमुं पदं मुव भारि* भूरौत्येतया चिष्टुभा मिनोति
 वृजस्त्रिष्टुब् वृजो यूपस्तुस्माच्चिष्टुभा मिनोति ॥ १५ ॥

सम्प्रत्यग्नि मग्निष्ठां मिनोति । युजमानो वा ऽअग्नि-
 ष्ठामिरु वै यज्ञः स युदयेरग्निष्ठाः हलुयेद्धुलेद्ध यज्ञाद्युज-
 मानस्तुस्मात् सम्प्रत्यग्नि मग्निष्ठां मिनोत्यथ पुर्यूहत्यथ
 पुर्युपत्यथापु उपनिनयति ॥ १६ ॥

अथैव मभिपुद्य व्वाचयति । विष्णोः कुर्माणि पश्यत
 यतो व्रतानि पस्पशे । इन्द्रस्य युज्यं सखेति वृजं वा

* 'भाति'-इति सा० सम्मतः । स च ऋकपाठ २ २ २४ ६ (निह०
 २ २ ३) । मन्त्रस्यैतस्योपक्रमेऽप्यस्येव पाठमेव ऋग्यजुःसंहितयोः ।

ऽएष ग्राहार्पीद्यो यूष मुदृशिश्चिद्यद्विष्णोर्व्विजितिं
 पश्यतेत्येवैतुदाह यदुह विष्णोः कुर्माणि पश्यत युतो
 व्रतानि पश्यते* । इन्द्रस्य युज्यः सखेतीन्द्रो वै यदुस्य
 देवता व्वैष्णवो यूपस्तः सेन्द्रं करोति तुस्मादाद्येन्द्रस्य
 युज्यः सखेति† ॥ १७ ॥

अथ चपाल मुदोक्षते । तद्विष्णोः परमुं पदः सुदा
 पश्यन्ति स्वरुयः । दिवौ चक्षुरातत मिति व्वजं वा
 ऽएष ग्राहार्पीद्यो यूष मुदृशिश्चिद्यत्तां विष्णोर्व्विजितिं
 पश्यतेत्येवैतुदाह यदुह तद्विष्णोः परमुं पदः सुदा
 पश्यन्ति स्वरुयः । दिवौ चक्षुरातत मिति‡ ॥ १८ ॥

अथ पुरिव्ययति । अनग्रतायै न्वेव पुरिव्ययति
 तुस्मादुचेव पुरिव्ययत्यनेषु ह्रीदं व्वासो भवत्यान्नाद्य
 मेवास्मिन्नेतद्वद्व्यात्युचेव ह्रीद मुन्नं प्रतितिष्ठति तुस्मा-
 दुचेव पुरिव्ययति ॥ १९ ॥

चिद्वृता पुरिव्ययति । चिद्वृद्भान्नं पशुवो च्युन्नं पिता
 माता यज्जायते तुत्तृतीयं तुस्माच्चिद्वृता पुरि-
 व्ययति ॥ २० ॥

* 'यदुस्य'—इति ग घ पुस्तकयोरशुद्धः ।

† 'सखेति'—इति ख, 'सखेति'—इति ग, घ ।

‡ 'मिति'—इति ख, 'मिति'—इति ग, घ ।

स परिवर्धयति । परिवीरसि पुरि त्वा दैवीर्विशो
व्ययन्तां पुरीमं युजमानः रायो मनुष्याणा मिति
तद्युजमानायाशिष माशास्ते यदाह पुरीमं युजमानः
रायो मनुष्याणा मिति* ॥ २१ ॥

अथ यूपशकल भवगूहति । दिवः स्वनुरसीति प्रजा
हैवास्यैषा तुस्माद्यदि यूपैकादशिनौ स्यात् स्वः स्व
मेवावगूहेदुविपर्यासं तुस्य हैषा मुग्धानुव्रता प्रजा
जायतेऽथ यो विपर्यास भवगूहति न स्वः स्वं तुस्य
हैषा मुग्धानुव्रता प्रजा जायते तुस्मादु स्वः स्व
मेवावगूहेदुविपर्यासः† ॥ २२ ॥

स्वर्गस्यो हैषु लोकस्य समारोहणः क्रियते । यद्यूप-
शकल इयुः रशना रशनायै यूपशकुलो यूपशकला-
द्यपालं चपालात् स्वर्गं लोकः समश्नुते ॥ २३ ॥

अथ युस्मात्स्वरुर्नाम । एतस्माद्वा एषोऽपिच्छयते
तुस्यैतत्‍ स्व मेवारुर्भवति तुस्मात्स्वरुर्नाम ॥ २४ ॥

तुस्य यन्निखातम् । तेन पितृलोकं जयत्यथ यदूर्ध्वं
निखातादा रशनायै तेन मनुष्यलोकं जयत्यथ यदूर्ध्वं
रशनाया आ चपालात्तेन देवलोकं जयत्यथ यदूर्ध्वं

* 'मिति'-इति ग, घ ।

† 'यम्'-इति ख ।

‡ 'तुदस्यैवम्'-इति ङ ।

चपात्ताद् द्यङ्गुलं वा अङ्गुलं वा साध्या इति देवास्तेन
तेषां लोकं जयति सुलोको ह* वै साध्यैर्देवैर्भवति यु
एव मेतद्देद ॥ २५ ॥

तं वै पूर्वार्द्धं मिनोति । वृजो वै यूपो वृजो दण्डः
पूर्वार्द्धं वै दण्डस्याभिपुच्छ प्रहरति पूर्वार्द्धं एष यज्ञस्य
तस्मात्पूर्वार्द्धं मिनोति ॥ २६ ॥

यज्ञेन वै देवाः । इमां जितिं जिग्युर्येषा मिथं
जितिस्ते होचुः कथं न इदं मनुष्यैरनभ्यारोह्युः स्यादिति
ते यज्ञस्य रुसं धीत्वा युथा मधु मधुकृतो निर्हुयेयुर्विदुह्य
यज्ञं यूपेन योषयित्वा तिरोऽभवन्नुथ युदेनेनायोपयं-
स्तस्माद्यूपो नाम पुरस्ताद्वै प्रज्ञा पुरस्तान्मनोजवस्तस्मा-
त्पूर्वार्द्धं मिनोति ॥ २७ ॥

स वा ऽअष्टाश्रिर्भवति । अष्टाक्षरा वै गायत्री पूर्वार्द्धो
वै यज्ञस्य गायत्री पूर्वार्द्धं एष यज्ञस्य तस्मादष्टाश्रि-
र्भवति ॥ २८ ॥

तु ह स्मैतुं देवा अनुप्रहरन्ति । युथेद मध्येतर्क्षके-
ऽनुप्रहरन्तीति देवा अकुर्वन्ति ततो रुक्षांसि यज्ञ
मनुदपिवन्त ॥ २९ ॥

ते देवा अध्वर्यु मन्त्रवन् । यूप शकल मेव जुहुधि
तदुहैषु स्वगाकृतो भविष्यति तयो रुक्षांसि यज्ञं
नानूत्पिबन्ते ऽयं वै व्युज्ज उद्यत इति* ॥ ३० ॥

सोऽध्वर्युः । यूपशकल मेवाजुहोतदुहैषु स्वगाकृत
आसीत्तयो रुक्षांसि यज्ञं नानूत्पिबन्तायं वै व्युज्ज
उद्यत इति ॥ ३१ ॥

तयो ऽपुवैषु एतत् । यूपशकल मेव जुहोति तदुहैषु
स्वगाकृतो भवति तयो रुक्षांसि यज्ञं नानूत्पिबन्तेऽयं वै
व्युज्ज उद्यत इति सु जुहोति दिवं ते धूमो गच्छतु
स्वर्ग्योतिः पृथिवीं भुस्मनाष्ट्य स्वाहेति ॥ ३२ ॥ ४ ॥

॥ इति पञ्चमप्रपाठके चतुर्थं ब्राह्मणम् [७. १.] ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निःश्रुतं वेदा यो वेदेभ्योऽपि जगत् ।

निर्ममे, त महं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

“अग्नि मादत्ते देवस्य त्वा (१ क०)”-इत्यादिकम्, “म यया-
निषात ओषधिषु मितः स्यादेव मेतासोषधिषु मितो भवति
(० क०)”-इत्यन्तश्च पन्थजात मौदुमपांः अवटनिर्माणविधानेनैव

याध्यातप्राथम्यं^१ । “उपरेण सखायेति । यूयस्थातष्टो मूलभाग
उपरः; तावत्परिमितं यूपावटं कुर्यात् । “एतावन्मात्राणीति ।
सुष्टिपरिमितानि यूपाये निदध्यात् यूपशकलं च^२ ॥ १-७ ॥

यूपशकलस्य गर्त्तं स्थापनं सार्थवादं विधत्ते— “अथ यूपशकलं
प्रास्यति^३ तेजो च वा एतदित्यादिना । तत्तेजस्व मिदानौनम-
प्रसिद्धा समर्थयते— “तस्माद् यदा बाह्यशकल मित्यादिना ।
‘अपतच्छुषन्ति’ तक्षणेन लघूकुर्वन्ति । “तमूकरणे तक्षः”—इति^४
श्रुः । “एष एव भवतीति । यूपत्वगात्मक एव भवेत् ‘नान्यः’
शकलः । अथ कारण माह— “एष हि यजुष्कृतो मेध्य इति ।
यजुषा “स्वधिते मैनम्”—इतिमन्त्रेण निष्यादितः^५, अत एव
मेध्यः ॥ ८ ॥

शकलप्राशनं समग्नकं विधत्ते— “य प्रास्यति^६ अग्नेणी-
रसीति^७ । क्षिप्यमानस्य यूपस्य प्रथमम् अग्ने नीयत इति ‘अग्नेणीः’
यूपावयवभूत इत्यर्थः । यदा अग्नेऽवस्थितो यूपोऽवटं प्रति नीयत
इति ‘अग्नेणीः’, पुरस्सर इत्यर्थः । यस्त्वम् ‘अग्नेणीरसि’, य त्वम्
‘उन्नेदृषां’ ऊर्द्धं नेदृषा मध्वर्यूषां ‘स्वावेगः’ यूपावटे सुखेन तैरा-

१— पुरस्तात् (३४६ पृ० १ पं०) द्रष्टव्यम् ।

२— “देवस्य त्वेत्थमि मादाय”—इत्यादीनि सूत्राणीहान्येषानि (सू० ६.

२. ८—१२) । “देवस्य त्वा”—इति मन्त्रस्तु वा० सं० ६. १. १ ।

३— का० श्रौ० सू० ६. २. १३ । ४— पा० सू० ३. १. ०६ ।

५— धनुषद मेवोक्तम् (३०२ पृ० ५ पं०) ।

६— का० श्रौ० सू० ६. २. १६ । ७— वा० मं० ६. २. १ ।

विद्यत इति स्वावेशः । स त्वं हे यूपशकल । 'एतस्य' कर्मणः
 'वित्तात्' । "विद ज्ञाने"^१ । कर्मणि षष्ठौ । विद्धि, विदितार्थं
 भवति; कर्म कृतवान् न भवति । "अधि त्वा स्थास्यतीति ।
 अधीत्युपरिभावे । हे यूपशकल । 'त्वा मधि' तवोपरि यूपः
 स्थास्यति, तस्यावस्थानं वित्तात् । अयेणीरित्यस्य तात्पर्यं माह—
 "पुरस्ताद्वा अस्मादिति । यस्मादेव शकलः 'अस्माद्' धूपात्
 'पुरस्तात्' अपि क्षिद्यते; अस्य प्रथमशकलत्वात्, धूपात् प्रथमं
 नोपमानत्वात् 'अयेणीः' स्वावेश इत्यर्थः । 'एतस्य' सम्यक् वन्दनं
 वित्तादित्यादि स्पष्टम् ॥ ८ ॥

"अथ सुवेणोपहत्याज्य मिति । 'आज्यम् उपहृत्य', 'सुवेण'
 आदाय, 'अवटम् अभि' तूष्णीं 'जुहोति' । "तूष्णीम्"—इति^२
 सूचम् । आग्रस्वनक्षोभार्थवादे 'नेदधस्तादित्यादिकं व्याख्यातम्^३ ।
 "अथ पुरस्तात् परीत्येति"^४ । अवटस्य 'पुरस्तात्' 'परीत्य' परि-
 क्रम्य 'उदङ्' उदङ्मुखः 'आसीनः' अध्वयुर्यजमानो वा 'यूपम्
 अनक्ति', "अध्वयुर्यजमानो वा यूप मनक्ति"—इति^५ सूचकार-
 वचनात् । स्पष्टार्थो यूपान्नमैवः ॥ १० ॥

"सोऽनकीति"^६ । "देवस्त्वा"—इत्यञ्जनमन्त्रस्य^७ तात्पर्यं माह—

१— अथा० प० ५४ धा० ।

२— "सुवेणावटे जुहोति तूष्णीम्"—इति का० श्रौ० सू० ६. २. २० ।

३— पुरस्तात् (४०४ पृ० १ पं०) द्रष्टव्यम् ।

४— का० श्रौ० सू० ६. २. २१ क । ५— का० श्रौ० सू० ६. २. २१ ख ।

६— का० श्रौ० सू० ६. ३. १ । ७— वा० सं० ६. २. २ । ..

“सविता वै देवाना मित्यादिना । यजमाननिष्पाद्यस्य यागस्य
यूपेनापि निष्पाद्यत्वात्, तस्मिद्धिन्यायात् यजमान एव यूपत्वेनोप-
चर्यते । “इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मधु”-इत्याद्युक्तप्रकारेण^१
‘सर्वं मिदं मधु’ । ‘तत’ ‘एनम्’ यूपं मेव, यूपदारेण ‘अनेन
सर्वेषां’ मधुभूतेन चराचरेण आन्यदारेण ‘सस्यर्गयति’ ॥ ११ ॥

“अथ चषालं सुभयतः प्रत्यज्येति^२ । चषालो यूपस्योपरि
प्रतिमोक्तव्योऽष्टात्रिं मध्ये सस्यतो वक्ष्य^३ । तम् ‘उभयतः’ आज्येन
‘प्रत्यज्य’ ‘प्रति मुञ्चति’ उपरि बध्नाति ॥

मन्त्रार्थस्त्वेषः^४ ।— हे चषाल ! त्वा ‘सुपिष्यलाभ्य’ शोभन-
फलाभ्य, ‘ओदधीभ्यः’ तासां मर्यादयः, प्रति मुञ्चामीति शेषः ।
अस्य यूपस्य चषालं सुपिष्यलं खलु, तच्चषालं मध्ये सङ्गृहीतं
मिव क्षुर्यात् ॥

उक्तं यूपफलरूपस्य लौकिकवृत्तदृष्टान्तेन दृढयति— “तिर्यग्वा
इदं मिति । ‘आहतं’ सम्यङ्कृतम्, ‘यदेवेदं समन्धनं’ सम्यक् बन्धन-
साधनं कृत्वा फलं च, ‘अन्तरा’ कृत्वा फलयोर्मध्ये “उपेनितं मिव”
‘उपेनितम्’ अन्यपरिमाणं विद्यते, ‘तदेव’ ‘एतत्’ एतेन चषालोपे-
नितेन कृतवान् भवति । ‘तस्मात्’ मध्ये’ इदं मित्युपसंहारः ॥ १२ ॥

१— इहैवोपरिष्ठात् (१४ का० ४ प्र० ५ ब्रा० १ क०) दृष्टव्यम् ।

२— का० श्रौ० सू० ६ २ २, ४ ।

३— “अद्याच्चषालं पृथुमान् मयात्रि मय्यसङ्गृहीतम्, उर्द्धमग्रे प्रति-
मुञ्चति”-इति का० श्रौ० सू० ६ १-२८, २९ ।

४— वा० स० ६ २, ३ ।

पुनराञ्जनं विधत्ते—“आन्त मग्निष्ठा मनक्तीति^१ । ‘अग्निष्ठाः’
अग्नेरभिमुखाग्निः, तम् ‘अग्निष्ठाम्’, ‘आन्तम्’ उपरिप्रदेशपर्यन्तम्
‘अनक्ति’ । “सोपर मग्निष्ठादेश मरुका”—इत्यादि^२ च सूत्रम् ।
‘सोपरम्’ उपरसहितम् । अग्निसन्निधिसाम्यात् ‘अग्निष्ठाः’ यज-
मानः । “अथ परिव्ययण मित्यादि । ‘परिव्ययणं’ परिव्ययणो
रशनावेष्टनप्रदेशः, तं ‘प्रति’ ‘समन्तम्’ आन्येन ‘परिमृशति’ परि-
मृशेत् । “उच्छ्रीयमाणायासुब्रूहि”—इति^३ सम्येष सुक्ता— ॥ १३ ॥

“स उच्छ्रयति द्या मघेणेत्यादि^४ । “द्या मघेण”—इति मन्त्रेण^५
उच्छ्रयणं कुर्यात् । हे यूप ! ‘धाम्’ अन्तरिक्षम् ‘अघेण’ अघभागेन
‘असृचः’ सृष्टवानसि, तथा तव ‘मध्येन’ मध्यभागेन ‘अन्तरिक्षम्
आ अग्राः’ आपूरितवानसि, ‘वृषिवीम् उपरेण’ भूमौ स्थाप्यो
भाग उपरः, तेन भूलोकम् ‘अदृंह्यः’ दृढ मकरोः । “वज्रो वै
यूपः”—इत्यादि कृतब्रन्दार्थम् ॥ १४ ॥

“अथ भिनोतीत्यादि^६ । “या ते”—इति मन्त्रेण^७ यूपं भिनु-
यात् । हे विष्णो ! ‘ते’ ‘या’ यानि ‘धामानि’ स्थानानि ‘गमन्तौ’
गमनाय प्राप्तये ‘वश्मसि’ कामयामहे, ‘यन’ येषु धामसु ‘गावः’
रश्मयः ‘भूरिष्टङ्गाः’ प्रभृतोर्द्धप्रदेशाः ‘अयासः’ अयनाः गन्तारो
रश्मयः, तं परिवेषं हे विष्णो ! ‘अत्रा’ एषु स्थानेषु ‘उरुगायस्य’

१— का० श्रौ० सू० ६. २. ५ ।

२— का० श्रौ० सू० ६. २. ५ ।

३— का० श्रौ० सू० ६. २. ६ ।

४— का० श्रौ० सू० ६. २. ७ ।

५— वा० सं० ६. २. ४ ।

६— का० श्रौ० सू० ६. २. ८ ।

७— वा० सं० ६. २. १ ।

प्रभृतवाग्गीयमानस्य, 'विष्णोः' व्याप्तस्य, तव श्रुति-सृति-प्रसिद्धं
'परमम्' उत्कृष्ट 'पदम्' 'भूरि' प्रभृतम् 'श्रवभाति' सर्वदा प्रका-
शते, प्रार्थयामह इति शेषः । अथ मधिदैवतः सङ्ग्रहेणोक्तार्थः ॥

अथवा प्रकृतेऽधियज्ञपरतया व्याख्येयः । अस्मिन् पक्षे 'विष्णोः'
सवनत्रयव्याप्तस्य यज्ञस्य, धामानीत्यादि पूर्ववत् ; अत्रोद्गायत्यस्य
विष्णोस्ते 'परमं' पराङ्गे 'पद' धूपाख्य मवभातीति^१ ॥

मन्त्रस्य विष्टुपत्वं धूपमानस्योचित मिति प्रशंसति— "एतया
विष्टुमेति ॥ १५ ॥

माने विशेष माह— "सम्यत्यग्नि मिति^२ । 'अग्निष्टाम्' 'सम्य-
त्यग्निम्' अन्यभिमुखं 'मिनोति' प्रक्रमार्यम् । विपक्षे दोषप्रदर्शनेन
वृद्धयति— "यजमानो वा अग्निष्टाग्निरिति । 'स.' अध्वर्युः 'यद्'
यदि 'अग्नेः' सकाशात् 'अग्निष्ठां' 'कलयेत्' चालयेत्, 'यज्ञात्'
'यजमानः' अपि 'कलेत्' पश्येत्, 'तस्मात्' सम्यत्यग्निं मितुयात् ॥

"अथ पर्युहतीति^३ । पर्युहणादिमन्त्राणां मौदुम्ब्यां मुक्तत्वात्"
अत्र ब्राह्मणे उपेक्षिताः ॥ १६ ॥

"अथैव मभिपद्येति^४ । एव कर्मकलापं हत्वा धूप मन्वारभ्य

१— एतन्मन्त्रस्य व्याख्येयं व्याख्यानञ्च द्रष्टव्यम् (२. २ ३ निब०) ।

२— का० श्रौ० सू० ६. १ ८ । ३— का० श्रौ० सू० ६. १ १० ।

४— पर्युह्यम्, पर्युह्यतम्, अथ उपनिष्यन् मिति त्रौटि कर्मादि ४ प्र०

५ ब्रा० १०, १८, १९ कण्डिकासु (३४४ ए०) विहितानि ।

तत्र सावेव मन्त्रौ । तौ त्विह वा० सं० ६. १ २, ३ पुनराध्यातौ ।

५— का० श्रौ० सू० ६ १ १२ ।

‘वाचयति’ “विष्णोः कर्माणि”-इत्यमुं मन्त्रम् । “विष्णोः कर्मा-
णीति वाचयति यूप मन्वारम्भम्”-इति^१ हि सूचम् ॥

अयं मर्थः ।— ‘विष्णोः’ यज्ञात्मनः ‘कर्माणि पश्यत’ इह नराः ।
‘यतः’ यस्माद् ‘व्रतानि’ कर्माणि जायन्ते, यानि च ‘पश्यसे’
सृष्टवान् । यो विष्णुः ‘इन्द्रस्य’ च यज्ञाभिमानिनो देवस्य ‘युज्यः’
योग्यः ‘सखा’ सखिभूतः ॥

मन्त्रतात्पर्यं व्याचष्टे— “वक्षं वा एष इत्यादिना । ‘उद्दिशि-
श्रियत्’-इति, “श्रिन् सेवायाम्”-इत्यस्य लुङि रूपम् । कर्मणां
वृत्तत्वेऽपि विजितेरेकत्वात् एकवचनान्तं निर्दिष्टम् । चतुर्थपादे
इन्द्रश्रवणं सङ्गतं मित्याह— “इन्द्रो वै यज्ञस्य देवतेति ॥ १० ॥

“अथ चपास मुदीचते” तद्विष्णोरित्यादि^२ । ‘उदीचते’ ऊर्द्धं
मीचेत । ‘विष्णोः’ यज्ञस्य ‘तत्’ ‘परमं पदम्’ पद्यत इति पदं
यूपः, तं ‘सदा पश्यन्ति’ ‘सूरयः’ विद्वांसः । कौटुम्भम् ? ‘दिवि’
आकाशे निरावरणे ‘आततं’ प्रसृतम् ‘चक्षुरिव’ ।

मन्त्रस्य तात्पर्यं माह— परमपदस्य यूपस्य शत्रुवधार्थं मुद्यत-
वज्ररूपत्वात्, तद्दर्शनेन यज्ञविघातकानां मसुराणां पलायनात्,
उच्छ्रितयूप एव विष्णोर्विजितिसिंहं ‘पश्यत’— ‘इति’ मन्त्रः ‘आह’
इत्यर्थः ॥ १८ ॥

१— वा० सं० ६. ४. १ ।

२— का० श्रौ० सू० ६. ३. १२ ।

३— आ० उ० ८६७ धा० ।

४— का० श्रौ० सू० ६. ३. १३ ।

५— तन्मन्त्रपाठस्तु— वा० सं० ६. ४. २ ।

रश्नापरिव्ययन विधाय प्रशंसति— “अथ परिव्ययतीति^१ । परिव्ययनप्रदेश मभिनयेन निर्दिशति— ‘अत्र’^२ नाभिप्रदेशे इत्यर्थः । “नाभिदग्ने परिव्ययति”—इति तैत्तिरीयकम्^३ । उक्तायै लोकस्थिति हेतूकरोति— “अत्रेव हीति । लोके हि मध्यदेशे खलु ‘इदं’ वसन ‘भवति’, तस्मादित्यर्थः । “अन्नाद्य मेवेत्यादि । रश्नाया अन्नसम्बन्धिविकारत्वेनान्नरूपत्वात् अन्न मेवास्मिन्नुपस्थापितवान् भवति ॥ १८ ॥

रश्नायास्त्रैगुण्य माह— “चिद्वत्तेति^४ । अन्नस्य चिद्वत्त्वं कुत्र दृष्टं मिति, तद् दर्शयति— “पशवो ह्यन्नं मिति । कथं तेषु चिद्वत्त्वं मिति तदुपपादयति— “पिता मातेत्यादि । दधिपयोऽरूपस्यान्नस्य चयाणां मयि कारणत्वात् तेषां मय्यन्नलोपचारः ॥ १० ॥

“स परिव्ययतीति । परिव्ययने मन्त्र माह— “परिवीरसीति^५ । हे धूप । त्वं ‘परिवीरसि’ परितो रश्नाया वेष्टितोऽसि । ‘दैवी विग्रह’ देवसम्बन्धिन्य’ प्रजा त्वां ‘परिव्ययन्ताम्’ वेष्टयन्तु । तथा ‘इमं यजमानम्’ एव ‘मनुष्याणाम्’ इतरेषां मध्ये ‘रायः’ धनानि परिव्ययन्तु ॥ २१ ॥

“अथ धूपप्रकल मवगूहतीति^६ । ‘धूपप्रकल’ स्वरूपं अवगूहेत् रश्नामध्ये । ‘तस्मात्’ स्वरोर्यूपरूपत्वात् । एव सर्वथावगूहनौयत्वात्

१— का० श्रौ० सू० ६ ३ १४ ख ।

२— ‘अत्रैव’—इति छ ।

३— तै० स० ६ ३ ४, १६ ।

४— “चिद्वत्त्वा चिद्वत्ता कौशो रश्ना” का० श्रौ० सू० ६ ४ १४ क ।

५— वा० स० ६ ६ १ ।

६— का० श्रौ० सू० ६ ३ २० ।

यूपैकादशित्वपक्षेऽपि स्वस्वयूपानतिक्रमेणैवावगूहेत्^१ । ‘अविपर्यासं’
विपर्यासायाः क्रमेणग्रहणाद् । दोषाभिधानेनाविपर्यासं प्रशंसति—
“तस्य हैषासुग्धानुव्रतेत्यादिना । असुग्धा माह— ‘अनुव्रता’ यज-
मानव्यापारानुकूला । विपर्यासपक्षे उक्तवैपरीत्यं व्याख्येयम् ॥ ११ ॥

यूपशकल-रश्मना-सपालानां क्रमेणोर्द्धभाविनात् स्वर्गारोहण-
सोपानत्वेन प्रशंसति— “स्वर्गस्थो हैव लोकस्य समारोहण इत्या-
दिना ॥ १२ ॥

यूपावधवत्त्वेन स्वरोः सर्वपावगूहनं प्रशंसितुं तन्नाम निर्वक्ति—
“अथ यस्मात् स्वरुमिति । ‘एतस्मात्’ एव ‘एषः’ यूपशकलः
‘अपच्छिद्यते’ । तत् ‘एतत्’ द्विवचनं द्रव्यम् अस्य यूपसम्बन्धि पुनः
‘स्व मेव’ स्वकीय मेव ‘अहः’ गन्ता भवति । ‘तस्मात्’ स्व निय-
र्त्तति ‘स्वहः’ ‘नाम’ सम्पन्नम् ॥ १३ ॥

यूपं लोकत्रयजयात्मना प्रशंसति— “तस्य यन्निखात मिति ।
निखन्यत इति निखातो गतान्तरालः । “तेन पितृलोकं जय-

१— का० औ० सू० ६. ३. १८ ।

२— “त एतं स्वयं मयश्चान् यूपशकलम्”—इति ऐ० ब्रा० २. १. २ ।
“यूपशकलं मेतं—स्वरुमिति स्वयं काष्ठखण्डम्”—इति तत्र
सायणः । “स्वरुणा यशु मनक्ति”—इति तै० सं० ५. ५. ०. १ ।
तै० ब्रा० २. ४. ०. १०, ११ । “स्वयं मन्तर्धाय स्वधितिना यशुं
समनक्ति, हतेनाक्तौ यशुं प्रायेथा मिति शिरसि । न वा स्वधितिना,
स्वरुणैव”—इति आप० औ० सू० ०. १४. ११, १२ । मीमांसादर्शने
च जै० सू० ४. २. १-०, अधि० १ स्वरुविचारो द्रव्यत्वः ।

तीति । चधालादुपरि यूपायं द्विचद्रुलभागः, 'तेन' भागेन 'माध्या
इति' प्रसिद्धाः 'देवाः' सन्ति, 'तेषां' लोकं जयति'¹ । वेदितुः फल
माह—“सलोको ह वा इति ॥ २५ ॥

यूपस्य पूर्वाङ्गं भूमौ यत् मानम्, तत् दण्डसाम्यतः स्तौति—
“तं वै पूर्वाङ्गं मिनोतीति । यज्ञस्य प्रहरणसाधनत्वात् दीर्घत्वाच्च
वज्रो दण्डः । 'दण्डस्य पूर्वाङ्गम्' 'अभिपद्य' गृहीत्वा प्रहरति',
'यज्ञस्य' अपि 'एष' यूपः 'पूर्वाङ्गः', होमात् पूर्वं मनुष्ठेयत्वात् ।
'तस्मात्' 'पूर्वाङ्गं' पूर्वभागे 'मिनोति' ॥ २६ ॥

प्रकारान्तरेण पूर्वाङ्गं मभिमातु भूयो द्योतयति—“यज्ञेन वै
देवा इत्यादिना । एतदसङ्गद् गतम्² । देवैस्त्रिरोभावितस्य यज्ञस्य
यूपस्य इतरेषा मनुष्ठादृणां प्रज्ञापकत्वात्, प्रज्ञापकस्य पुरस्ता-
द्भावितदर्शनात् यूपोऽपि पुरस्तात् देशे स्थाप्य इत्यर्थः । 'मनोजव'
मनसो वेगः । यूपस्य देवैराष्णादितयज्ञस्य प्रज्ञापकत्वं तैत्तिरी-
यकेऽप्युक्तम्—“यज्ञेन वै देवाः सुवर्गं लोकं मायन्, तेऽमन्यन्त,
मनुष्या नोऽस्वाभविष्यन्तीति, ते यूपेन द्योपयित्वा सुवर्गं लोकं
मायन्, तं मृषयो यूपेनैवानुप्राजानन्, तद् यूपस्य यूप-
त्वम्”—इति³ ॥ २७ ॥

“स वा अष्टाश्रितित्यादि । स्पष्टम् ॥ २८ ॥

१—तै० सं० ६. २. ४. २१, २२ वधने दृश्ये ।

२—१ का० ५ प्र० १ ब्रा० १ क० (४०५ ए०) दृश्यम् ।

३—तै० सं० ६. ३. ४. २० ।

यूपे^१ निगूढस्य खरोरुत्तरञ्च प्रतिपत्तिकर्मत्वेन यूपप्रतिनिधा-
त्मना होम मभिधातु माह— “त ह स्मैत मित्यादिना । “यथेद
मयेतर्ह्येक इति । ‘अयेतर्हि’ इदानीं मपि, ‘एके’ अनुष्ठानारः,
‘इदम्’-इत्यनुप्रहरणकियाविशेषणम् । देवा यथा, तथा अनु-
प्रहरन्तीत्यर्थः । इदानीं मपि अनुप्रहरण मेव कुर्वन्ति । ‘देवा
अकुर्वन्ति । न तावद् यज्ञस्यानीयस्य यूपस्य दग्धत्वेन बाधका-
भावात् यथाकामम् ‘उदपिबन्त’ ॥ १८ ॥ ३० ॥

सोऽध्वर्युरिति । देवाः ‘तत्’ तेनैव खलु ‘एष,’ यज्ञः ‘स्वगा-
ह्यत,’ स्व स्थान प्राप्तः, ह्यतप्रतिपत्तिकः ‘आसीत्’ । स्पष्ट
मन्यत्^२ ॥ ११, १२ ॥ ४ [७. १.] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वतीयकाण्डे सप्तमाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

१— “अथाग्निं करोत्युपरवर्जम्”—इति का० श्रौ० सू० ६. १. २० ।

‘अथाग्निम्—अष्टकोशम् । उपरोऽवट, तत्सम्बन्धिन निखननाहं

यूपस्य प्रदेश मूलतः पञ्चमाश वर्जयित्वा”—इति तत्र या० दे० ।

२— सर्वं मेतद् यूपप्रकरणं तैत्तिरीयभाष्ये भगवता सायणाचार्येण व्यक्त
व्याख्यातम्, तै० सं० ६ ३ ३, ४ दृश्यम् ।

(अथ द्वितीय ब्राह्मणम्)

यावती वै व्वेदिस्तावती पृथिवी । व्वज्जा वै यूपस्तु-
दिमा मेवैतत् पृथिवी मेतैर्व्वज्जैस्पृणुतेऽस्यै सपुत्रा-
न्निर्भजति तस्माद् यूपैकादशिनी भवति द्वादश उप-
शयो भवति व्वितष्टुं दक्षिणतु उपनिदधाति तद्यद्
द्वादश उपशयो भवति ॥ १ ॥

देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः* । तेऽसुररक्षसेभ्य आस-
ज्ञाद् विभयाञ्चक्रुस्तद्य एत ऽडुच्छिता यथेपुरस्ता तुया वै
स्तृणुते वा न वा स्तृणुते यथा दण्डः प्रहृतस्तेन वै
स्तृणुते वा न वा स्तृणुतेऽथ यु एषु द्वादश उपशयो
भवति यथेपुरायतानस्ता यथोद्यत मुप्रहृत मेव मेप
व्वज्ज उद्यतो दक्षिणतो नाष्टाणाः† रुक्षसा मुपहत्यै
तस्माद् द्वादश उपशयो भवति ॥ २ ॥

तं निदधाति† । एषु ते पृथिव्यां लोके आरण्यस्ते
पशुरिति पशुश्च वै यूपश्च तुदत्ता आरण्य मेव पशूना
मुनुदिशति तेनो ‡ एषु पशुमान् भवति तुद् द्वयं
यूपैकादशिन्यै सम्मुयन माहुः श्वसुत्यायै इ न्वेवैके

* 'ना'—इति ग, घ ।

† 'तन्निदधाति'—इति ख ।

‡ 'तुद् वष'—इति घ ।

सुमिन्वन्ति प्रकुर्वतायै* चैव श्वःसुत्यायै यूपं मिन्वन्तीत्यु
च ॥ ३ ॥

तुदु तथा न कुर्यात् । अग्निष्ठ मेवोच्छयेदिदं वै यूप
मुच्छ्रित्याध्वर्युरा परिव्ययणान्नान्वर्जत्यपरिवीता वा
ऽएतु ऽएताः रात्रिं व्वसन्ति सा न्वेषु परिचक्षा पशुर्वै वै
यूप मुच्छ्रयन्ति प्रातर्वै पशूनाल्लभन्ते तस्मादु प्रातुरे-
वोच्छयेत् ॥ ४ ॥

स य उत्तरोऽग्निष्ठात् स्यात्† । तु मेवाग्र ऽउच्छ-
येदथ दक्षिण मथोत्तरं दक्षिणार्द्धं मुत्तमं तथोदीची
भवति ॥ ५ ॥

अथो ऽइतरथाहुः । दक्षिण मेवाग्रेऽग्निष्ठादुच्छयेदथो-
त्तर मथ दक्षिण मुत्तरार्द्धं मुत्तमं तथो हास्योदगेव
कुर्मानुसन्तिष्ठत ऽइति‡ ॥ ६ ॥

स यो व्वर्पिष्ठः सु दक्षिणार्द्धः स्यात् । अथ ह्रसीया-
नुथ ह्रसीयानुत्तरार्द्धो ह्रसिष्ठस्तथोदीची भवति ॥ ७ ॥

अथ पुत्रीभ्यः पत्नीयूप मुच्छ्रयन्ति । सर्वत्वायु न्वेषु॥
पत्नीयूप उच्छ्रीयते तुत् त्वाद्रं पशु माल्लभते त्वष्टा वै

* 'प्रकुर्वतायै'—इति ख, डा०—वेवरेण B पुस्तके दृश्यते ।

† 'पशुर्वै'—इति क ।

‡ 'स्यात्'—इति ग, घ ।

§ 'इति'—इति ग, घ ।

॥ 'त्वेव'—इति पाठः सायणसम्मतः B-पुस्तके दृश्यते च इति डा०—वेवरः ।

सिक्तः रेतो व्विकरोति तुदेषु एवैतुत्सिक्तः रेतो व्वि-
 करोति मुष्करो भवत्येष वै प्रजनयिता युन्मुष्करस्तुस्मान्
 मुष्करो भवति तन्न* सुऽस्थापयेत्पूर्यग्निक्षत मेवोत्सृजेत्
 स युत्सःस्थापयेत् प्रजायै ह्वान्त मियात्तुत् प्रजा मुत्सृ-
 जति तुस्मान् सुऽस्थापयेत्पूर्यग्निक्षत मेवोत्सृजेत् ॥ ८ ॥
 ५ [७. २.]

॥ इति पञ्चमप्रपाठके पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

अग्नीषोमीयधूपप्रसङ्गात् धूपैकादशीनी^१ विधातु सुपोद्वात-
 यति— “यावती वै वेदिरिति । “इय वेदि परो अन्तः
 पृथिव्या^२”, “वेदि माहुः पर मन्तं पृथिव्या.”—इत्यादिश्रुतेः ।
 ‘इमां’ पृथिवीम् ‘एतै’ धूपै. ‘वज्रै.’ ‘सृणुते’ यत्नवतीं करोति ।
 अतोऽत्यन्तदाह्याय धूपैकादशीनी कर्त्तव्या । अथ धूपैकादशीनी-
 विधानं “धूपैकादशीनी चेत् रथाक्षमाचाण्यन्तराणि”—इत्यादि-

* ‘त न’—इति ग, घ ।

१— अग्निष्टोमे आग्नेय सारस्वत सौम्य धौण्य-गार्हस्पत्य वैश्वदेव ऐन्द्र-
 माशत-ऐन्द्राग्र-सावित्र वासवा इत्येकादशस्तोमायनसंज्ञका सव-
 नीया पशवो भवन्ति । एषा मेकादशाना नियोजनार्थं मेक एव
 धूप, प्रतिपद्य एकैको वेति नियमात् यूपो अथवास्मिन् पक्षे एका-
 दशैव भवन्ति । एकादशाना वर्गं एकादशीनीति सङ्क्षेपः । तै० सं०
 ६ ६ ५ मध्यम् । तदेव सर्वं वा० सं० २० अध्याये स्पष्टम् ।

२— अ० स० १. १६७ ४५ ।

३— तै० स० ७ ४ १८. ६ ।

सूत्रेषु^१ द्रष्टव्यम् । तस्मिन् पक्षे 'उपशयः' यूपानां समीपे श्रुते
इत्युपशयोऽन्यो यूपः^२, स 'द्वादश भवति' । स च 'वितष्टः'
विशेषेणोपरप्रदेशेऽपि तष्टः । 'तं' यूपानां दक्षिणदेशे भूमौ निखातं
कृत्वा तृणौ स्थापयेत्^३ ॥ १ ॥

उपशयं रक्षोनाशकत्वेन प्रशंसति— 'देवा ह वै यज्ञं तन्वाना
इत्यादिना । यथा सुक्तेषुः प्रवृत्तो दन्तिदण्डो वा यदा क्षु-
र्गच्छति, तदा क्षयं विध्यति, न चेन्न, एवं यूपोऽपि उपशय-
सहितः स्थापितः ; तत्पतनाशङ्काया अपगतत्वात् रक्षसां यूप-
विषयं भयं नोदियादित्यर्थः । अतो यूपस्य सोपशयत्वे सति
सुक्तेषुवत् यदोपशयाख्यं वक्ष्यं मुच्यतेतीति रक्षसां भयं मुत्पद्यते ।
तस्मादुपशयः कर्त्तव्य इत्यर्थः ॥ २ ॥

निधानमन्त्रमाह— "तं निदधात्येष ते पृथिव्यां लोक आरण्यस्ते
पशुरित्तीति"^४ । हे उपशय ! यूप ! यूपानां दक्षिणप्रदेशः 'पृथिव्यां'
'ते' तव 'लोकः' स्थानम्, अतो न भूम्या मन्त्रमिनामीत्यर्थः ।
तर्ह्यस्य कः पशुः ? इत्याकाङ्क्षायां दर्शयति— "आरण्यस्ते पशु-
रिति । अरण्ये भवः 'आरण्यः' व्याघ्रादिरिति निर्दिशेत्, पृथिव्यां
स्थापयेत् । तथाच सूत्रम्— "वितष्टं द्वादशं निदधात्येष त
इतीति"^५ । यूपस्य सर्वथा पशुमन्त्रोऽपेक्षित इत्याह— "पशुश्च वै

१— का० श्रौ० सू० ८. ८. ६-१३ ।

२— तै० सं० ६. ६. ४. ८ द्रष्टव्यम् ।

३— का० श्रौ० सू० ८. ८. २३ ।

४— वा० सं० ६. ६. १ ।

५— का० श्रौ० सू० ८. ८. २३ ।

यूपश्चेति । अविनाभूतावित्यर्थः । 'वै'-शब्द इतरयूपानां पशु-
सम्बन्धनियमप्रसिद्धिद्योतनार्थः । 'तत्' तस्मादव्यभिचारात् । "तद्
द्वय मिति । यूपैकादशिन्या 'सम्भयन' 'द्वय' द्विविध मित्यर्थः ।
'आहु' विवदन्ते अभिज्ञा ॥

तनैकेषाञ्चित् पक्ष माह— "यं सुत्यायै ह त्वेवैके सम्भिव-
न्तीति । 'य' परेषु क्रियमाणाया सुत्याया पूर्वस्मिन् दिने
अग्निष्ठप्रमुखाम्^१ सर्वान् यूपान् निखनन्ति ॥ ३ ॥

॥ पक्ष निराचष्टे— "तदु तथेति । तस्मिन् काले 'अग्निष्ठम्'
एकम् 'एव' उत्तरवेदे पुरोदेशस्यम् अग्नीषोमीयपञ्चमम् 'उच्छ्र-
येत्'^२ । इतरेषां अपि पूर्वधुरुच्छ्रयणे दोष माह— "इदं वा
इत्यादिना । 'इदं' वक्ष्यमाणं भवतीत्यर्थः । 'आ परिख्ययणात्'
रक्षणापरिख्ययणपर्यन्तम्, 'अध्वर्यु' 'नान्वर्जति' नैव हस्तस्यं परि-
त्यजेत् । अतोऽग्निष्यगिरिक्कानां परिख्ययणस्य 'प्रातः' परेषु पशु-
पकरणकाले कर्त्तव्यत्वात् इत्स्ना 'रात्रिम्' 'अपरिवीता' नग्ना
वसन्ति । 'सा न्वेव' सैव, उक्तलक्षणेनैव 'परिचक्षा' पूर्वधुरुच्छ्रयमाण-
पक्षस्य निन्दा ।

स्वपक्षे युक्ति माह— "पशवे वै यूपं मुच्छ्रयन्तीति । 'तस्मात्'
'प्रातरेव' परेषुरेव उच्छ्रयणं कुर्यादिति निगमनम्^३ ॥ ४ ॥

एकादशिनौपक्षे केन क्रमेणोच्छ्रयणं मिति, त माह— "यं य

१— अग्नीषोमीयममोपे तिष्ठतीत्यग्निष्ठं प्रथमो यूपः ।

२— का० श्रौ० सू० ६ २ ५ ।

३— का० श्रौ० सू० ८ ८ १५ ।

उत्तरोऽग्निष्ठात् स्यादिति । अग्निष्ठमथ्य मवधिं कृत्वा तत उत्तरतः प्रथमम्, ततो दक्षिणतो द्वितीयम्, तत उत्तरतस्तृतीयम्, ततो दक्षिणतश्चतुर्थं मित्येव सुभयोः पार्श्वयोरुत्तरपार्श्वेन पञ्च पञ्च धूपा उच्छ्रिताः । एवं क्रमेण दक्षिणार्द्धं गवम् 'उत्तमं' कुर्यात् । 'तथा' सन् 'उदीची भवति' उत्तरोपक्रमा भवतीत्यर्थः^१ ॥ ५ ॥

“अथो इतरथाह्वरिति । “दक्षिण मेवाय इत्यादिकं पूर्ववाक्य-
त्रैपरौत्येन व्याख्येयम् । तथो हाम्येति । एवं कुर्वतः कर्म 'उदगेव'
आनुपूर्व्येण 'सन्तिष्ठते' समाप्यते । पूर्वस्मिन् पक्षे उदगुपक्रमः,
द्वितीये उदगपवर्ग इति भेदः ॥ ६ ॥

“स यो वर्षिष्ठ इति । तेषां सुत्तरोत्तरो 'यः वर्षिष्ठः', 'सः
दक्षिणाह्वः' स्यात्' । “अथ ह्रषीयानित्यादिना दक्षिणोपक्रम
मुदगपवर्गम् । प्रथमं वर्षिष्ठ मत्युच्छ्रितम्, ततः पर मीषदुच्छ्रित
मित्येवं क्रमेणोच्छ्रयेत् । तथा सति सर्वेषां सुत्तरस्तु 'ह्रषिष्ठः'
अतिशयेन ह्रस्वो भवति'^२ ॥ ७ ॥

प्रसङ्गात् पाद्वीवत पशुप्रयोग माह^३— “अथ पद्वीभ्यः पद्वी-
धूप सुच्छ्रयन्तीति^४ । 'पद्वीधूपम्'-इति पाद्वीवतधूपस्य सञ्ज्ञा, तं
'पद्वीभ्यः' अर्थाय उच्छ्रयेत् । एतत् प्रशंसति—“सर्वेत्वाय न्विति ।
“तत्त्वाद् मित्वादि^५ । 'तत्' तत्र धूपे 'त्वाद्' लघुदेवताकं 'पशुम्'

१— का० श्रौ० सू० ८. ८. १८-२१ ।

२— का० श्रौ० सू० ८. ८. १८ ।

३— 'पशुप्रयोजन माह'-इति कृ ।

४— का० श्रौ० सू० ८. ८. ४१ ।

५— का० श्रौ० सू० ८. ८. १ ।

आलभेत । देवता प्रशसति—“त्वष्टा वै भिक्त रेत इति । ‘वै’-शब्देन
 “यावच्छो वै रेतस भिक्तस्य त्वष्टा रूपाणि विकरोति, तावच्छो
 वै तत् प्रजायते”—इत्यादि^१ श्रुत्यन्तरप्रसिद्धिर्द्योत्यते । विशेष
 माह—“मुष्करो भवतीति । ‘मुष्कर’ प्रष्टष्टमुष्क । “उषसुषी-
 त्यादिना र-प्रत्यय^२ । इतरपशुवत् सञ्ज्ञापनप्रसक्तावाह—“तन्न
 सस्यापयेत्, पर्यग्निरुत मेवोत्सृजेदिति । ‘सस्यापन’ पशुसञ्ज्ञापनम् ।
 ‘एव’ शब्दो भिन्नक्रम । उत्सृजेदेव, न सस्यापयेत् । सस्यापनपक्षे
 दोष माह—“स यत् सस्यापयेदिति । ‘प्रजायै’ प्रजाया युचपौत्रादि-
 रूपाया ‘अन्तम्’ अवसानम् ‘इयात्’ प्राप्नुयात् । मुष्करस्य प्रजन-
 नेन पिबत्वोपन्यासात् सञ्ज्ञापन मयुक्त^३ ॥ ८ ॥ ५ [७ २] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

तृतीयकाण्डे सप्तमाध्याये द्वितीय ब्राह्मणम् ॥

१—तै० स० १ ५ ६ ५ इत्यमरम् ।

२—‘उषसुषिमुष्कमधो र’-इति पा० सू० ५ २ १०० ।

३—तै० स० ६ ६ ४, ५ धनुवाकावालोच्यौ । तत्रात्रैव प्रकरणे श्रुत
 मिद सामाजिक वचनम्—‘यदेकस्मिन् यूषे द्वे रश्मने परिच्ययति,
 तस्मादेको द्वे जाये विन्दते, यद्वैका रश्मनां द्वयोर्यूपयो परिच्ययति,
 तस्माद्वैका द्वौ पतौ विन्दते—इति (६ ६ ४ ०) ।

(अथ तृतीयं ब्राह्मणम्.)

पशुश्च वै यूपश्च । न वा ऽऋते यूपान्पशु मालभन्ते
कदा चन तद्यत्तुया नु ह वा ऽएतस्मा ऽऋते पशुव-
श्चक्षमिरे यदुन्न मुभविष्यन् युथेद मुन्नं भूता यथा हैवायं
द्विपात् पुरुष उच्छ्रित एवुः हैव द्विपाद उच्छ्रिता-
श्चेरुः ॥ १ ॥

ततो देवा एत व्वजं दुहशुः । यद्यूपं त मुच्छिश्चियु-
स्तस्माद्द्वीपा प्राप्तीयन्तः॑ ततश्चतुष्पादा अभवंस्ततोऽन्न
मभवन् युथेद मुन्नं भूता एतस्मै हि वा ऽएतेऽतिष्ठन्त
तस्माद् यूप एव पशु मालभन्ते नर्त्ते यूपान् कदा-
चनः॑ ॥ २ ॥

अथोपाकृत्य पशुम् । अग्निं मथित्वा नियुनक्ति तद्य-
त्तुया नु ह वा ऽएतस्मा ऽऋते पशुवश्चक्षमिरे युद्धविरुभवि-
ष्यन् युथैनानिदुः हविर्भूतानग्नौ जुहति तान् देवा
उपनिरुधुस्तु ऽउपनिरुद्धा नोपावेयुः ॥ ३ ॥

ते होचुः । न वा ऽइमेऽस्य यामं॑ व्विदुर्यदग्नौ हविर्जु-
हति नैतां प्रतिष्ठा मुपरुद्धैव पशूनाग्निं मथित्वाग्नावग्निं

• 'प्राप्तीयन्तः'-इति सा०-सम्मत इति डा०-वेवरः ।

† 'चन'-इति ग, घ ।

‡ 'यामं'-इति सा०-सम्मत इति डा०-वेवरः ।

जुह्वाम ते वेदिष्यन्त्येष वै किल हविषो याम एषा
प्रतिष्ठामौ वै किल हविर्जुह्वतीति ततोऽभ्यवैष्यन्ति ततो
रातुमनस आलम्भाय भविष्यन्तीति ॥ ४ ॥

तु उपरुध्यैव पशून् । अग्निं मथित्वाग्नावग्निं मजुह्व-
स्तेऽविदुरेष वै किल हविषो याम एषा प्रतिष्ठामौ
वै किल हविर्जुह्वतीति ततोऽभ्यवायंस्ततो रातुमनस
आलम्भायभवन् ॥ ५ ॥

तयो ऽएवैषु एतत् । उपरुद्धौव पशु मग्निं मथित्वा-
ग्नावग्निं जुहोति सु वेदैष वै किल हविषो याम एषा
प्रतिष्ठामौ वै किल हविर्जुह्वतीति ततोऽभ्यवैति ततो
रातुमना आलम्भाय भवति तस्मादुपाकृत्य पशु मग्निं
मथित्वा नियुनक्ति ॥ ६ ॥

तुदाहुः* । नोपाकुर्यान्नाग्निं मन्येद्रश्नुता मेवादाया-
ञ्जसोपपरेत्याभिधाय नियुञ्जगादिति तुदु तथा नु
कुर्याद्यथाधर्मं तिरश्चुथा चिकीर्षेदेवं तत्तस्मादेतदेवा-
नुपुरीयात् ॥ ७ ॥

अथ तृण माद्वयोपाकरोति । द्वितीयवान्निरुणधा
ऽहुति द्वितीयवान् हि वीर्यवान् ॥ ८ ॥

स तृण मादत्ते । उपावीरसीत्युप हि द्वितीयोऽवति

तुस्मादाहोपावीरसौत्युप देवान्* दैवीर्विशः प्रागुरिति
दैव्यो वा ऽएता विशो युत्यश्वोऽस्थियत देवेभ्य इत्येवै-
तदाह यदाहोप देवान्† दैवीर्विशः प्रागुरिति ॥ ६ ॥

उशिजो बृहत्तमानिति । विश्वाऽसौ हि देवास्तु-
स्मादाहोशिजो बृहत्तमानिति ॥ १० ॥

देव त्वष्टर्वसु रमेति । त्वष्टा वै पशूना मौष्टे पशुवो
वसु तानेतदेवा श्रुतिष्ठमानांस्त्वष्टार मब्रुवन्नुपनिमडेति
यदाह देव त्वष्टर्वसु रमेति ॥ ११ ॥

हव्या ते स्वदन्ता मिति । यदा वा ऽएतु ऽएतुस्मा
ऽश्रुभ्रियन्त युद्धविरुभविष्यंस्तुस्मादाह हव्या ते स्वदन्ता
मिति ॥ १२ ॥

रेवती रुमध्व मिति । रेवन्तो हि पशुवस्तुस्मादाह
रेवती रुमध्व मिति बृहस्पते धारुया वृक्षनीति वृक्ष
वै बृहस्पतिः पशुवो वसु तानेतदेवा श्रुतिष्ठमानान्
वृक्षणैव परस्तात्पूर्यदधुस्तन्नात्वायंस्तुयो ऽष्टुवैनानेषु
एतद् वृक्षणैव परस्तात्पुरिदधाति तन्नातियन्ति तुस्मा-
दाह बृहस्पते धारुया वृक्षनीति पुरां कृत्वा प्रति-
मुञ्चत्यथातो नियोजनस्यैव ॥ १३ ॥ ६ [७. ३.] ॥

॥ इति पञ्चमप्रपाठके षष्ठं ब्राह्मणम् ॥

पशुनियोजनाय सर्वथा यूपेनैव भवितव्य मित्यसु मर्यं
माख्यानमुखेनोपपादयति— “पशुश्च वै यूपश्चेत्यादिना । अविना-
भूतावित्यर्थः । व्याप्तिं दर्शयति— “न वा चत इति । यतो यूप
विना पश्चालम्भो नास्ति, केनापि प्रकारेण न तथा स्यात्, यथा
पशोर्यूपेन, अतस्तदुपपद्यत इत्यर्थः । तत् प्रदर्शयते— “न ह वा
इत्यादिना । ‘एतस्मै’ वक्ष्यमाणाय देवाना मन्त्रमावाय ‘न’
‘चक्षमिरे’ उममाणा भवन्ति, ‘अन्न मभविष्यन्निति’ ‘यत्’ अस्ति,
तस्या मित्यर्थः । ‘यथा’ ‘इदम्’ इदानीं यूपनियुक्ताः ‘अन्न भूत’
अन्न मभवन्, तथा यूपारख्यवज्रोद्यताया रहिते काले इत्यर्थः । अन्न-
भावाभावे कारण माह— “यथा हैवाय दिपात् पुरुष इति ॥१॥

“ततो देवा इति । ‘त यूपम्’ ‘उच्छिष्यिषु’ उच्छिष्यण
मकुर्वन् । ‘तस्मात्’ भयात् हेतो ‘प्राप्तीयन्तः’ प्रकर्षेण षीनाः
अवचनीयाः अभवन् । ‘तत’ हेतोः मनुष्यवद् दिपादाः सन्तः
पश्चात् ‘चतुष्पादा अभवन्’ ॥ १ ॥

प्रासङ्गिकं यूपेकादग्निनोपच परिषमाप्य प्रकृत मग्नौषोमीय-
पशुप्रयोग माह— ‘अथोपाहत्य पशु मिति’ । पशुपाकरणान-
न्तरम्^१ अग्निमन्यनानन्तरं मेव पशु यूपे नियुञ्जीत । पशुनियो-

१, २, ३— ‘प्राप्तीयन्तः’-इति, ‘शीना’-इति, ‘अवचनीया’-इति च छ ।

४— ‘अग्नौषोमीयोऽत पशु’-इति का० श्रौ० सू० ८, ७ २५ ।

५— “उपावत्तंश्च मित्यथ प्रैष उपाकरणशब्देनोच्यते, तद्वतिगिक्त किमपि
न ब्रूयात्, तेनोपाकरणेन यध्वर्युर्ब्रूयादृश्यो यश्च प्रयच्छति”-इति
या० दे० (का० श्रौ० सू० ३ ४ १०) । १ मा० १५६ प०
२ टोपनी च द्रष्टव्या ।

जनस्य अग्निमन्यनानन्तरकालं प्रशंसति— “तद्यत्तथा न ह वा
एतस्मा अग्ने पशव इत्यादिना । पूर्वार्थवादवाक्यवत् व्याख्येयम् ।
‘नोपावेयुः’ नोपगताः पशवः ॥ २ ॥

“ते होचुरिति । ‘न वा’ ‘इमे’ पशवः ‘यद्ग्नौ जुहति’ ।
यतः ‘अस्य’ नियोजनस्य ‘याम’ प्रायनम्,^१ अग्नौ होमलक्षणं ‘न
विदुः’ न ज्ञातवन्तः । तदेव विशिनष्टि— “नैतां प्रतिष्ठा मिति ।
‘एतां’ होमलक्षणां ‘प्रतिष्ठाम्’ अन्याख्यपरमपदस्थितिम् ‘अग्नौ’
उत्तरवेदिस्थे ‘अग्निम्’ मन्यनजन्यम् । ‘एष वै किल’—इत्येतच्छ-
ब्दार्थं माह— “अग्नौ वै किल हविर्जुहतीति । ‘अभवेद्यन्ति’
अवगतिं प्राप्स्यन्ति । ‘आलम्भाय’ ‘रातमनसः’ दत्तमनस्काः ‘भवि-
ष्यन्ति’ ‘इति’ । श्रिष्टं स्पष्टार्यम् ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥

केवलनियोजनपक्ष मुदाहृत्य निराचष्टे— “तदाङ्गर्नापाकुर्था-
दिति । उपकरणाद्यकृता प्रथमत एव ‘रशना मादाय’ सामुख्येन
धूपसमौषं गत्वा ‘अभिधाय’ पशुं बद्ध्वा ‘नियुज्यात्’ नियु-
ज्यीत ॥ ७ ॥

क्रम मुक्त्वा इदानीं सार्थवाद मुपाकरणं विधत्ते— “अथ
द्वय मादायेति^१ । द्वयादानस्य प्रयोजन माह— “द्वितीयवानिति ।
‘निरुणधे’ निरोधं^२ करवाणि । तावता किं मायात मित्यत आह—

१— ‘यानं (?) प्रायम्’—इति क ।

२— व्यापस्तम्बसूत्रे उपकरणप्रकारं सूच्यते (७. १६. २-४.) ।

३— ‘पशोर्निरोधं’—इति क ।

“द्वितीयवान् हि वीर्यवानिति । असहायस्य व्यापाराच्चमत्वं
लोकसिद्धम् ॥ ८ ॥

“स द्रव्यं मादत्त इति^१ । द्रव्यादानमन्त्रस्थाय मर्थः^२— हे द्रव्य ।
त्वम् ‘उपावीरसि’ समीपे स्थित्वा रक्षकोऽसि, एकः कार्यकरो-
ऽसीत्यर्थः । “अविद्वत्सु”—इति ई-प्रत्ययः^३ । ‘दैवीः विग्रः’
पशुलक्षणा देवसम्बन्धिन्यः प्रजाः ‘देवान्’ ‘उपप्रागुः’ प्राप्ताः
देवतार्थं सुपस्थिता इत्यर्थः^४ (८) । “उग्रिजो वज्रितमा-
मितीति । देवान् विग्रिनष्टि— ‘उग्रिजः’ मेधाविनामैतत्^५,
विदांस इत्यर्थः । ‘वज्रितमान्’ बोद्धृतमान् (१०) । “देव
त्वष्टरिति । ‘त्वष्टः । देव ।’ पशुस्वामिन् । ‘वसु’ वस्त्राख्यं धनं
‘रम’ रमय, नियोजयेत्यर्थः (११) ॥

“हव्या ते खदन्ता मितीति । हे पशो ! ‘ते’ ‘हव्या’ हवींषि
‘खदन्ताम्’ । “रेवती रमध्व मितीति^६ । ‘रेवतीः’ रेवत्यो गायः
पशवः ‘रमध्वं’ सङ्कीडध्वम् । हे ‘एहस्पते !’ एहतः परिहृदन-
कर्मणः स्वामिन् । त्वं ‘वसूनि’ पशुलक्षणानि ‘धारय’ अत्र स्थापय ॥

१— का० थौ० सू० ६. १. १८ क ।

२— सोऽयं मन्त्र — वा० सं० ६. ०. १ ।

३— शाक० उ० सू० ३. १५८ ।

४— ‘पशु सुपस्पृश्येषु देवानिति’—इति का० थौ० सू० ६. १. १८ ख ।

मन्त्रस्तु — वा० सं० ६. ०. २ ।

५— निय० ३. १५ १८ ।

६— वा० सं० ६. ८. १ । यद्यपि संहितायाम्ने एतदेवैव मन्त्रः, परं मिथ

मन्त्रं व्याचष्टे— “उप हि द्वितीयोऽवतीत्यादिना । ‘हि’-शब्दो
 लोकप्रसिद्धिद्योतनार्थः । लोक एकः कर्म कर्तुं मशक्तः, द्वितीयः
 तत्साहाय्यकरणेन तं भवतीति प्रसिद्धम् । “दैवीर्विश्व इत्यस्य
 तात्पर्यं माह— “दैव्यो वा एता विश्वो यत् पशव इति । यथा
 विश्वः स्वस्वामिनं पुष्पन्ति, एवं पशवो हविषा पुष्पन्तीति
 तेषां प्रजारूपत्वोपपत्तिरिति । “अस्मिषत देवेभ्य इतीति । तेषां मर्त्या-
 यात्मानं प्रकाशितवन्त इत्यर्थः । “प्रकाशनस्येधाख्ययोश्च”-इत्यात्मने-
 पदम्^१ । उशिक्षुशब्दार्थं माह— “विदांसो हि देवा इति ।
 त्वष्टुः प्रार्थनाया कारणं माह— “त्वष्टा वै पशूना मित्यादिना ।
 ‘वै’-शब्दः “त्वष्टा वै पशूना मियुनानां रूपकृत्”-इत्यादि^२-
 व्युत्पत्त्यन्तरप्रसिद्धिद्योतनार्थः । “देव त्वष्टुर्वसु”-इति मन्त्रभागी
 ‘यदाह’, ‘अतिष्ठमानान्’ पशून् प्रति ‘त्वष्टारं’ ‘देवा.’ ‘उपनिमद्’
 ‘इति’ यत् ‘अमुवन्’, ‘एतत्’ एव ‘आह’ इत्यर्थः । ‘उपनिमद्’
 अस्मत्त्वमीपे नितरां भादयेति तस्यार्थः । अथवा ‘यत्’ अध्वर्युणा
 ‘देव त्वष्टुः’ इत्यभिधानम्, तत् , पुरा यद् देवैरुक्तसत्त्वं त्वष्टुप्रार्थन
 मुक्तम्, तत्स्थानीय मित्यर्थः ॥ एवंविधेषु वाक्येषु सर्वत्रैवं व्याख्येयम् ॥

“हव्या ते स्वदन्ता मिति । अस्याभिप्रायं माह— “यदा वा
 एत इति । यद्यप्युपाकरणकाले हविषा मनिष्यन्तेः स्वदनं नोप-
 पद्यते, तथापि पलायनं मलत्वा यदावृत्ता अभवन्, तदेव हविर्भवि-
 यतीत्यर्थः । अत एव मभिधानं सुपपद्यते (१२) ॥

१— पा० सू० १. ३ २३ ।

२— उपरिष्ठात् १३ का० १ प्र० ८ ब्रा० ७ क० । तै० स० २. १. ८ ३ ।

“रेवन्तो हि यशव इत्यादि । ब्राह्मण स्पष्टम्^१ ॥

‘ब्रह्मणैव’ ‘परस्तात्’ परे देवे ‘पर्यद्धु’ परितो अधारयन् ।

“अथातो नियोजनस्येवेति । विधान मभिधीयत इति शेष ॥

८-१३ ॥ ६ [७ ३] ॥

इति सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

तृतीयकाण्डे सप्तमाध्याये तृतीय ब्राह्मणम् ॥

॥ इति तृतीयकाण्डे पञ्चमः प्रपाठकः^२ ॥

१— सर्वे स्मृतत् तै० स० ६ ३ ६ इत्ययम् ।

२— “कण्डोसह्या १२७”—इति क, “कण्डिका १२७”—इति ख,
“कण्डिकासह्या १२७”—इति ग, घ । तत्र १ ब्रा० २६ क०, २ ब्रा०
२१ क०, ३ ब्रा० २७ क०, ४ ब्रा० ३२ क०, ५ ब्रा० ८ क०, ६ ब्रा०
११ क०, सङ्ख्यनया १२७ इति सिद्धम् ॥

अथ

यष्टप्रपाठके प्रथम ब्राह्मणम्,

अपि वा

सप्तमाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् ।

॥ हरिः ॐ ॥

प्राशं कृत्वा प्रतिमुञ्चति* । ऋतुस्य त्वा देवहविः
प्राशेन प्रतिमुञ्चामीति व्वरुण्या वा ऽएया यद्रुज्जुस्तुदेन
मेतुद्वतुस्यैव प्राशेन प्रतिमुञ्चति तयो हैन मेपा
व्वरुण्या रुज्जुर्नु हिनस्ति ॥ १ ॥

धुर्पा मानुष इति । न वा ऽएत मुप्रे मनुष्यो
ऽधृष्णोत्स युदेवर्त्तुस्य† प्राशेनैतुदेवहविः प्रतिमुञ्चत्यु-
थैनं मनुष्यो धृष्णोति तुस्मादाह धुर्पा मानुष
इति‡ ॥ २ ॥

* 'प्रतिमुञ्चति'—इति क ।

† 'यदेवर्त्तुस्य'—इति क पाठ, डा०-वेवरेय दृष्टय ।

‡ 'इति'—इति ख, 'इति'—इति ग, घ ।

अथ नियुनक्ति । देवस्य त्वा सवितुः प्रसुवेऽश्विनो-
र्बाहुभ्यां पूष्णो हुस्ताभ्या मग्नीषोमाभ्यां जुष्टं नियु-
नज्मीति* तद्यथैवादो देवतायै हविर्गृह्णन्नादिशुत्येव
मेवैतद्देवताभ्या मादिशत्यथ प्रोक्षत्येको वै प्रोक्षणस्य
बन्धुर्मेध्य मेवैतुत्करोति ॥ ३ ॥

स प्रोक्षति । अद्भ्यस्त्वौपधीभ्य इति तद्यत एव
सम्भवति तुत एवैतन्मेध्यं करोतीदुः हि यदा वर्पत्य-
यौपधयो जायन्त ऽश्वोपधीर्जग्ध्वाणः पीत्वा तुत एष
रुसः सम्भवति रुसाद्रेतो रेतसः पशुवस्तद्यत एव सम्भ-
वति युतश्च जायते तुत एवैतन्मेध्यं करोति ॥ ४ ॥

अनु त्वा माता मन्यता मुनु पितेति । स हि
मातुश्चाधि पितुश्च जायते तद्यत एव जायते तुत
एवैतन्मेध्यां करोत्यनु भ्राता सुगर्भोऽनु सुखा सुयूथ्य
इति स युक्ते जुन्म तेन त्वानुमत मारुभ ऽदित्येवैतदा-
हाम्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामीति तद्याभ्यां देव-
ताभ्या मारुभते ताभ्यां मेध्यं करोति ॥ ५ ॥

अथोपगृह्णाति । अपाम्पेरुरसीति । तुदेन मन्तरतो

* 'नियुनज्मीति'-इति क, ख ।

† 'तुन्मेध्य'-इति ग, घ ।

मेध्यं करोत्यथाधस्तादुपोक्षत्यापो देवीः स्वदन्तु स्वात्तं
चित्सुदेवहविरिति तुदेनः सर्वतो मेध्यं करोति ॥ ६ ॥

अथाहामृये समिद्धमानायानुब्रूहीति । स उत्तर
माधारु माघार्यासंस्पर्शयन्सुचौ पर्येत्य जुह्वा पशुः
सुमनक्ति शिरो वै यज्ञस्योत्तर आधारु एष वा ऽश्रुच
यज्ञो भवति युतं पशुस्तद्यज्ञु ऽयुवैतच्छिरः प्रतिदधाति
तस्माज्जुह्वा पशुः सुमनक्ति ॥ ७ ॥

सु ललाटे सुमनक्ति । सुन्ते प्राणो व्यातेन गच्छता
मिति समुद्गानि युजचैरित्युसयोः सं यज्ञपतिराशिपेति
श्रोण्योः स युस्मै कामाय पशु मालुभन्ते तत् प्रामु-
ह्यैत्येवैतदाह ॥ ८ ॥

इदं वै पशोः सज्जप्यमानस्य । प्राणो व्यात मुषि-
पद्यते तत् प्रामुहि यत्ते प्राणो व्यात मपिपुद्याता
ऽदृत्येवैतदाह स मुद्गानि युजचैरित्युजैर्वा ऽअस्य यजन्ते
तत् प्रामुहि यत्ते ऽज्ञैर्युजान्ता ऽदृत्येवैतदाह सं यज्ञपति-
राशिपेति युजमानाय वा ऽएतेनाशिप माशासते
तत् प्रामुहि यत्तया युजमानायाशिप माशासान्ता
ऽदृत्येवैतदाह साटयति सुचावथ प्रवरायाश्रावयति सो-
ऽसुवेव वुन्धुः ॥ ९ ॥

अथ द्वितीय माश्रावयति । दौ ह्यव होतारौ भवतः
 सु मैत्रावरुणायुहैवाश्रावयति युजमानं त्वेव प्रवृ-
 णीते ऽग्निर्हं दैवीनां विश्वां पुर एतेत्यग्निर्हि देवतानां
 मुखं तुस्मादाह्यग्निर्हं दैवीनां विश्वां पुर एतेत्ययं युज-
 मानो मनुष्याणा मिति तः हि सोऽन्वुर्द्धो भवति युस्मि-
 न्नुर्द्धं युजते तुस्मादाह्ययं युजमानो मनुष्याणा मिति
 तयोरस्थूरि गार्हपत्यं दौदयच्छतः हिमा द्यायू* ऽहुति
 तयोरुनात्तानि गार्हपत्यानि शतं वर्षाणि सन्वित्ये-
 वैतुदाह ॥ १० ॥

राधाःसुीत्सम्पृञ्चानावुसम्पृञ्चानौ तुन्व इति ।
 राधाःस्येव सम्पृञ्चायां मापिं तनूरित्येवैतुदाह तौ ह
 युत्तनूरुपि सम्पृञ्चीयातां प्राग्निर्युजमानं दहेत्सयुदमौ
 जुहोति तदेषोऽग्नये प्रयच्छत्यय या मेवाचत्विजो
 युजमानायाशिष माश्रावते ता मस्मै सुर्व्वा मग्निः
 सुमर्द्दयति तद्राधाःस्येव सम्पृञ्चाते नापि तनूस्तुस्मा-
 दाह राधाःसुीत्सम्पृञ्चानावुसम्पृञ्चानौ तुन्व इति ॥
 ११ ॥ १ ॥

॥ इति पष्ठप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

* 'हिमा द्यायू'-इति ख, 'हिमा द्या यू'-इति ग ।

† 'मापिं'- इत्येव पाठः स्यात् सायण-सम्मतः ।

समन्तकं बन्धन माह—“पाशं कृत्वा प्रतिमुञ्चतीति^१ । पाशाग्र-
ग्रन्था सुषिरं कृत्वा, तस्मिन्नितर मय बहिः प्रसार्य, बहिर्गतं
पाशं माहृत्य, यथा शिरो न गलति, तथा कृत्वा बध्नीयात् ॥

“ऋतस्य त्वेति^२ । हे ‘देवहवि !’ पशो । त्वाम् ‘ऋतस्य
पाशेन’ ‘प्रतिमुञ्चामि’ । ‘मानुषः’ अहं केवलं ‘धर्षा’ धर्षणधर्मा ।
“वरुणेत्यादि । बध्नामीति बन्धनकर्मणो वरुणाभिमानिकत्वात्
तत्साधनभूताया वरुणसम्वन्धिरज्जोः तत्त्वम्, त मपि परिहाय
मन्त्रेण बन्धे सति ऋतपाशेन बन्धो भवेत् ॥ १ ॥

“धर्षा मानुष इतीति । मन्त्रभागस्य तात्पर्यं माह— “न वा
एत मय इत्यादिना । यस्मात् पशुधर्षणसामर्थ्यं मनुष्यस्य देवकृत-
पाशविमोकायत्तम्, अतो मन्त्रो “धर्षा मानुषः” ‘इति’ ब्रूते
इत्यर्थः ॥ २ ॥

“अथ नियुक्तौत्यादि । स्पष्टम् । देवतानिर्द्देशस्य प्रयोजन
माह— “यथैवाद इति । ‘यथैव’ ‘अदः’ असुभिन् दर्शपूर्णमासयोगे
हविर्निर्वापे देवतादर्शनम्, ‘एवम्’ इदानीं मपि प्रोचतीति ।
“एको वा इत्यग्रहद् गतम् ॥ ३ ॥

“स प्रोचतीति^३ । “अद्वास्तौषधीभ्य इतीति^४ । ‘अद्वाः’ च
‘औषधीभ्यः’ च सम्भूतं त्वां ‘प्रोचामि’ । ‘मेध्यं’ करोतीति । सज्-
ज्ञपनार्थं वाच्यमानं त्वां माचादिरनुमन्यताम् । ‘मगर्भ्यः’ रुमाजे

उदरे भवः, 'अनुमखः' समानख्यानः, 'सयूयः' समानयूये भवः, सर्वैरनुमतं त्वाम् 'अग्नीषोमाभ्याम्' अर्थाय 'प्रोक्षामि' ॥

मन्त्रस्य परमप्रयोजन माह— "तद् यत एवेत्यादिना । कथं ताभ्यः सकाशात् पाशामभव इति, तदुपपादयति— "इदं हि स यदा वर्पतीत्यादिना । आपयौषधययोपादानकारणम्, मातापितरावाश्रयत्वेन निमित्तकारणम् । अतस्तत्सकाशाग्नेधं करोति । सगर्भ्यादीनां मपि जन्मसम्बन्धसम्भवात् तेन सम्बन्धिना सगर्भ्यादिभ्यः अनुमन्यत इत्युक्तं भवति । स्पष्टं मन्यत् ॥ ४, ५ ॥

"अयोपगृह्णातीति^१ । प्रोक्षणग्रैष^२ पानार्थं सुखमभीषे धारयेत् । हे 'पयो ।' त्वम् 'अपां' जलानां 'पेक्षः' पानशीलोऽसि । 'तत्' तस्योदकस्थान्तः-प्रवेशात् 'एनं' पशुम् 'अन्तरतः' मध्यं करोति^३ ॥

"अथाधन्नादिति^४ । अधन्नादुपोक्षणमन्यस्याय मर्त्यः— हे 'आपां देवीः' आपो देव्यः । 'स्वदन्तु' स्वादयन्तु । तथा स पशुः 'स्वात्तं' सुष्ठु स्वीकृतं भवतु । पशुर्विग्रेयते— 'देवहविः' देवतयोर्द्विवर्धितमिति^५ ॥ ६ ॥

"अपाहाशये ममिध्यमानायेति^६ । मामिधेन्यथं मम्येयं कुर्यात् । "म उत्तर माघार माघार्येति^७ । द्वितीय मित्यर्थः । 'पशुषो'

१— का० श्रौ० सू० ६. ४. ३० ।

२— 'प्रोक्षाम्योदधं'—इति व ।

३— वा० सं० ६. १०. १ ।

४— का० श्रौ० सू० ६. ४. ३३ ।

५— वा० सं० ६. १०. २ ।

६— वा० श्रौ० सू० ६. ४. १ ।

७— वा० श्रौ० सू० ६. ४. ३ ।

जुह्वपभृतौ 'असस्यर्गयन्', पुनरुत्तरतः 'पर्यत्य' 'जुह्वा' उत्तराधा-
रावशिष्टेनाज्येन 'पशुम्' 'अनक्ति' आद्रीकरोति । तत् प्रशंसति—
"शिरौ वै यज्ञस्योत्तराधार इति । प्रधानत्वात् 'पशुः यज्ञः',
तस्य प्रथमतोऽनुष्ठेयत्वात् शिरस्त्वम् । अत आधारशेषेणाज्येन
'यज्ञे' 'शिरः' स्थापितवान् भवति ॥ ७ ॥

अवयवावयविभेदेन मन्त्रभेद माह— "स ललाटे समनक्ति^१
सन्ते प्राण इति^२ । बाह्यावातस्यैव शरीरान्तःप्रवेशेन प्राणत्वात् तस्य
वातप्राप्तिर्युक्ता । 'अङ्गानि' 'यजत्रे' धागैः 'सङ्गच्छन्ताम्' । तथा
'यज्ञपतिः' यजमानः 'आग्निषा' 'सङ्गच्छताम्' । एतेन 'ओष्णोः'
अनक्ति । अथ कृत्स्नतात्पर्यं यज्ञविषया आग्नीरेवेत्याह— "स यक्षै
कामायेति ॥ ८ ॥

मन्त्रान् क्रमेण व्याचष्टे— "इदं वै पशोरित्यादि । 'इदं'
वक्ष्यमाणम्, लोकप्रसिद्धं मित्यर्थः । सामान्येनोक्त विशेषेण योज-
यति— "तत् प्राप्नुहीति । यद्येतन्निमित्तेन प्राणो वात मभिपद्येत,
तत् प्राप्नुहीत्येवैतदाहेत्यर्थः । गतप्राय मन्वत् । अथ सूचम्—
"आ प्रयाजेभ्य उत्तराधार माधार्यं पशुं पूर्वं समनक्ति ललाटांम-
ओणिषु सन्त इति प्रतिमन्त्रम्"—इति^३ ॥

"सादयति शुचावथ प्रवरायाश्चावयतीति । जुह्वपभृतौ सादयित्वा

१— का० औ० सू० ६. ४. २ ।

२— वा० स० ६. १०. २, ३, ४ ।

३— का० औ० सू० ६. ४. ३ ।

प्रवरायाश्चावधेत् । आश्रावणार्थवाद प्रकृतिगत मचादिश्रुति—
“सोऽसावेव बन्धुरिति ॥ ८ ॥

“अथ द्वितीय आश्रावयतीति^१ । मैवावरुणस्यापि हौत्रकर्तृ-
त्वाद् “द्वौ ह्यत्र होतारौ भवत इत्युक्तम् । द्वितीयाश्रावण किमर्थं
मित्याह— “स मैवावरुणायाहेवाश्रावयतीति । ‘स.’ अध्वर्युः ।
“यजमानं त्वेवेति । ‘एव’-कारेणर्त्विजा प्रवरण निषिध्यते ॥

यजमानप्रवरनिगदस्याय मर्थ— ‘अग्नि’ खलु ‘दैवीनां विशा’
देवसम्बन्धिनीमां प्रजाना ‘पुर एता’ मुख्य इत्यर्थः । तथा ‘मनु-
व्याणां विशा’ ‘यजमान’ ‘पुर एता’ मुख्य । सर्वेऽपि प्राणिमत्ता
मनुस्यत्य भवन्तीत्यर्थ । ‘तयो’ अग्नियजमानयो. ‘गार्हपत्य’ गृह-
पतिकर्म ‘अस्यूरि’ अनाश्रयम् । शतवर्षपर्यन्त हि दीक्षानुयष्ट्यन्ते
अप्रेक्ष्यत्वं यजमानस्य च गार्हपत्यसम्बन्ध । ‘राधासि इत्’ अस्मा-
न्येव ‘सम्पृच्छानौ’ मिश्रयन्तौ । ‘तन्व’ तनू ‘असम्पृच्छानौ’ शरीर-
सम्बन्धौ यथा न स्यात् ॥

क्रमेण व्याचष्टे— “अग्निर्हेत्यादिना । “त हि सोऽन्वर्द्धो भवति,
यस्मिन्नर्द्धे यजत इति । ‘यस्मिन्’ ‘अर्द्धे’ रात्रे अथ यजमानो
‘यजते’, ‘सोऽन्वर्द्ध’, ‘त हि’ त मनु । “हीने”—इत्यनो
कर्मप्रवचनीयत्वम् । ‘अस्यूरि’-शब्दार्थं माह— “अनात्तानि गार्ह-
पत्यानीति । ‘राधासि’—इत्येतद् विभज्य व्याचष्टे— ‘राधास्येवेत्या-
दिना । इच्छद् एवार्थे’ । तेन निरसनोप माह— ‘नापि तनू-

१— का० श्रौ० सू० ६. ४. ४ इत्युक्तम् ।

२— या० सू० १. ४. ८६ ।

३— मन्त्रे इति श्रेय ।

रिति । विपक्षे बाधक माह— “तौ ह यत्तनूरपीति । ननु “सं
 राधांसि सम्पृचानौ”—इत्युक्तम्, सम्पर्कस्य परस्परप्रदानसम्बन्धः कथं
 मत्र सम्भवतीति, तदुपपादयति— “अ यदाग्नौ जुहोतीति ।
 यद्ग्नौ प्रदामम्, यच्च तद्ग्नौ सम्पर्कः, अलिग्निः यजमानार्थं
 माशास्यमानानां फलानां तुष्टेनाग्निना दानं भवति, तदेवाग्नेर्यज-
 मानसम्पर्कः । ‘तत्’ तेन प्रतिपादितप्रकारेण तौ ‘राधांसि सम्पृ-
 चाते’ इति ॥ १०, ११ ॥ १ [७, ४.] ॥

इति सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनप्रतपत्राक्षणाभाष्ये

द्वितीयकाण्डे सप्तमाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयम् ।

पुमर्थाश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ ७ ॥

ब्रह्माण्डं गोमहत्सं कनकहयतुलापूरुषौ स्वर्णगर्भम्,

सप्ताब्धौन् पञ्चभौरींस्त्रिदशतद्वलताधेनुमौवर्णभृमौः ।

रत्नोत्सां रत्नवाजिद्विपमद्वितरथौ सायणिः सिद्धनाथौ,

व्यश्राणीद्विचक्रं प्रथितविधिमहाभूतयुक्तं घटश्च ॥

धान्याद्रिं धन्यजन्मा तिलभव मत्स्यः स्वर्णजं वर्णमुख्यः,

कार्पासीयं क्षपावान् गुडहत मज्जो राजतं-राजपूज्यः ।

आज्योत्यं प्राज्यजन्मा लवणज मनूयः प्रार्करं चार्कतेजाः,

रयाव्यो रवर्णं गिरि महत मुदा पाचमाग्निह्ननार्थः ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्तक-
 श्रीहरिहरमहाराजसामान्यधुरन्धरेण
 सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
 माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये
 तृतीयकाण्डे सप्तमाध्यायः समाप्तः ॥ ७ ॥

[अथाष्टमाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्.]

तद्युचैतत् प्रवृत्तो होता होतृपुदन ऽउपविशति ।*
तदुपविश्य प्रसौति प्रवृत्तोऽध्वर्युः सुचावादत्ते ॥ १ ॥

अथाग्नीभिश्चरन्ति । तद्युदाग्नीभिश्चरन्ति सुर्व्वेणैव
वा ऽएष मनसा सुर्व्वेणैवात्मना यज्ञं सुभरति सुच
जिह्वीर्यति यो दौक्षते तस्य रिरिचानु इवात्मा भवति
तु मेतुाभिराग्नीभिरुप्याययन्ति तद्युदाप्याययन्ति तुस्मा-
दाग्निर्गो नाम तुस्मादाग्नीभिश्चरन्ति ॥ २ ॥

ते वा ऽएत ऽएकादश प्रयाजा भवन्ति । दृश वा ऽद्वमे
पुरुषे प्राणा आत्मैकादशो युस्मिन्नेते प्राणाः प्रति-
ष्ठिता एतावान्नै पुरपस्तुदस्य सुर्व्व मात्मान माप्याययन्ति
तुस्मादेकादश प्रयाजा भवन्ति ॥ ३ ॥

सु आश्राव्याह । समिधः प्रेष्येति प्रेष्य प्रेष्येति चतुर्थे
चतुर्थे प्रयाजे समानुयमानो दशभिः प्रयाजैश्चरति
दृश प्रयाजान्निष्ठाह शास माहरेत्यसिं वै शास इत्या-
चक्षते ॥ ४ ॥

अथ यूपशकल मादत्ते । तावुग्रे जुहुवा अत्का पशो-
ल्लुटाट मुपस्पृशति घृतेनाक्तौ पशूंस्त्रायेथा मिति व्वजो
वै यूपशकलो व्वजः शासो व्वज आज्यं तु मेवैतत्
क्षत्सं व्वजः सम्भृत्य तु मस्याभिगोप्तारं करोति नेदेनं
नाद्रा रुक्षाःसि हिनुसन्निति पुनर्यूपशकल मुवगूह-
त्येषा ते प्रज्ञातुश्चिरस्त्वित्याह शासुं प्रयुच्छन्सादुयति
सुचौ ॥ ५ ॥

अथाह पुर्यग्भयेऽनुब्रूहीति* । दुस्मुक मादुयामौ-
त्पूर्यग्भिं करोति तद्यत्पुर्यग्भिं करोत्युच्छिद्र मेवैन
मेतुदग्निना पुरिगृह्णाति नेदेनं नाद्रा रुक्षाःसि
प्रमृशानित्यग्निहिं रुक्षसा मपहन्ता तुस्मात्पुर्यग्भिं करोति
तद्युचैनः अपुयन्ति तुदभिपुरिहरति ॥ ६ ॥

तुदाहुः । पुनरेतदुस्मुकः हरेदथाचान्य मेवाग्निं
निर्मृथ्य तुस्मिन्नेनः अपयेयुराहवनीयो वा ऽएष न वा
ऽएष तुस्मै युदस्मिन्नुश्रुतः अपयेयुस्तुस्मै वा ऽएष युदस्मि-
च्छतुं जुहुयुरिति ॥ ७ ॥

तदु तथा न कुर्यात् । युथा वै अस्तितु मेव मस्यैतद्ग-
वति युदेनेन पुर्यग्भिं करोति स युथा अस्तितु मनुहाया-

च्छिद्य तदन्यस्मै प्रयच्छेदेवं तत् तस्मादेतस्यैवोल्मुक-
स्याङ्गारान्निमृद्य तस्मिन्नेनः अपयेयुः ॥ ८ ॥

अथोल्मुक मादायाग्नीत् पुरस्तात् प्रतिपद्यते । अग्नि-
मेवैतत् पुरस्तात् करोत्यग्निः पुरस्तान्नाद्रा रुक्षाः स्य-
यघ्नन्नेत्यथाभयेनानाद्रेण यशुं नयन्ति तं वपाश्रुपणी-
भ्यां प्रतिप्रस्थातान्वारभते प्रतिप्रस्थातार मध्वर्युरध्वर्युं
युजमानः ॥ ९ ॥

तुदाहुः* । नैप युजमानेनान्वारुभ्यो मृत्युवे ह्येतं
नयन्ति तस्मान्नान्वारभेतेति तदन्वेवारभेत न वा एतुं
मृत्युवे नयन्ति युं यज्ञाय नयन्ति तस्मादन्वेवारभेत
यज्ञादु ह्यैवात्मान मन्तरियाद्युन्नान्वारुभेत तस्मादन्वे-
वारभेत तुत्परोक्ष मन्वारब्धं भवति वपाश्रुपणीभ्यां
प्रतिप्रस्थाता प्रतिप्रस्थातार मध्वर्युरध्वर्युं युजमान एतदु
परोक्ष मन्वारब्धं भवति ॥ १० ॥

अथ स्तीर्णायै वेदेः । द्वे तृणे अध्वर्युरादत्ते सु-
आश्राव्याहोपमेय्य होतुर्हव्या देवेभ्य इत्येतदु वैश्वदेवं
पशौ† ॥ ११ ॥

अथ व्याचयति । रेवति युजमान इति व्याग्वै रेवती

सा यद्वाग् बहु वृद्धति तेन व्याग्रेवती प्रियं
 धा आविशेत्युनार्तिं माविशेत्येवैतुदाहोरोरन्तरिक्षात्
 सजुर्देवेन व्यातेनेत्यन्तरिक्षं वा ऽश्रुनु रुक्षश्चरत्यमूलं
 मुभयतः पुरिच्छिन्नं यथायं पुरुषो ऽमूलं उभयतः
 पुरिच्छिन्नोऽन्तरिक्षं मनुचरति तद्वातेनैनं सविदाना-
 न्तरिक्षाहोपायेत्येवैतुदाह यद्वाहोरोरन्तरिक्षात् सजु-
 र्देवेन व्यातेनेति ॥ ११ ॥

अस्य हविषस्तमुना यजेति । व्याच मेवैतुदाहाना-
 र्तस्यास्य हविष आत्मना यजेति सुमस्य तुन्वा भवेति
 व्याच मेवैतुदाहानार्तस्यास्य हविषस्तुन्वा सुभ-
 वेति ॥ १३ ॥

तद्युचैनं विशुसन्ति । तत् पुरुस्तात् तृणं सुपास्यति
 व्युर्पो व्युर्पीयसि यज्ञे यज्ञपतिं धा हृति बर्हिरेवास्मा
 ऽएतुत स्तृणात्युस्कन्नं हविरसदिति तद्युदेवास्यात्र वि-
 शस्यमानस्य किञ्चित् स्कुन्दति तदेतस्मिन् प्रतितिष्ठ-
 ति तया नामुया भवति ॥ १४ ॥

अथ पुनरेत्याहवनीयं मभ्यावृत्यासते । नेदस्य सज्ज-
 प्यमानस्याध्यक्षा असामेति तस्य न कुटेन प्रघ्नन्ति
 मानुषं हि तुन्नो ऽएव पथ्यात्कर्णं पितृदेवत्यं हि
 तुदपिगृह्य वैव मुखं तमुयन्ति वेष्कुं वा कुर्वन्ति तुन्ना-

ह जहि मारयेति मानुषः हि तत्सुज्जपयान्वगन्ति
तद्धि देवता स यदाह्वान्वगन्तित्येतर्हि ह्येष देवाननु-
गुच्छति तस्मादाह्वान्वगन्ति ॥ १५ ॥

तद्युचैनं निविध्यन्ति । तत्पुरु सञ्जुपनाञ्जुहोति
स्वाहा देवेभ्य इत्यथ यदा प्राह सुज्जप्तः पशुरित्यथ
जुहोति देवेभ्यः स्वाहेति पुरुस्तात् स्वाहाकृतयो वा
ऽन्ये देवा उपरिष्ठात् स्वाहाकृतयोऽन्ये तानुवैतुत्
प्रीणाति तु ऽएन मुभये देवाः प्रीताः स्वर्गं लोकां
मभिवहन्ति ते वा ऽएते पुरिपश्वे ऽइत्याहुतौ
स यदि कामयेत जुहुयादेते यद्यु कामयेतापि
नाद्रियेत ॥ १६ ॥ २ ॥

॥ इति पञ्चमपाठके द्वितीयं ब्राह्मणम् [८. १०] ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽस्त्रिकं जगत् ।

निर्ममे, त महं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

होषादिप्रवरणानन्तरभाविनं प्रयोग माह— “तद्युचैतन्नष्टतो
होता होतृपदम उपविशतीत्यादिना^१ । होतृपदमे वेदेरुत्तरा

१ ‘सर्गसंज्ञोक्तु’-इति, ‘सर्गसंज्ञोक्तु’-इति च पाठौ दृश्येते ।

१— का० यौ० सू० १. २. १ । १भा० १४५९० १पङ्क्तिश्च दृश्यम् ।

ओणि । 'तत्' तत्र 'उपविश्य' 'प्रसूति' "अग्निर्होता वेत्" —
इत्यादि^१ सुगादापनम् । निगदेनानुजानाति— 'धृतवती मध्वर्यो
सुच मास्यस्व"—इत्येव रूपेण^२ ॥ १ ॥

"अथाग्नीभिश्चरन्तीति । समित्तनूनपादित्याद्येकादश प्रयाजा
आप्रिय^३ । नामनिर्वचनेनाप्रिय प्रशंसितु तत्प्रवृत्तिनिमित्तस्थाप्या-
धनस्य सम्भावना माह— "सर्वेणैव वा एष मनसा सर्वेणैवात्मना
यश्च सम्भरतीत्यादिना । 'एष' दौक्षित 'सर्वेणैव मनसा' 'सर्व-
णात्मना' मनोव्यतिरिक्तेन प्राणादिसङ्घातेन, सर्वेषा तच्चैवोपजी-
व्यत्वात् । अत 'सञ्जिह्वीर्षति' सहर्तुं मिच्छति । ततो 'रिरिचान
इव' रिक्तं शून्य इव 'आत्मा भवति' । 'तस्मात्' आप्यायनमाध-
नत्वात् 'आप्रिय' इति तन्नामनिर्वचनम् ॥ २ ॥

आप्यायनसाधनत्वं मेवोपजीव्यैकादशत्वं विधाय प्रशंसति—
"ते वा एत एकादश प्रयाजा इति । सप्त शीर्षण्या द्वावपानौ,
नाभिर्दशमी, तेषा माधारो देह एकादश इति विवेक^४ ॥ ३ ॥

"स आत्राव्याहेत्यादि । समिद्याग एव 'समिध प्रेय्य' 'इति'
एव ब्रूयात् । तनूनपात्प्रभृतीनां 'प्रेय्य-प्रेय्य' 'इति' एव नाम
निर्दिशेत् । "चतुर्थे-चतुर्थे प्रयाजे समानयमान इति । जुहुगतेन

१— का० श्रौ० सू० ३ २ १५ । १भा० ३५०८० १पङ्क्तिश्च दृश्यम् ।

२— १का० १५० २भा० १कथंशा मास्मात् एवैष मन्त्र ।

३— 'अथात आप्रिय' इत्यादियशोऽप्राणोच (निह० ८ २ १-०) ।

४— १भा० ३०१८० द्वतीया टीप्पणी दृश्यम् ।

आज्येन प्रयाजत्रयं कृत्वा, पुनरुपमृतिं स्थितं मात्रं मय चतुर्थादि-
सप्तमान्तप्रयाजचतुष्टयाय समवनीय, पुनरष्टमाद्येकादशान्तप्रयाज-
चतुष्टयार्थं मष्टमं भवनयेदित्यर्थः । दशमप्रयाजानन्तरं 'शासम्'
अग्निम् 'आहर' इति ब्रूयात् । "शसु हिंसायाम्"^१ । अक्षते
हिंस्यते अनेनेति 'शसः अग्निः' । शाससिद्धस्याप्रसिद्धस्य प्रसिद्धार्थता
मभिप्रेत्य व्याचष्टे— "असिर्वै शास इतीति ॥ ४ ॥

"अथ यूपशकलाविति । यूपशकलौ जुह्वा अयगतेनाज्येन
समज्य, ताभ्यां मन्त्राभ्यां 'पगोर्ललाट सुपसृगति' । तन्मन्त्रस्याय
मर्थः— हे एतेनाक्तौ स्वरक्षधितौ । युवां 'पशून्' चायेयाम्^२ ।
अथ सूचम्— "स्वर मादायात्कोभौ जुह्वे ताभ्यां पगोर्ललाट
सुपसृगति" एतेनाक्ताविति^३—इति ॥

"वज्रो वा इत्यादि । यूपशकलादीनां वज्रत्वं प्रागुक्तम् ।
"एषा ते"—इति ब्रुवन्, 'शासम्' उत्सृजतोऽस्य हविषोऽवदानाय
'प्रायच्छन्' । 'एषा' अष्टात्रिः हे शमितः । 'ते प्रज्ञाता असु'—
'इति आह' ॥ ५ ॥

"अथाह पर्यग्नयेऽनुब्रूहीति^४ । 'अथ' मुचोः सादनानन्तरम्,
'पर्यग्नयेऽनुब्रूहीति' उत्का, 'पर्यग्नौकरोति' पगोः परितः 'अग्निं

१— भा० पं० ७२७ धा० ।

२,४— का० श्रौ० सू० ६. ४. १२ ।

३,५— वा० सं० ६. ११. १ ।

६— पुरस्तात् ७. १. ३०, ३१ (४२५ पृ०) नष्टव्यम् ।

७— का० श्रौ० सू० ६. ५. १ ।

करोति, उल्मुकेनाग्रीद्वः । “अच्छिद्र मेवैन मित्याद्यर्थवादः स्पष्टार्थः ।
अत्र तन्नं मादयित्वा सुचोद्यात्वात् मुत्तरेण शमिता अपोस्त्रिषति,
पर्यग्नये तु वाचयति, आहवनीयादुल्मुक मादाय असि त्रिः समन्तं
पर्येति, पश्चात् ग्रामिचदेशयूपचात्वात् आहवनीयाज्यपशुग्रामिचो
वेति । “तद् यच्चैनं अपयन्ति, तदभिपरिहरतीति । ‘यच’
ग्रामिचोत्तरभागे ‘एन’ पशु ‘अपयन्ति’, ‘तत्’ स्थानम्^१ ‘अभि’
लक्ष्य ‘एनम्’ उल्मुकं पाकार्यं माहरेत् ॥ ६ ॥

उल्मुकहरणविषये केषाञ्चित् पचम्, तद्युक्तिश्चोपन्यस्य निरा-
कृत्य स्वपक्षं स्थापयति— “तदाहुः पुनरेतदुल्मुकं हरेदथात्रान्य
मेवाग्निं निर्मग्न्य तस्मिन्नेन अपयेयुरित्यादिना । ‘पुनः’ पर्यग्नि-
करणानन्तरम् ‘एतत् उल्मुकम्’ ‘हरेत्’ आहवनीये स्थापयेत् ।
“आहवनीयो वा एष इति । यतोऽय माहवनीयः, अतः श्रुत-
होमार्थ एषः, श्रुतअपणाय नार्हतीति तेषां मभिप्रायः ॥ ७ ॥

“तदु तथा न कुर्यादिति । पर्यग्निकरणादेवायं पशुस्तेनाग्निना
पक्षितोऽभूत्; अतो मुखस्य हविः पुनराकृत्य पुनर्मग्न्याग्री अप-
णादन्यस्मै प्रदानं कृतं भवति । तस्मात् तेषां पक्षो न युक्त
इत्यर्थः ॥ ८ ॥

अथाग्रीद्वप्रतिप्रस्थाचध्वर्युयजमानानां^१ ग्रामिच प्रति गमन
माह— “अथोल्मुक मादायाग्रीदित्यादिना^२ । उल्मुकस्य पुरो-

१— ‘तलस्थानम्’— इति क ।

२— ‘अथ तेषां’— इति व छ ।

३— का० श्रौ० सू० ६. ५ ७, ८, ९ ।

गमनप्रयोजन माह— “अग्नि सेवैतदिति । ततश्च किं मित्याह—
“अग्निः पुरस्तादिति । अन्यनुगमनं न युक्तं मिति ॥ ८ ॥

“तदाङ्गरिति । तेषां मभिप्रायं मन्यथयति— “न वा एनं
मिति । केवलसहननार्थं नयनं चेत् ‘मृत्यवे नयति’ । यज्ञार्थं नयनं
पशोः स्वर्गभाष्यार्थत्वात् न मृत्यवे नयनं मिति स्वपक्षे शङ्कितं बाधं
परिहृत्य विपक्षे बाधं माह— “यज्ञादु हैवात्मानं मिति ।
तस्मिन् समये प्रतिप्रस्थाता वपाश्रपणौभ्यां कार्पूर्यमयीभ्यां^१ पशुम्
अन्वारभते, तं मनु अध्वर्युश्च, अतस्ताभ्यां व्यवधानात् प्रियमाणश्च
पशोः न साक्षादन्वारम्भो भवति । अतोऽपि नोक्तं इत्यर्थः ॥ १० ॥

“अथ स्त्रीणां वै वेदेर्द्वे दृष्टे अध्वर्युरादत्त इति^२ । अन्वारम्भ-
समये वेद्यास्त्रीर्णं बर्हिषि, दृष्टदध मादाय अन्वारभते । ‘सः’
दृष्टपक्षीता अध्वर्युः आश्रावणं मुक्ता, प्रपद्य, “होतुर्हव्या
देवेभ्यः”— ‘इति’ आह । होतुर्हव्यान्मुद्दिष्य, देवेभ्य उपगम्य,
मैत्रावरुणमैषादनन्तरं मभिगुमैषं पठतीति तस्यार्थः । अत्र ‘देवेभ्य’—
इत्यभिधानात् पशोर्वैश्वदेवत्वापादनम् ॥ ११ ॥

“अथ वाचयतीति^३ । “रेवतीति^४ । हे ‘रेवति’ रथिमति
धमवति वा देवते ‘यजमाने’ ‘प्रियम्’ अभिमतम् अनाति-
लक्षणं ‘धाः’ धेहि । दधातेर्लुङि षिचो लुकि रूपम् । यदा
दधातेः क्तिप् । धारयिचो लम् आविशदिन्द्रियं मिति सम्बन्धः,

१— नैतत् पदं क्व पुस्तके ।

२— का० श्रौ० सू० ६. ५. १० ।

३— का० श्रौ० सू० ६. ५. ११ ।

४— वा० स० ६. ११ २ ।

अनार्त्तिं कुर्वित्यर्थः । यदा अनार्त्तस्यास्य हविषः आत्मना यजेति वक्ष्यमाणत्वात् 'प्रियम्' अनार्त्तिं कर्तुं पशूनाविगेत्यर्थः । हे वाग्देवि । 'उरोः अन्तरिक्षात्' विस्तीर्णादन्तरिक्षात् 'वातेन' 'सज्जुः' समानप्रीतिः सती यजमानम् अन्तरिक्षाद्, 'गोपाय'— इति शेषः । किञ्च 'अस्य हविषः' यज्ञपशुलक्षणस्य हविषः 'तन्ना' आत्मना, स्वरूपेण 'यज' । 'अस्य' पशो' 'तन्ना सम्भव' शरीरेण सम्भव । हे रेवति । यजमानपशौ च समूय धामं साधयेत्यर्थः । अपत्यरेवतीशब्दस्य वाग्वाचकत्वं सुप-
पादयति— "सा यद् वाग् भज्ज वदति, तेन धाम् रेवतीति । तदपेक्षितं दानादिधनार्जनं लोकप्रसिद्धम् । प्रियशब्दार्थं माह—
"अनार्त्तिं माविगेति । न विद्यते आर्त्तिर्यन्निन्नित्यनार्त्तिः, प्रियः पदार्थः । उरारन्तरिक्षादित्यभिधानस्य प्रयोजनं माह— "अन्तरिक्षं
धा अतु रक्षयतीत्यादिना । 'अमूल' मूलसम्बन्धरहितम् । न केवलं मूलं मेव, किन्तु 'समयतः' उपरि अधस्ताच्च 'परिच्छिन्नम्' संक्षेपरहितं सद्रक्षयति । तच्च दृष्टान्तः— "यथायं पुरुष इति । 'तत्' तेन, अन्तरिक्षे रक्ष.सञ्चारकारणेनैतस्माद् वातादान्तरि-
क्षाद् गोपायतीत्याह मन्त्र । "अस्य हविषस्तन्ना यज"—इत्यस्या-
भिप्रायं माह— "वाचा मेवैतदाहेति । एतत्त्वय मेव विशदयति—
"अनार्त्तस्यास्येति । एतद्वीरूपः यन् देवान् प्रीणातीत्यर्थः । एव
मुत्तरवाक्यं मपि ध्यायेयम् ॥ १९. १० ॥

“तद्यच्चैनं विग्रसन्तीति^१ । “वर्षीयसीति^२ । विग्रसनप्रदेशेऽध्वर्युः
 दृष्ट्वा मपास्यति— हे दृष्ट्वा ! ‘वर्षः’ वर्षीयः प्रवृद्धं त्वं ‘वर्षीयसि’
 प्रवृद्धे ‘यज्ञपति’ ‘धाः’ स्थापय । एतद्वर्हिस्तरणेन स्थापनीय मिति
 स्तौति— “वर्हिरेवास्मा एतदित्यादिना । ‘अस्मै’ पशवे । तदपि
 किमर्थं मित्यत आह— “अस्कन्न हविरसदिति । तद् विग्रद-
 यति— “तद् यदेवेति । ‘तत्’ अन्यत्र पतित मपि ‘एतस्मिन्’
 केवलवर्हिषि ‘प्रतितिष्ठति’ । “तथा मामुया भवतीति । ‘तथा’ ह्यते
 सति अन्यत्र पतित मङ्गम् ‘अमुया’ अमुच, अन्तरिक्षेऽनभिमतप्रदेशे
 ‘न भवति’ न विनश्यतीत्यर्थः ॥ १४ ॥

“अथ पुनरेत्याहवनीय मिति । पुनराहवनीय मभ्यावर्त्तन-
 स्थाभिप्राय माह— “नेदस्येति । ‘अध्यक्षाः’ न भवासेति, सन्नि-
 हिताः सन्तो वारयितारो न भवासेति । “न कूटेनेति । ‘कूटेन’
 शृङ्गेण साधनेन, शृङ्गं गृहीत्वा, न हन्यात् । नैव कर्णस्य पश्चाद्भाग
 मग्रभागं वा गृहीत्वा । तर्हि कथम् ? ‘मुख मपि गृह्य’ ज्ञानं
 कुर्यात् । ‘वेष्कं’ मुखवेष्टनं च शब्दाभावाय कुर्यात्^३ ॥

सञ्ज्ञपनप्रकारः सूत्रे दर्शितः— “तस्मिन्नेनं निग्नन्ति प्रत्यक्-
 शिरस मुदक्पादं, प्राक्शिरसं वा, सङ्गृह्य मुखं तमयन्त्यवाग्न-
 मानम्, वेष्केण वा, एत्याहवनीय माहृत्यासते, सञ्ज्ञपयान्वगच्छित्येवं

१— का० श्रौ० सू० ६. ४ १५ ।

२— वा० सं० ६. ११. ५ ।

३— “वेष्को गलावेष्टक, यत्नं वावेष्ट तमयन्ति सङ्गृह्ययन्ति मारयन्ति”

—इति का० श्रौ० सू० ६. ५-१५ सू० या० ६० ।

ब्रूयात्"-इति^१ । 'जहि', 'मारय' इत्यादि मानुषबधवत् क्रूरवचनं न ब्रूयात्, किन्तु हे शमित । 'सञ्जपय', अगौ तु^२ 'अचगन् अनुगतोऽभूत् । "तद्धीत्यादि स्पष्टम् ॥ १५ ॥

"तद्यत्रैन निविद्धन्तीति । 'सञ्जपनात्' प्राक् "स्वाहा देवेभ्य" इति जुहुयात् । सञ्जपनामन्तर "देवेभ्य स्वाहा" इति जुहुयात्^३ । होमभेदेन स्वाहाकारप्रयोगवैपरीत्यम् । प्रयोजनाभिधानेन प्रशंसति— "पुरस्तात् स्वाहाकृतयो वा अन्ये देवा इत्यादिना । एतयोराहुत्योर्नाम करोति— "ते वा एते परिपश्ये इत्याहुतौ इति"^४ । उक्ते द्वे आहुतौ 'परिपश्ये' परित आज्य तयो पशोर्हितं यत, अत 'परिपश्ये' इति नामधेये इत्यर्थः । "उगवादिभ्यो यत्" इति^५ यत्, "ओर्गुणे"-इति^६ भ सञ्जकस्य गुणः ।

१— का० श्रौ० सू० ६ ५ १६ २१ । 'आसरोधो यथा स्यात् तथा वृष्टं मुखस्य ग्रहणं कृत्वा अवाशमानं यथा मार्यमाणं ध्वजं न करोति तथा तमयन्ति तमु आकाङ्क्षायाम् । पशुर्हि निरुद्धपायः सन् आस माकाङ्क्षति ताम्यति । ताम्यन्तं प्रयच्छते तमयन्ति । तथा कुर्वन्ति यथा स ताम्यति । आसरोधं कृत्वा मारयन्तीति तात्पर्यार्थः'—इति तत्र या० २० ।

२— नेतत् पदद्वयं क्व पुस्तकादन्यत्र ।

३— का० श्रौ० सू० ६ ५ २३, २४ ।

४— का० श्रौ० सू० ६ ५ २५ ।

५— पा० सू० ५ १ २ ।

६— पा० सू० ६ ४ १४६ ।

एतयोरनुष्ठाने ऐच्छिकत्वं माह— “स यदि कामयेतेति ॥
१६ ॥ २ [८. १.] ॥

इति शायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

तृतीयकाण्डेऽष्टमाध्याये प्रथम ब्राह्मणम् ॥

[अथ द्वितीय ब्राह्मणम्]

यदा ग्राह सुञ्जप्तः पशुरिति* । अथाध्वर्युराह नेष्टः
पुत्री मुदानयेत्युदानयति नेष्टा पुत्रीं पान्नेजनं विध-
त्तीम् ॥ १ ॥

तुं व्वाचयति । नुमस्त आतानेति यज्ञो वा आता-
नो यज्ञः हि तन्वते तेन यज्ञ आतानो जघनार्हो वा
ऽएष यज्ञस्य यत्पुत्री तु मेतत्पुत्री यज्ञं प्रसाद-
यिष्यन् भवति तस्मा ऽएवैतद्यज्ञाय निह्रुते तद्यो हैना
मेपु यज्ञो न हिनस्ति तस्मादाह नुमस्त आता-
नेति ॥ २ ॥

अनर्वा प्रेह्वीति । असपत्नेन प्रेह्वीत्यैवैतदाह घृतस्य
कुल्या ऽउपऽघृतस्य पुण्या ऽअन्विता साधूपेत्यैवैतदाह

देवौरापः शुद्धा व्वोद्धः सुपरिविष्टा देवेषु सुपरिविष्टा
व्वयुं परिव्वेष्टारो भूयास्मेत्यपु एवैतुत्पावयति ॥ ३ ॥

अथ पशोः प्राणानद्भिः पत्युपस्पृशति । तद्युदद्भिः
प्राणानुपस्पृशति जीवं वै देवानां हविरमृत ममृताना
मथैतत् पशुं घ्नन्ति यत् सज्जापयन्ति युद्धिशासत्यापो
वै प्राणास्तुदस्मिन्नेतान् प्राणान् दधाति तुथैतुज्जीव मेव
देवानां हविर्भवत्यमृत ममृतानाम् ॥ ४ ॥

अथ यत्पत्युपस्पृशति । योपा वै पुत्री योपायै वा
ऽइमाः प्रजाः प्रजायन्ते तुदेन मेतुस्यै योपायै प्रजन-
यति तुस्मात् पत्युपस्पृशति ॥ ५ ॥

सोपस्पृशति । व्वाचं ते शुन्धामीति मुखं प्राणुं ते
शुन्धामीति नासिके चक्षुस्ते शुन्धामीत्युक्ष्यौ श्रोत्रं ते
शुन्धामीति कुर्णौ नाभिं ते शुन्धामीति योऽय मुनिरुक्तं
प्राणो मेढ्रं ते शुन्धामीति वा पायुं ते शुन्धामीति
योऽयं पश्चात् प्राणस्तत् प्राणान् दधाति तत्सुमीरयत्यथ
सःहृत्य* पट्यरिचांस्ते शुन्धामीति पद्भिर्वै प्रतितिष्ठति
प्रतिष्ठित्या ऽएव तुदेनं प्रतिष्ठापयति ॥ ६ ॥

अथ या आपः परिशिष्यन्ते । अर्हु वा यावत्यो वा

तुभिरेनं युजमानश्च शीर्षतोऽग्नेऽनुपिञ्चतस्तुत्प्राणां-
 श्वैवास्मिंस्तत्तौ धत्तस्तुच्चैन मतुः सुमीरयतः ॥ ७ ॥

तद्युत् क्रूरौकुर्वन्ति । युदास्थापयन्ति शान्तिरुप-
 स्तुदद्भिः शान्त्या शमयतस्तुदद्भिः सुन्धत्तः ॥ ८ ॥

तावुनुपिञ्चतः । मुनस्त ऽश्राप्यायतां व्याक्त ऽश्राप्या-
 यतां प्राणुस्त ऽश्राप्यायतां चक्षुस्त ऽश्राप्यायताः श्रोत्रं
 त ऽश्राप्यायता मिति तुत्प्राणान् धत्तस्तत्सुमीरयतो
 युक्ते क्रूरं यदास्थितं तुत्त ऽश्राप्यायतां निध्यायता*
 मिति ॥ ९ ॥

तद्युत् क्रूरौकुर्वन्ति । युदास्थापयन्ति शान्तिरुप-
 स्तुदद्भिः शान्त्या शमयतस्तुदद्भिः सुन्धत्तस्तत्ते शुध्यत्विति
 तन्मेध्यं कुरुतः श मुहोभ्य इति जघुनेन पशुं निन-
 यतः ॥ १० ॥

तद्युत् क्रूरौकुर्वन्ति । युदास्थापयन्ति नेदेतदन्वशा-
 न्तान्यहोराचाण्यांसन्निति तुस्मान्छ मुहोभ्य इति जघु-
 नेन पशुं निनयतः† ॥ ११ ॥

अथोत्तानं पशुं पुर्यस्यन्ति । स तृण मन्तुर्द्धात्योपधे

* 'विद्यायता'—इति ख ।

† 'आण्य'—इति ख, 'आण्यु'—इति ग, घ, 'आण्यै'—इति ॥ दृष्टो वेवरेण ।

‡ 'निनयतु'—इति ख ।

चायस्वेति वृजो वा ऽअसिस्तुथो हैन मेय वृजोऽसिनु
 हिनस्तुथासिनाभिनिदधाति स्वधिते मैनः हिःसी-
 रिति वृजो वा ऽअसिस्तुथो हैन मेय वृजोऽसिनु
 हिनस्ति ॥ १२ ॥

सा या प्रज्ञातुाग्निः । तुयाभिनिदधाति सा हि
 युजुष्कृता मेध्या तद्यदुग्रं तृणस्य तुत्सव्ये पाणौ कुरुतेऽथ
 यद् बुधं तुदक्षिणेनादत्ते ॥ १३ ॥

स युवाच्छ्रुति । युत एतल्लोहित मुत्पुतति तुदुभय-
 तोऽनक्ति रुक्षसां भागोऽसौति रुक्षसाः ह्येष भागो यदु-
 स्तक् ॥ १४ ॥

तुदुपास्याभितिष्ठति । इदु महः रुक्षोऽभितिष्ठामीदु
 महः रुक्षोऽववाध ऽइदु महः रुक्षोऽधमन्तुमो नयामीति
 तद्यज्ञेनैवैतन्नाद्रा रुक्षाःस्यववाधते तद्यदमूलं सुभ-
 युतः पुरिच्छिन्नं भवत्यमूलं वा ऽइदु सुभयुतः पुरि-
 च्छिन्नः रुक्षोऽन्तरिक्ष मनुचरति युथायं पुरुषो ऽमूलं
 उभयुतः पुरिच्छिन्नोऽन्तरिक्ष मनुचरति तुत्सादमूलं
 सुभयुतः पुरिच्छिन्नं भवति ॥ १५ ॥

अथ वृषा मुत्खिदन्ति । तुया वृषाश्रुपण्यौ
 प्रोर्णौति दृतेन द्यावापृथिवी प्रोर्णुवाथा मिति तुदिमे
 द्यावापृथिवी ऽज्जर्जा रुसेन भाजयत्यनुयोरुर्जः रुसं

दधाति ते रुसवत्या ऽउपजीवनौये ऽइमाः प्रजा
उपजीवन्ति ॥ १६ ॥

कार्पर्य्यमुख्यौ वपाश्रुपण्यौ भवतः । युत्र वै देवा
श्रुते पशु मालेभिरे तदुद्दौचः कृष्यमाणस्यावाङ्मेधः
पपात सु एष व्वनस्पतिरजायत तद्यत् कृष्यमाणस्या-
वाङ्पततुस्मात् कार्पर्य्यस्तेनैवैन मेतन्मेधेन सुमर्ह-
यति कृत्स्नं करोति तुस्मात् कार्पर्य्यमुख्यौ वपाश्रुपण्यौ
भवतः ॥ १७ ॥

तां पुरिवासयति । तां पशुश्रुपणे प्रुतपति तुथो
हास्याचापि श्रुता भवति पुनरुल्मुक मग्रीदुदत्ते ते जघु-
नेन चात्वालं यन्ति त ऽश्रायन्त्यागच्छन्त्याहवनौयः सु
एतत्तृण मध्वर्युराहवनौये प्रास्यति व्वायो व्वे* स्तोकुना
मिति स्तोकुनाः द्वैषा समित्† ॥ १८ ॥

अथोत्तरतस्तिष्ठन्वपां प्रुतपति । अत्येध्वन्वा ऽयुयोऽग्निं
भवति दक्षिणतः परौत्य श्रपयिष्यंस्तुस्मा ऽएवैतन्निहुते
तुथो हैन मेपोऽतियुन्त मग्निर्मु हिनस्ति तुस्मादुत्त-
रतस्तिष्ठन्वपां प्रुतपति ॥ १९ ॥

ता मुन्तरेण यूपञ्चाग्निं च हरन्ति । तद्यत्समुया न
हुरन्ति येनान्यानि हवीरुपि हरन्ति नेदुश्रतया समु-

या यज्ञं प्रसुजामेति यदु वाच्चेन न हुरन्त्यग्रेण यूपं
बहिर्द्धा ह* यज्ञात् कुर्यस्तुस्मादन्तरेण यूपं चाग्निं च
हरन्ति दक्षिणतः परीत्य प्रतिप्रस्थाता अपयति ॥ २० ॥

अथ सुवेणोपहृत्याज्यम् । अध्वर्युर्व्वपा मभिजुहो-
त्यग्निराज्यस्य व्येतु स्वाहेति तयो हास्येते स्तोकाः श्रुताः
स्वाहाकृता आहुतयो भूत्वाग्निं प्राप्नुवन्ति ॥ २१ ॥

अथाह स्तोकेभ्योऽनुब्रूहीति । सु आग्नेयौ स्तोकेभ्यो-
ऽन्वाह तद्यदाग्नेयौ स्तोकेभ्योऽन्याहेतुःप्रदाना वै वृष्टि-
रितो ह्यग्निर्व्वृष्टिं व्वनुते सु एतौ स्तोकेरेतुन्स्तोकान्
व्वनुते तु ऽएतौ स्तोका व्वर्पन्ति तुस्मादाग्नेयौ स्तोकेभ्यो-
ऽन्वाह यदा श्रुता भवति ॥ २२ ॥

अथाह प्रतिप्रस्थाता श्रुता प्रचरेति । सुचावाद्याया-
ध्वर्युरतिक्रम्याश्राव्याह स्वाहाकृतिभ्यः प्रेक्ष्येति व्यपट्कते
जुहोति ॥ २३ ॥

हुत्वा व्वपा मेवाग्रेऽभिघारयति । अथ पृषदाजं तदु
ह चुरकाध्वर्यवः पृषदाज्य मेवाग्रेऽभिघारयन्ति प्राणः
पृषदाज्य मिति व्वदन्तस्तदु ह याज्ञवल्क्यं चुरकाध्वर्युरनु-
व्याजहारैव* कुर्व्वन्तं प्राणं वा ऽअय मन्तुरगादध्वर्युः
प्राण एनः हास्यतीति ॥ २४ ॥

सु ह स्म बाहुऽअन्ववेक्ष्याह । इमौ पलितौ बाहु क
स्विद् ब्राह्मणस्य व्यचो बभूवेति न तदाद्रियेतोत्तमो
वा ऽएषु प्रयाजो भवतीदं वै हविर्यज्ञ उत्तमे प्रयाजे
ध्रुवा मेवाग्रेऽभिधारयति तस्यै हि प्रथमावाज्यभागौ
होष्यन् भवति व्यपां वा ऽशुच प्रथमाऽहोष्यन् भवति
तस्माद्वपा मेवाग्रेऽभिधारयेदथ पृथदाज्यं मय युत्पशुं
नाभिधारयति नेदुशृत मभिधारयाणीत्येतदेवास्य सुर्वः
पशुरभिधारितो भवति युद्वपा मभिधारयति तस्माद्वपा
मेवाग्रेऽभिधारयेदथ पृथदाज्यम् ॥ २५ ॥

अथाज्यं मुपस्तृणीते । अथ हिरण्यशकलं मुवदधा-
त्यथ व्यपां मवद्यन्नाहोग्रीपोमाभ्यां ह्यगस्य व्यपायै
मेदसोऽनुब्रूहीत्यथ हिरण्यशकलं मुवदधात्यथोपुरिष्ठाद्
विराज्यस्याभिधारयति ॥ २६ ॥

तद्यहिरण्यशकलावभितो भवतः । घ्नन्ति वा ऽएतत्पशुं
युदग्रीं जुह्वत्यमृतं मायुर्हिरण्यं तुदमृतं ऽआयुपि प्रति-
तिष्ठति तथात उदेति तथा सुज्जीवति तस्माद्विरण्य-
शकलावभितो भवत आश्राव्याहोग्रीपोमाभ्यां ह्यगस्य
व्यपां मेदः ग्रेष्येति न प्रुस्थितं मित्यह प्रुमुते
प्रुस्थितं मिति व्यपदक्षते जुहोति ॥ २७ ॥

हुत्वा व्यपाऽसमीची । व्यपाश्रुपण्यौ कृत्वानुप्रास्यति

स्वाहाकृते ऽजङ्घनभसम्भारुतुं गच्छत मिति नेदिमे
 ऽश्रमुया सतो युभ्यां वपा मुशिअपामेति ॥ २८ ॥

तद्यदपुया चरन्ति । यस्यै वै देवतायै पशु मालुभने
 ता मेवैतुदेवता मेतेन मेधेन प्रीणाति सैया देवतै-
 तेन मेधेन प्रीता शान्तोत्तराणि हवीरुपि अय्यमाणा-
 न्युपरमति तुस्माद् वपुया चरन्ति* ॥ २९ ॥

अथ चात्वाले मार्जयन्ते । क्रूरी वा ऽएतत् कुर्वन्ति
 युत् सञ्जपयन्ति युदिशासति शान्तिरुपस्तुदद्भिः
 शान्त्या शमयन्ते तुदद्भिः सुन्दधत्ते तुस्माच्चात्वाले
 मार्जयन्ते ॥ ३० ॥ ३ ॥

॥ इति षष्ठप्रपाठके तृतीयं ब्राह्मणम् [८. २.]

सञ्जपनानन्तरप्रयोग माह— “यदा प्राह सञ्जपतः पशुरित्य-
 ध्वर्युराहेत्यादिना ॥ १ ॥

“तां वाचयतीति¹ । ‘तां’ पशुं प्रति आगच्छन्तीं पश्वीं ‘वाच-
 यति’ “नमस्ते आताम”-“इति”² । आ समन्तात् तन्यत इत्यात्मनो
 ‘यज्ञः’ । हे ‘आतामः’ ‘ते’ तुभ्यं ‘नमः’ । यज्ञ । त्वम् ‘अमर्ता’
 अक्षयः मन् प्रेक्षि । ‘एतस्य कुच्याः’ ; जुह्वादिषु ब्रह्माख्यसम्भवात् ।

* ‘चरन्ति’-इति ख ।

१— वा० श्रौ० सू० ६. ६. १ ।

२— वा० श्रौ० सू० ६. १२. १, ११ ।

ता विशिनष्टि—‘अतस्य पथ्याः’ इति । पथिभवाः पथ्याः । ताः
कुल्याः ‘अतु’ (लङ्) ‘उप’ प्रेक्षीति सम्बन्धः । इत्थं यज्ञं प्रसाध्य,
अथापः प्रसाधयति—‘सुपरिविष्टाः’ पात्रेषु परिपूरिताः ‘देवीः’
द्योतमानाः ‘आपः’ ‘शुद्धाः’ स्वभावतः संस्कारेण च विशुद्धाः सत्यो
यूयं ‘देवेषु’ विषयभूतेषु पशुम् ‘वोङ्ङम्’ अपहत । ‘वयं’ च
‘देवेषु’ मध्ये ‘सुपरिविष्टाः’ देवानां ‘परिवेष्टारः’ ॥

ममस्कारवचनं यज्ञातिक्रमपरिहारत्वेन प्रशंसति—“जघनार्द्धं
इति । यज्ञस्य जघनार्द्धं पत्नीशालाया मवस्थिता पत्न्यपि जघनार्द्धं
इत्युच्यते । तां प्राङ् नयति, तस्मिन् यज्ञायतने जघननिऋत-
कृता भवति । इतकुल्याद्युपन्यास आगमनासुकूल्यप्रदर्शनायेति
व्याचष्टे—“साधूपेत्येवैतदाहेति । उपेत्युपसर्गसामर्थ्यात् एतौति
क्रिया सम्बध्यते । देवीराप इत्यादिमन्त्रभागस्य तात्पर्यं माह—
“अप एवैतत् पावयतीति । अत्र ‘शुद्धा वोङ्ङम्’—इति शुद्धि-
विधानात् शुद्धीकरणम् ॥ ९, १० ॥

“अथ यज्ञोरित्यादि । प्राणमुखनासाचक्षुरादीनि अङ्गिः पत्नी
‘उपसृष्टति’ प्रक्षालयेदित्यर्थः । अपा सुपस्पर्शनं यज्ञोः सजीवत्व-
करणात्मना प्रशंसति—“जीवो वै देवाना मिथ्यादिना । पदद्वयं
व्याचष्टे—“अमृतं ममृताना मिति । देवाः अमृताः अमृतधर्माणः,
जीवनं ममृतं मृतिरहितम् ; अतो योग्यत्वात् देवानां जीवनं
युज्यते । सञ्ज्ञापनविशेषने उभे अपि जघनात्मके, अतो हेतोरस्य

१— वा० स० ६. १३, १ मृष्टम् ।

२— का० श्रौ० सू० ६. ६. २, १ ।

पुन-प्राणापेक्षत्वात्, अपा च “आपोमय प्राण”-इति श्रुते प्राणरूपत्वात्, किद्रेष्वपा प्रक्षेप एव प्राणनिधारण मित्यर्थ । ततश्च देवानां सजीव हविर्दत्त भवति ॥ ४ ॥

अपा सुपस्पर्शनं प्रशस्य, पत्नीकर्तृकत्वं प्रशमति— “अथ यत् पत्युपसृशतीति । “योषा वा इत्यादिना ॥ ५ ॥

अथवावयविभेदेनोपस्पर्शनमन्त्रभाग माह— “मोपसृशतीति । “वाच ते शुन्धामीति” मुख मिति । ‘मुख’ वदनम् । हे पशो । ‘ते’ ‘प्राण’ प्राणनम्, नामिकाभ्यां सुत्पद्यमान प्राणवायुम् ‘शुन्धामि’ विशुद्धं करोमि । एव मुत्तरचापि योज्यम् । चक्षुःश्रोत्रे दर्शनश्रवणशक्तीन्द्रिये । “नाभि ते शुन्धामि”—इति ‘अनिरुक्तम्’ अनभिव्यक्तप्राणम्, अथवा किं अनिरुक्तेन प्राणेन? “मेढ्रं ते”—इति द्रूयात् । ‘पद्यान्प्राण’ अधस्ताद् वर्त्तमानोऽपान, तं तत्र पायौ स्थापितवान् भवति । ‘अथ सद्यस्य पद’ पादानेकीकृत्य “चरिषास्ते शुन्धामि”—‘इति’ पादानपि शोधयेत् । पादशोधनं शसति— ‘पङ्क्तिर्वा इति ॥ ६ ॥

“अथ या आप परिशिष्यन्त इति” । परिशिष्टाभिः अर्द्धाभिरुत्पीयभीभिर्वा यजमान पत्नी च पशोः ग्रीवांश्च प्रथमं तदारभ्य निषिञ्चत । ‘तौ’ पत्नीयजमानौ ‘तत्’ तेन निषिञ्चनेन ‘पशो’ ‘प्राणान्’ ‘धत्त’ धारयत । ‘तत्’ तेन ‘एन’ पशुम् ‘अत’ अस्मात् स्थानात् ‘ममीरयत’ ॥ ७ ॥

“तद् यत् क्रूरौकुर्वन्तीति । ‘आस्थापयन्ति’ सञ्ज्ञपयन्ती-
त्यर्थः ॥ ८ ॥

“तावनुपिञ्चत इत्यादि । तदेव क्रूरीकरणं ‘तौ’ पद्वीयजमानौ
‘अनुपिञ्चतः’ शिरसि अवशिष्टोदकस्यैकदेशेनानुपिञ्चनं कुर्वाताम् ।
शिरस्तेचनमन्त्र माह— “मनस्त इति” । मनआदिपञ्चकस्य
शिरस्स्थानात् तैः पञ्चभिर्मन्त्रैः शिरो निपिञ्चतः । “तत् प्राणान्
धत्तस्तत् समीरयत इति आषाढनप्रयोजनाभिधानम् । “इतराङ्ग-
निषेकमन्त्र माह— “यत् ते क्रूरं यदास्थित मिति” । “यत्ते
क्रूरम्”—इत्यस्य व्याख्यानं ‘यदास्थितम्’ इति । आस्था = सञ्ज्ञप्तिः,
इत्युक्तम् । न हि सञ्ज्ञपनादन्यत् क्रूरं मस्ति । “तत् ते आषाढ-
ताम्”, कोऽर्थः ? ‘निष्ठापयताम्’ सहत भवत्वित्यर्थः ॥ ८ ॥

“तद्यत् क्रूरौकुर्वन्तीति । ‘ते’ तव ‘तत्’ निष्ठित मङ्गं ‘शृङ्गात्’
मेयं भवतु ॥ १० ॥

“तद्यत् क्रूरौकुर्वन्तीति । पशोर्जघनार्द्धस्य समन्तकं निनयनं
विधत्ते— “महोभ्य इतीति” । “जघनेनेति । पशोर्जघनप्रदेशं
निनयतः स्नानभेदेन मन्त्रभेदं सूचकार आह— “ग्रेपेण यजमानश्च
शिरःप्रभृत्यनुपिञ्चत”, मनस्त इति शिरः, यत् ते क्रूरं मित्यङ्गानि,
श महोभ्य इति पश्चात् पशोर्निपिञ्चतः”— इति । मन्त्रे अह-

१— का० श्रौ० सू० ६. ६. ५ ।

२— वा० सं० ६. १५. १-५ ।

३— का० श्रौ० सू० ६. ६. ६ ।

४— वा सं० ६. १५. ६ ।

५— वा० सं० ६. १५. ७ ।

६— का० श्रौ० सू० ६. ६. ७-७ ।

विषयं यत् सुखप्रार्थनं मस्ति, तत्र कारणं माह— “यत् क्रूरीकुर्वन्तीति ॥ ११ ॥

विश्वसनप्रयोगं माह—“अथोत्तानं मिति^१ । “अग्निनाभिनिदधातीति । अत्राग्नेः कर्मभूतस्य कारणत्वोपचारेण द्वितीया ॥ १२ ॥

“मा या प्रज्ञाताश्चिरिति । ‘या’ पूर्वं पञ्चजनायासीत्, याभिर्निदध्यात्, सा यथा पशोरुपरि भवति, तथा स्थापयित्वा विन्ध्यादभिनिधानं छेदनोपलक्षणतया भवितव्यं मिति । अत्र हेतुं माह— “सा हि यजुष्कृतेति ॥ १३ ॥

“स यथाच्छ्यतीति । “तदुभयतोऽनकीत्यादि^२ । ‘तत्’ तस्य क्षिप्रस्य दर्भस्य यत् अयम्, तत् सव्ये पाणौ गृहीत्वा ; यन्मूलम्, तद् दक्षिणेनादाय, ‘यध’ यस्मिन् प्रदेशे ‘आच्छ्यति’ आच्छिनन्ति,^३ तत्र प्रदेशे ‘यत’ यस्मात् ‘लोहितं मुत्पतति’, ‘तत्’ तत्र मूलद्वयस्य ‘उभयत’ मूलं यस्मात् ‘अनक्ति’ “रक्षसा मिति मन्त्रेणेति^४ ॥ १४ ॥

“तदुपास्याभितिष्ठतीति^५ । ‘तत्’ दर्भायम् “इदं महं मिति^६ यजमानोऽतिक्रामति । ‘इदम्’ इदानीम्, अनेन दर्भाक्रमण-

१— का० श्रौ० सू० ६ ६. ८ ।

२— का० श्रौ० सू० ६ ६. ८ ।

३— एतदनन्तरं ‘तत् दृष्टम्’-इति पदद्वयं अधिकं ह-पुस्तके ।

४— वा० स० ६. १६ १ ।

५— का० श्रौ० सू० ६. ६ ११ ।

६— वा० स० ६ १६ १ ।

व्याजेन 'रक्षः' 'अभितिष्ठामि' आक्रमामि । तथा 'अधमं तमः' निरुष्ट मन्धकारं भूमेरधस्तादुत्तमानं तम एव प्रापयामि । गत मन्धत् ॥ १५ ॥

“अथ वपा मुत्खिदन्तीति^१ । “तथा वपाश्रपण्यौ प्रोर्णैतीति । ‘तथा’ उद्धृतया वपया वपाश्रपण्योः शास्त्रयोरुपरि ‘प्रोर्णैति’ प्रच्छादयेत् । “हतेनेत्यादि^२ तच्च मन्धः । हे ‘द्यावापृथिवी’ द्यावापृथिव्यौ । युवां वपाश्रपण्योराच्छादनद्वारा ‘हतेन’ दीप्यमानेन वपापदार्येन ‘प्रोर्णवार्था’ प्रकर्षणाच्छादयेयाम् । यद्वा विसृतत्वात् वपाश्रपण्यादेव द्यावापृथिव्युपचर्धते । “तदिमे द्यावापृथिवी”— इत्यादि प्राग् व्याख्यातम्^३ ॥ १६ ॥

वपाश्रपण्योः कार्ग्यमयत्वं विधाय प्रशंसति— “कार्ग्यमय्यौ वपाश्रपण्यौ भवतो यत्र वै देवा अग्रे पशु मालेभिर इत्यादिना । पशोः कर्षणाद्धःपतितस्य मेधस्य कार्ग्यरूपेणोत्पत्तेः तस्य पशोः सम्बन्धेन पशुः कर्तृ भवति । अत एव कर्षणसम्बन्धात् कार्ग्यं इति नाम सम्बन्धम् । पशोः कर्षणादपि कार्ग्यं प्रशस्त मित्यभिप्रायः ॥ १७ ॥

“तां परिवासयतीति । ‘तां’ तथोरुपप्लतां ‘परिवासयति’ पशोः सकाशात् क्षिनत्ति । क्षिप्तां ‘तां’ ‘पशुश्रपणे’ पशुः श्रप्यते यस्मिन्नग्नौ स पशुश्रपणः तत्र, ‘प्रतपति’ । ‘तथा’ सति ‘अस्य’

१— का० श्री० सू० ६. ६. १२ ।

२— वा० सं० ६. १६. ४ ।

३— पुरस्तात् २५४ ए० १८ थ० इत्ययम् ।

पशोर्वपा 'अत्रापि' 'श्रुता' स्यादित्यभिप्रायः । "अत्रापि"-इत्यपि
शब्द आहवनीयेन सह समुच्चयार्थः । "पुनरुत्सुकमग्नौदादत्त
इति । प्रागाहृत मुत्सुक अपणार्थं मपक्षताङ्गार पुनरग्नौदादाय
सर्वेऽपि चात्वालात् पश्चाद्भागादाहवनीयं प्राप्नुयुः । तत्राध्वर्यु-
रेतत्पुरा सव्ये धृतं द्रव्याय माहवनीये "वायो वे"—इति प्राप्तेत् ।
अत्र कात्यायनः— "परिवाप्य चात्वालेऽवसिष्य ग्रामिणे प्रतपति,
ग्रामिणैकदेशं माहवनीये प्राप्स्यत्यग्नीत्, द्रव्याय चाध्वर्युर्वाधोवे-
रिति" इति^१ । हे 'वायो' । 'सोकानाम्', वपाया उपरि आग्रा-
भिधारणकालेऽधपतिता विन्दवः स्रोताः, तेषाम् आधारत्वेनेदं
द्रव्यायं समित्स्थानीयं 'वे' विद्धि, अग्निं गमय वा^२ ॥ १८ ॥

"अथोत्तरतस्त्रिष्टभित्यादि"^३ । एतत् उत्तरतः प्रतितपनम्,
उपरि दक्षिणतः प्रतितपनाद्यो यः प्रतिप्रस्थातुरप्येति क्रमः,
तत्समाधानार्थं मित्यर्थः ॥ १९ ॥

दक्षिणतः प्रतितपाद्य गमनमार्गं दर्शयति— "ता मन्तरेण
यूपं मिति । "तद्यदिति । 'समया' समीपे, वेदिमध्यदेशे 'न
हरन्ति' । केनाभिप्रायेण ? अस्य पशोस्तया वपया 'समया' सामु-
ख्येनैव समीपेण 'यज्ञम्' आहवनीयेनैव 'प्रमज्जाम' प्रकर्षेण मरा
ध्रुमं 'इति' । प्रमञ्जनं चेष्टनम् । आहवनीयात् पुरोदेशतो
हरणेऽपि यूपान् बहिर्न हरेत् 'यज्ञात्' मकाशात् 'बहिर्द्वा' कुर्यात् ।

१— का० श्रौ० सू० ६ ६ १३, १४, १५ ।

२— वा० स० ६ १६ ५ ।

३— का० श्रौ० सू० ६ ६ १६ ।

यूपस्यापि यज्ञावयवत्वात् उत्तरतः प्रतपन मध्वर्युर्कर्तृकम्, विशेषा-
श्रवणात् ॥ २० ॥

“अथ सुवेणोपहृत्याज्य मिति^१ । तथाध्वर्युः प्रतिप्रस्थाचा वपायां
तप्यमानायां सुवेणाज्यं सुपहृत्यादाय वपोपरि अध्वर्युर्जुहुयात्
“अग्निराज्यस्य वेतु”-इति^२ । ‘आज्यस्य’ आज्यं ‘वेतु’ भक्षयतु,
‘स्वाहा’ इदं सङ्गतं मस्तु । “तयो हेत्यादि । ‘अस्य’ वपाद्रव्यस्य,
वपाद्वारा पशोर्वा । “स्वाहाकारेण वा वषट्कारेण वा देवेभ्योऽन्नं
ह्रियते”-इति श्रुतेः^३ ‘स्वाहाकृताः’ स्वाहाकारेण दत्ते सति
‘आहुतयः’ भवन्तीत्यर्थः ॥ २१ ॥

“अथाह सलोकेभ्योऽनुमूहीतीति” । सोचा सलोकेभ्योऽनूच्यमा-
नानां मन्त्राणां माग्नेयत्वं दृष्टिषाधनत्वेन प्रशंसति- “तद्यदाग्नेयी
सलोकेभ्योऽन्वाहेत्यादिना । ‘इतः प्रदाना वै दृष्टिः’ अस्माद् भूलो-
कात्^४ प्रजाता प्रसाधयति । “इतो अग्निर्वृष्टिं वनुते”-इति सङ्घ-
हेणोक्तं विशदयति- “स एतैरिति । ‘एतैः’ दृतस्लोकैः ‘एतान्’
दृश्यवयवभूतान् ‘वनुते’, ‘ते’ अग्निना भक्षिताः ‘एते’ दृतस्लोकाः^५

१- का० श्रौ० सू० ६. ६. १० । २- वा० सं० ६. १६. ६ ।

३- “स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवा”-इति ऋ० सं० १०. ११०. ११.
= ऐ० त्रा० २. २. ३ = नि६० ८. ३. ६ । “उपविष्टहोमा
स्वाहाकारप्रदाना जुहोतय”-इति च का० श्रौ० सू० १. २. ० ।

४- का० श्रौ० सू० ६. ६. १८ ।

५- ‘व्यस्मात्लोकात्’-इति छ ।

६- वेतत् परं छ-पुनरादित्यर्थः ।

पुनरुदकात्मना परिणता. पृथिव्यां 'वर्षन्ति' । 'तस्मात्' उक्तप्रकारेण वृष्टेरग्न्यायत्तत्वात् 'आग्नेयी' 'स्तोकेभ्यः' अनुब्रूयात् 'यदा' वपा 'श्रुता' 'भवति' ॥ १२ ॥

"अथाह प्रतिप्रस्थातेति" । अनन्तर 'प्रतिप्रस्थाता' तदपा परिपक्वासीत् अतः 'अध्वर्यो' । प्रचार कुरु' इति ब्रूयात् । 'मेध्य' प्रयोगप्रकार, स्वाहाकृतयोऽभ्यप्रयाजदेवताः सन्ति^१ ॥ १३ ॥

"ऽज्ञा वपा मेवेति" । प्रयाज ङ्गत्वा 'अग्ने' श्रुपदाज्यात् प्राक् 'वपा मेव' प्रयाजशेषेणाभिधारयेत् । 'अथ' पश्चात् अनुयाजाद्यर्थं 'श्रुपदाज्यम्' । चरकशास्त्रोक्ता^२ ऽऽध्वर्यवप्रयोगकर्त्तार 'चरकाध्वर्यव' । 'श्रुपदाज्य मेवाग्नेऽभिधारयन्ति' । दधिमित्र माज्य श्रुपदाज्यम् । प्राणवत् गवा-मन्तर्वर्त्तमानत्वात्, प्राण पुष्टि, तद्धेतुत्वाद्वा श्रुपदाज्यस्य प्राणत्वम् । 'तदु' तस्मिन्नभिधारणप्राथम्यविषये 'याज्ञवल्क्यम्' 'अनु' लक्ष्यीकृत्य 'याज्ञहार' उक्तवान् । याज्ञवल्क्य विप्रिनष्टि— "एव कुर्वन्त मिति । श्रुपदाज्य मतिक्रम्य वपा मेवाभिधारयन्तम् 'अय मध्वर्यु' 'प्राण' खलु 'अन्तरगात्', अतः 'एनम्' अध्वर्यु 'प्राणो हाम्यति'—'इति' याज्ञवल्क्यं सम्बोध्य वक्ता अध्वर्यु साधारण्येनाह ॥ १४ ॥

"स ह मेति । एव मध्विहित. 'स' याज्ञवल्क्य 'ह' 'वाह' 'अश्ववेक्ष्य' समवेक्ष्य, तस्मै प्रकाशनाय 'इमौ वाह' 'पनिती'

१— का० श्रौ० सू० ६. ६. १६ ।

२— का० श्रौ० सू० ६ ६ २० ।

३— का० श्रौ० सू० ६ ६ २१ ।

४— 'चरकशास्त्रोक्ता'—इति व ।

जरसा युक्तौ लोचयुक्तावभूताम् । अय मभिप्रायः— एतावान्
 कालो वपाप्रथमाभिधारणेनैव गतः, अथापि प्राणश्च न निर्गत
 इति । स्वय मयि चरकाध्वर्युवत् परीक्षणेनैव ब्रूते— ‘ब्राह्मणस्य’
 चरकाध्वर्योः ‘वचः’ प्राण एनं ह्यसतीत्येतदात्मकम् ‘क यभूव’ ?
 नावगत मित्यर्थः । तस्मात् ‘तत्’ वचनं नादर्शय मित्युपसंहारः ।
 हविष्वसमानेऽपि पशोरनभिधारणस्याभिप्राय माविष्करोति—
 “नेदश्च मिति । अभिधारणं होतव्यहविःसंस्कारः । अश्चतस्र
 होमानर्हत्वात् अभिधारणं न युज्यत इत्याभिप्रायः । तर्हि संस्का-
 रस्यास्य पशुसंस्कारं एव नोपलभ्यत इत्याशङ्क्य तत्प्राप्त्युपाय माह—
 “एतदेवास्तेति ॥ २५ ॥

वपायाग माह— “अथाज्य मुपसृणीत इति । उभयतो
 हिरण्यशकलस्यापन मप्राणस्य पशोः सप्राणत्वसम्पादनाय ॥ २६ ॥

“तद्यद्विरण्यशकलावभितो भवत इति । अथास्तृताद्यात्मना
 स्तौति— “हन्ति वा एतत् पशुं यदग्नौ जुह्वतीत्यादिना । “वपां
 मेद इति । “प्रेथब्रुवोर्हविषो देवतासम्प्रदाने”—इत्यत्र^१ “हविषोऽ-
 प्रस्थितस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः”—इत्युक्तम्^२ । अतः षष्ठौ प्रतिषेधाद्यैतस्य
 प्रयोगे प्राप्ते प्रतिषेधति— “न प्रस्थित मित्याहेति । सर्वत्राध्वर्यव-
 प्रसक्ताश्रवणीयपशोः पुनः प्रसञ्जयति— “प्रसुते प्रस्थित मिति ।
 ब्रूयादिति श्रेयः । ‘प्रसुते’ अभिषवच्छते सति वपायागस्तत्रे-
 त्यर्थः ॥ २७ ॥

“अत्वा वपां समीचौ वपाश्रपण्यौ कृतानुप्रास्यतीति । ‘समी-
च्यौ’ परस्तराभिमुखे, प्राचीं विशाखा प्रतीचौ मितरा मिति ।
‘स्वाहाकृते स्वाहाशब्दे उचरिते, हविषीत्यर्थं ॥

अस्य प्राप्तने मन्त्र — ‘ऊर्द्धनभस मिति’ । ‘ऊर्द्धम्’ उपरिभूत
‘नभ’ अन्तरिक्ष यस्य वायो स तथोक्त, तम् ‘ऊर्द्धनभसम्’, त
‘मादत’ वायुम्, हे वपाश्रपण्यौ । युवा ‘गच्छतम्’ । ‘याभ्या’
शाखाभ्यां ‘वपाम् अशिश्रपाम’ वपाश्रपण मकारां ते ‘इने’ ‘अमुया’
अमुच, ममुच्छ्रयरहिते अनभिमतं देगे प्रणष्टे ‘न’ भवत इत्यभि-
प्रायेणाग्नौ प्रास्यत् ॥ १८ ॥

वपायाग प्रशमति— “तद् यद् वपया चरन्तीति । अवयव-
धागविप्रकृष्टकालीनस्याङ्गयागस्य मध्यव्यवधानेन तुधार्त्ताया देव-
ताया अवान्तरक्षुच्चिवर्त्तकत्वेन क्रोधशान्तिहेतुरित्यर्थं ॥ १९ ॥

‘अथ चालाल इत्यादि’ । स्पष्टम् ॥ १० ॥ ३ [८ १] ॥

इति मायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनगतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डेऽष्टमाध्याये द्वितीय ब्राह्मणम् ॥

१—का० श्रौ० सू० ६ ६ २० । अत्र मन्त्र—वा० स० ६ १६ ० ।

२—वा० स० ६ १६ ८ ।

३—का० श्रौ० सू० ६ ६ २८ । अत्र मन्त्र—वा० स० ६ १० १ ।

(अथ तृतीय ब्राह्मणम् .)

यदेवत्यः पशुर्भवेति । तदेवत्यं पुरोडाश मनुनिर्व्वपति तद्यत्पुरोडाश मनुनिर्व्वपति सुर्व्वेषां व्या ऽएषु पशूनां मेधो युद् ब्रौह्मिवौ तेनैवैन मेतन्मेधेन सुमर्द्धयति कृत्स्नं करोति तुस्मात् पुरोडाश मनुनिर्व्वपति ॥ १ ॥

अथ युद्धपुया प्रचुर्य । एतेन पुरोडाशेन प्रचरति* मध्यतो वा ऽइमां व्या मुत्खिदन्ति मध्यतु एवैन मेतेन मेधेन सुमर्द्धयति कृत्स्नं करोति तुस्मादपुया प्रचुर्यैतेन पुरोडाशेन प्रचरत्येष न्वेवैतस्य वन्धुर्यञ्च क चैष पशुं पुरोडाशोऽनुनिरुष्यते† ॥ २ ॥

अथ पशुं विवशास्ति । चिः प्रच्यावयता चिः प्रच्युतस्य हृदय मुत्तमं कुरुतादिति चिद्विद्वि यज्ञः‡ ॥ ३ ॥

अथ शमितारः सुःशास्ति । युत्वा पृच्छाच्छतुः हविः शमिताश्चरिति शृत मित्येव ब्रूतान् शृतं भगवो नु शृतः हीति॥ ४ ॥

* 'प्रचरति'—इति ग ।

† 'प्यते'—इति ख । 'प्यते'—इति ग, घ ।

‡ 'यज्ञ'—इति क, 'यज्ञ'—इति ग, घ ।

§ 'हीति'—इति ख, 'हीति'—इति ग, घ ।

अथ जुह्वा पृषदाज्यस्योपहृत्य । अध्वर्युरपनिष्क्रम्य
पृच्छति शृतुः हविः शमिताश्निति शृत मित्याह
तद्देवाना मित्युपाऽध्वर्युः* ॥ ५ ॥

तद्यत् पृच्छति । शृतं वै देवानाः हविर्नाशृतः
शमिता वै तुद्देद यदि शृतं वा भवत्यशृतं वा ॥ ६ ॥

तद्यत् पृच्छति । शृतेन प्रचराणोति तद्यद्यशृतं
भवति शृत मेव देवानाः हविर्भवति शृतं युजमानस्या-
नेनाऽध्वर्युर्भवति शमितुरि तदेनो भवति चिष्कृत्वः
पृच्छति चिष्टिष्ठि यज्ञोऽथ यद्वाह तुद्देवाना मिति तद्धि
देवानां युच्छतं तुस्मादाह तुद्देवाना मिति ॥ ७ ॥

स हृदय मेवाग्नेऽभिधारयति । आत्मा वै मुनो
हृदयं प्राणः पृषदाज्य मात्मन्येवैतस्मिन्सि प्राणं दधाति
तथैतुज्जीव मेव देवानाः हविर्भवत्यमृत ममृता-
नाम्† ॥ ८ ॥

सोऽभिधारयति । सुं ते मुनो मुनसा सुं प्राणः
प्राणेन गच्छता मिति न स्वाहाकरोति नु ह्येपाहुति-
रुदासयन्ति पशुम्‡ ॥ ९ ॥

* 'य'—इति ग, घ ।

† 'नाश्'—इति ग, घ ।

‡ 'पशुम्'—इति ग, घ ।

तुं जघनेन चात्वाल मुन्तरेण यूपं चाग्निं च
हरन्ति । तद्यत्समुया न हरन्ति येनान्यानि हवीरपि
हरन्ति श्रुतं सुतं नेदङ्गशो विवृत्तेन क्रूरीकृतेन
समुया यज्ञं प्रसुजामेति यदु वाह्येन न हरन्त्यग्रेण
यूपं बहिर्वा ह यज्ञात् कुर्युस्तस्मादन्तरेण यूपं चाग्निं
च हरन्ति दक्षिणतो निधाय प्रतिप्रस्थातावद्यति
सप्तशाखा उत्तरवर्हिर्भवन्ति ता अध्ववद्यति तद्यत्
सप्तशाखा उत्तरवर्हिर्भवन्ति ॥ १० ॥

युव वै देवाः* । अग्रे पशु मालेभिरे तं त्वष्टा शीर्य-
तोऽग्रेऽभ्युवामोतैव चिन्नालभेरन्निति त्वष्टुर्हि पशुवः
सु एषु शीर्यन्मस्तिष्कोऽनुक्यश्च मज्जा तस्मात् सु व्वान्तु
इव त्वष्टा ह्येतु मभ्युवमत्तस्मात् नान्नीयात् त्वष्टुर्ह्येतु-
दभिवान्तम् ॥ ११ ॥

तस्यावाङ् मेधः पपात । सु एष व्वनस्पतिरजायत
तुं देवाः प्रापश्यस्तस्मात् प्राण्यः प्राण्यो ह वै नामैतद्यत्
सप्त इति तेनैवैन मेतन्मेधेन सुमर्हयति कृत्स्नं करोति
तस्मात् सप्तशाखा उत्तरवर्हिर्भवन्ति ॥ १२ ॥

अथाज्य मुपस्तृणीते । जुहुं चोपभृति च व्वसाहोम-

हवन्त्याः समवत्तधान्या मय हिरण्यशकलावुवदधाति
जुह्वां चोपभृति च ॥ १३ ॥

अथ मनोतायै हविषोऽनुवाच आह । तद्यन्मनो-
तायै हविषोऽनुवाच आह सर्वा ह वै देवताः पशु
मालभ्यमान सुपसुङ्गच्छन्ते मुम नाम ग्रहीष्यति मुम
नाम ग्रहीष्यतीति सुर्वासाः हि देवतानाः हविः
पशुस्तासाः सुर्वासां देवतानां पशौ मुनाःस्थितानि
भवन्ति तान्येवैतत् प्रीणाति तथो ह्यामीघाय देवतानां
मुनाःस्थुपसुङ्गतानि भवन्ति तस्मान्मनोतायै हविषो-
ऽनुवाच आह ॥ १४ ॥

स हृदयस्यैवाग्नेऽवद्यति । तद्यन्मध्यतुः सतो हृदय-
स्याग्नेऽवद्यति प्राणो वै हृदय मुतो ह्यय मूर्ध्नि प्राणः
सञ्चरति* प्राणो वै पशुर्यावुद्धेव प्राणेन प्राणिति
तावत् पशुरुथ युदास्मात् प्राणोऽपक्रामति दुर्वैव
तुर्हि भूतो नर्थ्यः† श्रेते ॥ १५ ॥

हृदय मु वै पशुः‡ । तुदस्यात्मुन एवाग्नेऽवद्यति

* 'गामुवति'-इति सायणसम्मत इति डा० वेबर ।

† 'नर्थ्य' -इति, 'मर्थ्य' -इति च पाठद्वयं दृष्टं डा वेबरेण ।

‡ 'पशु' -इति ग, घ ।

तुस्माद्यदि किञ्चिदवदानः हीयेत न तदाद्रियेत सर्वस्य
 हेवास्य तुत्पशोरुवत्तं भवति यद्दृश्यस्याग्नेऽवद्यति तुस्मा-
 न्मध्यतः सतो हृदयस्यैवाग्नेऽवद्यत्यथ यथापूर्वम्* ॥ १६ ॥

अथ जिह्वायै । सा हीयुं पूर्वाहुतिं प्रतिष्ठत्यथ वक्ष-
 सस्तद्वि ततोऽथैकचरुस्य दोष्णोऽथ पार्श्वयोरुथ तुनिम्नो-
 ऽथ दक्षयोः ॥ १७ ॥

गुदं वेधा करोति । स्यविमोपयद्भ्यो† सुध्यं जुष्टां
 वेधा कृत्वावद्यत्यणिम अङ्गेषुथैकचरायै श्रोणेरेतावन्तु
 जुष्टा मवद्यति‡ ॥ १८ ॥

अथोपभृति । अङ्गस्य दोष्णो गुदं वेधा कृत्वावद्यति
 अङ्गायै श्रोणेरुथ हिरण्यशकलावदधात्यथोपरिष्ठा-
 दाज्यस्याभिघारयति ॥ १९ ॥

अथ व्वसाहोमं* गृह्णाति । रेडसीति लेलुयेव हि
 यूस्तस्मादाह रेडसीत्यग्निष्ठा श्रीणात्वित्यग्निर्द्यौतः प्र-
 यति तुस्मादाहाम्निष्ठा श्रीणात्वित्यापस्त्वा-सुमरिण-
 न्नित्यापो ह्येत मुङ्गेभ्यो रुसः सम्भुरन्ति तुस्मादाहपस्त्वा
 समरिणन्निति ॥ २० ॥

* 'वमं'-इति ग, घ ।

† 'स्यविमोपयद्भ्यो'-इति घ ।

‡ 'द्यति'-इति ग, घ ।

व्वातस्य त्वा भ्राज्या ऽहुति । अन्तुरिक्षं वा ऽत्रय
मनुपवते योऽयं पुवतेऽन्तुरिक्षाय वै गृह्णाति तुस्मादाह
व्वातस्य त्वा भ्राज्या ऽहुति ॥ २१ ॥

पूष्णो रुऽह्या ऽहुति । एष वै पूष्णो रुऽहिरेतुस्मा
ऽह हि गृह्णाति तुस्मादाह पूष्णो रुऽह्या ऽहुति ॥ २२ ॥

जम्भुणो व्यथिपदिति । एष वा ऽजुष्मैतुस्मा ऽह
हि गृह्णाति तुस्मादाहोष्मणो व्यथिपदित्यथोपुरिष्ठाद्
द्विराज्यस्याभिघारयति ॥ २३ ॥

अथ पार्श्वेन वासिना वा प्रयौति । प्रयुतं द्वेप इति
तुनाद्वा एवैतद्गृह्णास्यतोऽपहन्ति ॥ २४ ॥

अथ यद्यूपरिशिष्यते । तुत्समवत्तधान्या मानयति
तद्दृढयं प्रास्यति जिह्वां ब्रुक्षस्तनिम मुतस्त्रे ब्वनिष्ठु
मुथोपुरिष्ठाद् द्विराज्यस्याभिघारयति ॥ २५ ॥

तद्यद्विरण्यशकलावभितो भवतः । घृति वा ऽहतुत्
पशुं युदमौ जुह्वत्यमृत मायुर्द्विरण्यं तुदमृत ऽश्रायुपि
प्रतितिष्ठति तथात उदेति तथा सुज्जीवति तुस्मा-
द्विरण्यशकलावभितो भवतः ॥ २६ ॥

अथ युदक्ष्णयावद्युति । सव्यस्य च दोष्णो दक्षिणा-
याश्च श्रोणेर्दक्षिणस्य च दोष्णः सव्यायाश्च श्रोणेस्तुस्मा-
दयं पशुरक्ष्णया पदो हरत्यथ युत्सम्यगवद्येत्समीचो

हैवायुं पशुः पक्षो हरेत्तस्मादक्षयावद्यत्यथ यन्तु शीर्ष्णो
ज्वद्यति नाऽस्योर्नानूकस्य नापरसक्ययोः ॥ २७ ॥

असुरा ह वा ऽअग्रे पशु मालेभिरे । तदेवा भीषा
नोपावेयुस्तान् हेयुं पृथिव्युवाच मैतदा इदं महं व
एतस्याध्यक्षा भविष्यामि युथा यथैतु ऽएतेन चरि-
ष्यन्तीति ॥ २८ ॥

सुा होवाच । अन्यतरा मेवाहुति मुहौपुरन्धतरां
पुयंशिषन्ति स यां पर्यशिष्यंस्तानीमान्ववदुनानि
तुतो देवाः स्विष्टकृते चङ्गाण्युपाभजंस्तुस्मात् चङ्गा-
ण्यथासुरा अवाद्यक्षीर्णोऽस्योरनूकस्यापरसक्ययो-
स्तुस्मात्तेपां नावद्येद्यन्वेव त्वष्टानूक मभ्यवमत्तुस्मा-
दुनूकस्य नावद्येदथाहाम्रीपोमाभ्यां ह्यगस्य हविषोऽनु-
ब्रूहीत्याश्राव्याहाम्रीपोमाभ्यां ह्यगस्य हविः प्रेष्येति न
प्रुस्थित मित्याह प्रसुते प्रुस्थित मिति* ॥ २९ ॥

अन्तरेणार्द्धौ याज्यायै व्वसाहोमं जुहोति । इतो
वा ऽअयु मूर्द्धौ मेधु उत्थितो यु मस्या इमं रुसं प्रजा
उपजीवन्त्यर्वाचीनं दिवो रुसो वै व्वसाहोमो रुसो
मेधो रुसेनैवैतद्रुसं तीव्रीकरोति तुस्मादयं रुसो-
ऽद्युमानो नु क्षीयते ॥ ३० ॥

तद्यदन्तरेण । अर्द्धर्चौ याज्यायै व्वसाहोमं जुहो-
तीयं वा ऽअर्द्धर्चोऽसौ द्यौरर्द्धर्चोऽन्तरा वै द्यावापृथिवी
ऽअन्तरिक्ष मन्तरिक्षाय वै जुहोति तस्मादन्तरेणार्द्धर्चौ
याज्यायै व्वसाहोमं जुहोति ॥ ३१ ॥

सु जुहोति । घृतं घृतपावानः पिबत व्वसां व्वसा-
पावानः पिबतान्तरिक्षस्य हविरसि स्वाहेत्येतेन वैश्व-
देवेन यजुषा जुहोति वैश्वदेवं वा ऽअन्तरिक्षं तद्यदेने-
नेमाः प्रजा प्राणित्यथोदनुत्य*श्चान्तरिक्ष मनुचरन्ति ।
तेन वैश्वदेवं व्यपदकते जुहोति यानि जुह्वा मवदाना-
नानि भवन्ति ॥ ३२ ॥

अथ जुह्वा पृषदाज्यस्योपघ्नन्नाह । व्वनस्पतयेऽनुब्रू-
हीत्याश्राव्याह व्वनस्पतये प्रेष्येति व्यपदकते जुहोति
तद्यद्वनस्पतये जुहोत्येतु मेवैतद्भुजं यूपं भागिनं
करोति सोमो वै व्वनस्पतिं पशुं मेवैतत्सोमं करोति
तद्यदन्तरेणोमे ऽआहुती जुहोति तथोभयं व्याप्नोति
तस्मादन्तरेणोमे ऽआहुती जुहोति ॥ ३३ ॥

अथ यान्युपभृत्यवदानानि भवन्ति । तानि समा-

* '•दानुत्य•'-इति घ पाठ । पुरस्तात् २ ५ २ २ कण्ठो दृष्ट्या,
उपरिष्ठा ॥ १ २ १६ ।

नयमान आहामुये स्विष्टकृतेऽनुब्रूहीत्याश्राव्याहामुये
स्विष्टकृते प्रेष्येति व्यपदकृते जुहोति ॥ ३४ ॥

अथ युद्धसाहोमस्य परिशिष्यते । तेन दिशो व्याधार-
यति दिशः प्रदिश आदिशो विदिश उदिशो दिग्भ्यः
स्वाहेति रुसो वै व्वसाहोमः सुर्वास्वेवैतुद्दिक्षु रुसं
दधाति तुस्मादयं दिशि दिशि रुसोऽभिगम्यते ॥ ३५ ॥

अथ पशुः सुम्भृशति । एतुर्हि सम्मर्शनस्य कालोऽथ
युत्पुरा सम्भृशति य इमु उपतिष्ठन्ते* ते विम-
थिष्यन्त इति शुक्लमानो युद्यु विमाथान्न शुक्लेताचैव
सुम्भृशेत् ॥ ३६ ॥

ऐन्द्रः प्राणः† । अङ्गे अङ्गे निदोध्यदैन्दु उदानो
अङ्गे अङ्गे निधीत इति युदङ्गशो विवृक्तो भवति
तत्प्राणोदानाभ्याः सुन्दधाति देव त्वष्टर्भूरि ते सुःसु मे
तु सुलक्ष्मा यद्विपुरुषं भवातीति कृत्स्नवृतं मेवैतत्करोति
देवचा युं त भवसे सुखायोऽनु त्वा मातापितरो
मदन्विति तद्युचैन मुहौषीत्तदेनं कृत्स्नं कृत्वानुसमस्यति
सोऽस्य कृत्स्नोऽमुषिंलोक‡ आत्मा भवति ॥ ३७ ॥ ४ ॥

॥ इति षष्ठप्रपाठके चतुर्थं ब्राह्मणम् [८. ३.] ॥

* 'ये स उपतिष्ठन्ते'—इति सायणसम्मत पाठ इति डा० वेबरः ।

† 'यः'—इति ग, घ ।

‡ 'मुषिंलोक'—इति, 'मुषिंलोक'—इति, 'मुषिन् लोक'—इति च पाठाः ।

अथानुनिर्वाण्य पुरोडाश तद्देवता च विधत्ते— “यद्देवत्य इति^१ ।
 या देवता पशो, पुरोडाशो ऽपि तद्देवताकं कर्त्तव्यं । पुरोडाशात्-
 निर्वाणं पूर्यमाणस्य पशो ममृद्धिहेतुत्वेन प्रशंसति— “सर्वेषां वा
 एष पशूनां मिति । सर्वपशूनां मेधरूपत्वं मैतरेयब्राह्मणे “पुरुष वै
 देवा पशु मालभन्त, तस्मादालभ्यान्मेध उदक्रामत्”—इत्यादिमा^२
 प्रपञ्चितम् ॥ १ ॥

पुरोडाशस्य वपानन्तरं प्रशंसति— “अथ यद् वपया प्रघर्षति ।
 पशुपुरोडाशस्य पशुश्चिद्रूपं निरूपप्रयोजनं सर्वेषु पशुष्वति-
 दिगति— “एष न्वेवैतस्य बभ्रुरिति ॥ २ ॥

“अथ पशुं विशास्यीति^३ । श्रमिता^४ । तदा श्रमितुरेव मनु-
 श्रामनं कुर्यात्— हे श्रमित ! ‘चि प्रस्थावय^५ प्रधानस्त्रिष्टदुप-
 षड्भेदेन चिविधाङ्गानि^६ चिविधचिह्नानि यथा स्युः, तथा

१— का० श्रौ० सू० ६ ७ १६ द्रष्टव्यम् ।

२— ऐ० ब्रा० २ १ ८ द्रष्टव्यम् ।

३— ‘असु हिंसायाम् (भा० प० ७२०)’—इति का० सू० द्रष्टव्यम् ।

४— का० श्रौ० सू० ६ ७ १ । “अतिभ्योऽन्यं कश्चित् श्रमितेत्येत
 त्वञ्च पशुं विशास्यीति हिंसा मादयतीत्यर्थः”—इत्यादि च तत्र का० श्रौ०
 ६ ७ १ २ ३ ४ सूत्रोपलक्षितम् ।

५— ‘चि प्रस्थावयताव’—इति छ ।

६— तत्र, शुद्धा मवदेयानि ‘जौहवानि’ प्रधानयागार्थानि हृदयादीनि
 प्रथमानि, उपमृत्यवदेयानि दक्षिणमकण्यादीनि ‘अ्यौमृतानि’ लिष्ट
 हृदयागाधानि द्वितीयानि, वसाहोमहवत्या मवदयानि वसिष्ठादीनि
 उपमृत्यवयागानि तृतीयानीति विवेकः ।

प्रच्यावय^१ । ‘चिः प्रच्युतस्य’ पशोः ‘हृदयम्’ अवयवम् ‘उत्तमम्’
उपरिभावं ‘कुरुतात्’ ‘इति’^२ । यदा ‘चिः प्रच्यावय’ यथाङ्गानि
चिः प्रच्युतानि स्युः, तथा कुरु । ‘प्रच्युतस्य’ पक्षस्य ‘हृदयं’ शूलाग्रेण
पक्षम् ‘उत्तमम्’ उपरिवर्त्तमानं कुरु । प्रच्यावनस्य चित्तं प्रशंसति—
“चिद्वृद्धिं यज्ञ इति । उक्तं चिदृत्तम्^३ ॥ ३ ॥

“अथ ग्रामितारं संग्रासीति^४ । अनुग्रासनं कुर्यात् । श्रुत-
त्वाभिधानभीत्या प्रथमत एव संग्रासनम् ॥ ४ ॥

“अथ जुहोति । पाकानन्तरं ‘जुह्वा षषदाज्यस्योपहत्य’ जुह्वां
षषदाज्यं हृदयावदानार्थं मादाय ग्रामिचं प्रति गत्वा ‘ग्रामितार’
‘श्रुतं हविः?’ ‘इति’ पृच्छेत् । ‘श्रुतम्’ ‘इति’ प्रत्युक्ते ‘तत्
देवानाम्’ ‘इति’ ‘उपांशु’ जुहुयात्^५ ॥ ५ ॥

प्रश्नप्रयोजनं माह— “तद् यत् पृच्छतीति । प्रश्नाभावपक्षे
‘अश्रुतम्’ इति । ‘श्रुतं वा’ स्यात् । तच्च ऐन्द्रं नैर्ऋतं वा भवेत्,
न देवम्, “यो विदग्धः स नैर्ऋतो योऽश्रुतः स रौद्रो यः श्रुतः
स देवः”—इति हि तैत्तिरीयकम्^६ । अतः श्रुताश्रुतविभागं
ग्रामिता जामातीति “श्रुतं हविः ग्रामितः?”—इति प्रश्नो पुन्यत
इत्यर्थः ॥ ६ ॥

१— “प्रच्यावय = उत्काणय” —इति का० सू० ४० ।

२— का० श्रौ० सू० ६. ८. २ । ३— का० श्रौ० सू० ६. ७. ५ ।

४— का० श्रौ० सू० ६. ८. १ क० । “ग्रामित = शिष्ययति” —इति तत्र ४० ।

५— का० श्रौ० ६. ८. १ ख, ४, ५ सूत्राणि द्रष्टव्यानि ।

६— तै० सं० २. ६. १. ० ।

“तद्यत् पृच्छतीति । अत एव प्रश्नसामर्थ्यात् प्रमादात् अश्रुतमपि भवेत् । ‘यजमानस्य श्रुतं भवति’ श्रुते यत् फलं तदविकलं भवतीत्यर्थः । अत एव प्रश्नादेव ‘अध्वर्युः’ ‘अनेनाः’ अपापः ‘भवति’; शमितार मेव ‘तदेनः’ आश्रयति । “चिः कृत इत्यादि । स्पष्टम् ॥ ७ ॥

“म हृदय मेवाग्रेऽभिधारयतीति^१ । हृदयाभिधारणं प्रशंसति— “आत्मा वै मन इत्यादिना । यदेतत् हृदयाख्य मन्त्रम्, तत् मन-आख्यकः ‘आत्मा’ खलु; “एतं मनोमय मात्मानं सुषुम्णामति”-इत्यादौ^२ आत्मत्वव्यवहारात् । अथवा मन-उपाधिकः ‘आत्मा’ खलु, परिपूर्णस्य परमात्मनः परिच्छेदेन जीवभावः, मनस उपाधित्वात् । उक्तं षष्ठ्याख्यस्य प्राणत्वम् । अतः एतेन हृदयाभिधारणेन आत्मभूते मनसि प्राणं स्थापितवान् भवति । तथा सति हृदयद्वारा प्राणप्रज्ञयोः स्थापितत्वात् ‘देवानाम्’ इदं सजीवं ‘हविः’ मय्यद्यते । अग्नश्च्युतेः सामर्थ्यादितराण्यपि पश्चादान्येनाभिधारयेत् ॥ ८ ॥

“मोऽभिधारयतीत्यादि^३ । मन्त्रस्यार्थः ।— हे अभिघार्थमाण हृदय ! ‘ते’ ‘मनः’ । मनःप्राणयोर्द्वयवस्थानात् आश्रयाश्रयिणोरभेदात् ‘ते मनः’ इति स्वस्वामिसम्बन्धोपचारः । ‘मनसा’ षष्ठ्याख्य-

१— का० श्रौ० सू० ६. ७. ६ ।

२— ते० उप० २. ८ । कथान्यत्रान्यत्र च वक्तव्यम् । तदुपधा— इहै-
वोपरिष्ठात् १४. ४. २. १० ; १४. ८. ८. १ ; छा० उप० २. १४. ० ।

३— का० श्रौ० सू० ६. ८. ६ । ४— वा० सं० ६. १८. १ ।

लक्षणेन । पृषदाज्यस्य मनोऽक्षणेन स्तुतत्वात् प्राणमनसोरवि-
योगात् पृषदाज्य मपि मन इत्युच्यते । तेन 'सङ्गच्छताम्' सङ्गतं
भवत् । तथा 'ते' 'प्राणः' 'प्राणेन' पृषदाज्यलक्षणेन 'सङ्गच्छताम्' ।
यदा हे 'पशो !' 'ते' यौ मनःप्राणौ अपगतौ, ताभ्यां मनःप्राणाभ्यां
हृदयरूपेणावस्थिताभ्यां सङ्गच्छता मित्यर्थः । "न ज्ञेयाङ्गतिरिति ।
अभिधारणरूपत्वेनाङ्गतिसंस्कारत्वात् स्वत आङ्गतित्वाभावात् न
स्वाहा कुर्यात् ॥ ८ ॥

"तं जघनेनेत्यादि" । पूर्ववद् व्याख्येयम् । ससर्जनस्य निषेधो-
पयोगसिद्धये हविषः कूरता माह— "नेदङ्गश्च इति । अङ्गादङ्गात् ।
"सङ्घौकवचनाच्च वीष्णायाम्"—इति" शब् । दक्षिणत आहतं हविः
'प्रतिप्रस्थाता' अवधेत् । "स्रचशाखा उत्तरवर्हिर्भवन्तीति । वर्हिष
उपरिभूताः स्युः । वर्हिष उपरि हविषा मवदानार्थं माच्छादयेत्,
तासां सुपरि अवधेत् । स्रचशाखा. प्रशंसति— "तद् यत् स्रचशाखा
इत्यादिना" ॥ १० ॥

"यच्च वै देवा इति । पुरा देवानां पशुश्रमभनममये 'त्वष्टा'
देवः, पशुस्वामी । एव मेवोत्तरकाले आलभनं करिष्यति,
पशुशिरसि च मनः कृतवान्; स उच्छिष्टपदार्थः, शिरसि
मस्तिष्कादिरूपेण परिणतोऽभूत् । अथवा शिरसः उच्छिष्टसंस्पर्शनात्
'स एष.' शिर.सम्बद्धो 'मस्तिष्कः' कपालः, 'अनूक्यथ' तन्मांसम्,
'मज्जा' तदाश्रितः सारः, इत्यभक्ष्योऽभूत् ॥ ११ ॥

१— का० श्रौ० सू० ६. ७. १० । २— पा० सू० ५. ४. ४९ ।

१— का० श्रौ० सू० ६. ८. ७ । तै० सं० ६. ३. १०. ६ द्रष्टव्यम् ।

वृक्क^१ कुक्ष्यभयपार्श्वस्यमात्राकारं मांसद्वयम् । एवं हृदयादीनि नव
सम्पन्नानि ॥ १७ ॥

दशम वक्तु माह— “गृहं वेधेति^२ । त्रिधाकृत्येषु गृहाङ्गेषु
यदतिस्थूलं तदुपयाजार्थं भवेद्येत्, मध्यमं जुह्वां प्रधानहोमार्थं
द्विधाकृत्वावेद्येत्, यद्व्यणुतरं त्र्यङ्गेषु, तन्मध्ये^३ भवेद्येत्” ॥

एकादशं दर्शयति— “गृहं वेधा करोतीति । “अथैकतराद्ये
ओणेरिति । दक्षिणाया इत्यर्थः ॥ १८ ॥

स्त्रिष्टकदर्शं माह— “अथोपभृतिं त्र्यङ्गस्येति । त्रीणि अङ्गानि
यस्येति त्र्यङ्गम्, सौविष्टकृतं हविः । तान्येवाह— “दोष्ण इति ।
सव्यस्य प्रधानार्थमभिहितत्वात्^४ दक्षिणस्य दोष्णः सकाशादित्यर्थः ।
‘गृहं’ गृहस्थाणुभागं ‘वेधा कृत्वा’ उपभृतिं त्रिष्टकदर्शम् ‘भवेद्येति’
भवेद्येत् । ‘अङ्गाद्यै ओणे’ त्रिष्टकदर्श्याः ओणेः सकाशात् सव्यायाः
ओणेरित्यर्थः । प्रधानस्य इडायाद्याददानं प्रत्यङ्गं द्विः कुर्यात् ।
“सुषोरवद्यति यथोक्तं द्विर्द्विः”—इति सूत्रात्^५ ॥

“अथ द्विरण्यशकलाविति^६ । जुह्वा मुपभृतिं चावत्तमोपरि
द्विरण्यशकलौ स्थापयेत्, अथाभिघारयेत् ॥ १९ ॥

१— ‘वृक्कं (! वृक्कं ?)’—इति छ ।

२— का० श्रौ० सू० ६. ८. १० ।

३— ‘त्र्यङ्गेषु मध्ये’—इति छ ।

४— पूर्वं मिदं वर्णितं टोष्णन्याम् (११ क० २, ३, ४.) ।

५— ‘प्रधानार्थं मभिहितत्वात्’—इति छ ।

६— का० श्रौ० सू० ६. ८. ८ ।

७— का० श्रौ० सू० ६. ८. १० (६. ६. २४, २५ सू०) ।

“अथ वसाहोमं गृह्णातीति^१ । रेडसीति^२ वसाहोमं गृह्णीयात्,
ह्रयत इति यत् होमद्रव्यम्, तत् वसाहोमहवन्यां गृह्णीयादित्यर्थः ॥

मन्त्रस्याय मर्थः— हे वसाद्रव्य । त्व ‘रेडसि’ हिंसक मसि ।
“रिषेर्हिंसार्यस्य^३ विचि लघूपधगुणे रेडिति रूपम्, ब्राह्मणानुगुणं
ललादिकं कृत्वा ‘लेलया’-रूपम् । “लेलयेवेति । द्रवद्रव्यत्वात्
इतस्तत्तद्वचनं विवक्षित्वा^४ व्याख्यातम्^५ । तादृश ‘ला’ त्वाम् ‘अग्निः’
‘श्रीणात्’ अपयतु, तेन सह मिश्रयतु । ‘आपस्त्वा समरिणन्’ ।
“रौ गतिरेषणयोः”-इत्यस्य^६ लुङि रूपम् । उदकानि त्वां सम-
तरन्नित्यर्थः, उदकैः सह सर्वाङ्गेभ्यो निरस्यतत्वात् । ‘वातस्य’ वायोः
‘भ्राज्यै’ गत्यै गृह्णामि । तथा ‘पूष्णः’ ‘रंक्षै’ वेगाय गृह्णामि ।
वाय्वादित्ययोरन्तरिक्षाश्रयत्वात् भ्राजिरंक्षोरन्तरिक्षपरतया ब्राह्मणे
व्याख्यातम् । “ऊष्णो व्यधिषत्”-इति वसाविशेषणम् । ऊष्मा,
ततः सकाशात् व्यथयतीति व्यधिषत्, तादृक् त्व मसि । तादृशं
त्वां गृह्णामि ॥

‘रेट्’-शब्दं व्याचष्टे— “लेलयेव हि घूरिति^७ । द्यौति मिश्र-
यतीति घू, सा ‘लेलयेव’, चलनेन चेतस्ततो गमनमुपमीयते ।

१— का० श्रौ० सू० ६. ८. ११ क ।

२— वा० सं० ६. १८. २ ।

३— भा० प० ६६४ घा० ।

४— ‘विवक्षितत्वात्’-इति छ ।

५— “लेलयाश्चन्द्रस्याल्यवाचक”-इति मध्वीधरः । “बहुलेव एधिवौ,
लेलयेवान्तरिक्षम्, लेलयेवासौ द्यौ”-इति श्रुतमिदं प्रस्तात्,
२. २. १. १६ दृश्यम् ।

६— का० प० २७ घा० ।

७— “घूपशब्देन मासेन सह पक्वं जलमुच्यते” तै० सं० १. ५ १० सा० भा० ।

श्रीणात्वित्यस्य पाकार्थ इति व्याचष्टे— “अग्निर्होतृरूपयतीति ।
वातस्य भ्राजिः, पूष्णो रंहित्यान्तरिक्षपराविति व्याचष्टे— “अन्त-
रिक्षं वा अयं मनुषवत इत्यादिना । ऊष्णग्रन्थोऽप्यन्तरिक्षपर
इत्याह— “एष वा ऊष्मैतस्मा उ हि गृह्णातीति ॥ १०—१२ ॥

“अथ पार्श्वेनेत्यादि^१ । “प्रयुतं द्वेषः”—इति^२ मन्त्रेण ‘पार्श्वेन’
पार्श्वान्ध्विना ‘अग्निना वा’ गृह्णीतां वर्षां विभजति । ‘द्वेषः’ अग्निष्टेभ्यः
सकाशात् ‘प्रयुतं’ पृथक् कृतं भवति ॥ १४ ॥

“अथ यद् धूपं परिगृह्यत इति । गृह्णीतावग्निष्टां वर्षां
‘समवत्तधान्याम्’ इडापात्र्याम् आनयेत्^३ । इडायां तत्र प्रधाना-
वग्निष्टानि इदयादीनि प्रास्य पुनर्द्विरभिचारयति । ‘मतप्ते’ वृक्षौ ।
तन्निमादयः प्राग् व्याख्याताः ॥ १५ ॥

अथ सूचकारेण “वपावद्विरण्यम्”—इति^४ हविषा सुभयतो
द्विरण्यप्रक्षेप उक्तः, तं प्रशंसति— “तद्यद्विरण्यमकलावभितो भवत
इति । एतद् वपायां व्याख्यातम् ॥ १६ ॥

प्रधानस्त्रिष्टुष्टयं यदवदानम्, तत् ममुक्षित्य प्रशंसति— “अथ
यदक्ष्णयावयति मयस्य च दोष्ण इत्यादिना । ‘मयस्य’ ‘दोष्णः’
भुजस्य ‘दक्षिणायाः श्रोणे. च’ प्रधानावदानममये, ‘दक्षिणस्य च
दोष्ण’ मयायाः श्रोणेरिति स्त्रिष्टुष्टीत्येवं मयस्यते । उक्तलक्षणं
मवदानं प्रमिदूपग्रोर्दक्ष्णया पादमञ्चरणं तन्मूलमिति प्रशंसति—

१— का० श्रौ० सू० ६. ८. १२ ।

२— वा० सं० ६. १८. ३ ।

३— वा० श्रौ० सू० ६. ८. १३ ।

४— का० श्रौ० सू० ६. ८. ११ (६. ६. २४, २५ सू०) ।

“तस्मादयं पशुरक्षणा पदो हरतीति । अक्षणा पादश्रोणो-
र्ध्वत्यासेन^१ । उक्तं दृढयति— “अथ यत् सम्यग्वद्येत् समीचो
हैवायं पशुः पदो हरेदिति । अथ शिरश्चादीना मनवदेयलोप-
पत्ति माख्यानमुखेन प्रदर्शयति— “अथ यच्च ग्रीष्णावद्यति
नांसयोरित्यादिना । अंसौ बाहोरुपरिप्रदेशौ । अनूको वङ्गाधारः,
आयतः पुष्टास्त्रिविधेषः । तच्चत्य मपि मांसं नावदेयम् । तथा ‘न
अपरसक्ययोः’ ऊर्वोरुपरिभूतौ उच्छ्रितावयवौ सक्यौ^२ ॥ १७ ॥

“असुरा ह वा इति । असुराः किल पशु मालभन्ते, त माल-
भन्तं देवाः ‘नोपावेयु’ नापगताः, तदा ‘शृचिवी’ ‘एतत्’ भय
मासुरं ‘मा दृढम्’ आदरं मा कार्षु, ‘अहं’ ‘वः’ युष्मदर्पम्
‘एतस्य’ पश्यास्तभ्यस्य ‘अथक्षा’ उपद्रष्टा ‘भविष्यामि’, ‘यथा’ येन
प्रकारेण ‘एते’ असुराः ‘एतेन’ पशुना ‘चरिष्यन्ति’-‘इति’ उक्त्वा,
तथैव सम्यगवगता ॥ १८ ॥

“वा होवाचेति । तेऽसुराः ‘अन्यतरा’ मेवाहुति महौयुः’
प्रधान मेव ऊतवन्तः, ‘अन्यतरां’ स्त्रिष्टुतं ‘पर्यग्रेषन्’ परित्यक्त-
वन्तः । परिशिष्टा का ? इति, तां प्रदर्शयति— “तानीमानौति ।
दक्षिणं दो’, सव्या ओणिः, गुदवतीयं चेति त्रीणि । ‘ततः’ तस्मात्
असुरपरित्यक्तत्वेन दृष्टत्वात् ‘अङ्गाणि’ ‘देवाः’ प्राप्ताः । अथ
यस्मात् शिरश्चादीनि ‘अवाचन्’, ‘तस्मात्’ तैरवत्तत्वेन दृष्टत्वात्

१— नैतद् वाक्यं स-च-युक्तकयोः । “गवादय शयनकाले अङ्गाणि पादान्
‘वक्षणा’ वक्रत्वेनावस्यपयन्ति”—इति तै० सं० १. ३. १० सा० भा० ।

२— का० श्रौ० सू० ६. ८. ११ ।

तानि 'नावहेत्' । अनूकस्य प्रकारान्तरेणापि तत्त्वं दर्शयति—
“त्वष्टेति । एतच्छिरसोऽप्युपलक्षणं गतम्, समानत्वात् ॥

इत्य मवदानप्रकार मुक्त्वा प्रदानप्रकार माह— “अथाग्नी-
योमाभ्यां ह्यागस्येत्यादि^१ । वपाप्रैषवदग्नीषोमौयहोमप्रैषेऽपि प्रस्थित-
पदं निषेधति— “न प्रस्थित मित्याहेति^२ ॥ २८ ॥

वसाहोमस्य काल माह— “अन्तरेणार्द्धर्चाविति^३ । प्रधानाहुति-
याज्यायाः पूर्वाद्धर्चावसाने प्रतिप्रस्थाता 'वसाहोमं जुहोति' । अर्द्ध-
र्चयोर्मूर्द्धभावित्वं प्रशंसति— “इतो वा अथ मूर्द्ध इत्यादिना ।
पूर्वोत्तरार्द्धर्चां घुष्टयित्वात्मकौ, तथा सति 'इतः' घुष्टय्याः सका-
शात् उत्पन्नो 'मेधः', 'यं' साराङ्गवसेत्यादिरूप मूर्द्धं मुद्रतं मनुष्याः
उपभुञ्जते, तथा 'दिवः' सकाशात् उत्थित मुदकात्मक मधो
निर्गतं उपभुञ्जते । एवं य लोकद्वयसारस्यान्तरिक्षे उपभोक्तव्य-
त्वेनावस्थानादार्द्धर्चयोरन्तराक्षहोमेन द्यावापृथिव्योः 'रसेन' 'एतत्'
वसाख्यं 'रसं' 'तिव्रीकरोति' । होमस्यान्तरिक्षार्थत्वाच्चाद्धर्चयोरन्त-
राक्षं हतवान् भवति । अतस्तीव्ररसोत्पादकत्वात् होमः कर्त्तव्य
इत्यर्थः ॥ २० ॥ ॥ २१ ॥

वसाहोममन्त्र माह— “य जुहोति एतं एतपावान इति^४ ।
'एतं' घरणरूपं रसात्मक मिदं हविः 'एतपावानः' एतस्य रस-
द्रव्यस्य पातारः सर्व देवाः यूयं 'पिवत' । एतदेव विभिन्नष्टि-

१, २— का० श्रौ० ६. ८. १५-१६ सूत्रे दृश्ये ।

३— का० श्रौ० सू० ६. ८. १० ।

४— वा० सं० ६. १८. १ ।

“वसां वसापावान इति । हे वसाद्रव्य ! त्वम् ‘अन्तरिक्षस्य हविरसि’ । अन्तरिक्षस्य सर्वदेवाश्रयत्वात् अस्यापि तदर्थत्वात् अन्तरिक्षस्य देवताद्वारा अन्तरिक्षस्यैव हविषम् । अत्र सूत्रम्— “अर्द्धं चान्तरे याम्याये वसैकदेशं जुहोति”—इति^१ ॥

मन्त्रस्य वैश्वदेवत्वं प्रकृतहोमसङ्गतं मित्याह— “एतेन वैश्वदेवेनेति । अत्र बह्वलक्षित्वाद् वैश्वदेवत्वं यजुषः ; ‘अन्तरिक्षम्’ अपि सर्वासां देवानां प्राणोदानव्यापारयोराश्रयत्वेन ‘वैश्वदेवम्’ ; अन्तरिक्षार्थं वसाहोमः ; ‘तेन’ होमस्य वैश्वदेवत्वेन एतदपि वैश्वदेवं यजुरत्र युज्यत इत्यर्थः । मध्ये होतव्यं वसाहोम माह— “वषट्कृते जुहोति यानि जुह्वा मित्यादि ॥ ३९ ॥

“अथ जुहोति^२ । ‘अथ’ वसाहोमानन्तरं ‘जुह्वा’ जुह्वद्वारा ‘वृषदाज्यस्य’ एकदेशम् ‘उपघ्नन्’ अवघ्नन् “वनस्पतयेऽनुमूहि”—इति^३ होतारं ब्रूयात् । वनस्पतिरूपोपाभिमानो देवः । स्पष्टं मन्यत् ॥

वनस्पतियामं यूपद्वारा पशोः सोमत्वसम्पादकत्वेन प्रशंसति— “तद्वनस्पतय इत्यादिना^४ । सोमस्यामावस्थायां वनस्पतिषु वासात् सोमस्त्रामिकत्वात् वनस्पतिः सोमः, अतस्तत्सम्बन्धिनं पशूं सोमं कृतवान् भवति । ‘तत्’ तस्मात् ‘यत्’ यथा ‘अन्तरेण उभे आहुती’ उभयोर्देवतसौविष्टकृतयोर्मध्ये वनस्पत्याहुतिं ‘जुहोति’, ‘तथा’ ‘उभयं’ द्वैतं सौविष्टकृतं च यूपोऽहुत्या ‘आप्नोति’ ॥ ३९ ॥

१— का० श्रौ० सू० ६. ८. १० । २— का० श्रौ० सू० ६. ८. १८ क ।

३— का० श्रौ० सू० ६. ८. १८ ख । ४— का० श्रौ० सू० ६. ८. १८ ।

खिष्टकृत्प्रयोगप्रकार माह— “अथ चान्युपभृत्यवदानानि भवन्ति,
तानि समानयमान आहेत्यादिना^१ । अङ्गापेक्षया वज्रवचनम् ।
‘समानयमानः’ जुङ्गां प्रचिपन् ॥ २४ ॥

वसाहोमशेषेण दिग्ब्याधारण विधत्ते— “अथ यद् वसाहोमस्य
परिशिष्यते, तेन दिशो व्याधारयतीति^२ । वसाहोमस्य, द्रव्यस्य
‘दिग्’, प्रदिग्, -इत्यादिका मन्त्रा^३ । दिशो व्याधारयतीति श्रुते-
रेकैको मन्त्र एकैकदिगर्थः । ‘दिग्,’ प्राग्दिग्भ्यः स्वाहा, ‘प्रदिग्’
दक्षिणदिग्भ्यः स्वाहा, ‘आदिग्,’ पश्चिमदिग्भ्यः स्वाहा, ‘विदिग्,’
उत्तरदिग्भ्यः स्वाहा, ‘उद्दिग्,’ ऊर्ध्वदिग्भ्यः स्वाहा, ‘दिग्भ्य’
सर्वाभ्यो दिग्भ्यः ‘स्वाहा’ । वसाहोमो ‘रसो वै’ द्रवद्रव्यात्मकं खलु,
दिशि दिशि सम्भूतो रसोऽभिगम्यते ॥ २५ ॥

सम्यग्गतावयवस्य पशोः सकार्गन विधत्ते— “अथ पशुं सप्त-
गतीति । ‘अथ’ दिग्घोमानन्तरम् ‘एतर्हि’ अस्मिन् काले पशु-
सकार्गनं कुर्यात् ॥

विग्रसगानन्तरकासस्यैतस्य थवस्या दर्शयति— “अथ यत् पुरा
सप्तगतीति । ‘ये’ च राक्षसाः, ‘इमे’^४ मदीय यज्ञम् ‘उपतिष्ठन्ते’
१— का० श्रौ० सू० ६. ८. २० ।
२— का० श्रौ० सू० ६. ८. २१ (४ ४. १६, १७ सू०), २२ ।
३— वा० स० ६. १६. २-० ।
४— अथ का० श्रौ० ६. ८. २२ सू० वृ० द्रष्टव्या ।
५— ‘मे’ इति भाष्यपुस्तकेषु विधेयम् । “य इमे उपतिष्ठन्ते मार्गारादयः,
ते विमर्शयन्ते इति यज्ञमानम्”—इति हरिश्चामिनः ।

प्राप्नुवन्ति, 'ते' पशुं 'विमथिथन्ते' 'इति' 'शङ्कमानः' चेत्, पूर्वस्मिन्नेव काले सम्मृशेत्; अतथाभूतसेत् अत्रैव दिग्घोमानन्तर-काले सम्मृशेत् । अत्र सूत्रम्— 'ऐन्द्रः प्राण इति पशुं सम्मृशत्य-वदाथ वेडां प्राक् प्रदानात्"—इति^१ ॥ २६ ॥

सम्मर्शने मन्त्र माह— 'ऐन्द्रः प्राणोऽङ्गेऽङ्गे निदीध्यदिति^२ । इन्द्रः परमात्मा, तत्सम्बन्धी 'ऐन्द्रः' 'प्राण' । हे पशो । ते 'अङ्गे-अङ्गे' सर्वेऽङ्गेषु 'निदीध्यत्' नितरां दीप्तो भवतु, दीध्यतु वा । एवं ध्यानोऽपि । अत्र सर्वत्र उपनिषद्भाष्ये उदानश्ववहारः । हे 'लघः' पशुरूपकर्त्तृ । 'देव ।' "लघा वै पशूनां मिथुनानां रूपकृत्"—इति श्रुतिः^३ । 'ते' तव पशोः, 'यत्' अङ्गच्छेदनेन 'सप्तक्ष', अत एव 'विषुरूप' 'भवाति' भवति, तत् 'ते' लक्ष्म्यन्धि 'सम्' सम्यक्, पूर्वस्मादपि 'भूरि' प्रभूतं 'समेतु' सङ्गतो भवतु । पूर्वं षाट्श-सवेशमविशिष्टम्, षाट्शसवेशमविशिष्ट भवेदिति, प्रष्टुं भवति-त्यर्थः । किञ्च 'देवता' देवेषु मध्ये 'यन्तं' गच्छन्तम् । किमर्थम् ? 'अवसे' अस्माकं रक्षणाय, देवानां प्रीतये वा यन्तं तां सखि-प्रभृतयः 'अनुमदन्तु' साधु जात मिति कथयन्वित्यर्थः ॥

क्रमेण विभज्य आचष्टे— "यदङ्गो विहृत्त इत्यादिना । "हृत्तवृत्त सेवैतत् करोतीति । 'एतत्' पशुद्रव्यम् । यदा 'एतत्' एतेन "देव लघः"—इतिमन्त्रेण वागुच्चारणसामर्थ्येन हृत्तैरङ्गैः वृत्तं व्याप्तं करोति, 'यत्' यस्मिन् प्रदेशे 'एनं' पशुम् 'अहोपीत्',

१— का० श्रौ० सू० ६. ८. १ ।

२— वा० सं० ६. २०. १ ।

३— तै० स० ६. १. ११. ५ ।

४— वा० सं० ६. २०. २ ।

‘तत्’ तेन ‘एन ह्यत्त हत्वा’ विकल्पं सकल हत्वा ‘अनु समस्यति’
गतप्राणेन लग्नश्चिमासेन सह प्राणान् अद्धानि चानुक्रमेण सङ्गृह्य
कृतवान् भवति । तेन ‘स’ पशु ‘अमुष्मिन् स्वर्गे लोके ‘सात्मा’
सजीवो ‘भवति’ ॥ ६७ ॥ ४ [८ २] ॥

इति सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये
तृतीयकाण्डेऽष्टमाध्याये तृतीय ब्राह्मणम् ॥

[अथ चतुर्थं ब्राह्मणम्]

त्रीणि ह वै पशुरेकादशानि । एकादश प्रयुजा
एकादशानुयाजा एकादशोपयुजो दुश पाण्या अङ्गुलयो
दुश पाद्या दुश प्राणाः प्राण उदानो व्यान इत्येतवान्वै
पुरुषो युः परार्द्धः पञ्चनां यः सर्वेऽनु पशवः ॥ १ ॥

तुदाहुः । किं तुद्यन्ते क्रियते येन प्राणः सुर्व्वेभ्यो
ऽङ्गेभ्यः शिव इति ॥ २ ॥

१— इडायाश्च सयज्मानानां यस्या मृत्विशा मच्छन् मिहैदोक्तम् (का०
श्री० सू० ५ ५ २६, २७, ३ ८, ४, ५, ६) । वनितु मघोधे,
अधूप्री घोत्रे, सोम वक्ष्ये, पुरीतत मध्वयंद, श्रीह यज्मानाय ।
सर्व्वं ददातीति शेषः । व्यापस्तन्वे तु “उपहृता मैत्रावरुणवृषा
मच्छयन्ति, प्रतिप्रस्थाता सप्तमः” —इति ॥

युदेवु गुदं चैधा करोति । प्राणो वै गुदः सोऽयं
प्राङ्गततस्तु मयुं प्राणोऽनुसुञ्चरति ॥ ३ ॥

स युदेवु गुदं चैधा करोति । तृतीय मुपयुङ्भ्य-
स्तृतीयं जुह्वां तृतीय मुपभृति तेन प्राणः सर्वेभ्यो
ऽङ्गेभ्यः शिवः* ॥ ४ ॥

सु हु त्वेव पशु मालभेत । यु एनं मेध मुपनयेद्यदि-
कशः स्याद्युदुदुर्यस्य मेदसः परिशिष्येत तद्गुदे न्यूषेत
प्राणो वै गुदः सोऽयं प्राङ्गततस्तु मयुं प्राणोऽनु-
सुञ्चरति प्राणो वै पशुर्यावुद्धेव प्राणेन प्राणिति तावत्
पशुरथ युदास्मात् प्राणोऽपक्रामति द्वावेव तुर्हि भूतो-
ऽनर्थ्यः शेते ॥ ५ ॥

गुदो वै पशुः† । मेदो वै मेधस्तुदेनं मेध मुपनयति
यद्यु ऽअसलो भवति स्वय मुपेतु एव तुर्हि मेधं
भवति ॥ ६ ॥

श्रुय पृषदाज्यं पृच्छति । दयं वा ऽदुदुः सर्पिश्चैव
दुधि च दन्धं वै मियुनुं प्रजुननं मियुनु मेवैतत्
प्रजुननं क्रियते ॥ ७ ॥

तेनानुयाजेषु चरति । पशुवो वा ऽअनुयाजाः पुयः
पृषदाज्यं तुत्पशुष्वैतत्पुयो दधाति तुदिदं पशुषु पुयो

* 'शिवः'-इति ग, घ ।

† 'शु'-इति ग, घ ।

द्वितुं प्राणो हि पृषदाज्य मुन्नः हि पृषदाज्य मुन्नः हि
प्राणः* ॥ ८ ॥

तेन पुरुस्तादनुयाजेषु चरति । सु योऽयं पुरुस्तात्
प्राणस्तु मेवैतदधाति तेन पश्चादुपयजति सु योऽयं
पश्चात् प्राणस्तु मेवैतदधाति ताविमा ऽउभयुतः प्राणौ
द्वितौ यश्चायु मुपुरिष्टाद्युश्चाधुस्तात् ॥ ९ ॥

तद्वा ऽएतदेको द्वाभ्यां व्युपदकरोति । अर्धयुवे च
युश्चैष उपयुजत्यथ यद्युजन्त मुपयुजति तस्मादुपयुजो
नामाय यदुपयुजति प्रैवैतज्जनयति पश्चादुपयुजति
पश्चाद्वि योपायै प्रजाः प्रजायन्ते ॥ १० ॥

स उपयजति । समुद्रं गच्छ स्वाहेत्यापो वै समुद्र
आपो रेतो रेत एवैतुत्सिञ्चति ॥ ११ ॥

अन्तरिक्षं गच्छ स्वाहेति । अन्तरिक्षं वा ऽश्रुनु प्रजाः
प्रजायन्तेऽन्तरिक्ष मेवैतदनु प्रजनयति ॥ १२ ॥

देवुः सवितारं गच्छ स्वाहेति । सविता वै देवानां
प्रसविता सवितृप्रसूत एवैतत् प्रजनयति ॥ १३ ॥

मित्रावरुणौ गच्छ स्वाहेति । प्राणोदानौ वै मित्रा-
वरुणौ प्राणोदानावेवैतत् प्रजासु दधाति ॥ १४ ॥

अहोरात्रे गच्छ स्वाहेति । अहोरात्रे वा ऽश्रुनु प्रजाः
प्रजायन्ते ऽहोरात्रे ऽष्टवैतदनुप्रजनयति ॥ १५ ॥

छुन्दाऽसि गच्छ स्वाहेति । सप्त वै छुन्दाऽसि सप्त-
ग्राम्याः पशवः सुप्तारण्यास्तानेवैतदुभयान् प्रजन-
यति ॥ १६ ॥

द्यावापृथिवी गच्छ स्वाहेति । प्रजापतिर्वै प्रजाः
सृष्ट्वा ता द्यावापृथिवीभ्यां पुर्यगृह्णात्ता इमा द्यावा-
पृथिवीभ्यां पुरिगृहीतास्तुथो ऽष्टवैपु एतत्प्रजाः सृष्ट्वा
ता द्यावापृथिवीभ्यां पुरिगृह्णाति ॥ १७ ॥

अथात्युपयजति । स युन्नात्युपयजेद् द्यावत्यो
हैवुग्रे प्रजाः सृष्टास्त्यावत्यो हैवु स्युर्न प्रजायेरन्नुथ
युदत्युपयजति प्रैवैतज्जनयति तुस्मादिमाः प्रजाः पुन-
रभ्यावुर्त्तं प्रजायन्ते* ॥ १८ ॥ ५ ॥

॥ इति यष्टप्रपाठके पञ्चमं ब्राह्मणम् [८. ४.] ॥

प्राणस्य श्रेष्ठत्वकरणाभिमुखेन गुदस्य प्रधानस्त्रिष्टरुदुपयजिष्यये
चेधा विभज्य विनियोगं प्रशंसन् प्रयाजादीनां मितराह्नस्य माह—
“वीणि इ वै पशोरेकादशानीत्यादिना । प्रयाजा अनुयाजाय

एकादशैकादश प्रसिद्धा, अनुयाजानन्तरं यष्ट्या एकादशोपयाजो
उपरिष्ठादाम्नास्यन्ते^१ एकादशत्रयं मिश्रित्वा चयस्त्रिंशत् सम्पद्यन्ते ।
पशुपूतकृष्टस्य पुरुषस्य दिपात्पशोरपि शीर्षस्था^२ प्राणा सप्त,
अवाञ्चौ द्वौ, नाभिर्दशमीति 'दश प्राणा' । ते च पाणिपादगत-
विशत्यङ्गुलिभिः सहिता चिग्रद् भवन्ति, प्राण उदानो व्यान
इति त्रयो मुख्यप्राणा, इति चयस्त्रिंशत् एव सन्ति यज्ञा-
ङ्गानि ॥ १ ॥

“तदाङ्गरिति । ‘जिव’ श्रेष्ठ । पुरुषपशोर्दशपादाङ्गुलस्य
प्राणरूपाङ्गानि भवन्ति, तथा च मुख्यप्राणस्यापीतराङ्गुलित्वं
साधारण्यं नैव प्राप्तम्, न श्रेष्ठत्वम्, अतो यज्ञे सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यः
सकाशात् प्राणस्य श्रेष्ठत्वं केन प्रकारेण कृतं मिति प्रश्नः ॥ १ ॥

तस्योत्तरं सुष्यते— ‘यदेव शुद्धं चेधा करोतीत्यादि । तस्मात्
प्राणसञ्चरणाधिष्ठानत्वात् ‘प्राण’ एव ‘शुद्ध’ (॥२॥) तस्य प्रधान-
स्त्रिष्टकदुपपद्यभेदेन त्रिषु स्थानेषु विभक्त्य विनियोग एव सर्वेभ्यो-
ऽङ्गेभ्यः श्रेष्ठत्वकारणं मित्यर्थः ॥ २, ३ ॥

अथ शुद्धस्य प्राणत्वेन श्रेष्ठत्वाभिधानप्रसङ्गात् यदि कचक्षित्
तत्पशोः कृतत्वं स्यात्, तर्हि शुद्धस्य सम्पूर्णत्वाय उदर्यं मास तेन

१— ‘एकादशोपयजन’—इति छ ।

२— इत उत्तरस्मिन्नेव ब्राह्मणे दशमस्कन्धे “समुद्रं गच्छ”-इत्यादि-
मन्त्रेऽस्ति भावः । अत एवोक्तं मैत्रेयभाष्ये “समुद्रं गच्छ माहेत्यादि
मन्त्रोक्ता समुद्रादय एकादशोपयजनमन्त्रा”-इति (२ ० ८) ।

सह मिश्रणीय मित्याह— “य ह त्वेव पशु मालभेतेत्यादिना ।
 ‘यः’ एव ‘पशु मालभेत’, ‘यः’ यजमानः ‘एनं’ ‘मेधं’ मेधार्हम्
 प्रवृद्धम् पशुम् ‘उपनयेत्’ उपगच्छेत्, प्राप्नुयात् । अय मेव मुख्यः
 पक्षः । ‘यदि’ पशुः ‘ह्यग्नः स्यात्’ तदा अकरणात् करणस्य
 श्रैष्ठ्यात् वक्ष्यमाणप्रकारं कुर्यात् । ‘उदर्घस्य’ उदरे भव मुदर्घम्,
 तस्य ‘मेदसः’ सकाशात् इडार्थं मुद्धृत्य यन्मांसं ‘परिश्रियेत’,
 ‘तत्’ आदाय अल्पीयसि ‘गुदे’ न्यषेत् गमयेत्, तेन त प्रवर्द्धये-
 दित्यर्थः । “प्राणो वै गुद इत्यादि, व्याख्यातम् ॥ ५ ॥

“गुदो वै पशुरिति । ‘यद्यु’ यद्यपि पशुः ‘अंसलः’ प्रवृद्धांसः,
 पुष्टाङ्गो भवेत्, ‘तर्हि’ ‘स्वयम्’ एव ‘मेध’ प्राप्तवान् ‘भवति’ ॥ ६ ॥

अनुयाजार्थं शृषदाव्यग्रहण विधाय प्रशंसति— “अथ शृषदाव्यं
 गृह्णातीत्यादिना । ‘इदं’ वक्ष्यमाण दयं खलु ‘इदम्’ । इदं
 शब्दार्थं माह— “सर्पिष्यैव दधि चेति । अस्तु दधम्, ततः किं
 मित्याह— “इदं वै मिथुन मिति । तच्च ‘प्रजननम्’ अन्यस्यो-
 त्पादकम् । अतः शृषदाव्यग्रहणेन प्रजननमिथुनं मेव कृतवान्
 भवति ॥ ७ ॥

“तेनानुयाजेत्विति । ‘तेन’ शृषदाव्येन ‘अनुयाजेषु’ चरति’
 अनुयाजान् यजेदित्यर्थः । तदुभयं प्रशंसति— “पशवो वा अनु-
 याजा इति । अनुयाजानां फलोपभोगहेतुत्वात् पशुत्वम्, पयो-
 विकारत्वात् ‘शृषदाव्यम्’ एव ‘पयः’, ‘तत्’ तेनानुयाजानुष्ठानेन
 ‘पशुषु’ ‘एव’ पयःस्थापनम् ‘भवति’ ॥

विहितान् अनुयाजान् विधास्यमानैरुपयद्भिः सह पुरस्तादुप-

रिष्टाच्च विधास्यन् प्रशंसति— “प्राणो हि वृषदाज्य मिति । ‘हि’-
शब्दघोत्यां प्रसिद्धिं सुपपादयति— ‘वृषदाज्य’ तावत् ‘अन्नम्’,
तत् ‘अन्न’ व्यतिरेकानविधायित्वात् ‘प्राण’, अतः ‘वृषदाज्य
प्राण’ ॥ ८ ॥

“तेन पुरस्तादिति । उपदङ्भ्यः ‘पुरस्तात् अनुयाजेषु’ वृष-
दाज्यानुष्ठानेन पुरस्तात्-प्राण सुखस्य मपान पशौ निहितवान्
भवति, ‘पथात्’ उपयङ्नुष्ठानस्य पथात्-‘प्राणम्’ उदानास्य पशौ
स्थापितवान् भवति । मिलित्वा ‘य’ ‘अयम्’ ‘उपरिष्टाच्चाधस्ताच्च’
प्राण’, तत् प्राणद्वयं स्थापितवान् भवति ॥ ९ ॥

“तदा एतदित्यादि । ‘एक’ होता, ‘दाभ्याम्’ ‘अध्वर्यवे’ ‘उपयङ्गे’
प्रतिप्रस्थात्वे ‘च’, प्रयाजार्थम् उपयङ्ग्यागार्थं च ‘वपद्’ कुर्यात् ॥

उपयाज नामनिर्वचनेन प्रशंसति— “अथ यत् यजन्तम् उप-
यजति, तस्मात् उपयजो नामेति । ‘यजन्तम्’ अध्वर्युम् ‘उप’कृत्य
एतान्यङ्गानि प्रतिप्रस्थाता ‘यजति’ इति पद्याद्यष्टया उपयज
इत्यर्थः १ ॥

“अथ यदुपयजति प्रैवैतज्जनयतीति । वृषदाज्यरूपैरनुयाजैः
प्रजननस्य कृतत्वात् उपयङ्गिर्जनयति । कथं तेनेन प्रजनयति ?
उच्यते— “पद्यादुपयजतीति । योषायाः पद्याद्भागेन प्रजा उत्प-
द्यन्ते ॥ १० ॥

१— उपयज = प्रतिप्रस्थाता ।

२— “विशुषे ह्यन्वि”-इति पा० सू० ३. ७१ ।

“स उपयजतीति” । “समुद्रं गच्छ”-इत्यादय उपयङ्याग-
मन्त्राः^१ । हे गुदावयवरूप, हविः । त्वं ‘समुद्र’ समुद्राभिमानिनं
देवं ‘गच्छ’, ‘स्वाहा’ इदं द्रव्यं सुज्जतं मसु । एव मुत्तरत्रापि
द्रष्टव्यम् । एषु मन्त्रेषु मध्ये यच्च देवता स्पष्टं न प्रतिभाति, तच्च
तदभिमानिदेवता द्रष्टव्या ॥

उपयाजानां प्रजननरूपत्वस्योक्तत्वात् अनुकूलप्रयत्नपरतया
मन्त्रान् ध्याचष्टे— “आपो वै समुद्र आपो रेत इति । पदार्थस्तु
स्पष्ट एव ॥

अथ कात्यायनः— “ग्रामिचादङ्गारानाचत्य वेदिश्रोण्यां निव-
पत्युत्तरस्याम्, आग्नीद्गीयादा सोमे होदधिष्ण्ये, प्रतिप्रस्थातोपयजति
गुदद्वतीयस्य प्रच्छेदं मनुयाजेषु समुद्रं गच्छेति प्रतिमन्त्रम्^२
प्रतिवषट्कारम्”—इति^३ ॥ ११—१० ॥

अत्युपयाज विधत्ते— “अथात्युपयजतीति । अत्युपयाजनामका-
स्तार उपयागाः सप्तकाना मनन्तर माधिक्येन दृष्टव्याः^४ ।
विहितानत्युपयागानन्वयस्यतिरेकाभ्यां पुनः पुनः प्रजाभिष्टुद्धि-

१— का० श्रौ० सू० ६. ६. १० ।

२— वा० स० ६. २१ १-११ ।

३— का० श्रौ० सू० ६. ८ ८-११ ।

४— ‘अत्युपयङ्गोमकास्तार उपयागसप्तकाना मनन्तर माधिक्येन
दृष्टव्या’-इति छ ।

हेतुतया प्रशंसति— “स यन्नात्युपयजेद् यावत्यो ह्येवाये प्रजा
सृष्टा इत्यादिना^१ ॥ १८ ॥ ५ [८. ४.] ॥

इति सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

तृतीयकाण्डेऽष्टमेऽध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

॥ इति तृतीयकाण्डे षष्ठः प्रपाठकः समाप्तः^२ ॥

—

१— तै० भ० ६. ११. १५-१०, ४. १. १-१४; १. १. १०, ११।

२— “कण्वीसंह्या ११२”—इति क, “कण्विका ११२”—इति ख,
“कण्विकासंह्या ११२”—इति ग, घ। तत्र १ ब्रा० ११ क०, २ ब्रा०
१६ क०, ३ ब्रा० ३० क०, ४ ब्रा० ३० क०, ५ ब्रा० १८ क०, संहृत्यया
११२ इति सिद्धम्।

अथ

सप्तमप्रपाठके प्रथम ब्राह्मणम्,

अपि वा

अष्टमाध्याये पञ्चम ब्राह्मणम् ।

॥ हरि ॐ ॥

सोऽत्युपयजति । यज्ञं गच्छ स्वाहेत्यापो वै यज्ञ
आपो रेतो रेत एवैतत् सिञ्चति ॥ १ ॥

सोमं गच्छ स्वाहेति । रेतो वै सोमो रेत एवैतत्
सिञ्चति ॥ २ ॥

दिव्यं नुभो गच्छ स्वाहेति । आपो वै दिव्यं नुभ
आपो रेतो रेत एवैतत् सिञ्चति ॥ ३ ॥

अग्निं वैश्वानरं गच्छ स्वाहेति । इयं वै पृथिव्यग्नि-
वैश्वानरः सेयं प्रतिष्ठेमा एवैतत्प्रतिष्ठा मभिप्रुजन-
यति ॥ ४ ॥

अथ मुखं व्विमृष्टे । मुनो मे हार्दिं यच्छेति तयो
होपयुष्टात्मानं नानुप्रवृणक्ति ॥ ५ ॥

अथ जाघन्या पुत्रीः संयाजयन्ति । जघनार्द्धौ वै
जाघनी जघनार्द्धाद्वै योषायै प्रजाः प्रजायन्ते तन्मैवै-
तज्जनयति यज्जाघन्या पुत्रीः संयाजयन्ति ॥ ६ ॥

अन्तरतो देवानां पुत्रीभ्यो ऽवद्यति । अन्तरतो वै
योषायै प्रजाः प्रजायन्त ऽऽपुरिष्ठादभ्ये गृहपतय
ऽऽपुरिष्ठाद्वै वृषा योषा मुधिद्रवति ॥ ७ ॥

अथ हृदयश्लेनावभृथं यन्ति । पशोर्ह वा ऽआलभ्यु-
मानस्य हृदयं शुक् समभ्युवैति हृदयाहृदयश्ले मथ
युच्छतस्य परितन्दुन्ति तदलञ्जुपं तुस्मादु परितुद्यैव
श्लेलाकुर्यात् तत् त्रिःप्रच्युते पशौ हृदयं प्रवृद्धोत्तमं
प्रत्युवदधाति ॥ ८ ॥

अथ हृदयश्लेनं प्रयच्छति । तन्नु पृथिव्यां परास्ये-
न्नासु स युत् पृथिव्यां परास्येदोषधीश्च वृनस्पतीथैषा
शुक् प्रविशेद्यदसु परास्येदप रपा शुक् प्रविशेत् तुस्मान्नु
पृथिव्यां नासु ॥ ९ ॥

अपु एवाभ्यवेत्य । युच शुष्कस्य चार्द्रस्य च सन्धिः
स्यात् तदुपगूहेद् युद्यु ऽअभ्यवायनाय ग्लुयेदुग्रेण यूप
मुदपात्रं निनीय युच शुष्कस्य चार्द्रस्य च सन्धिर्भवति
तदुपगूहति मापो मौपधीर्हिःसीरिति तुद्या नापो
नौपधीर्हिनस्ति धाम्नो धाम्नो राजंस्ततो व्वरण नो

मुञ्च । यदाहुरध्या इति व्वुरुणेति शुषामहे तुतो
व्वुरुण नो मुञ्चेति तुदेनः सुर्वस्माद्वुरुणपाशात्
सुर्वस्माद्वुरुण्यात् प्रमुञ्चति* ॥ १० ॥

अथाभिमन्त्रयते । सुमित्रिया न आप औपधयः
सन्तु दुर्मित्रियास्तुस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च व्वयं
द्विष्य इति युञ्च वा ऽएतेन प्रचुरन्त्यापश्च ह वा ऽअस्मा-
त्तावदोपधयश्चापक्रम्येव तिष्ठन्ति तदु ताभिमित्रधेयं
कुरुते तुथो हैनं ताः पुनः प्रविशन्त्येपो तुच प्रायश्चित्तिः
क्रियते स वै नाग्रीपोमृीयस्य पशोः करोति नाग्रेयस्य
व्वशाया ऽएवानूबन्ध्यायै ताः हि सर्वोऽनु यज्ञः सन्ति-
ष्ठत ऽएतदु हास्याग्रीपोमृीयस्य पशोराग्रेयस्य च हृदय-
शूलेन चरितुं भवति युद्धशायाश्चरन्ति ॥ ११ ॥ १ ॥

॥ इति सप्तमप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् [८. ५.] ॥

अत्युपयाजमन्त्रान् विधाथ पुनः सृष्ट्याभिष्टद्धिहेतुतया प्रशंसति—
“सोऽत्युपयजति यज्ञं गच्छ स्वाहेत्यादिना । “यच वै यज्ञस्य
शिरोऽच्छिद्यत तस्य रसो द्रुत्वापः प्रविवेगः”—इति^१—वक्ष्यमाणत्वात्
यज्ञ-रमानुप्रवेगेन यज्ञम्यान्नूपत्नम् ॥ १ ॥

* ‘ति’—इति ख ।

१— एतत्प्रपाठकोपलब्धोपब्राह्मणारम्भो दृश्यः ।

“सोमं गच्छेति । सोमस्य रसात्मकत्वादौषधित्वादौषधिवि-
वादा रेतस्त्वम् ॥ २ ॥

देव्य नम इति । ‘दिव्यं नमः’ श्लोकः; ततो वृष्ट्युत्पत्तेस्तस्या-
म्; अधिष्ठानाधिष्ठात्रोरभेदोपचारात् ॥ ३ ॥

‘अग्निं वैश्वानर मिति । पृथिव्यग्निर्वैश्वानर इत्युच्यते^१, तस्य
तत्वेन प्रतिष्ठारूपत्व स्पष्ट मेव ॥ ४ ॥

‘अथ मुखं विन्देते^२ मनो मे हार्दौ^३त्यादि^४ । मुखविमर्शनमन्त्र-
मर्थः ।— हे प्राणरूप गुद ! ‘मे’ ‘हार्दि’ हृदयसम्बन्धि ‘मुखं’
। यदा ‘हार्दि’ हृदये स्थापितम् । पशोः प्राणरूपस्य गुदस्य
कथं होमात् उपयष्टुः मनोऽपि प्राणाविनाभूतं गच्छति,
एव प्रार्थ्यते । “तथा होपयष्टेति । स्पष्टम् ॥ ५ ॥

‘अथ जाघन्या पत्नीः सयाजयन्तीति^५ । जाघनी वालदण्डः,
‘पत्नीः’ पत्न्युपलक्षिताः सोमत्वज्ञाया देवताः संयाजयेत् ।
नार्द्धा वै जाघनीत्यादि, स्पष्टम् ॥ ६ ॥

अथ “वैश्वानरं कस्मात् ?”—इत्यादि, “सोऽग्निर्वैश्वानरो निपात
मेवैते उत्तरे ज्योतिषौ एतेन नामधेयेन भजेते-भजेते”—इत्यन्तं
(७. २१-२१.) नैरुक्तं द्रष्टव्यम् । २— का० श्रौ० सू० ६. ८. ११ ।
वा० सं० ६. २१. १२ । ३— का० श्रौ० सू० ६. ८. १४ ।
“जाघन्या पशोः पुच्छरूपेण हविषा”—इति का० व० । अन्यत्र च तत्रैव
“जाघनी जघनप्रदेशे भवा पुच्छदण्ड इत्यर्थः । अधिकरणमाज्ञाया
मप्येव मेव (१. १. १८. जै०) । “जाघनी कटो”—इति मित्रभूति-
हरिहरौ, तदिह न सङ्गच्छते, कटिमर्यायशोष्यो. प्रागुपासत्वात् ।

। जाघन्या अपि प्रदेशविशेष माह— “अन्तरतो देवानां पद्मीभ्यो-
 ऽवद्यतीति^१ । देवानां पद्मीभ्य इति चतुर्थी, तासां मर्याय ।
 ‘अन्तरतः’ ऊर्द्धं सुस्थितस्य बालस्य ‘अन्तरतः’ अलोभक-
 प्रदेशादित्यर्थः । “उपरिष्ठादग्नये गृहपतय इति । सरोमके
 बाह्यप्रदेशे^२ ॥ ७ ॥

“अथ हृदयशूलेनेत्यादि^३ । हृदयस्य पश्चात् शूलेन परितर्हने
 ‘तत्’ जोषाय भक्षणाय ‘अलं’ पर्याप्तं भवति; शृगनुविद्धत्वात् न
 यागाहं स्यादित्यर्थः । तस्मात् पाकात् पूर्वं शूलं ‘परितृद्य’ पाकं
 कुर्यात् । “शूलात् प्रागे”-इति^४ उाजन्तः । पाकात् पूर्वं शूलेन
 परितर्हनात् ‘शृक्’ हृदयशूलं प्राप्नोतीत्यर्थः । ‘चिः प्रच्युते पद्मौ’
 पाकोत्तरकालं ‘हृदयं’ शूलात् ‘प्रवृज्य’ ‘उत्तमं प्रत्यवदधाति’
 इतरावयवानां मुपरि स्थापयेत् ॥ ८ ॥

“अथ हृदयशूलं प्रयच्छतीति^५ । परिकर्मिणे प्रयच्छति । स
 ‘तत्’ शूलं ‘पृथिव्याम्’ ‘अप्’ च ‘न परास्तेत्’ । परास्वतो दोष
 माह— “ओषधीश्चेति । ‘ओषधीश्च वनस्पतीश्च एषा शक् प्रवि-
 शेत्’, ‘यत्’ यदि ‘पृथिव्यां परास्तेत्’ । तस्मां मुत्पन्नेऽप्यधिवन-
 स्पतिषु प्रवेशो युक्तः ॥ ९ ॥

१— का० श्रौ० सू० ६. ८. १५ ।

२— सूत्रेऽत्रास्ति विशेषविधिश्च का० श्रौ० सू० ६. ८. १४-२० ।

३— का० श्रौ० सू० ६. १०. १, २ ।

४— या० सू० ५. ४. ६५ । ५— का० श्रौ० सू० ६. १०. ४ ।

उक्तदोषाभावोपाय माह— “अप एवेति^१ । ‘अप’ सम्प्राण
‘यव’ देशे अतीवारस सरसस्य न भवति, ‘तत्’ तच्च ‘अपगूहेत्’ ।
अपा मेवातिदूरत्वे उपायान्तर माह— “यद्यु इति । यदाव्विषये
ग्लानि प्राप्नुयात्, तदा यूपस्य प्राग्देशे उदपाचनिनयनं कृत्वा,
तथापीषदाद्र्देशे उपगूहेत् । तच्च मन्त्र १— “मापो मौषधी-
हिंसो” —इति^२ । हे शूल ! अपा मोषधीनाञ्च हिंसा मा कुरु ।
ईषदाद्र्देशे उपगूहनादपा हिंसाप्रसङ्गः, पृथिव्या उपगूहनात् तदीयौष-
धीना बाधप्रसङ्गः, अतस्तत्रोभयत्र हिंसापरिहारं प्रार्थ्यते ॥

तच्च मन्त्र — “धाम्नो धाम्नो राजन्निति^३ । निगूहनस्य बन्धन-
रूपत्वात्, तस्य वरुणाधिष्ठातृकत्वात् वरुणस्य सम्बोधनम्— हे ‘राजन्’
वरुण ! यस्मिन् पापरूपबन्धने अवस्थाने बद्धा स्म, ‘तत्’ तस्मात्
बन्धस्थानाद् ‘न’ अस्मान् ‘मुञ्च’ पापेन विमुक्तान् कुरु । ‘यत’
यस्मिन् आगमि सम्भाविते, आगस्तुर्त्तारोऽपि ‘अष्ट्या’ अहनाया,
रक्षणीया इति ‘आङ्’ मनुष्या^४ ॥ १० ॥

१— का० श्रौ० सू० ६ १० २, ६ ।

२— अथ मन्त्रद्वयं दृश्यते सूत्रे, तत्रैकस्तत्रैव यथितोऽपरं प्रतीकग्रहणेन
विहितं । तद्यथा— ‘युगसि त मभिशीघ्रं योऽस्मान् देष्टि य च वयं
हिंसो मापो मौषधीरिति’ —इति । मद्योषधरेणाप्युक्तम् ‘युगसि
माप इति मन्त्राभ्या मिति’ —इति ।

३— वा० स० ६ २२ १ ।

४— वा० स० ६ २२ २ ।

५— “व्याघ्रग इति गोनाम, प्रकरणादिष्टानूबन्धाविषयम् । बद्धवधन
मनूबन्धावङ्गत्वेऽथवत् । एकानूबन्धापक्षे तु पूजार्थम्” —इतीह
मद्योषधरः ।

प्रार्थ्यते— “अथाभिमन्त्रयन्त इति^१ । अध्वर्युप्रसृतयः । “सुमि-
त्रिया न इति^२ । ‘नः’ अस्मादर्थम् ‘आयः ओषधयः’ च ‘सुमित्रियाः’
शोभनमित्रेषु साधवः ‘सन्तु’ हितकारिण्यो भवन्तु । ‘यः’ ‘अस्मान्’
देष्टि’ अस्मासु द्वेष माचरति, ‘यं च वयं दिष्मः’, ‘तस्मै’ तदर्थं
‘दुर्मित्रियाः सन्तुः’ द्वेषिण्यो भवन्तु ॥ अत्र सूत्रकारः— “सुमित्रिया
न इत्युपसृग्न्यपः, उपगूहनशेषो वा पूर्वः, अभिमन्त्रणं वीक्ष-
रेण”—इति^३ ॥

एतत् प्रशंसति— “यच्च वा एतेनेति । ‘एतेन’ चक्षुःशूल-
निगूहनेन ‘आपस्व’ ‘ओषधयस्व’ ‘अस्मात्’ स्थानात् ‘अपक्रम्य’ अप-
सृत्य ‘इव’ ‘तिष्ठन्ति’ । ‘तदु’ तस्मादेव कारणात् ‘ताभिः’ सह
“सुमित्रिया”—इतिपाठेन मित्रत्वं कृतवान् भवति । स्पष्टं मन्यत् ॥

शूलोपगूहनं विषयविशेषे^४ निषेधति— “स वै नाग्नीषोमीयस्य
पशोः करोतीत्यादिना । ‘स वै’ सोऽध्वर्युः । “न सोमेऽनूवन्ध्या-
वर्जम्”—इति^५ सूत्रम् ॥ ११ ॥ १ [८. ५.] ॥

इति सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनगतपथब्राह्मणभाष्ये

तृतीयकाण्डे अष्टमेऽध्याये पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

१— का० श्रौ० सू० ६. १०. ५। २— वा० सं० ६. २२. ३।

३— का० श्रौ० सू० ६. १०. ५, ६, ७।

४— ‘शूलोपगूहने विषयविशेषे’—इति छ।

५— का० श्रौ० सू० ६. १०. ८।

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्द निवारयन् ।
पुमर्थाश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वर ॥ ८ ॥

ब्रह्माण्ड गोसदस्य कनकहयतुलापूरयौ स्वर्णगर्भम्,
सप्ताब्धीन् पञ्चसौरींस्त्रिदशतल्लताधेनुसौवर्णभृमी ।
रत्नोखा ह्रस्वावाजिद्विपमहितरथौ सायणि भिङ्गनार्यो,
अश्वार्यौद्विषक्क प्रथितविधिमहाभूतयुक्त घटश्च ॥
धान्याद्भि धन्यजन्मा तिलभव मत्स्य स्वर्णज वर्णमुख्य,
कार्पासीय कृपावान् गुडकृत मज्जो राजत राजपूज्य ।
आन्योत्थ प्राज्यजन्मा लवणज मनूण शार्कर चार्कतेजा,
रत्नाढ्यो रत्नरूप गिरि भक्त मुदा पाचमात्सिङ्गनार्य ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्तक-

श्रीहरिहरमहाराजभाषान्धुरन्धरेण

सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

दशौचकाण्डे अष्टमाध्याय समाप्त ॥ ८ ॥

[अथ नवमाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्]

प्रजापतिर्वै प्रजाः ससृजानो रिरिचानु इवामन्यत ।
तस्मात्पराच्यः प्रजा आसुर्नास्य प्रजाः श्रियेऽन्नाद्याय
तस्थिरे ॥ १ ॥

सु ऐक्षतारिद्व्यहम् । युस्माऽऽ* कामायास्तृप्ति नु मे
स कामः सुमार्द्धि पुराच्यो मुत्प्रजा अभूवन् नु मे प्रजाः
श्रियेऽन्नाद्यायास्थिपतेति ॥ २ ॥

सु ऐक्षत प्रजापतिः । कथं नु पुनरात्मान माप्या-
ययेयोप मा प्रजाः समावर्त्तेरंस्तिष्ठेरन्मे प्रजाः श्रिये-
ऽन्नाद्यायेति ॥ ३ ॥

सोऽर्चञ्छाम्यंश्चचार प्रजाकामः । सु एता मेका-
दशिनौ मपश्यत् सु एकादशिन्येष्टा प्रजापतिः पुनरा-
त्मान माप्याययतोपैनं प्रजाः समावर्त्तन्तातिष्ठन्तास्य
प्रजाः श्रियेऽन्नाद्याय स वसुसैयानेवेष्टाभवत् ॥ ४ ॥

तुस्मै क मेकादशिन्या यजेत । एवमु हैव प्रजया
पशुभिरुप्यायत उपैनं प्रजाः समावर्त्तन्ते तिष्ठन्तेऽस्य
प्रजाः श्रियेऽन्नाद्याय स वसुसैयानेवेष्टा भवत्येतस्मै क
मेकादशिन्या यजते ॥ ५ ॥

सु आग्नेयं प्रथमं पशु मालभते । अग्निर्वै देवतानां
मुखं प्रजनयिता सु प्रजापतिः सु उ ऽएव युजमान-
स्तुस्मादाग्नेयो भवति* ॥ ६ ॥

अथ सारस्वतम्† । व्याग्वै सुरस्वतौ व्याचैव तत्प्रजा-
पतिः पुनरात्मान माध्याययत व्यागेन मुपसमावर्त्तत
व्याच मुनुकामात्मनोऽकुरुत व्याचो एवैषु एतदाध्यायते
व्यागेन मुपसमावर्त्तते व्याच मुनुका मात्मनः कुरुते ॥ ७ ॥

अथ सौम्यम्‡ । शुन्नं वै सोमोऽन्वेनैव तत्प्रजापतिः
पुनरात्मान माध्याययतान्न मेन मुपसमावर्त्ततान्न मुनुक
मात्मनोऽकुरुतान्नेनो ऽएवैषु एतदाध्यायतेऽन्न मेन
मुपसमावर्त्ततेऽन्न मुनुक मात्मनः कुरुते ॥ ८ ॥

तद् युत् सारस्वत मुनु भवति । व्याग्वै सुरस्वत्युन्नः
सोमस्तुस्माद्यो व्याचा प्रसाम्यन्नादो द्वैव भवति ॥ ९ ॥

अथ पौष्णम् । पशुवो वै पृषा पशुभिरेव तत्प्रजापतिः
पुनरात्मान माध्याययत पशुव एन मुपसमावर्त्तन्त पशू-
नुनुकानात्मनोऽकुरुत पशुभिर्वैषु एतदाध्यायते पशुव
एन मुपसमावर्त्तन्ते पशूनुनुकानात्मनः कुरुते ॥ १० ॥

* 'ति'-इति ख ।

† 'तम्'-इति ग, घ ।

‡ 'भ्यम्'-इति ग, घ ।

५ 'ते'-इति ख । एव मभारख घ ।

अथ बार्हस्पत्यम् । ब्रह्म वै बृहस्पतिर्ब्रह्मणैवैतत्प्रजा-
पतिः पुनरात्मान माध्याययत ब्रह्मैन मुपसमावर्त्तत
ब्रह्मानुक मात्मनोऽकुरुत ब्रह्मणो ऽण्वैषु एतदाप्यायते
ब्रह्मैन मुपसमावर्त्तते ब्रह्मानुक मात्मनः कुरुते ॥ ११ ॥

तद् यत् पौष्ण मनु भवति । पशवो वै पूषा ब्रह्म
बृहस्पतिस्तुस्माद् ब्राह्मणः पशूनभिधृष्णुतमः पुरोहिता*
ह्यस्य भवन्ति मुख ऽश्राहितास्तुस्माद् तत्सुर्व्वं दुत्वाजिन-
वासी चरति† ॥ १२ ॥

अथ वैश्वदेवम्‡ । सुर्व्वं वै विश्वे देवाः सुर्व्वेणैव
तत्प्रजापतिः पुनरात्मान माध्याययत सुर्व्वं मेन मुप-
समावर्त्तत सुर्व्वं मनुक मात्मनोऽकुरुत सुर्व्वेणो ऽण्वैषु
एतदाप्यायते सुर्व्वं मेन मुपसमावर्त्तते सुर्व्वं मनुक
मात्मनः कुरुते ॥ १३ ॥

तद्यद् बार्हस्पत्य मनु भवति । ब्रह्म वै बृहस्पतिः
सुर्व्वं मिदं विश्वे देवा अस्यैवैतत् सुर्व्वस्य ब्रह्म मुखं
करोति तुस्मादस्य सुर्व्वस्य ब्राह्मणो मुखम् ॥ १४ ॥

* 'पुरोहिता'—इति स्यात् धायय-सम्मत ।

† 'वि'—इति ख ।

‡ 'वैश्वदेव'—इति क, ख, 'वैश्वदेवः'—इति ग, घ ।

अथैन्द्रम् । इन्द्रियं वै व्यीर्यं मिन्द्र इन्द्रियेणैव तद्वीर्येण
प्रजापतिः पुनरात्मानमाध्याययतेन्द्रियमेनं व्यीर्यमुप-
समावर्त्ततेन्द्रियं व्यीर्यं मनुकमात्मनोऽकुरुतेन्द्रियेणो
ऽएवैष एतद्वीर्येणाध्यायत इन्द्रियमेनं व्यीर्यमुपसमा-
वर्त्तत इन्द्रियं व्यीर्यं मनुकमात्मनः कुरुते ॥ १५ ॥

तद्यद् वैश्वदेव मनु भवति । क्षत्रं वा इन्द्रो
व्विशो व्विश्वे देवा अन्नाद्यमेवास्मा एतत्पुरुस्तात्
करोति ॥ १६ ॥

अथ मारुतम्* । व्विशो वै मरुतो भूमौ वै विद्
भूमैव तत्प्रजापतिः पुनरात्मानमाध्याययत भूमैन
मुपसमावर्त्तत भूमानमनुकमात्मनोऽकुरुत भूमो
ऽएवैष एतदाध्यायते भूमैनमुपसमावर्त्तते भूमान
मनुकमात्मनः कुरुते ॥ १७ ॥

तद्यदैन्द्र मनु भवति । क्षत्रं वा इन्द्रो व्विशो व्विश्वे
देवा व्विशो वै मरुतो व्विश्वैवैतत् क्षत्रं पुरिदृष्टति
तदिदं क्षत्रमुभयतो व्विशा पुरिदृढम् ॥ १८ ॥

अथैन्द्राग्रम्† । तेजो वा अग्निरिन्द्रियं व्यीर्यमिन्द्र
उभाभ्यामेव तद्वीर्याभ्यां प्रजापतिः पुनरात्मानमाध्याय-

यतोभे ऽएनं वीर्ये ऽउपसमावर्त्तेता मुभे वीर्ये ऽअनुके
 ऽआत्मनोऽकुरुतोभाभ्याम्बेवैषु एतद्वीर्याभ्या माप्यायत
 ऽउभे ऽएनं वीर्ये ऽउपसमावर्त्तेते ऽउभे वीर्ये ऽअनुके
 ऽआत्मनः कुरुते* ॥ १६ ॥

अथ सावित्रम्† । सविता वै देवानां प्रसविता तयो
 ह्यस्मा ऽएते सवितुप्रसूता एव सुर्व्वे कामाः सुमृद्धान्ते ॥ २० ॥

अथ व्याख्येयं मन्त्रं आलभते । तदेनं सुर्व्वस्माद्वरुण-
 पाशात् सुर्व्वस्माद्वरुण्यात्प्रमुञ्चति ॥ २१ ॥

तस्माद्यदि यूपैकादशिनी स्यात् । आग्नेयु मेवाग्निष्ठे
 नियुञ्ज्यादथेतरेष्वपनयेयुयंथापूर्व्वम्‡ ॥ २२ ॥

यद्यु पुत्रैकादशिनी स्यात् । आग्नेयु मेव यूप ऽआल-
 क्षेत्तरेष्वेतरेष्वपनयेयुयंथापूर्व्वम् ॥ २३ ॥

तान्यत्रोदीचो नयन्ति । आग्नेयु मेव प्रथमं नयन्त्यथे-
 तरेष्वपनयेयुयंथापूर्व्वम् ॥ २४ ॥

तान्यत्र निविध्यन्ति । आग्नेयु मेव प्रथमं दक्षिणार्धं
 निविध्यन्त्यथेतरेष्वपनयेयुयंथापूर्व्वम् ॥ २५ ॥

तेषां यत्र वपुःप्रसृताः प्रचरन्ति । आग्नेयुस्यैव प्रथमस्य
 वपुःप्रसृताः प्रचरन्त्यथेतरेष्वपनयेयुयंथापूर्व्वम् ॥ २६ ॥

* 'तु'—इति ख ।

† 'सुष्टु'—इति ग, घ ।

‡ 'व्वम्'—इति ग, घ । एव मिश्रोत्तरत्रापि सर्वत्र ।

तैर्युच प्रचुरन्ति । आग्नेयेनैव प्रथमेन प्रचुरन्त्यथे-
तरैर्यथापूर्वम्* ॥ २७ ॥ २ ॥

॥ इति सप्तमप्रपाठके द्वितीयं ब्राह्मणम् [६. १०.] ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निश्चित वेदा यो वेदेभ्योऽखिला जगत् ।

निर्ममे, त मह वन्दे विधातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

अथ पञ्चेकादग्निर्नी^१ विधातु माख्यायिका माह— “प्रजा-
पतिर्वै प्रजा सृजान इत्यादिना । ‘रिरिचान इवामन्यत’ आत्मान
रिक्त निवाबुद्धत । कुत इत्यत आह— “तस्मात् परास्य प्रजा
आसुरिति । ‘तस्मान्’ प्रजापते सकाशात् ‘प्रजा’ ‘परास्य’ एव
अभवन् । रिक्त मेव विप्रदयति— “नास्य प्रजा इति । लोके यथा
बहुप्रज कश्चित् ताभिरर्जितैर्धनादिभिः श्रियुक्तोऽच्चादिमांस्य भवति,
एव मस्य तथा न स्थितवत्य इत्यर्थः ॥ १ ॥

“स ऐसतेति । विचार कृतवान् । ‘अरिचि’ अतिरिक्तो-
ऽभवम् । रिचेलुङ्गुत्तमे रूपम् । तदेव विप्रदयति— “अह मस्यै
कामायासृचीति । ‘असृचि’ प्रजासृष्टि मकार्यम् । ‘स कामो न

* ‘वंम्’-इति ग, घ ।

१— “पञ्चेकादग्निर्नी द्विविधा । प्रतिपशुयूषा एकयूषा ॥”—इत्यादि का०
श्रौ० ८ ८ १० सू० वृत्तौ दृश्यम् ।

मे' 'समाद्धि' समृद्धियुक्तोऽभूत् । त मेव विशिनष्टि— “न मे प्रजाः श्रिये श्वाद्याद्यायेति ॥ १ ॥

“स ऐक्षत इति । विचारविषयां बुद्धिं प्रसारितवानित्यर्थः ॥ १ ॥

“सोऽर्चस्मिति । वाङ्मत्यापारेणैव ‘अर्चन्’, ‘आम्यन्’ तपः ‘वचार’ इत्यर्थः । “स एता मिति । ‘सः’ च बहुल्ये पञ्चेकादशिनोन् ‘अपश्यत्’ प्रजाप्राप्तिसाधनत्वेन ज्ञातवान् । “एकादशिन्येद्वा प्रजापतिरित्यादि, स्पष्टम् । “वसूयानेवेद्वाभवदिति । ‘वसूयान्’ वसुमन्तरः ॥ ४ ॥

न केवलं प्रजापतेरेवैकादशिनोप्रयोगादेतदुक्तं फलम्, किन्तु इदानीन्तन मपि तत् फलं तदनुष्ठानाद् भवतीत्याह— “तस्मै क मेकादशिन्या यजेतेत्यादिना । क मिति पुरुषम् । य एकादशिन्या यजते, ‘तस्मै’ आप्यायनादिकामाय । स यजमानः ‘प्रजया पशुभिः’ ‘आप्यायते’ प्रवर्द्धते । आप्यायनेन ‘एनं’ यजमानं ‘प्रजाः’ पुत्र-भृत्यादिरूपाः ‘समावर्त्तन्ते’ प्रतिनिवर्त्तन्ते । आगम्य च तदाप्यायनाय ‘श्रिये श्वाद्याद्या’ च ‘प्रजाः’ ‘तिष्ठन्ते’ आत्मानं प्रकाशयन्ति ॥ ५ ॥

इत्थं सामान्येनैकादशिन्याः फल मभिधाय, तानेकादशिनान् पशून् क्रमेण विधाय, तत्फलं च विभक्त्य दर्शयति— “स आग्नेयं प्रथमं पशु मालभत इत्यादिना । अग्निर्देवता अस्य, स आग्नेयः पशुः, तम्, ‘प्रथम मालभते’ । सत्सन्नेकदेवताकेषु प्रथम माग्नेयेन भवितव्य मित्येतस्मिन्नर्थे कारण माह— “अग्निर्वै देवतानां सुखं प्रजनयितेति । य. परिपाकहेतुत्वेन सर्वस्य प्रजनयिता अग्निः, स

‘देवतानां सुखम्’ खलु । देवानां सुखत्वम् “अग्निर्वै देवानां भवम्”^१, इति, “अग्निमुखा वै देवा”-इति-श्रुत्यन्तराच्च^२ सिद्धम् । देवानां मध्ये अग्निरेव ‘सुखम्’ प्रजा-जनयिता, सुखत्वेनोत्पादक, “ता भग्निरिन्धते, सोमो रेतो दधातन, सविता प्राजनयत्”-इत्यादौ अग्निरेवेत्येकत्वदर्शनात् । ‘स’ अग्नि प्रजापतिना समत्वात् ‘प्रजापति’ । ‘स एव’ अग्नि ‘यजमान’ च, गार्हपत्यं सन् यजमानरूपेणावस्थानात्, यज्ञनिष्पादकत्वमास्यात् यजमानत्वम् । तस्मात् स्वात्मलाभाय आग्नेयं पशुं कर्त्तव्यं ॥ ६ ॥

“अयं सारस्वत मिति” । आत्मभूत इति शेषः । या ‘सरस्वती’ अस्ति, सा ‘वाग्वै’ वायूपा खलु । ‘वाचैव’ द्वितीयपशोर्देवतया रिक्तं स्वात्मानं ‘पुनरायाचयत’ । ‘वाग्’ वायूपा प्रजा ‘एन’ प्रजापतिम् उपावृत्ततया ‘समावर्त्तत’ । ‘वाचम्’ ‘अनु’ ‘एव’ ‘एय’ यजमान ‘आत्मन’ कामनादिकं करोति ॥

एव मुत्तरेयां पशूनां ब्राह्मणानि च व्याख्येयानि ॥ ७ ॥ ॥ ८ ॥

शौम्यस्य पशोः सारस्वतानन्तर्यं प्रश्नमिति— ‘तद् यत् सारस्वतं मनु भवतीति । “वाग्वै सरस्वत्यश्च मिति । शौम्यस्यैव धिपतित्वात् तत्स्वरूपत्वम् । ‘तस्माद्’ ‘य’ पुमान् ‘वाचा’ ‘प्रभामि’ अत्यस्य^३, स ‘अज्ञादो भवति’ । वाचोऽज्ञमाधनत्वात् सारस्वतानन्तरं शौम्यं उक्तं ॥ ८ ॥

“अथ पौष्ण मिति^१ । ‘अथ’ सौम्यानन्तर ‘पौष्ण’ पूषदेवताकं पशु मालभते । “पशवो वै पूषेत्यादि, पूर्ववत् ॥ १० ॥

“अथ बार्हस्पत्य मिति^२ । ‘बार्हस्पत्य’ इहस्पतिदेवताकं पशु मालभते । इहस्पतेर्मन्त्राधिदेवत्वात् मद्भ्रातृम्, यथवा ‘इहस्पतिः’ ‘मद्भ्रातृ’ मद्भ्रातृजातिः खलु ॥ ११ ॥

बार्हस्पत्यस्य पौष्णानन्तर्यं युक्ति माह— “तद्यत् पौष्ण मनु भवतीति । पूष्ण’ पूषाधिदेवत्वात् पशूनां पोषकत्वात् ‘पूषा पशवः’ । ‘तस्मात्’ बार्हस्पत्यस्य पौष्णानन्तर्याद्धेतोः ‘मद्भ्रातृ’ ‘पशून्’ ‘अभिष्टुप्नुतम. भवति’ अत्यन्तधर्मको भवति । ‘अथ’ एव-
 क्लमेषानुष्ठानार्थजमानस्य (‘पुरोहिताः’) पुरोहिताः, पुरः स्थापिताः ‘भवन्ति’ पशवः । तदेव व्याचष्टे— “मुख आहिता इति । यस्माद् मद्भ्रातृस्य पशुषु स्नातित्वं मस्ति, ‘तस्माद्’ तस्मादेव कारणात् ‘सर्वे’ मद्भ्रातृभ्यो ‘दत्त्वा’ ‘अजिनवामी’ अजिन माच्छाद्य ‘सञ्चरति’ ॥

सर्वस्वदक्षिणाके विश्वजिदादौ सर्वस्वं दत्त्वा अजिनवामधारणं साममद्भ्रातृभ्यो मपद्येनाच्चातम्^३ । आपस्तम्बोऽपि “उदवसाय रोहिणं दशच्छदौ.”-इति प्रक्रम्य, “बहिर्लोम परिधाय”-इति ॥ १२ ॥

“अथ वैश्वदेव मिति” । बार्हस्पत्यामन्तरं ‘वैश्वदेवं’ पशु माल-
 भते । वैश्वदेवस्य बार्हस्पत्यामन्तर्यार्थवादः स्पष्टार्थः ॥ १३ ॥

“तद्यद् बार्हस्पत्य मनु भवतीति । “अथैवेतत् सर्वस्य मद्भ्रा

१, २— का० यो० सू० ८ ८ २६ ।

३— ता० ता० मा० १६ अ० ४. ५, ६ त० ।

४— का० यो० सू० ८. ८. २६ क ।

मुखं करोतीति । ‘अस्य’ ‘सर्वस्य’ अपि जगतः ‘एतत्’ एतेन सर्वरूपस्य वैश्वदेवस्य आदौ ब्राह्मणजात्यात्मकस्य बृहस्पतेः पुरो-
भावित्वसम्पादनेन ‘ब्रह्म मुखं करोति’ ब्राह्मणजाति मेव मुखं
कृतवान् भवति ॥ १४ ॥

“अथैन्द्र मिति” । ‘ऐन्द्र’ पशु मास्रभते । सप्तमस्य पशोर्यद्देवता
इन्द्रोऽस्ति, तम् । “इन्द्रिय वै वीर्यं मिति । इन्द्रेण सृष्टम्
‘इन्द्रियम्’, तच्च ‘वीर्यं’ वीर्यात्मकम्, सृज्यस्तद्वोरभेदात् ‘इन्द्रः’
एवेन्द्रियम्; शक्तिशक्तिमतोरभेदादेन्द्रियत्वम् ॥ १५ ॥

“तद्यदिति । इन्द्रस्य देवेषु मध्ये चतुर्यजातित्व मसकृदुक्तम्,
विशेषां देवानां तु तदधीनत्वाद् बहुलसाम्यात् विशां रूपत्वम्;
अतः ऐन्द्रस्य वैश्वदेवानन्तर्यकरणम् । नास्य स्वामिन इन्द्रस्य पुरस्ता-
द्भाविनो विशाः कृतत्वाद् (कृतं) भवति ॥ १६ ॥

“अथ भारुत मिति” । ‘अथ’ ऐन्द्रानन्तरं ‘भारुतं’ मरुद्देवताकं
पशु मास्रभते ॥ १७ ॥

“तद्यदिति । “तदिदं च च मुभयतो विशा परिबृढ मिति ।
पूर्वच विश्वदेवात्मिकया विशा, उत्तरच मरुद्रूपयेति द्रष्टव्यम् ॥ १८ ॥

“अथैन्द्राग्न मिति” । ‘अथ’ भारुतानन्तरम् ‘ऐन्द्राग्नम्’ इन्द्राग्नि-
देवताकम् ॥ १९ ॥

“अथ सावित्र मिति” । आस्रभते । सावित्रवारुणयोर्ब्राह्मणे
सृष्टे ॥ २० ॥ ॥ २१ ॥

“तस्माद् यदीति^१ । ‘तस्माद्’ पशूना मेकादशत्वात् ‘यदि
यूपैकादशिनौ’ यदैकादशयूपसम्मानम्, तदा प्रतिपशूयूपसम्भवात्
‘अग्निष्ठे’ पूर्वद्युर्निष्ठाते मध्ययूपे ‘आग्नेय मेव’ प्रथम ‘पशू’
नियुञ्जीरन्, ‘अथ’ ‘इतरान्’ पशून्, ‘यथापूर्वं’ व्युपनयेयु’
यूपोच्छ्रयणातुकमेष प्रतियूप पृथक् पृथक् नियुञ्जीरन्नित्यर्थः^२ ।
स च क्रमः,— “स य उत्तरोऽग्निष्ठात् स्यात्, त मेवाग्रे उच्छ्रयेदथ
दक्षिण मयोत्तर मित्यादिना प्राङ् निर्दिष्टे^३ ॥ ९९ ॥

“यद्यु पश्वेकादशिनौति^४ । ‘यद्यु’ यद्यपि ‘पश्वेकादशिनौ’
स्यात्, यूपस्त्रेक एव तदा ‘आग्नेय मेव’ प्रथम यूपे आलभेरन्,
‘अथ’ ‘इतरान्’ सौम्यादिकान् ‘यथापूर्वम्’ तस्मिन्नेकयूपे नियुञ्जीत
सञ्ज्ञपनार्थम् ॥ ९९ ॥

“तान्यत्रोदीचो नयन्तीति^५ । उदङ्नयनकालेऽपि ‘आग्नेय
मेव’ प्रथम’ नयेत्, ‘अथेतान्’ इदानीमुक्तकमेष नयेत् ॥ ९९ ॥

“तान्यत्र निविध्यन्तीति^६ । सञ्ज्ञाप्यानय्य ‘आग्नेय मेव’ प्रथम
दक्षिणाङ्गं^७ निविध्यत, पीडयेत् ॥ ९९ ॥

१— ५२६ ए० १ टीप्पनी द्रष्टव्या ।

२— का० श्रौ० सू० ८ ८ २० क ।

३— इहैव पुरस्तात् ० २ ५ ४२० ए० द्रष्टव्यम् ।

४— का० श्रौ० सू० ८ ८ २८ ।

५— का० श्रौ० सू० ८ ८ २० ख ।

६— का० श्रौ० सू० ८ ८ २६ ।

“तेषा यत्र वपाभि प्रचरन्तीति^१ । वपाप्रचारेऽप्याग्नेयस्यैव वपा
प्रथम प्रचरेत् । किं वज्रना, अङ्गाना यागावसरेऽप्याग्नेयाङ्गानि
प्रथम यजेत्, ‘अयेतरेषाम्’ अङ्गानि ‘यथापूर्वम्’ ॥ २६, २७ ॥
१ [८ १] ॥

इति सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये
द्वितीयकाण्डे नवमाध्याये प्रथम ब्राह्मणम् ॥

(अथ द्वितीय ब्राह्मणम्)

युज वै यज्ञस्य शिरोऽच्छिद्यत । तुस्य रुसो द्रुत्वापः
प्रविवेश तेनैवैतद्रुसेनापः स्यन्दन्ते तु मेवैतद्रुसः स्यन्द-
मानं मन्यन्ते ॥ १ ॥

स युद्धसतीवुरीरच्छेति । तु मेवैतद्रुस माहृत्य यज्ञे
दधाति रुसवन्तं यज्ञं करोति तुस्माद् वसतीवुरी-
रुच्छेति ॥ २ ॥

ता वै सुर्वेषु सुवनेषु विभजति । सुर्वेष्वेवैतत्सुवनेषु

रुसं दधाति सुर्वाणि सुवनानि रुसवन्ति करोति तुस्मा-
त्सुर्वेषु सुवनेषु विभजति ॥ ३ ॥

ता वै स्युन्दमानानां गृह्णीयात् । ऐद्वि* सु यज्ञस्य
रुसस्तुस्मात् स्युन्दमानानां गृह्णीयात् ॥ ४ ॥

गोपीथाय वा ऽएता गृह्णन्ते । सुर्वं वा ऽइदु मन्यु-
दित्यति यदिदं किञ्चापि योऽयं पुवतेऽथैता एव
नेत्यन्ति तुस्मात् स्युन्दमानानां गृह्णीयात् ॥ ५ ॥

द्विवा गृह्णीयात् । पुश्यन् यज्ञस्य रुसं गृह्णान्तीति
तुस्माद्विवा गृह्णीयादेतस्मै वै गृह्णाति यु एष तुपति
व्विश्वेभ्यो ह्येना देवेभ्यो गृह्णाति रश्मयो ह्यस्य व्विश्वे
देवास्तुस्माद्विवा गृह्णीयाद्विवेव वा ऽएष तुस्मादेव द्विवा
गृह्णीयात् ॥ ६ ॥

एतद्व वै व्विश्वे देवाः† । युजमानस्य गृह्णानुगच्छन्ति
स युः पुरादित्यस्यास्तमयाद्वसतीवुरीर्गृह्णाति युथा
श्रेयस्यागमिष्यत्यावसथेनोपकृतेनोपासीतैवं तत्तु ऽएतु-
हविः प्रविशन्ति तु ऽएतासु व्वसतीवुरीषूपवसन्ति सु
उपवसथः‡ ॥ ७ ॥

स दस्युः गृहीता ऋध्वस्त म्रियान्? । तुत्र प्राय-

* 'ऐद्वि'-इति ख ।

† 'य' -इति ग, घ ।

† 'व' -इति ग, घ ।

‡ 'याव' -इति ग, घ ।

श्रित्तिः क्रियते यदि पुरेजानः स्थान्निनाद्याद्गृहीया-
द्दिवा हि तस्य ताः* पुरा गृहीता भवन्ति यद्यु-
ऽश्रुनीजानः स्याद्य एन मीजानु उपावसितो वा पर्यु-
वसितो वा स्यात्तस्य निनाद्याद्गृहीयाद्दिवा हि तस्य
ताः पुरा गृहीता भवन्ति ॥ ८ ॥

यद्यु ऽएतदुभयं नु ब्विन्देत्† । उल्कुपी मेवाट्टायो-
पपुरेयात्ता मुपर्युपरि धारयन् गृहीयाद्दिरण्यं वोपर्यु-
परि धारयन् गृहीयात् तदेतस्य रूपं क्रियते यु एष
तुपति ॥ ९ ॥

अथातो गृह्णात्येव । हविष्मतीरिमा आप इति
यज्ञस्य ह्यासु रुसः प्राविशत्तस्मादाह हविष्मतीरिमा
आप इति हविष्माँश्‡ ऽआविवासतीति हविष्मान्
ह्येना युजमान आविवासति तस्मादाह हविष्माँश्
ऽआविवासतीति ॥ १० ॥

हविष्मान् देवो ऽअध्वर इति । अध्वरो वै यज्ञस्त-
द्युस्मै यज्ञाय गृह्णाति तुऽ हविष्मन्तं करोति तस्मादाह
हविष्मान् देवो ऽअध्वर इति ॥ ११ ॥

* 'तुम्येता'—इति ख ।

† 'ब्विन्देत्'—इति ख ।

‡ 'हविष्मार'—इति ग, घ । एव मिष्टोत्तरत्रापि सर्वत्र ।

हविष्मांश्च ऽअस्तु सूर्य इति । एतस्मै वै गृह्णाति य
एष तुपति विश्वेभ्यो ह्येना देवेभ्यो गृह्णाति रश्मयो
ह्यस्य विश्वे देवास्तस्मादाह हविष्मांश्च ऽअस्तु सूर्य
इति ॥ १२ ॥

ता आहुत्य जघुनेन गार्हपत्यः सादयति । अग्नेर्वो-
ऽपन्नगृहस्य सुदसि सादयामीत्यग्नेर्वोऽनार्त्तगृहस्य सुदसि
सादयामीत्येवैतदाहुय युदाग्रीपोमयः पशुः सन्तिष्ठते-
ऽथ पुरिहरति व्युत्क्रामतेत्याहुयेण हविर्हुनि युजमान
आस्ते ता आदत्ते ॥ १३ ॥

स दुक्षिणेन निष्क्रामति । ता दुक्षिणायाः श्रोणी
सादयतीन्द्राग्न्योर्भागधेयौ स्येति विश्वेभ्यो ह्येना
देवेभ्यो गृह्णातीन्द्राग्री हि विश्वे देवास्ताः पुनरा-
हृत्याग्रेण पुत्रीः सादयति सु जघुनेन पुत्रीं पर्येत्य ता
आदत्ते ॥ १४ ॥

स उत्तरेण निष्क्रामति । ता उत्तरायाः श्रोणी
सादयति मित्रावरुणयोर्भागधेयौ स्येति नैवः सादये-
दुतिरिक्तं मेतुनैवः सम्पत्सम्पद्यत ऽइन्द्राग्न्योर्भागधेयौ
स्येत्येव ब्रूयात्तदेवानतिरिक्तं तुया सम्पत्सम्पद्यते ॥ १५ ॥

गुह्यै वा ऽएताः पुरिह्रियन्ते । अग्निः पुरस्तादयैताः
समन्तं पुल्यङ्गन्ते नाप्रा रुक्षाः स्यपघ्नत्यस्ता आग्नीध्रे

सादयति व्विश्वेषां देवानां भागधेयी स्थेति तुदासु
व्विश्वान् देवान्तुंवेशयत्येते वै व्वसतां व्वरं तुस्माद्व-
सतीवुर्यो नाम व्वसताः ह वै व्वरं भवति यु एव
मेतद्देद ॥ १६ ॥

तानि वा ऽएतानि सप्त युजूःपि भवन्ति । चतुर्भि-
र्गृह्णात्येकेन जघुनेन गार्हपत्यः सादयत्येकेन पुरिहर-
त्येकेनाग्नीध्रे तानि सप्त युच वै व्वाचः* प्रजातानि
च्छन्दाःसि सप्तपदा वै तेषां परार्धा शुक्लर्येता मभि-
सम्पुदं तुस्मात्सप्त युजूःपि भवन्ति ॥ १७ ॥ ३ ॥

॥ इति सप्तमप्रपाठके तृतीयं ब्राह्मणम् [६. २.] ॥

अथ सोमाभिपवाचे वसतीवरौषहण विधातु माह— “यच वै
यज्ञस्येत्यादि । यस्मिन् काले यज्ञरूपस्य विष्णो. वधार्यं देवैः प्रेषिता
उपदीका धनुर्ज्याच्छेदनेन तच्छिरो विच्छिन्नम्, स कालो “यच
वै यज्ञस्य”-इत्यनेन परामृश्यते । तत्प्रकार. प्रथमं प्रपञ्चित^१ ।
पुरा ‘यच’ यस्मिन् काले ‘यज्ञस्य’ ‘गिर’ ‘अच्छिद्यत’ द्विष
मभूत्, तस्मिन् काले द्विषगिरसो यज्ञस्य रसोद्भवत् । ‘रसः’

* ‘व्वाच’-इति ख ।

१— ब्राह्मणप्रवर्त्तेति शेष । स च परस्ताद (१३. १ १.) दृश्यते ।

‘द्रुत्वा’ धावित्वा यतः उदकानि ‘प्रविवेश’, ‘तेनैव रसेन’ ‘एतत्’
 इदानीं मपि यथापूर्वं स्रन्दनस्वभावाः ‘आप’ ‘स्रन्दन्ते’ । ‘त मेव’
 क्षिन्नशिरस्काद् यज्ञाद् उद्धृत मेव ‘रसम्’ इदानीं मपु ‘स्रन्द-
 मानं’ प्रवहन्त ‘मन्यन्ते’ अभिज्ञाः^१ ॥ १ ॥

अथ वसतीवरीयहण विधत्ते— “स यद् वसतीवरौरश्चैतीति ।
 ‘अश्चैति’ अभिमुखं गच्छति । ‘त मेव रस पुनरावृत्य यमे
 सन्दधाति’ । वसतीवरीयहणकाक्ष सूत्रे उक्तं— “अग्नीयोमीयस्य
 वपामार्जमान्ते वसतीवरीयहणम्”—इति^२ ॥ २ ॥

गृहीतानां सवनवयार्थं विभाग माह— “ता वै सर्वेषु सवनेषु
 विभजतीति ॥ ३ ॥

गृहीतव्यानि उदकानि विशिनष्टि— “ता वै स्रन्दमानाना
 मिति^३ । ‘हि’ यस्मात् ‘स.’ यज्ञरस’ ऐत्’ अस्रवत्, अथ ततो
 गच्छन्तीना मेवापा सम्मन्विनीः ‘गृहीयात्’ ॥ ४ ॥

स्रन्दमानग्रहणे उपपत्त्यन्तर माह— “गोपीयाय वा इत्यादि ।
 यज्ञरसानाम् ‘अन्यत्’ प्रवाहोदकव्यतिरिक्तं ‘सर्वम्’ ‘इलयति’ इत-
 स्ततश्चलति । ‘इद’-शब्दार्थं विशिनष्टि— “यदिद किञ्चेति । ‘यत्
 किञ्च’ ‘इद’ परिदृश्यमानं जगत् । इदं-शब्दोक्तानां मध्ये प्रसिद्ध
 किञ्चिदिहोदाहरति— “अपि योऽथ पवत इति । ‘योऽथ वायुः
 ‘पवते’ गच्छति, सोऽपि नियतचलनवान् । ‘एता एव’ ‘नेलपन्ति’

१— तदेतदुद्धृतं पुरस्तात् ५१५ ए० १५ पं० ।

२— का० श्रौ० सू० ८. ८. ७ क ।

३— का० श्रौ० सू० ८. ८. ७ ख ।

न प्रतिविवर्त्तते^१ । यद्यपि स्थन्दमानाना मितरेषा च पदार्थाना
चलन साधारणम्, तथापि स्थन्दमानाना व्यावृत्तेरपेक्षितत्वात् इत्यन
मितस्ततश्चलन विवक्षितम् । ‘स्थन्दमानानाम्’ एकरूपेण प्रवहन्तीना
मपा तथाविधचाञ्चल्याभावात् ‘गोपीषाय गृहीयात्’ ॥ ५ ॥

“दिवा गृहीयादिति” । दिवाग्रहणस्याभिप्राय साह— “पशन्
यज्ञस्य रस गृह्णातीति । दर्शनपूर्वकग्रहणे सति यज्ञरसस्य परि-
ज्ञातत्वात् तथाविधाभिरङ्गि क्रियमाणोऽभिषव साङ्गो भवती-
त्यभिप्राय । दिवाग्रहणस्य प्रयोजनान्तर साह— “एतस्मै वै
गृह्णाति य एष तपतीति । कथं सेतदर्थतेति तत्र हेतु साह—
“विश्वेभ्यो ह्येना देवेभ्यो गृह्णातीति । यस्माद् विश्वेभ्यो देवेभ्यो
गृह्णाति । तेषां मत्र कथं सम्भावनेति तत्राह— “रश्मयो ह्यस्य
विश्वे देवा इति । सूर्यस्य चन्द्रवदिभूतिरूपाणां विश्वेषां देवानां
रश्म्यात्मनावस्थानादित्यभिप्राय । अतो रश्मिरूपाणां विश्वेषां देवा-
नाम्, तदधिपते सवितुस्य दिवैव सम्भावाद् दिवैव गृहीयादित्यर्थः ।
किञ्चैष आदित्यो दिवैव प्रकाशमानो भवति, तस्मादपि दिवैव
गृहीयात् ॥ ६ ॥

अस्तमयात् पूर्वकालीन ग्रहणं प्रशंसति— “एतद्गु वा इत्यादि ।
अग्नीषोमीयेऽहनि रात्रौ विश्वेषां देवानां प्रातर्यष्टकत्वात्, तत्-
पूर्वम् ‘उपकृप्तेन’ सम्पन्नेनैव ‘आवसथेन’ आवसथ मावासस्थानम्,
तत्तदादिकं सर्वं यज्ञोपकरणं उपलब्ध्यते, तत् सस्करोति, तेन
पुण्योपकरणेन सम्भावयति । ‘एतत् ६ वै’ एतत् खलु अतिचिभृतानां

विशेषां देवानां मागमनात् पूर्वं यदि चैव ग्रहणं भवति, 'तत्' तत्स्थानीयं मित्यर्थः । “एतद्भुवि प्रविशन्तीति । सोमरसेष्वनु-
प्रवेशात् हविः सम्पद्यते ॥

प्रसङ्गादुपवसथशब्दनिर्वचनं दर्शयति— “त एतासु वसतीवरीषू-
पवसन्तीति । उपवसन्त्यासु वसतीवरीषु देवा अस्मिन् काले इत्युप-
वसथ', उपवासकाल इत्यर्थः ॥ ७ ॥

वसतीवरीग्रहणात् प्राक् अस्तमये सति तद्ग्रहणोपायं माह—
“स यस्यागृहीता अभ्यस्तमियात्, तच्च प्रायश्चित्तिं क्रियत इति ।
प्रायश्चित्तिभिर्दिवाग्रहणकरणे दोषस्पर्शाभावोपायः क्रियत इत्यर्थः ।
तत्प्रकारः प्रदर्शयते— “यदीति । स यजमानो 'यदि' 'पुरेजान'
इष्टप्रथमसोमयागः 'स्यात्', स 'निनाद्यात्' स्वगृहस्थितप्रभूतघटादेः
सकाशात् 'गृहीयात्'; 'ता' आप' 'पुरा' अस्तमयात् पूर्वं तस्य
'गृहीता भवन्ति', प्रथमानुष्ठानेऽस्तमयात् पुरा गृहीतत्वादि-
त्यभिप्रायः' । स्वयम् 'अनीजानः' चेद्, 'य' 'एन' यजमानम्
'ईजानः' इष्टवान्, 'उपवसित' २ समीपे गृहे अवस्थित, 'पर्यवसितो
वा' दूरगृहस्थितो वा 'स्यात्', 'तस्य' 'निनाद्याद्' घटादेः सकाशाद्
'गृहीयात्' । एव सति 'ताः पुरा गृहीता भवन्ति' ३ । “माद्वानो
वज्रयाजौ तस्य कुम्भानां गृहीयात्”—इति ४ श्रुत्यन्तरम् ॥ ८ ॥

१— का० श्रौ० सू० ८. ६. ८ ।

२— 'एनम्=यजमानम्'—इति सूत्रविशदम्, महीधरमतविशदम् ।

३— 'उपावसिते (१)'—इति ५ । ४— का० श्रौ० सू० ८. ६. ८ ।

५— तै० स० ६. ४. २. १ ।

तदुभयासम्भवे आह— “यद्यु एतदुभय न विन्देदित्यादिना ।
 ‘उत्कुषीम्’ उक्ता मित्यर्थः । ‘एतस्य’ इत्यस्य व्याख्यानम्— “य एष
 तपतीति । उक्ताया हिरण्यस्य च सूर्यवर्णसाम्यात् तद्रूपकरणम् ।
 अत्र सूत्रम्— “अस्मिन्निषेत् निनाद्यात् पुरेजानस्येदनीजानो
 ऽन्यस्यापि समीपावसितस्य पुरेजानस्योभयाभावः ऽउत्कुषी५ हिरण्य
 वोपर्युपरि धारयन् हविष्मतीरिति” इति१ । ८ ॥

मन्त्र विधत्ते— “अथातो गृह्णात्येव हविष्मतीरिमा आप
 इति१ । ‘इमा’ गृह्णमाणा ‘आप’ हविष्मती’ अभिपूयमाणेन
 सोमरूपास्तेन हविषा, स्वासु प्रविष्टेन यज्ञरसरूपेण हविषा वा
 तद्वत् । एताभिर्निष्पन्नेन सोमेन हविषा ‘हविष्मान्’, ‘यजमान’
 ‘आविशामति’ परिचरति एता वसतीवरी ॥

“हविष्मान् देवो अध्वर इतीति । ‘देव’ द्योतमान ‘अध्वर’
 द्विधारद्वित ‘यज्ञ’ गृह्णमाणैर्वसतीवरीलक्षणेहविर्भिं ‘हविष्मान्’
 भवति ॥

“हविष्मांश्च ॥ ऽअसु सूर्य इतीति । ग्रहणस्य देवार्थत्वात्, विशेष्य
 देवाना रश्मिरूपत्वात्, तद्वान् सूर्योऽपि गृह्णमाणैर्वसतीवरीलक्षणे
 हविर्भिं हविष्मान् भवति ॥

प्रतिपाद विभज्य व्याचष्टे— “हविष्मतीरिमा आप इति यज्ञस्य
 द्वासु रस प्राविशत् तस्मादाह हरिष्मतीरित्यादिना ॥ १०, ११, १२ ॥

“ता आह्वयेति१ । “अग्नेर्वोऽपस्यगृह्ण्येति” । ‘अपस्यगृह्ण्य’

१— का० श्रौ० सू० ८ ८ ८—१० ।

२— वा० ख० ६ २४ १ ।

१— का० श्रौ० सू० ८ ८ ११ ।

३— वा० ख० ६ २४ १ ।

अपतितगृहस्य, अग्रीर्णगृहस्येत्यर्थः ; तस्य 'अग्नेः' 'सदसि' स्थाने
 'सादयामि' । 'अथ यदाग्रीषोमीयः पशुः' 'सन्निष्ठते' पत्नीसंघा-
 जान्तः समाप्नो भवति । 'अथ' तदा 'परिहरति' वसतीवरीर्वेदेः
 परितो नयेत् । वेदिमध्ये स्थिता दौचिताः । 'व्युत्क्रामत' 'इत्याह' ।
 "चिरिति कात्यायनः" । 'हविर्द्वानि' हविर्द्वानस्य पुरोदेशे 'यज-
 मानः आस्ते' । "उत्तरवेदि मपरेण यजमानः (आस्ते)"-इति^१
 सूत्रम् ॥ १२ ॥

"स दक्षिणेन निष्क्रामतीति । 'ताः' अध्वर्युरादाय, 'दक्षिणेन'
 द्वारेण प्राग्वंश मतिक्रम्य^२, उत्तरवेद्या दक्षिणथोणौ 'सादयति'^३
 "इन्द्राग्न्योर्भागधेयौ स्य"-इति^४ । भागधेयौ । मन्त्रं व्याचष्टे-
 "विश्वेभ्यो ह्येना इति । "ते देवा विभ्यतोऽग्निं प्राविशन् तन्मादाज्ज-
 रग्निः सर्वा देवता इति हि तैत्तिरीयकश्रुतिः^५ । अथैव काण्डे-
 "देवानां सुदु स दौचितानाम्"-इत्यथ विदुरपक्षैर्विरचस्तमै-
 रस्यैव रूप मसामेति^६ देवानां मग्निरूपधारणसाधारण्याच्चाग्नेः सर्व-

१- "व्युत्क्रामिते संस्थाप्य व्युत्क्रामतेत्याह चि"-इति का० श्रौ० सू० ८.
 ६. १४ । "व्युत्क्रामतेति प्रियं चिन्तुयात् ; चिरित्येतच्छाखान्तरात्"-
 इति तद्वह्नौ या० दे० ।

२- का० श्रौ० सू० ८. ६. १६ । "उपस्थे सोमं कृत्वा"-इति शाखा-
 न्तरीयो विधिश्च तत्सूत्रान्ते विद्यते ।

३- 'प्राग्वंशान्निष्क्राम्य'-इति छ ।

४- का० श्रौ० सू० ८. ६. १८ ।

५- वा० सं० ६. २४ २ ।

६- तै० सं० १. ८. १ सा० भा० द्रष्टव्यम् ।

७- अन्यत्र च तै० ब्रा० ६. २. ४. १० द्रष्टव्यम् ।

देवमयलम् । इन्द्रस्य तु देवाधिपतित्वं प्रसिद्धम् । अत इन्द्राग्न्यो-
र्भागधेयौ स्वेत्यभिधानम् ॥

“ताः पुनराद्यत्याग्रेण पत्नी सादयतीति^१ । पत्न्याः पश्चाद्देशेन
'पर्येत्य' पत्न्याः पुरोदेशेऽवस्थिताः 'ताः' वसतीवरौः ('आदत्ते'^२ ॥
१४ ॥) आदाय, 'उत्तरेण' मार्गेण 'निष्कामति' । निष्कम्य,
उत्तरवेदेत्तरश्रोणौ सादयेत्^३ ॥

उत्तरश्रोणौ^४ सादने कश्चिन्नमन्त्र निर्दिश्य, तस्य वक्ष्यमाणसम्प-
दतिरेकेण प्रातिक्रुत्य मभिधाय, दक्षिणवेदिश्रोणिसादनमन्त्र मेव
सम्पदमुकूलत्वात् सिद्धान्तयति— “मिषावरुणयोर्भागधेयौ स्वेति^५ नैवं
सादयेदित्यादिना^६ । 'एव' यस्मादयं मन्त्रः 'अतिरिक्तः' अधिकः,
अतो वक्ष्यमाणा सप्तपदोपेत-ग्रन्थरीच्छन्दः-प्राप्तिलक्षणा 'सम्पत्' 'न
सम्पद्यते', “इन्द्राग्न्योः”-इत्यनेनैव^७ चेदन्तिरेकात् सम्पद्यते ॥ १५ ॥

सर्वतः परिहरणं सुत्तरवेदेरपरिहरणञ्च प्रशंसति— “गृष्ट्यै वा
एताः परिद्वियन्त इति । अर्षां वज्रत्वेन रक्षोविघातकत्वात् सर्वतः
परिहरणेन यज्ञस्य रक्षस्तुकाशात् सर्वतो गुप्तिर्भवति । साक्षाद्रक्षो-

१— का० श्रौ० सू० ८. ६. १६ ।

२— का० श्रौ० सू० ८. ६. २०, २१ ।

३— नाम्येतत् पदं छ-पुस्तके ।

४— नाम्येतत् पदं छ-पुस्तके ।

५— वा० सं० ६. २४. ३ ।

६— का० श्रौ० सू० ८. ६. २२ ।

७— वा० सं० ६. २४. २ ।

देपिणोऽग्नेः पुरस्ताद् वर्त्तमानत्वात् न तदपेक्षा, पुरस्तात् परि-
हारापेक्षा नास्ति । ‘यल्लङ्घन्ते’ परितोऽङ्घन्ते, ह्रियन्त इत्यर्थः ॥

उत्तरश्रोणितत्वादाय आग्नीद्वमण्डपे “विशेषां देवाना मिति”
मन्त्रेण सादयेत्^१ । ‘तत्’ तेन, “विशेषां देवानाम्”—इतिमन्त्र-
पाठेन ॥

संवेशनप्रसङ्गात् वसतीवरौग्रहं निर्वक्ति— “एते वै वसतां
वरं तस्माद् वसतीवर्यो नामेति । ‘वसतां’ कश्चित् कश्चित् स्थानेषु
निवसतां मध्ये ‘एते’ खलु देवाः ‘वरम्’, एतेषां वासो वरं श्रेष्ठ
इत्यर्थः । वसतां देवानां श्रेष्ठकत्वावेदकत्वात् वसतीवर्य इति नाम
निष्पन्नम् । यद्वा एतेषु ‘एताः’ आपः ‘वसतां’ विशेषां देवानां
‘वरम्’ उत्कृष्टं स्थान मिति वसतीवर्य इति नाम ॥

उक्तार्थज्ञं प्रशंसति— “वसतां ह वै वरं भवतीति ॥ १६ ॥

वसतीवरौग्रहणप्रवृत्तीनां आग्नीद्वमण्डपान्तानां मन्त्राणां या
सप्तमह्या, तां शक्ररीत्वसम्पत्त्या प्रशंसति— “तानि वा एतानि सप्त
यजूंषीत्यादिना । “चतुर्भिर्गृह्णातीत्यादि । सङ्ख्याविभागस्तु स्पष्ट
एव^२ । “यच्च वै वाचः प्रजातानि कृन्दासीति । वाचः सकाशात्
कृन्दसा मुत्पत्तिः सोमाहरणप्रस्तावे “वागेव सूपर्षी”—इत्युक्त्वा
“तथेति सा कृन्दांसि ससृजे”—इति प्राक् प्रतिपादिता^३ । ‘तेषां’

१— वा० सं० ६. २३. ३ ।

२— का० श्रौ० सू० ८. ८. २३ ।

३— न तु स्पष्टोऽपि तु बहुविधार्थ इति ध्येयम् ।

४— पुरस्तात् ५ प्र० १ ब्रा० २-८ क० (२६१८० ११५०—२६२८०
२५०) । “कृन्दांसि सौपर्षीयाः”—इति च तै० सं० ६. १. ६. १ ।

मध्ये 'पराक्षां' पराङ्गे भवा श्रेष्ठा 'शक्ती' सप्तपदसङ्गावरूपा षड्
निर्वृत्ता^१ ॥ १७ ॥ २ [८ ९] ॥

इति सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

तृतीयकाण्डे नवमेऽध्याये द्वितीय ब्राह्मणम् ॥

(अथ तृतीय ब्राह्मणम्)

तान्तस्मृबोधयन्ति* । तेऽपु उपस्पृश्यामीद्भ मुप-
समायन्ति त ऽश्राज्यानि गृह्णते गृहीत्वाज्यान्ध्यायन्त्या-
साद्युज्यानि ॥ १ ॥

अथ राजान मुपावहरति । इयं वै प्रतिष्ठा जनूरासुं
प्रजाना मिमा मेवैतुप्रतिष्ठा मभ्युपावहरति तु मस्यै
तनुते तु मस्यै जनयति ॥ २ ॥

अन्तरेणेषु ऽउपावहरति । यज्ञो वा ऽअनस्तन्वेव
यज्ञान्नु वहिर्दुा करोति श्रावसु सम्मुखेऽधिनिदधाति
क्षवं वै सोमो व्विशो श्रावाण् क्षत्रु मेवैतुद्विश्युध्यहति

१— एतावदेवौपवसस्य मुपदिष्ट मत पर सौख्य कसोपदेश्यते ।

* 'न्ति'—इति ग, घ ।

तद्यत्सम्मुखा भवन्ति विश्वे मेवैतत्सम्मुखां क्षत्रिय
मभ्युविवादिनीं करोति तस्मात्सम्मुखा भवन्ति ॥ ३ ॥

सु उपावहरति । हृदे त्वा मुनसे त्वेति युजमानस्यै-
तत्कामायाह हृदयेन हि मुनसा युजमानस्तं कामं
कामयते यत्काम्या युजते तस्मादाह हृदे त्वा मुनसे
त्वेति ॥ ४ ॥

दिवे त्वा सूर्याय त्वेति । देवलोकाय त्वेत्येवैतदाह
यदाह दिवे त्वेति सूर्याय त्वेति देवेभ्यस्त्वेत्येवैतदाहोर्द्धुं
मिमं मध्वरुं दिवि देवेषु होत्रा यच्छेत्यध्वरो वै यज्ञ
ऊर्द्धुं मिमं यज्ञं दिवि देवेषु धेहूत्येवैतदाह ॥ ५ ॥

सोम राजन्विश्वस्त्वं प्रजा उपावरोहेति । तुदेन
मासां प्रजाना माधिपत्याय राज्यायोपावहरति ॥ ६ ॥

अथानुस्तज्योपतिष्ठते । विश्वस्त्वां प्रजा उपावरोह-
न्वित्ययथायथ मिव वा ऽएतत्करोति यदाह विश्वस्त्वं
प्रजा उपावरोहेति क्षत्रं वै सोमस्तृत्यापवस्यसृङ्गरोति
तुदेन मनु पापवस्यसृङ्गियतेऽथात्र यथायथं करोति यथा-
पूर्वं यदाह विश्वस्त्वां प्रजा उपावरोहन्विति तुदेन
माभिः प्रजाभिः प्रत्यवरोहयति तस्मादु क्षत्रिय मायुन्त
मिमाः प्रजा विश्वः प्रत्यवरोहन्ति तु मधुस्तादपासत
ऽपसन्नो होता प्रातरनुवाक् मनुवक्ष्यन् भवति ॥ ७ ॥

अथ समिध मभ्यादुधाह । देवेभ्यः प्रातर्यावभ्यो-
ऽनुब्रूहीति छन्दांसि वै देवाः प्रातर्यावाणश्छन्दां-
स्यनुयाजा देवेभ्यः प्रेष्य देवान्यजेति वा ऽअनुयाजै-
श्चरन्ति ॥ ८ ॥

तदु द्वैक आहुः । देवेभ्योऽनुब्रूहीति तदु तथा न
ब्रूयाच्छन्दांसि वै देवाः प्रातर्यावाणश्छन्दांस्यनुयाजा
देवेभ्यः प्रेष्य देवान्यजेति वा ऽअनुयाजैश्चरन्ति तस्मादु
ब्रूयाद्देवेभ्यः प्रातर्यावभ्योऽनुब्रूहीत्येव* ॥ ९ ॥

अथ युत्समिध मभ्यादुधाति । छन्दांस्येवैतत्समिधे-
ऽथ यद्भोता प्रातरनुवाक मन्वाह छन्दांस्येवैतत्पुनरा-
प्याययत्युयातयामानि करोति यातुयामानि वै देवै-
श्छन्दांसि छन्दोभिर्हि देवाः स्वर्गं लोकं समा-
श्रुवत न वा ऽअत्र स्तुवते नु शंसन्ति तच्छन्दांस्येवै-
तत्पुनराप्याययत्युयातयामानि करोति तैरुयातया-
मैर्यज्ञं तन्वते तस्माद्भोता प्रातरनुवाक मन्वाह ॥ १० ॥

तदाहुः । कुः प्रातरनुवाकस्य प्रतिगर इति जाग्रदु-
वाध्वर्युरुपासते स युन्निमिषुति सु ह्येवास्य प्रतिगरस्तदु
तथा न कुर्याद्यदि निद्रायादपि कामः स्वप्यात्स युव

होता प्रातरनुवाकं परिदुधाति तुम्भचरणौति सुग्भवति
तस्यां चतुर्गृहीत माज्यं गृहीत्वा जुहोति ॥ ११ ॥

युच वै यज्ञस्य शिरोऽच्छिद्यत । तस्य रुसो द्रुत्वापः
प्रविवेश त मद्ः पूर्वद्युर्वसतीवुरीभिराहरत्यथ योऽत्र
यज्ञस्य रुसः परिशिष्टस्तु मेवैतदुच्छैति ॥ १२ ॥

युञ्जैता माहुतिं जुहोति । एतु मेवैतद्यज्ञस्य रुस
मभिप्रुस्तृणीते त मारुन्धे याम्य उ चैवैतां देवताभ्य
आहुतिं जुहोति ता एवैतन्प्रीणाति ता अस्मै तृप्ताः
प्रीता एतं यज्ञस्य रुसः सुन्नमन्ति ॥ १३ ॥

सु जुहोति । शृणोत्वग्निः समिधा हुवं म ऽहुति
शृणोतु म ऽद्दु मग्निरनु मे जानात्वित्येवैतुदाह
शृण्वन्त्रापो धिपुणाश्च देवीरिति शृण्वन्तु म ऽद्द
मापोऽनु मे जानन्वित्येवैतुदाह श्रोता ग्रावाणो
विदुषो नु यज्ञ मिति शृण्वन्तु म ऽद्दं ग्रावाणोऽनु मे
जानन्वित्येवैतुदाह विदुषो नु यज्ञ मिति शृण्वन्तु
म ऽद्दं ग्रावाणोऽनु मे जानन्वित्येवैतुदाह च्चिदुषो
नु यज्ञ मिति विद्वांसो हि ग्रावाणः शृणोतु देवः
सविता हुवं मे स्वाहेति शृणोतु म ऽद्दं देवः सवि-
तानु मे जानात्वित्येवैतुदाह सविता वै देवानां प्रस-
विता तुत्सवितृप्रस्तुत एवैतद्यज्ञस्य रुस मुच्छैति ॥ १४ ॥

अथापरं चतुर्गृहीत माज्यं गृहीत्वा* । उदङ्
प्रयन्नाहापु इष्य होतरित्यपु इच्छ होतरित्येवैतदाह
तद्यदुतो होतान्वाहैतु मेवैतद्यज्ञस्य रुस मभिप्रुस्तृणीते
त मारुन्ध ऽएतानु† चैवैतदनुतिष्ठते नुदेनानन्तरा‡
नाम्ना रुक्षाऽसि द्विनुसन्निति ॥ १५ ॥

अथ सम्प्रेष्यति । मैत्रावरुणस्य चमसाध्वर्यवेहि नेष्टः
पुत्रीरुदानयैकधनिन एताग्नीचात्वाले व्वसतीवुरीभिः
प्रत्युपतिष्ठासै होतृचमसेन चेति सम्प्रेषु एवैषः§ ॥ १६ ॥

त ऽउदञ्चो निष्क्रामन्ति । जघुनेन चात्वाल मुप्रेणा-
ग्नीद्व॥ स युस्यां तुतो दिश्यापो भुवन्ति तुद्यन्ति ते वै सह
पुत्रीभिर्यन्ति तद्यत्सह पुत्रीभिर्यन्ति ॥ १७ ॥

युच वै यज्ञस्य शिरोऽच्छिद्यत । तस्य रुसो द्रुत्वापः
प्रविवेश तु मेते गन्धर्वाः सोमरक्षा जुगुपुः ॥ १८ ॥

ते ह देवा जचुः । इयु मु न्वेवेहु नाम्ना युदिमे
गन्धर्वाः कथुं न्विम मुभयेऽनाष्ट्रे यज्ञस्य रुस माह-
रेमेति ॥ १९ ॥

* 'त्वा'—इति ग, घ ।

† 'ऽएता उ'—इति ख, डा०—वेवङ्-वृष्टय ।

‡ 'नुदेना अन्तरा'—इति सायणसम्मत इति डा० वेवङ् ।

§ 'घ'—इति ग, घ ।

ते होचुः । योषित्कामा वै गन्धर्व्याः सुहैव* पुत्नीभि-
रयाम ते पुत्नीष्वेव गन्धर्व्या गङ्घिष्यन्त्युथैत मुभयेऽनाष्ट्रे
यज्ञस्य रुस माहरिष्याम इति ॥ २० ॥

ते सह पुत्नीभिरीयुः । ते पुत्नीष्वेव गन्धर्व्या जगधु-
रुथैत मुभयेऽनाष्ट्रे यज्ञस्य रुस माजङ्गुः ॥ २१ ॥

तुयो ऽयुवैषु एतत् । सुहैव पुत्नीभिरेति ते पुत्नीष्वेव
गन्धर्व्या गृह्यन्त्युथैत मुभयेऽनाष्ट्रे यज्ञस्य रुस माह-
रति† ॥ २२ ॥

सोऽपोऽभिजुहोति । एताः ह वा ऽआहुतिः हुता
भेषु यज्ञस्य रुस उपसमैति तां प्रत्युत्तिष्ठति तु मेवै-
तदाविष्कृत्य गृह्णाति ॥ २३ ॥

युष्ट्वैता माहुतिं जुहोति । एतु मेवैतद्यज्ञस्य रुस
मभिप्रस्तृणीते त मारुन्धे त मपो याचति याभ्य उ
चैवैतां देवताभ्य आहुतिं जुहोति ता युवैतन्प्रीणाति
ता अस्मै तृप्ताः प्रीता एतं यज्ञस्य रुसः सुन्नमन्ति ॥ २४ ॥

सु जुहोति । देवीरापो ऽअपान्नपादिति देव्यो ह्याप-
स्तस्मादाह देवीरापो ऽअपान्नपादिति यो व ऊर्मि-
र्हविष्य इति यो व ऊर्मिर्यज्ञिय इत्येवैतदाहेन्द्रिया-
वान्मदिन्तम इति व्वीर्यवानित्येवैतदाह यदाहेन्द्रिया-

वानिति मदिन्तम इति स्वादिष्ठ इत्येवैतुदाह तं
 देवेभ्यो देवचा दत्तेत्येतुदेना अयाचिष्ट यदाह तं
 देवेभ्यो देवचा दत्तेति शुक्रपेभ्य इति सत्यं वै शुक्रः
 सत्यपेभ्य इत्येवैतुदाह येषां भागं स्थ स्वाहेति तेषां सु
 ह्येषु भागं * ॥ २५ ॥

अथ मैत्रावरुणचमसेनैता माहुति मुपस्नावयति ।
 कार्पिरसीति युथा वा ऽश्रुङ्गारोऽग्निना प्सातः स्यादेव
 मेपाहुतिरेतया देवतया प्साता भवति राजानं वा
 ऽएताभिरद्भिरुपस्रक्ष्यन् भवति या एता मैत्रावरुणचमसे
 व्वृजो वा आज्यः रेतः सोमो नेदुज्जेणुज्जेन रेतः
 सोमः हिनुसानूति तुस्माद्वा ऽपस्नावयति ॥ २६ ॥

अथ गृह्णाति । समुद्रस्य त्वाक्षित्या ऽनुन्नयामीत्यापो
 वै समुद्रोऽप्स्वेवैतदुक्षितिं दधाति तुस्माद्वाप ऽएतावति
 भोगे भुज्यमाने न क्षीयन्ते तदन्वेकधनानुन्नयन्ति
 तदनु पान्नेजनान् ॥ २७ ॥

तद्यन्मैत्रावरुणचमसेन गृह्णाति । युत्र वै देवेभ्यो
 युजोऽपाक्तामत्तु मेतद्देवा ग्रैपैरेव ग्रैप मैच्छन् पुरो-
 रुग्भि प्रारोचयन्निविद्धिर्न्यवेदयंस्तुस्मान्मैत्रावरुणचमसेन
 गृह्णाति ॥ २८ ॥

त ऽश्रयन्ति । प्रत्युपतिष्ठतेऽग्रीष्वात्वाले व्वसती-
वुरीभिश्च होतृचमसेन च स उपर्युपरि चात्वालः
सुःस्पर्शयति व्वसतीवुरीश्च मैचावरुणचमसं च स
मुपो ऽअद्भिरग्मत स मोपधीभिरुपधीरिति युश्चासौ
पूर्वेद्युराहृतो यज्ञस्य रुसो युश्चाद्याहृतस्तु मेवैतदुभयः
सुःसृजति ॥ २६ ॥

तद्वैके* । ऐव मैचावरुणचमसे व्वसतीवुरीर्नयन्त्या
मैचावरुणचमसाद्वसतीवुरीषु युश्चासौ पूर्वेद्युराहृतो
यज्ञस्य रुसो युश्चाद्याहृतस्तु मेवैतदुभयः सुःसृजाम
इति व्वदन्तस्तदु तथा न कुर्याद्यद्वा ऽआधवनौये समव-
नुयति तद्वैप उभयो यज्ञस्य रुसः सुःसृज्यतेऽथ होतृ-
चमसे व्वसतीवुरीर्गृह्णाति निग्राभ्याभ्यस्तद्युदुपर्युपरि
चात्वालः सःस्पर्शयत्युती वै देवा दिव मुपोदक्रामं†-
स्तद्युजमान मेवैतत्सुग्यं पुन्यान मनुसृह्यापयति ॥ ३० ॥

त ऽश्रयन्ति । तः होता पृच्छत्युध्वर्योऽवेरपाइ
ऽइत्युविदोऽपाइ ऽइत्येवैतदाह तं प्रत्याहोतेव नन्नमुरित्यु-
विद मुयो मेऽनःसतेत्येवैतदाह ॥ ३१ ॥

स युद्यग्निष्टोमः स्यात्‡ । युदि प्रचरण्याः सःसवः

* 'के'—इति ग, घ ।

† 'मुपोदक्राम'—इति ग, घ ।

‡ 'स्यात्'—इति ग, घ ।

परिशिष्टोऽलः होमाय स्यात्तुं जुहुयाद्यद्य नालः
होमाय स्यादुपरं चतुर्गृहीत माज्यं गृहीत्वा जुहोति
यु मग्ने पृत्सु मुच्य मुवा व्वाजेषु यं जुनाः* । स युन्ता
शुश्वतीरिपः स्वाहेत्याग्नेय्या जुहोत्यग्निर्वा ऽअग्निष्टोम-
स्तदग्नावग्निष्टोमं प्रतिष्ठापयति मुत्तवत्या पुरुषसम्मिता
वा ऽअग्निष्टोम एव जुहुयाद्यद्यग्निष्टोमः स्यात् ॥ ३२ ॥

यद्युक्थ्यः स्यात् । मध्यमं परिधि मुपस्पृशेत्तयः
परिधयस्त्वौण्यव्यान्धेतैरु हि तुर्हि यज्ञः प्रतितिष्ठति
यद्यु ऽअतिरात्रौ वा षोडशौ वा स्यान्नैव जुहुयान् मध्यमं
परिधि मुपस्पृशेत्स मुद्यैव तूष्णीं मेत्य प्रपद्येत तद्यथा-
यथं यज्ञक्रतून् व्यावर्त्तयति ॥ ३३ ॥

अयुक्ता अयुक्ता एकधना भवन्ति । त्रयो वा पुञ्च वा
पुञ्च वा सप्त वा सप्त वा नव वा नव वैकादश वैकादश
वा त्रयोदश वा त्रयोदश वा पुञ्चदश वा द्वन्द्वं मुह
मिधुनं प्रजुननं मुथ यु एष एकोऽतिरिच्यते स युज-
मानस्य श्रिय मभ्यतिरिच्यते स वा ऽएषाः सधनं यो
युजमानस्य श्रिय मभ्यतिरिच्यते तद्यद्रेषाः सधनं तुस्मा-
देकधना नाम ॥ ३४ ॥ ४ ॥

॥ इति सप्तमप्रपाठके चतुर्थं ब्राह्मणम् [६. ३.] ॥

* 'जुना'—इति ग, घ ।

† 'सधन'—इति च डा० वेङ्कट दत्त ।

अथ सुत्यादिवसप्रातःकालौनं सवनौयपश्चर्यप्रयोग माह—
 “तानसम्प्रबोधयन्तौत्यादिना । ‘तान्’ ऋत्विजः रात्रेरपरभागे प्रबो-
 धयेयुरध्वर्यवः । “अपररात्रे ऋत्विजः प्रबोधयन्ति”-इति^१ सूत्रम् ।
 उदकोपस्पर्शनं विहितकर्मण उपलक्षणम् । “गृहीत्वाध्यान्याय-
 न्तीति । अत्र प्रयोग उक्तः सूत्रे— “अप उपस्पृश्य शालाद्वार्यं परि-
 स्तरणपात्रसंसादनप्रोक्षणाज्यनिर्वपणाधिअयणसुक्ष्मस्नानार्जमोदासना-
 वेषणानि कृत्वाग्नीहोत्रं उत्पूय पश्चाज्यपहणम्, आध्यान्यादाय सोमं
 चार्थवज्ञावनीय इक्षप्रोक्षणादि करोति, अग्नीषोमीयवत् स्तरणम्,
 आध्यासादनात् कृत्वेयान्तरेणार्द्धसोम मद्भिषु समुखेषु निदधाति
 ऋदे त्वेति”-इति^२ ॥ १ ॥

त निमं सोमोपावहरणं समन्वयकं विधत्ते— “अथ राजान
 मुपावहरतीति । अधिवरणसर्वापरिप्रदेश प्रति अधो नयेत् । अधः-
 पातनं प्रशंसति— “इयं वै प्रतिष्ठा जनूरिति । ‘आसाम्’ उत्पत्ति-
 मतीनां सर्वासां परिदृश्यमानानां ‘प्रजामाम्’ ‘इयं’ खलु भूमिः
 ‘प्रतिष्ठा’ । अस्य इदं ‘जनूः’ जम्भभूमिः । अस्यापि प्रजान्तःपाति-
 त्वात् ‘इमां’ ‘प्रतिष्ठाम्’ ‘अभि’ लक्ष्य ‘एव’ ‘उपावहरति’ उपा-
 वहरणं कृतवान् भवति । तथा सति ‘तं’ सोमम् ‘अश्वै’ अस्याः
 सकाशात् ‘तनुते’ विस्तारितवान् भवति, ‘अश्वै’ अस्याः सकाशात्
 उत्पादितवाद्य भवति ॥ २ ॥

उपावहरणमार्गं माह— “अन्तरेणेष इति । ‘इये’ आयतौ^३

१— का० श्रौ० सू० ६. १. १ । २— का० श्रौ० सू० ६. १. २-५ ।

३— ‘आयत्ये’-इति च, डा-वैतरवृत्त्य ।

शकटदण्डौ । यजमानाधनसोमाश्रयत्वात् 'अनस' शकटस्य यज्ञत्वम् ।
तयोरन्तरास्तादध सुम्नावरोहणेन 'यज्ञाद्' हविर्द्वानात् वाद्य न
कृतवान् भवति । यावन्मा मध्ये स्थापन विधाय प्रशंसति— "यावच्च
समुखेऽस्थिति । सोमस्य वेदेषु चत्विजजातित्व मसकृदुक्तम्, यावन्मा तु
यज्ञत्वात् श्रेयत्वेनोपसर्जनत्वाच्च विशो रूपत्वम् । मध्ये स्थापनेन यत्
सर्वथावमाश्रुष्यम्, तत् प्रशंसति— "तद्यत् समुखा भवन्तीति ।
'चत्विजम्' 'अभि'लक्ष्य 'अभिवादिनीम्' अभिवादनश्रीर्का
'करोति' ॥ ३ ॥

उपावहरणप्रकार मभिधायोपावहरणमन्त्र माह— "स उपा-
वहरति' इदे ता मनसे लेति' । हे सोम । त्वा 'इदे' हरति ।
दूरस्य विषयाभिमुख स्तोपहित मात्मान हरतीति वा । इदय
मन्त्र.करणम्, तद्विशेषरूप सङ्कल्पविकल्पात्मक मन, यजमानमन्त्र-
न्विनोक्तयोद्भवयोर्विषय. काम, तस्य ज्ञाभार्थम् 'उपावहरामि' ।
कर्मकारकस्य हिरास्मानाद् उपावहरामीति हिरभ्याय, अतो
वाक्यद्वयम्, न व्याख्यानव्याख्येयभाव (४) ।

तथा 'दिवे' देवलोकाय त्वाम् । 'सूर्याय त्वा' एतद्भूमिभूतानां
देवाना मुपलक्षणम् । सर्वत्रोपावहरामीति योष्यम् । किञ्च हे
सोम । 'ऊर्द्धम्' उपरि, तावमानत्वेनोक्तम्, 'इम' सोमयागं
'दिवि' घुनोके 'देवेषु' 'यच्छ', 'होषा.' होषकाय देवेषु यच्छ-
न्वित्यर्थः (५) ।

तदर्थं हे 'सोम राजन् ।' 'त्वं' 'विश्वा प्रजाः' 'उप'लक्ष्य 'अव-
रोह' इति^१ (६) ।

उपावरोहमन्त्रं विभज्य व्याचष्टे— "एदे त्वा मनसे त्वेति यज-
मानस्यैतत्कामायेत्यादिना । सूर्याय त्वेत्यत्र सूर्यशब्दः सर्वदेवतोप-
लक्षक इति व्याचष्टे— "देवेभ्यस्त्वेत्येतदाहेति । "रश्मयो ह्यस्य
विश्वे देवाः"—इति^२ प्रागुक्तत्वादित्यभिप्रायः । "ऊर्द्धं मिम मित्या-
देर्मांश्चण स्पष्टम् ॥ ४, ५, ६ ॥

उपावहतस्य सोमस्य समन्त्रक उपस्थान माह— "अथानु-
सृज्योपतिष्ठत इति^३ । 'अनुसृज्य' येषितं वस्त्रं विसृज्येत्यर्थः ।
"विश्वास्त्वा मिति"^४ । मन्त्रार्थः स्पष्टः । "अथयाथय मिव वा
इत्यादि । उपावहरतो यो विश्वास्त्वा मिति मन्त्रशेषः, तत्र विश्वाः
प्रजा उद्दिश्य तुच्छजनवत् प्रतिचारकपुरुषनिष्पादितावरोहण मन्त्र-
रेण स्तुत एवावरोहणस्य प्रजाः प्रति सोमस्यापसर्जनलक्षणस्य च
प्रतीतिः । तस्यास्य चक्षियभूतस्य सोमस्यानुचितत्वात् विश्वास्त्वा
मित्यभिधानेन 'अथयाथयम्' यथास्वरूपस्य यत् उचितं तस्य
तद् वैपरीत्य स्तुतं भवति । 'तत्' च 'पापवस्यसं' पाप च वमीयस्य
पापवस्यसम्, साध्वसाधुमिश्रणम् । तन्मूलत्वेनेदानीं अपि जने
'पापवस्यसं क्रियते' । अत उक्तवैलक्ष्येनोपस्थानमन्त्रे विश्वास्त्वा

१— वा० सं० ६ २६. १ । एष मन्त्रोऽपि, पूर्वमन्त्रशेषत्वेन विवक्षितः ।

२— ५३३ ए० १० य० द्रष्टव्य मित्रैव पुरस्तात् ।

३— "विश्वास्त्वा मिति विसृज्योपतिष्ठते"—इति का० थौ० सू० ८. ६ ।

४— वा० सं० ६ २६. २ ।

मित्यभिधानाद् विश्वाभिः 'प्रजाभिः' सोमोपावरोहणस्य कृतत्वात्,
 अवतरन्त प्रति विश्वासां प्रजानां स्वस्वस्थानादवतरणस्योक्तत्वाद् वा
 नोक्तदोषावकाशः । 'अवरोहन्तु' अवरोहयन्वित्यर्थः । 'तस्मात्' त्वा
 मवरोहन्त्विति विधानात् होता राजानं 'प्रति' प्रजानां सुप-
 क्षीणत्वसम्पादनात् इदानीं मपि सम्पादयन्त मवरोहन्तं 'क्षत्रियं'
 सर्वाः 'प्रजाः' परिवाररूपाः 'अवरोहन्ति' । यदा 'आयन्त' 'प्रति'
 सर्वाः 'प्रजाः' स्वस्वस्थानाद् 'अवरोहन्ति', तदनन्तरं राजानं सुपरि-
 कृत्वा 'अधस्तात् उपासते' प्रजा । यदेदं पृथगेव वाक्यम्,— 'तम्'
 एव तीर्णम् 'अधस्तात् उपासते' कृत्विजोऽध्वर्युप्रमुखाः ॥

प्रातरनुवाकप्रयोग माह— "उपमसो होतेत्यादि । 'होता'
 'उपमसः' स्वसूक्तोक्तप्रकारेण प्रातरनुवाकस्थाने उपविष्टः । होतृयुप-
 सजे सति स एव प्रातरनुवाकसम्यैपकाश इत्यर्थः ॥ ७ ॥

"अथ समिध मग्नादधदिति" । "देवेभ्योऽनुमूहि"—इत्येवाकम्,
 किं "प्रातर्पावभ्यः"—इतिविशेषणेनेत्याशङ्क्य तदुपयोगं दर्शयति—
 "हन्दांसि वै देवा इत्यादिना । प्रातःकाले यान्ति यज्ञं गच्छन्तीति
 'प्रातर्पावाणः' । ते चानुयाजदेवाद्योभयेऽपि 'हन्दांसि' एव, गाय-
 त्रादिच्छन्दोरूपाः । एव सति अनुयाजच्छन्दोदेवानां प्रैपानुवचन-
 समये "देवेभ्यः प्रैष्य देवान् यज"—इति सर्वत्र देवगण्येन व्यव-
 हाराद्वापि तथैव प्रैषे सति, अत्रापि "हन्तोदेवान् यज"—इति

१— "प्राग् वाचं प्रवदितो प्रातरनुवाकोपाकरणं देवेभ्यः प्रातर्पावभ्योऽनु-
 महीति समिध मादधत्"—इति का० श्रौ० सू० ८. १. १० ।

प्रेषात् अनुयाजदेवताह्वन्दांस्यपि आगमिष्यन्तीति तद्भावर्त्तनाय
“देवेभ्यः प्रातर्यावभ्यः”—इति विशेषणेन भवितव्य मित्यर्थः ॥ ८ ॥

“तदु हैक आऊरिति । अथ देवेभ्य इत्येवालं किं प्रातर्यावभ्य
इति विशेषणेनेति ‘एके’ आखिनो ब्रुवते । ‘तदु’ ‘तथा’ उक्तप्रका-
रेण ‘न ब्रूयात्’ । तेषां मतातिक्रमे उपपत्तिस्तु अनुयाजव्यावृत्ति-
सिद्धिरेवेत्याह— “ह्वन्दांसि वै देवा इत्यादि । अथ सूचम्—
“देवेभ्यः प्रातर्यावभ्योऽनुब्रूहीति समिध मादधाति, देवेभ्य
इत्येके”—इति^१ ॥ ९ ॥

प्रातरनुवाकोपक्रमाङ्गभूतं समिदाधानं ह्वन्दोदेवतासमित्वन-
रूपत्वेन प्रशंसति— “अथ यत् समिध मभ्यादधातीति^१ । होतृकर्त्तव्यं
प्रातरनुवाकानुवचनं ह्वन्दमां पुनराप्यायनरूपत्वेन प्रशंसति— “अथ
यद्भूता प्रातरनुवाक मन्वाहेति । तेनाप्यायनेन ‘ह्वन्दांसि’ एव
‘अथातयामासि’ अगतसाराणि ‘करोति’ । उक्तस्याप्यायनस्य सार्थक-
त्वाय गतमारत्वप्रसक्तिं दर्शयति— “यातयामासि वा इति । देवैः
कृतानीति श्रेयः । “ह्वन्दोभिर्हि देवाः स्वर्गं लोक मिति । स्वर्गार्थं
सुपयुक्तत्वात् तेषां यातयामित्वप्राप्तिः । तदेव यातयामित्वं प्रातरनु-
वाकस्य स्तुतश्रद्धत्वाभिधानेन समर्थयते— “न वा अवेति । सौति
शंसति वोभयोरभावात् अनुवचनाभिधानाच्च निगद्यति— “तस्मा-
द्भूता प्रातरनुवाक मिति^२ ॥ १० ॥

१— का० श्रौ० सू० ६. १. ११ । २— का० श्रौ० सू० ६. १. १० ख ।

३— “सुप्रप्राप्याय प्रेष्यति”—इति चेद का० श्रौ० सू० ६. १. १२ ।

प्रातरनुवाकस्य प्रतिगर-विषये केषांश्चिन्नतं प्राप्तिपूर्वकं सुदा-
द्य निराचष्टे— “तदाहुः कं प्रातरनुवाकस्येति । केचन महर्षयः
एवं ब्रुवते,— होतुः प्रातरनुवाककाले अध्वर्युः विनिद्रः सनिमेषं
करोति । सनिमेषव्यापार एव (प्रतिगरणक्रियमानत्वात्^१) प्रति-
गरस्यानीय इति । ‘तदु तथा न कुर्यात्’ निद्राभङ्गं निमेषं च न
कुर्यादित्यर्थः । तर्हि किं कुर्यात् ? ‘यदि निद्रा आयात्’ निद्रा
मात्मन इच्छेत्, ‘अपि कामं’ ‘स्वप्यात्’ स्वापं कुर्यात् । अथ सूचम्—
“प्रातरनुवाकं जायदुपासीताध्वर्युः, स्वप्यादा”-इति^२ ॥

अथ मध्ये “अग्नीदैन्द्र मेकादशकपाल मित्यादि^३-सूत्रोक्तः
सवनौयनिर्वापः, यज्ञचमसपात्राणां मासादनप्रयोगश्च द्रष्टव्यः” ॥

एकधनाख्यानां सुदकानां मानयनार्थं यः प्रचरणा होमोऽस्ति,
तं विधाय प्रशंसति— “य यच्च होतेति । ‘यच’ यस्मिन् ममये
‘य होता’ ‘प्रातरनुवाकं’ ‘परिदधाति’, परिधानीयाम् “अभ-
दुपा”-इत्येतां^४ ब्रूयात्, ‘तत्’ तदा ‘प्रचरणी’ । प्रचरमयनया
जुह्वपभृतोर्वापारदश्याया मिति ‘प्रचरणी’ । सा ‘न्दुग् भवति’ ।
‘तस्यां’ चतुर्गृहीत माश्वं गृहीत्वा ‘जुहोति’ जुहुयात्^५ ।
प्रातरनुवाकपरिधान-प्रचरणीहोमयोरभिन्नकर्तृकत्वात् कार्त्तव्य-
सम्प्रयोगः ॥ ११ ॥

१— नाम्नेतत् पदं छ-पुनक्ति । २— का० श्रौ० सू० ८. १. १३, १४ ।

३— का० श्रौ० सू० ८. १. १५ (•सं निर्वपति) ।

४— का० श्रौ० सू० ८. १. १६-२. २१ । ५— ऋ० सं० ५. ७५. ८ ।

६— ‘तथा’-इति छ ।

७— का० श्रौ० सू० ८. ४. १ क ।

होम प्रशंसति— “यच्च वै यज्ञस्येति” । ‘द्रुत्वा’ गत्वा ‘रसः’ यज्ञरसः सः ‘अपः’ ‘प्रविवेश’ । यः प्रविष्टो यज्ञरसः ‘पूर्वेद्युः’ वसन्ती-
वयम्बूपेणावशिष्टोऽस्ति, ‘त मेव’ रसम् ‘अच्छ’ अभिमुखीकृत्याभि-
गच्छति । पशुहोमाभावे यज्ञरसहरणार्थगमनासम्भवात् प्रचरणा-
ज्याहुतिहोम एव यज्ञरसाभिमुखगमन मित्यभिप्रायः ॥ १९ ॥

आहुतिप्रक्षरणात्मनापि प्रशंसति— “यद्वेवेता माहुति जुहो-
तीति । ‘यद्वा एव’ यदैव । ‘एतत्’ एतेन होमेन ‘एत मेव’ अव-
शिष्ट मेव ‘यज्ञस्य रसम् अभिप्रसृणीते’ रसस्य स्तरणं कृतवान्
भवति । तेन च ‘त माहन्ते’ स्वाधीनं कृतवान् भवति । न केवला
मेतदेव, अपि च ‘याम्यो देवताभ्य’ अग्न्यादिभ्यः ‘एता माहुतिं
जुहोति’, ‘ता एव’ ‘एतत्’ एतेन होमेन ‘प्रीणाति’ । ‘सप्तमग्नि’
प्रापयन्ति ॥ १९ ॥

होममन्त्रं विच्छिद्यानूद्य व्याचष्टे— “स जुहोति” शृणोत्यग्नि-
रित्यादिना” । ‘अग्निः’, ‘आपः’, ‘धिपणाः’ वाचः, ‘देवीः’ दैव्यः,
‘विदुषो न पावाणः’, ‘सविता’ च, मे ‘द्वयम्’ आह्वानं ‘यज्ञं मिमं
शृण्वन्तु’— इति सङ्गहायः । अत्र सर्वत्र “शृण्वन्तु” “शृण्वन्तु”-इति,
“अनुजानातु” “अनुजानन्तु”-इति चार्थपरतया व्याख्यातम् । ‘श्रोता
पावाणः’-इत्यत्र “शृण्वन्तु”-इति दीर्घः । ‘विदुषः’-इत्येतद्
शब्दविशेषणतया व्याचष्टे— “विद्वानो हि पावाण इति । मयसा-

१— इतं मिदं माग्याम मिदं प्ररुतात् (४३९ ए० १० पं०) ।

२— का० ओ० य० ८ १ १ त ।

३— वा० म० ६. २६. १ ।

४— पा० य० ६. १ ११५ ।

वज्रवचने ह्यन्दिम द्वितीयावज्रवचनम् । चरमपादे सवितृशब्दप्रयोगस्य तात्पर्यं माह— “सविता वै देवानां प्रसवितेति ॥ १४ ॥

“अथापर चतुर्गृहीत मिति^१ । पूर्वं मेकवारग्रहणस्योक्तत्वादपरमित्युक्तम् । चत्वारि गृहीतानि ग्रहणानि यस्यान्यस्य तच्चतुर्गृहीतम् । अप्सु होमार्थं गृहीत्वा उदङ्मुखं गच्छन् व्रजमानं प्रैषान् ब्रूयात् ॥

तत्र प्रथमप्रैषं सुक्ता व्याचष्टे— ‘अप इय्य होतरिति’-इत्यादि^२ । हे ‘ह त ।’ ‘अप’ प्रति ‘इय्य इच्छ, अप प्रति-गमनोचितं प्रदेवचेति^३ अपोनग्रीय^४’ मनुब्रूहीत्यर्थः । इय्यतेरिच्छति रर्थ इति व्याचष्टे— “अप इच्छ होतरित्येवैतदाहेति । पदव्याख्याय तात्पर्यं माचष्टे— ‘तद्यदतो होतात्वाहेति । गतोऽर्थः । “एता उ चैवैतदाहेति । ‘उ’-शब्दोऽप्यर्थः । अपि च ‘एता’ एकधनाख्या अप उद्दिश्य ‘एतत्’ अनुनिष्ठते । एतदित्युक्तम्, किं तदित्याह— ‘नेदेना इति । ‘एना’ अप । ‘नाद्वा’ नाग्रकानि ‘रचाधि’ ‘हिनमन्’ हिंस्यु । नेदिति परिभवे । “नेत्येष इदित्येतेन सम्ययुच्यते परिभवे”-इति नैरुक्तम्^५ । अतस्मात्सां हिषा माभूदित्यर्थः ॥ १५ ॥

१— का० श्रौ० सू० ८ ३ २ क ।

२— का० श्रौ० सू० ८ ४ २ ख । होतार प्रत्यध्वयुगाह ।

३— ‘प्रदेवना’-इत्याद्यपोनमदवताक सूक्तं मयोनस्योपम् (ऋ० स० १० ३०) । ऐ० ब्रा० २ ३ १ इत्युच्यते ।

४— ‘आपोनस्योपम्’-इति वृ पुक्तके ।

५— निरु० १ अ० ३ पा० ६ ख० ।

अन्यान् प्रेषान् दर्शयति— “अथ सम्येयतीति । “मैत्रावरुणस्य चमसाध्वर्यवेहीति^१ । दग्धं चमसाध्वर्यवः चमसप्रोक्तारः, तेषु यो मैत्रावरुणस्य चमसाध्वर्युः, स सम्योध्यते । ‘एहि’ उदकानयनार्थं मागच्छेति ॥

“नेष्टः पत्नीरुदानयेति^२ । हे ‘नेष्टः ।’ त्वं ‘पत्नी.’ पान्नेजनोद-
भाराहरणार्थम् ‘उदानय’ ॥

“एकधनिन एतेति^३ । एकधना उदकानि, तेषां धारका^४
कुम्भा वा ; प्रत्येकधनानयुग्मानित्यासादनाभिधानात्, तेषां पक्षो-
तारः ‘एकधनिनः’ ‘एत’ आगच्छत ॥

“अग्नीक्षात्मा इति^५ । हे ‘अग्नीत् ।’ त्वं पूर्वद्युर्दहोताभिः दम-
तीवरीभिः, ‘होष्टचमसेन’ ‘च’ युक्तः सन्, चात्माक्षदेगे यावदागमनं
‘प्रति’ ‘उपतिष्ठसि’ उपतिष्ठेति निर्दिष्टः ॥

एतेन मन्त्राद्येद् व्याख्यातव्याः विधयश्चेत् स्रोतव्या इत्याशङ्का—
“सम्येय एवैव इति । ‘एयः’ “मैत्रावरुणस्य चमसाध्वर्यो”-इत्यादिकं
कर्त्तव्यः ‘सम्येय एव’ विस्मृतिपरिहारार्थं प्रेषणं मित्यर्थः ॥ १६ ॥

तेषां जलानयनार्थं निर्गमनमार्गं माह— “त उदस्यो निष्क्राम-
न्तीति । अग्नीद्विधात्मानघोरन्तराक्षदेगेन उदग्देगेन । तच्च मौप-
स्यभ्यन्ते कथं मित्यत आह— “स यस्यां ततो दिग्मीति । निर्गमने

१— का० श्रौ० सू० ८. २. २ । इति चमसाध्वर्युम् ।

२— का० श्रौ० सू० ८. ७. ७ । इति नेष्टारम् ।

३— का० श्रौ० सू० ८. ७. ५ । ‘एकधनिनः’ अत्रिजि सः ।

४— का० श्रौ० सू० ८. ७. ४ ।

एव उदङ्नियमः । गमनसमये पत्नीसाहित्य विधाय तदाख्यान
मुखेन प्रशंसति— “सह पत्नीभिर्यन्तीति” ॥ १७ ॥

“यत्र वै यज्ञस्येत्यादि । पुरा किल देवैर्यज्ञाग्निरश्केदादुद्धत
रस पलाय्य अणु निविष्टम्, त रस गन्धर्वा. सोमपालका
ररक्षु— ॥ १८ ॥

“ते ह देवा इति । ‘ते देवा ऊचुः’— ‘इमे गन्धर्वा’ एव
‘नाष्टा’ भाग्यकरूपा, ‘कथम्’ ‘अनाष्टे’ नाशरहिते देशे ‘रस’
यज्ञरसम् ‘आहरेम’ ‘इति’— ॥ १९ ॥

एवं विचार्य— “ते होचुर्योपित्कामा इति । गन्धर्वा योषि-
प्रिया, तदय पत्नीभि सहिता एव गच्छाम”, ते च गन्धर्वा
पत्नीषु काङ्क्षन्ति, तस्मिन् समये वय मभयेऽनाष्टे यज्ञरस माहरि-
य्याम इति ॥ २० ॥

“ते सह पत्नीभिरौयुरिति । ताभि. सह गता, ते च
तथैव तास्वाकाङ्क्षां कृतवन्त । तस्मिन् समये देवा यज्ञरसम्
‘आजहु’ ॥ २१ ॥

“तथो एवैष एतदिति । यथा पुरा, इदानी मपि तथैव ।
तदेतेन पत्नीभि सह गमनेन एते गन्धर्वा. पत्नीषु काङ्क्षा कुर्वन्तो
भवन्ति, तथा अवाधितस्थले रस माङ्कितवान् भवति ॥ २२ ॥

प्रचरणीयहोतस्याज्यस्याणु होम विधाय प्रशंसति— “सोऽपो-
ऽभिजुहोतीति” । ‘ऊता माङ्कतिम्’ अनुसृत्य ‘एष’ अनुप्रविष्ट

१— “सहगमनमात्र मत्र विधीयते”—इति या० दे० वा० सू० ८. १ ७ ।

२— का० थौ० सू० ८. १. ० ।

‘यज्ञस्य रसः’ ‘उपसमेति’ अभिमुखं सम्प्राप्नोति । एतस्यैव व्याख्या-
नम्— “तां प्रत्युत्तिष्ठतीति । ‘त मेव’ रसम् ‘एतत्’ एतेन होमेन
‘आविष्कृत्य’ उदकेष्वनुप्रविष्टं प्रादुर्भाव्य गृहीतवान् भवति ॥ ९२ ॥

प्रकारान्तरेणापि प्रशंसति— “यद्वेवेता मा ऊति जुहोतीति ।
न केवलं रसार्थं प्रस्तरणं किन्तु त प्रवर्द्धन्त रस मावर्द्धवान् भवति ।
किञ्च ‘तम्’ अपेक्षितं यज्ञरसम् ‘अप.’ उदकानि ‘याचति’, ‘उ’
अपि च ‘याभ्यः देवताभ्यः एताम् आ ऊति जुहोति’, ‘ता एव’
‘एतत्’ एतेन ‘प्रीणाति’ । ‘दत्ताः’ ‘प्रीताः’ च ‘ताः’ ‘अस्मै’ यज्ञ-
मागाय ‘एतं यज्ञस्य रसं’ ‘सन्नमन्ति’ सन्नमयन्ति, यज्ञमानाधीनं
सुर्वन्ति ॥ ९४ ॥

मन्त्रं विधाय विच्छिद्य व्याचष्टे— “स जुहोतीति । “देवीराप
इति’ । हविय इति पदं व्याचष्टे— “यो व ऊर्म्मिर्हविय इति,
यो व ऊर्म्मिर्यज्ञिय इत्येवैतदाहेति । हविशब्देन तत्ताद्यो यज्ञो
लभ्यते, द्रव्यदेवतयोर्हि यज्ञस्वरूपत्वात् । इन्द्रियशब्दस्य वीर्यं मर्यं
इति व्याचष्टे— “इन्द्रियावान् मदिन्तम इति, वीर्यवानित्येवैतदा-
हेति । स्पष्टं मेतत् । तत्रैव वाक्ये मदिन्तमशब्दस्यार्थं माह—
“मदिन्तम इति, स्वादिष्ठ इत्येवैतदाहेति । यत् स्वदन्त मुन्नादय-
तोति । “तं देवेभ्य”-इतिभागस्य प्रार्थनायां तात्पर्यं मिति
व्याचष्टे— ‘एतत्’ एतेन ‘अयाचिष्ट’, ‘यदाह न देवेभ्यो देवचा
दत्तेति’ । “सोऽहं च”-इति’ सोऽहं विद्याद्यर्थेषु मध्ये प्रार्थनाया

सम्भवात् 'एतत्' एतेन मन्त्रभागेन 'एना.' अपः 'अयाचिष्ट' देव-
 तार्थं याचितवान् भवति । "देवेभ्य" -इत्यस्य यत् "शुक्रपेभ्यः"-इति
 विशेषणम्, तस्य तात्पर्यं माह— "सत्यं वै शुक्रम, सत्यपेभ्य इत्येवै-
 तदाहेति । शुक्रं दौघम्, रसाख्यं वस्तु, तत् सत्यम् । सोमद्वारेण
 सत्यस्यामृतत्वधर्मस्य साधनत्वात् सत्यं मित्युच्यते । तादृशस्य पाद्वभ्य
 इत्येतदेवैतत् शुक्रपेभ्य इति वाक्यं माहेत्यर्थः । "येषां भागं स्य
 स्वाहा"-इति चरमभागस्य तात्पर्यं माह— "तेषां सु द्वेष भाग
 इति । 'एष' अपां शुक्ररसरूपो भागः, 'तेषां सु' तेषां शुक्रपानां
 देवानां 'भागः' प्रतिनियताश्च खलु, अतो येषां मिति मन्त्रे
 निर्दिष्ट इत्यभिप्रायः ॥

मन्त्रस्यायं मर्थः ।— हे 'देवीः' देव्यः । 'आप ।' हे 'अपा-
 सपात्' न पातयति तत्, 'य' अयं 'व.' युष्माकं सम्बन्धी 'जग्मि.'
 प्रवृद्धः 'हवियः' रसः, 'इन्द्रियावान्' "मन्त्रे सोमाग्नेन्द्रियेत्यादिनां
 दीर्घः, इन्द्रियवान्, 'मदिन्तम.' मादयिद्वन्तमः, 'त' रसं 'देवचा'
 "देवमनुष्येत्यादिनां" सप्तम्यर्थं चा-प्रत्ययः । देवेषु मध्ये 'शुक्रपेभ्यो
 देवेभ्य' 'दत्त' प्रयच्छत । हे आपो यूयं 'येषां' देवानां 'भाग' 'स्य'
 भवय, तदर्थं 'स्वाहा' इदं द्रव्यं स्वाङ्गतं मस्त्विति ॥ १५ ॥

ऊताया आऊत्या अपसारणं समन्तकं विधत्ते— "अथ मैदा-
 वरणचमसेनेति" । तत्र मन्त्र— "कार्पिरमीति" । हे ऊताज्य-

१— निर० प. २, १०. २ ५, अ० म० १. १६५ सा० भा० दृष्टव्यम् ।

२— पा० सू० ६ ३ १४१ ।

३— पा० सू० ५. ४. ५६ ।

४— का० श्रौ० सू० ८. १. ८ ।

५— वा० म० ६ २८. १ ।

पदार्थ ! त्वं 'कार्षिः' ह्येर्देवतायाः, कर्षणस्य भक्षणस्य वा सम्बन्धी
 'अग्नि' । अतस्त्वां 'समुद्रस्य' समुन्दनरूपस्योदकस्य 'अचित्यै'
 अचोणताये 'त्वा' त्वाम् 'अपनयामि' अपसारयामि^१ । उक्तस्याप-
 सारणस्य प्रयोजकं स्नातत्वं माह— "यथा वा अङ्गारोऽग्निना स्नातः
 स्यादिति । 'स्नातः' भक्षितः ; 'अग्निना' भक्षितः 'अङ्गारः' 'यथा'
 करोयभावेन त्याज्यो भवति, 'एवम्' 'एषा आहुतिः' 'एतया'
 अश्वेवतया 'स्नाता भवति' । सोमहिंसापरिहारत्वेनापि परित्यक्तव्य
 मित्याह— "राजानं वा एताभिरिति । 'मैत्रावरुणचमसे' 'याः'
 'एताः' इदानीं गृह्यमाणा आपः सन्ति, 'एताभिः' अग्निः
 'उपसृज्यन्' अभिषेककाले सोमस्य संवर्गे करिष्यन् 'भवति' ;
 अत एव "आधवनीये समवन्तयति"—इति वक्ष्यते^२, आधवनीये
 संसृष्टस्योदकस्य सोमरसेन संसृज्यमानत्वात् । "वज्रो वा आण्यम्"—
 इत्यादि, प्रागमकद्वयं व्याख्यातम्^३, "एतं ससु वै देवा वज्रं
 कृतेत्यादिप्रदर्शनेन" ॥ १६ ॥

समन्त्रकं मैत्रावरुणचमसेनोन्नयनं विधत्ते— "अथ गृह्णाति

१— 'उपनयामि' इत्येव मूलपाठः । 'गृह्णामि'—इति च तदर्थः । ह्यो मदी-
 धरेण, सूत्रे विनियोगस्य तस्याविधेयत्वं, अनुपदं वक्ष्यति चेदोक्तस्य
 कण्डिकायां तथैव । नास्ति चैतन्मन्त्रस्येह व्याख्याने कश्चिदुपयोगः ।
 कार्षिःसोमस्येव दोषो मन्त्र इह विनियुक्तः ।

२— इत्येव भिक्षां कण्डिकायां दृष्टव्यम् (५५१ ए० १० पं०) ।

३— १३०० ३५० ३३० ३२० (१ भा० १६० ए० ० पं०) ।

४— त० सं० ६० ए० ० १६ ।

समुद्रस्य त्वेति^१ । यद्यप्यत्र मैत्रावरुणचमसेनेति न श्रुतम्, तथापि “समुद्रस्य त्वेति तेन गृह्णाति^२”-इतिसूचाद् गम्यते । अपां सङ्गात्मकत्वात् समुद्रस्य “आपो वै समुद्रः”-इत्येकदेशस्य हत्त्वात्मना सृतिः । ‘एतत्’ एतेन “समुद्रस्य त्वाचित्यै”-इतिपाठेन ‘अप्सु एव’ ‘अचितिम्’ अचय मचीणत्वं ‘दधाति’ स्थापितवान् भवति । ‘तस्मात्’ “अचित्यै”-इत्युक्तत्वात् ‘एतावति भोगे भुज्यमाने’ स्यावरजङ्गमात्मकजगत्पर्याप्तोऽपि भोगे सर्वैर्भुज्यमानेऽपि ‘न चीयन्ते’ क्षयं न प्राप्नुवन्ति, अजस्रं प्रवहन्त्येव । “तदन्वित्यादि । होद्वचमसोऽन्य-
नानन्तर मेकधनानां सुस्रयनम्^३, ततः पात्रेजनानां पथ्या इति^४ ॥ ९० ॥

संस्मितरेषां चमसेषु किं मैत्रावरुणचमसेनेत्यत आह— “तद्य-
मैत्रावरुणचमसेनेति । यस्माद् देवेभ्योऽपक्रान्तं यज्ञम्, एतेन मैत्रावरुणाख्येनर्त्विजा ‘प्रैषैः’ तत्प्रतिगमनमाधनैः आशानवाक्यैः ‘प्रैषं’ यज्ञस्य गमनम् ‘ऐच्छन्’ ; ‘निविद्भिः’ निवेदनमाधनैः “अग्निर्देवेभ्यः”-इत्यादिभिः^५ वाक्यैः ‘न्यवेदयन्’ परस्पर निवेदित-
वन्तः ; ‘पुरोहग्भिः’ ‘पुरः’ याज्यानुवाक्याभ्यां पुरस्तात् ‘हविम्’ इच्छां जनयन्ति देवताया इति पुरोहसो “वायुरघेगाः”-

१— वा० सं० ६. ३८. २ ।

२— का० श्री० सू० ८. ३. ८ । ‘तेन मैत्रावरुणचमसेन’-इति तत्र इति ।

३— वा० श्री० सू० ८. ३. १० ।

४— “पात्रेज्जाय पथ्यो हो-हो”-इति का० श्री० सू० ८. ३. ११ ।

५— निशिद १-१२ पदाणि, दे० ब्रा० ३. ५. २ प्रपद्य विहितानि ।

इत्याद्याः^१, ताभिः 'प्रारोचयन्' प्ररोचना मजनयन् । अतो
मैत्रावरुणस्य प्रैषादिमाधनत्वात् तदीयश्चमसः प्रशस्त इत्यर्थः ।
“तस्मात् मैत्रावरुणचमसेन गृह्णातीति ॥ १८ ॥

असम्भरणानन्तरं मनुष्येयं विधत्ते— “त आयन्तीति । पुन-
र्देवयजनं प्रति आगच्छेयुः । ‘अग्नीत्’ च निर्गमनकाले सम्प्रेषित-
प्रकारेण ‘चात्वास्ते’ ‘वसतीवरौभिः’ अग्निः ‘होत्रचमसेन च’ युक्तः
सन् प्रत्युपस्थानं कुर्यात् । यदुक्तं सूचकता— “प्रत्येत्य चात्वास्ते-
परि मैत्रावरुणचमसं वसतीवरौय ससर्गयति समाप इति, इत-
रस्मिन् ध्यानयन्त्येके, मैत्रावरुणचमसे प्रथमं मिति^२, तदिदं मन्त्रं
विधत्ते— “स उपर्युपरि चात्वास्ते ससर्गयति, वसतीवरौय मैत्रा-
वरुणचमसश्चेति । स्पष्टम् ॥

तत्र मन्त्रं माह— “स मापो अग्निरिति^३ । ‘आप.’ मैत्रावरुण-
चमसगताः, ‘अग्निः’ होत्रचमसस्याभिर्वसतीवरौभिः ‘समगमत्’
सङ्गता अभवन् । तथा ‘ओषधीः’ ओषधयः, वर्द्धनीयाः ब्राह्म्यादि-
रूपाः, ‘ओषधीभिः’ व्रीक्षादिरूपाभिः ‘समगमत्’ । यद्वा, उभयत्र

१— पुरोदस्य १—७ अक्ष, वा० सं० १०. ३१-३०, ऐ० मा० १. १. ८
नामोक्तेरुपमात्रेण विहिता ।

२— वा० श्रौ० सू० ८. १. १२, १३, १४ ।

३— वा० सं० ६. २८. ३ ।

४— “‘ओषधी’ ओषधयो मुद्रमष्टादिका, ‘ओषधीभिः’ ओषधिव-
र्द्धिभिः ‘समगमत्’ सङ्गमनाम्, अपां कारकभूतत्वात् ओषधीनां मपि
योगोऽयम्”—इति मन्त्रोपधत् ।

ओषधिगन्धेन प्रकृता मैत्रावरुणहोत्रचममगता आपो विवक्ष्यन्ते ।

“यद्यामौ पूर्वधुरित्यादि, स्पष्टम् ॥ २८ ॥

अत्र केपासित् माचात् उदकस्मर्जनपत्र मुदाद्यत्य तदभि-
प्राय मथाविष्कृत्य तन्मन्यथामिदित्वप्रदर्शनेन निराचष्टे— “तद्वैक
इति । ‘एव’ नयन्ति’-इति सम्बन्ध, आनयन्त्येवेत्यर्थ । ‘आ मैत्रा
वरुणचममाद् वसतीवरौपु’ उपसर्गवगात् नयन्तीत्यनुपज्यते । एव
कुर्वता पूर्वधुराहतस्य यज्ञरसस्य, अद्याहतस्य च समर्ग एवो-
ऽपेक्षित, स उपरिष्ठात् आधवनौये समवनयनाद् भविष्यति, अत
‘तत् तथा न क्षुप्यात्’ इति ॥

यदुक्तं ‘होत्रचमसे वसतीवरौ कृत्वा यजमानाय प्रयच्छति
निपाभ्या इति, तदेतदाह— “अथ होत्रचमस इति । आग्नीध्र-
वस्तस्य होत्रचमस मध्वर्युरादाय पूर्वधुराहता ‘वसतीवरौ’ अध्वर्यु
‘गृह्णाति’ । कस्मै उपयोगाय ? ‘निपाभ्याभ्य’, होत्रचमसे निगृह्य
माणत्वात् “निपाभ्या”-इति सञ्ज्ञा^१, निपाभ्यासु श्रावयति,
निपाभ्यासु ससिञ्चति, इत्येवमर्थाय ॥

पूर्वं यदुक्तं “यद्यामौ पूर्वधुरित्यादि, समर्गस्य चात्वालोपरि
भावित्वम्, तत् प्रशंसति— “तद्यदुपर्युपरि चात्वाल मिति । ‘अत’

१— ‘एव -इति च ।

२— सूत्रकृतेति शेष । का० श्री० सू० ८ २ १५ ।

३— अध्वर्युर्होत्रचमसे वसतीवरौः कृत्वा आसिच्य यजमानाय समर्पयति,
तासाध्वर्युणा यजमानाय समर्पिताश्चमसस्या आपो निपाभ्यसञ्ज्ञका
अभिपयवार्था ताभ्य एव च यदा अपि ग्रहीष्यन्ते’-इति या० ८० ।

अस्मात् चालालोपरिप्रदेशात् 'देवा दिव सुपोदकामन्', 'तत्'
तस्मात् कारणात् 'एतत्' एतेन चालालोपरिसंस्पर्शेन 'यजमानम्'
अयं स्पर्शस्य पन्था इति 'पन्थानम्' 'अनुमह्यापयति' अनुक्रमेण
सह्यापयति, सम्यक् प्रह्यापयतीति यावत् ॥ १० ॥

"त आचन्तीति । अथाध्वर्युं मुद्दिग्याभ्विषयं होतुः प्रश्न मय-
तारयति— "तं होता पृच्छत्यध्वर्योऽवेरपा १ इति । 'तम्' अध्वर्युं
होता 'पृच्छति', हे 'अध्वर्यो ।' 'अपः' उदकानि 'अवेः' लब्ध-
वानसि । मुनिः प्रश्नार्थः । "अवेः"—इत्यस्य 'अविदः' इत्यर्थं इति
व्याचष्टे— "अविदोऽपा १ इत्येवैतदाहेति ॥

अथाध्वर्योर्होतारं प्रति प्रतिवचन माह— "तं प्रत्याहोतेव
नन्नमुरितीति१ । यद्यपि मिदानीं न केवलं मपो लब्धार एव, अपि च
'नन्नमुः' अत्यर्थं मानता अभवन् । प्रतिवचनस्य तात्पर्यं माह—
"अविद मयो मेऽनमतेत्येवैतदाहेति । 'अविदम्' अपो लब्धवानसि
'अपो' अपि च 'मे' आपः 'अनमत' आनता आगता अभूवन्
'इत्येव' 'एतत्' उत्तररूपं वाक्यम् 'आह' ॥ ११ ॥

यदुक्तं सूचकता— "प्रचरणौमन्त्रव मग्निष्टोमे जुहोत्यभावे चतु-
र्गृहीतं य मग्न इति, उक्त्ये प्रथमं परिधि मानभते, प्रविशत्यश-
न्यव"—इति१, तदेतत् क्रमेण दर्शयन्त्याटावग्निष्टोम माह— "म

१— पा० सु० ८ १०० ।

२— "होता पृष्ट"—इत्यादि वा० श्रौ० सु० ८ ११ ।

३— वा० श्रौ० सु० ८ ११६, १०, १८ ।

यद्यग्निष्टोम स्यादिति । 'स' वर्त्तमान क्रतुरग्निष्टोमस्यश्चेत् 'प्रच-
रणा' य 'सस्रव' अवशिष्टः 'होमाय' 'अलम्' पर्याप्त 'स्यात्',
तदा 'तम्' एव 'जुहुयात्', नो चेत् पुनश्च 'चतुर्गृहीत मान्य'
'गृहीत्वा' "य मग्ने श्रुत्वा" इति मन्त्रेण जुहुयात् ॥

मन्त्रस्याय मर्थ ॥— हे 'अग्ने ।' 'यम्' 'मर्त्य' मनुष्य 'श्रुत्वा'
सङ्ग्रामेषु 'अवा' रक्षसि, तथा 'वाजेषु' अन्नेषु निमित्तभूतेषु
'यम्' मर्त्य 'जुमा' अवतिर्गर्त्यर्थं प्राप्तवानसि, 'स' उभयविषयो
जम् 'शश्वती' शाश्वती 'इष' अन्नानि 'यन्ता' प्राप्तवान् भवति,
'स्वाहा' सङ्गत मस्तु ॥

मन्त्रस्याग्नेयत्वं प्रकृते ज्योतिष्टोमकर्मणि सङ्गत मिति व्याचष्टे—
"आग्नेय्या जुहोतीति । "अग्निर्वा अग्निष्टोम इति । यज्ञायज्ञीय-
स्यान्तिमस्तोत्रस्याग्निदेवताकत्वात्^१ अग्निष्टोमोऽग्निः, ततोऽग्न्यात्मक
मग्निष्टोम आग्नेय्या होमेन 'अग्नौ' एव प्रतिष्ठापितवान् भवति । मन्त्रे
षत् मर्त्तस्त्रिङ्गकत्वम्, तत् प्रश्नमिति— "मर्त्तवत्या, पुरुषसम्मितो वा
अग्निष्टोम इति । 'द्वौ स्तोमौ प्रातस्तुवन बह्वतो यथा प्राण्या
पानय'-इत्युपक्रम्य तैत्तिरीयके "पुरुषसम्मितो वा एष यज्ञ
इति श्रुतत्वात् पुरुषसम्मितत्वं मन्त्रं यत, अत एवैतया मर्त्तवत्या

१— वा० स० ६ २६ १ ।

२— ता० ब्रा० ६ च० १ ख०—८ च० ० ख० पर्यन्तं द्रष्टव्यम् । तत्रैतदन्य-
खण्डस्तु विधेयतो द्रष्टव्यः ।

३— त० स० ० १ १ १ द्रष्टव्यम् ।

होमो युक्त इत्यर्थः । निगमति— “एव जुहुयाद् यद्यग्निष्टोमः
स्यादिति ॥ २२ ॥

“यद्युक्थः स्यान्मध्यमं परिधिं सुपसृग्नेदिति^१ । अग्नेः परितो
निधीयमानाः परिधयः । प्राच्यां दिशि सूर्यस्यैव परिधित्वात् ते
च एव । ‘उक्थानि’ अग्निष्टोमादुपरि उक्थस्यैव कृतौ स्रोतव्यानि
‘वैशि’ उक्थस्रोत्राणि । अस्तु चित्तम्, किं तत इत्याह— “एतैश्च
हि तर्हीति । यतः ‘एतैः’ उक्थैः यज्ञः ‘प्रतिनिष्ठति’, अतस्तिपु
परिधिषु ‘मध्यमं परिधिं’ पद्यादिगतां प्रचरणा ‘उपसृग्नेत्’ ॥

अतिरात्रयोऽग्निनोस्तु कथं नित्यत आह— “यद्यु अतिरात्रो
वा योऽग्नी वा स्यादिति^२ । तत्रोभयत्र होम सुपसृग्नं च न
कुर्यात्, किन्तु ‘समुद्येव’ “य मग्ने शुत्सु”—इति मन्त्र मुक्तैव
‘दृष्णी मेत्य’ देवयजनं ‘प्रपद्येत्’ । ‘तत्’ तथा मति कश्चित्
होमः, कश्चित् परिधिसंस्पर्शं, कश्चित् दृष्णी मिति ‘यथायथ’
पृथक्प्रकारेण ‘यज्ञकृत्’ अग्निष्टोमादिकान् ‘व्यावर्त्तयति’ परस्पर-
व्यावृत्तान् करोति ॥

तथाच तैत्तिरीयकम्— “यद्यग्निष्टोमो जुहोति यद्युक्थः
परिधौ निर्माष्टि, यद्यतिरात्रो यजुर्वन्दन् प्रपद्यते यज्ञकृत्तमां
व्यावृत्त्यै”—इति^३ । कात्यायनस्तु अतिरात्रयोऽग्निनौ प्रति विकल्प

१— “उक्थे प्रथमं परिधिं माज्जते”—इति (श्री० ८. १. १०) विधायकम् ।

२— “प्रविशन्त्येवाम्यत्र”—इति का० श्री० ८. १. १८ ।

३— तै० श्र० ६. १. १४ ।

मुक्तवान्— “रराध्यालम्भनं वा षोडशनि, छदिरतिरात्रे”-
इति^१ ॥ ६३ ॥

इदानीं मेकधननामघटानां मयुग्मसङ्ख्याविकल्पमाह— “अयुग्मा
अयुग्मा एकधना भवन्तीति । वक्ष्यमाणं त्रिपञ्चादिपञ्चवङ्गत्वाभि-
प्रायेण वीक्षा । ‘अयुग्मा.’ त्रि-पञ्चादयः । तानेवायुग्मविकल्पानुदा-
हरति— “त्रयो वा पञ्च वेत्यादिना । त्रयो वा पञ्च वेत्येको
ऽयुग्मविकल्पः, पञ्च वा सप्त वेत्यपरः । एव मुत्तरेष्वपि द्रष्टव्यम् ।
तथा चासादनप्रस्तावे कात्यायन— “प्रत्यगेकधनानयुग्मानुद-
हरणांस्त्रिप्रभृत्या पञ्चदशभ्यः”-इति^२ ॥

अथ युग्मसङ्ख्यायां एकधनशब्दनिर्वचनं प्रदर्शयन् प्रशंसति—
“इन्द्रं महं मिथुनं प्रजननं मयि य एष एकोऽतिरिच्यते इत्या-
दिना । एषु विकल्पेषु मध्ये यदि त्रयोदशदा द्वावेकं इन्द्रं तृतीयो-
ऽतिरिच्यते, यदि पञ्च, तदा द्वे इन्द्वे पञ्चमोऽतिरिच्यते । एवं
सप्त-नवैकादश-त्रयोदश-पञ्चदशस्यपि योज्यम् । तत्र यत् ‘इन्द्रं’
तत् ‘मिथुनम्’, तच्च यजमानस्य पुत्रपौत्रादिप्रजननरूपम् ; ‘य
एषोऽतिरिच्यते’ तृतीयादिकः, ‘सः’ सर्वोऽपि ‘यजमानस्य’
‘अथम्’ ‘अभि’लक्ष्य ‘अतिरिच्यते’ । ‘स वै’ सोऽतिरिक्तः ‘एषां’
विकल्पितानां युग्मानां ‘सधनम्’ समानं मेकं मेव धनम् ;
तदन्तर्पातितान् । यस्मादेषां सधनं मासीत् अतिरिक्तं, ‘तस्मात्’

१— का० श्रौ० सू० ८. १. १६, २० ।

२— का० श्रौ० सू० ८. २. २१ ।

अयुग्मसङ्ख्याका उदकविशेषा^१ एकधननामकाः सम्पन्नाः । अत
 एकधनात्मकत्वात् अयुग्मसङ्ख्याका एकधनाः प्रशस्ता इति^२
 स्तुतिः ॥ ३४ ॥ ४ [८. ३.] ॥

इति सायणाचार्यविरचिते माध्वीये वेदार्थप्रकाशे
 माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये
 तृतीयकाण्डे नवमाध्याये तृतीय ब्राह्मणम् ॥

(अथ चतुर्थं ब्राह्मणम्.)

अथाधिपुवणे पर्युपविशन्ति । अथास्याः हिरण्यं
 बभूते द्वयं वा ऽद्भुतं नु तृतीय मस्ति सत्यं चैवानृतं च
 सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्या अमिरेतसं वै हिरण्यः
 सत्येनाः शूनुपस्पृशानि सत्येन सुमं पुराह्वयानूति
 तुस्माद्वा ऽस्याः हिरण्यं बभूते* ॥ १ ॥

१— तावद्याज्ञच्छ्रुत्यायादुदहरणा कलशाच्चैकधनशब्दप्रतिपादा भवन्ति ।

२— तथाच अमिष्ठोमे अथ पञ्च वा, अथमिष्ठोमेऽपि तावन्त एव, उक्थ्ये
 पञ्च वा सप्त वा, षोडशानि सप्त वा नव वा, वाजपेये नव वैकादश वा,
 अतिरात्रे एकादश वा त्रयोदश वा, अथोर्णामे त्रयोदश वा पञ्चदश
 वेति एकधनाख्या उदहरणाः कलशा भवन्तीति ॥

* 'बभूते'—इति ग, घ ।

अथ ग्रावाणामादत्ते । ते वा ऽण्येऽश्ममुया ग्रावाणो
भवन्ति देवो वै सोमो दिवि हि सोमो बृचो वै सोम
आसीत्तुस्यैतच्छुरीरं युद्धिरुयो यदुश्मानस्तच्छुरीरेणैवैन
मेतत्सुमर्हयति कृत्स्नं करोति तुस्मादश्ममुया भवन्ति
घ्नन्ति वा ऽण्येन मेतद्युदभिपुण्यन्ति तु मेतेन घ्नन्ति
तथात उदेति तथा सुज्जीवति तुस्मादश्ममुया ग्रावाणो
भवन्ति ॥ २ ॥

तमादत्ते । देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां
पूष्णो हुस्ताभ्यामाददे रावासीति सविता वै देवानां
प्रसविता तुत्सवितुप्रसूत एवैन मेतदा दत्तेऽश्विनो-
र्बाहुभ्यामित्यश्विनावध्वर्यू तत्तयोरेव बाहुभ्यामादत्ते
न स्वाभ्यां पूष्णो हुस्ताभ्यामिति पूषा भागदुघस्तत्तुस्यैव
हुस्ताभ्यामादत्ते न स्वाभ्यां बृजो वा ऽण्येन तुस्य नु
मनुष्यो भर्ता तु मेतुभिर्देवताभिरादत्ते ॥ ३ ॥

आददे रावासीति । यदा वा ऽण्येन मेतेनाभिपुण्य-
न्त्यद्याहुतिर्भवति यदाहुतिं जुहोत्यथ दक्षिणा ददात्ये-
तद्वेषु द्वयं रासत ऽद्याहुतीय दक्षिणाय तुस्मादाह
रावासीति ॥ ४ ॥

गभीरुमिममध्वरुं कधीति । अध्वरो व यज्ञो महान्त
मिमं यज्ञं कधीत्येवेतदाहेन्द्राय सुपूतम मित्नीन्द्रो

वै यज्ञस्य देवता तस्मादाहुन्द्रायेति सुषूतम मिति
 सुसुततम* मित्यैवैतदाहोत्तमेन पविनेत्येष वा ऽउत्तमः
 पविर्यत्सोमस्तस्मादाहोत्तमेन पविनेत्यूर्जस्वन्तं मुधुमन्तं
 पुयस्वन्त मिति रुसवन्त मित्यैवैतदाह यदाहोर्जस्वन्तं
 मुधुमन्तं पुयस्वन्त मिति† ॥ ५ ॥

अथ व्याचं यच्छति । देवा ह वै यज्ञं तन्वानास्ते
 ऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गादिभयाच्चक्रुस्ते होचुरुपाःशु यजाम
 व्याचं यच्छामेति तु ऽउपाःश्वयजन् वाच मयच्छन् ॥ ६ ॥

अथ निग्राभ्या आहरति । तास्वेनं व्याचयति निग्राभ्या
 स्थ देवश्रुतस्तर्पयत मा मनो मे तर्पयत व्याचं मे
 तर्पयत प्राणं मे तर्पयत चुक्षुर्मे तर्पयत श्रोत्रं मे तर्पय-
 तात्मानं मे तर्पयत प्रजां मे तर्पयत पशून्मे तर्पयत
 गणान्मे तर्पयत गणा मे मा वितृपन्निति रुसो वा
 ऽआपस्तास्वेवैता माशिष माशास्ते सर्वच्च म ऽआत्मानं
 तर्पयत‡ प्रजां मे तर्पयत पशून्मे तर्पयत गणान्मे तर्पयत
 गणा मे मा वितृपन्निति स यु एषु उपाःशुसवनः स
 विवस्वानादित्यो निदुनेनु सोऽस्यैषु व्यानः॥ ७ ॥

* 'सुसुतम'-इति ग, घ ।

† 'मिति'-इति ख, 'मिति'-इति ग, घ ।

‡ 'तर्पयत'-इति ग, घ ।

§ 'न'-इति ग, घ ।

तु मभिमिमितीते । घ्नन्ति वा ऽएन मेतद्युदभिषुण्वन्ति
तु मेतेन घ्नन्ति तथात उदेति तथा सुज्जीवति युद्धेव
मिमितीते तुस्मान्मात्रा मनुष्येषु मात्रो यो चाप्यन्या
मात्रा ॥ ८ ॥

सु मिमीते । इन्द्राय त्वा व्वसुमते रुद्रवत ऽइतीन्द्रो
वै यज्ञस्य देवता तुस्मादाहेन्द्राय त्वेति व्वसुमते रुद्रवत
इति तदिन्द्र मेवानु व्वसुश्च रुद्रांश्चाभजतीन्द्राय
त्वादित्यवत ऽइति तदिन्द्र मेवान्वादित्यानाभजतीन्द्राय
त्वाभिमातिघ्न ऽइति सपत्नो वा* ऽअभिमातिरिन्द्राय
त्वा । सपत्नघ्न ऽइत्येवैतुदाहु सोऽस्योद्धारो यथा श्रेष्ठस्यो-
द्धारु एव मस्यैषु ऽकृते देवेभ्यः ॥ ९ ॥

श्वेनाय त्वा सोमभूत ऽइति । तुज्ञायच्यै मिमीतेऽमृये
त्वा रायस्पोषद ऽइत्यग्निर्वै गायत्री तुज्ञायच्यै मिमीते स
युज्ञायत्री श्वेनो भूत्वा दिवः सोम माहरत्तेन सा श्वेनुः
सोमभृत् तेनैवास्या एतुर्द्वीर्येण द्वितीयः मिमीते† ॥ १० ॥

अथ यत् पुञ्च कृत्वो मिमीते । सव्वत्सरसम्मितो वै
यज्ञः पुञ्च वा ऽकृतवः संव्वत्सरस्य तुं पुञ्चभिरामोति
तस्मात् पुञ्च कृत्वो मिमीते ॥ ११ ॥

* 'वा'-इति ग, घ ।

† 'मिमितीते'-इति क ।

१, ५ 'सव्व'-इति ख ।

तु मभिमृशति । युत्ते सोम दिवि ज्योतिर्युत् पृथिव्यां
यदुरावन्तुरिक्षे । तेनास्मै युजमानायोरु राये दद्याधि
दावे वोच ऽहुति युत्र वा ऽप्योऽप्ये देवानां हविर्वभूव
तुङ्क्षेऽश्वक्रौ मैव सुर्व्वेऽणवात्मना देवानां हविर्भूव
मिति सु एतास्तिक्षुस्तनूरेषु लोकेषु विन्यधत् ॥ १२ ॥

तद्वै देवा अस्पृण्वतु* । तेऽस्यैतेनैवैतास्तनूरामुवन्स
त्कृत्स्नु एव देवानां हविरभवत्तुथो ऽणवास्यैषु एतेनैवै-
तास्तनूरामोति सु कृत्स्नु एव देवानां हविर्भवति तुस्मा-
देव मभिमृशति ॥ १३ ॥

श्रुय निग्राभ्याभिरुपसृजति । आपो ह वै वृत्रं जघ्नु-
स्तेनैवैतद्वीर्येणापः स्यन्दन्ते तुस्मादेनाः स्यन्दमाना न
किञ्चन प्रतिधारयते† ता ह स्व मेव व्युशञ्चेरुः कुस्मै नु
व्ययं तिष्ठेमहि याभिरस्माभिर्वृत्रो हत इति सुर्व्वं वा
ऽद्द मिन्द्राय तस्थानु मास युदिदं किञ्चापि योऽयं
पुवते ॥ १४ ॥

स दुन्द्रोऽब्रवीत् । सुर्व्वं वै म ऽद्दं तस्थानं युदिदं किञ्च
तिष्ठध्व मेव म ऽहुति ता होचुः किं नस्तुतः स्यादिति

* 'त'-इति ग, घ ।

† 'एतेनै'-इति ग, घ ।

‡ 'प्रतिधारयति'-इति ग, घ । 'प्रतिधारयते'-इति गा०-सम्प्रत्यय ।

प्रथमभक्षु एव वः सोमस्य राज्ञ इति तथेति ता
अस्मा ऽअतिष्ठन्त तास्तस्थाना उरसि न्यगृह्णीत तद्यु-
देना उरसि न्यगृह्णीत तुस्मान्निग्राभ्या नाम तुथैवैना*
एतद्युजमान उरसि निगृह्णीते सु आसा मेघु प्रथम-
भक्षु सोमस्य राज्ञो युन्निग्राभ्याभिरुपसृजति ॥ १५ ॥

स उपसृजति । आचा स्य वृचतुर इति शिवा
द्यापस्तुस्मादाह आचा स्येति वृचतुर इति वृचु छेता
शुघ्रन्नुाधो गूर्ता अमृतस्य पत्नीरित्यमृता द्यापस्तु
देवीर्देवेषुं यज्ञं नयतेति नाच तिरुहित मिवास्त्युप-
हृताः सोमस्य पिबतेति तदुपहृता एव प्रथमभक्षु
सोमस्य राज्ञो भक्षयन्ति ॥ १६ ॥

अथ प्रहरिष्यन्† । युं द्विष्यात्तं मुनसा ध्यायेदमुष्मा
ऽअहं प्रहरामि न तुभ्य मिति युो न्वेवेमुं मानुषं ब्राह्मणं
हुन्ति तं न्वेव‡ पुरिचक्षतेऽथ किं यु एतं देवो हि सोमो
घृन्ति वा ऽएन मेतद्युदभिपुण्णुन्ति तु मेतेन घृन्ति तथा
त उदेति तथा सुज्जीवति तुयानेनस्युं भवति युद्यु
नु द्विष्यादपि तृण मेव मुनसा ध्यायेत्तुथो ऽअनेनस्युं
भवति ॥ १७ ॥

* 'ता'-इति ग, घ ।

† 'यन्'-इति ग, घ ।

‡ 'नन्वेव'-इति क, ख, तद्वेव-इति घ दृष्टो डा० वेवरेय ।

स प्रहरति । मा भेर्मा संव्विक्या इति मा त्वं भैषीर्मा
 संव्विक्या अमुष्मा ऽअहं प्रहरामि न तुभ्य मित्येवैतदा-
 होज्जं धत्वेति रुसं धत्वेत्येवैतदाह धिपणे व्वीड्वी
 सती व्वीडयेथा मूर्जं दधाथा मितिमी ऽएवैतत् फुलके
 आहुरित्यु हेक ऽआहुः किन्नु तुच योऽप्येते फुलका भिन्द्या-
 दिमे ह वै द्यावापृथिवी ऽएतस्माद्दुज्जादुद्यतात् सुऽरेजेते
 तुदाभ्या मेवैन मेतद्द्यावापृथिवीभ्याः शमयति तुथेमे
 शान्तो नु हिनत्यूर्जं दधाथा मिति रुसं दधाथा
 मित्येवैतदाह पाप्मा हतो न सोम इति तुदस्य सुर्व्वं
 पाप्मानः हन्ति ॥ १८ ॥

स वै त्रिरभिपुणोति । त्रिः सुम्भरति चतुर्निग्राभ
 मुपैति तद्दुश दुशाधरा वै व्विराड् वैराजः सोमस्तुस्मा-
 द्दश कृत्वः सुम्पादयति ॥ १९ ॥

अथ युन्निग्राभ मुपैति । युच वा ऽएषोऽग्ने देवानाः
 हविर्व्वभूव तुङ्गेमा दिशोऽभिदध्यावाभिर्दिग्भिर्मिथुनेन
 प्रियेण धाम्ना सुऽस्पृशेयेति तु नेतुदेवा आभिर्दिग्भि-
 मिथुनेन प्रियेण धाम्ना समस्पर्शयन् युन्निग्राभ मुपायं-
 स्तुयो ऽएवैन मेपु एतदाभिर्दिग्भिर्मिथुनेन प्रियेण धाम्ना
 सुऽस्पर्शयति युन्निग्राभ मुपैति ॥ २० ॥

स उपैति । प्रागुपागुदगधराक्त्तर्त्तुत्त्वा दिश आधा-

वन्निवृत्तिं तुदेन माभिर्दिग्भिर्मिथुनेन प्रियेण धाम्ना
 सुःस्पर्शयत्युम्ब निष्पर सुमरुर्विदा मिति योषा वा
 ऽश्रुम्बा योषा दिशस्तुस्मादाहाम्ब निष्परेति सुमरुर्विदा
 मिति प्रजा वा ऽश्रुः सम्रजा जानता मित्येवैतदाह
 तुस्माद्या अपि विदूर मिव प्रजा भवन्ति सु मेव ता
 जानते तुस्मादाह सुमरुर्विदा मिति* ॥ २१ ॥

अथ युस्मात्सोमो नाम । युच वा ऽएषोऽग्रे देवानां
 हविर्बभूव तुङ्गेष्ठाच्चक्रे मैव सुर्व्वेणैवात्मना देवानां
 हविर्भूव मिति तुस्य या जुष्टतमा तनूरुस ता मप-
 निदधे तद्दे देवा अस्पृण्वत ते होचुरुपैवैतां प्रष्टहस्व सुहैयु
 न एतया हविरेधीति तां दूरु ऽदयोपग्राह्यत स्वा वै म
 ऽएषेति तुस्मात्सोमो नाम† ॥ २२ ॥

अथ युस्माद्यज्ञो नाम । घ्नन्ति वा ऽएन मेतद्युदभि-
 पुण्वन्ति तद्युदेनं तन्वते तुदेनं जनयन्ति सु तायुमानो
 जायते स युन् जायते तुस्माद्यज्ञो यज्ञो‡ ह वै नामै-
 तद्युद्यज्ञ इति ॥ २३ ॥

* 'मिति'—इति ख, 'मिति'—इति ग, घ ।

† 'नामु'—इति ख, 'नाम'—इति ग, घ ।

‡ 'य जायते तस्माद्यज्ञो यज्ञो'—इति क, ख ; डा० वेबरैय चेकन दृष्टः ।

तुचैता मुपि व्वाच मुवाद । त्व मङ्ग प्रशंसिपो देवः
शविष्ठ मुर्त्यम् । न त्वदन्यो मधवन्नस्ति मर्दितेन्द्र
ब्रवीमि ते व्वाच इति मुर्त्यो हवैतद् भुवन्नुवाच* त्व
मेवेतो जनयितासि नान्यस्त्वदिति† ॥ २४ ॥

अथ निग्राभ्याभ्यो ग्रहान्विगृह्यते । आपो ह वै
वृषं जघ्रुस्तेनैवैतद्वीर्येणापः स्यन्दन्ते स्यन्दमानानां वै
व्सतीवुरीर्यं ह्लाति व्सतीवुरीर्यो निग्राभ्या निग्राभ्याभ्यो
ग्रहान्विगृह्यते तेनैवैतद्वीर्येण ग्रहान्विगृह्यते होतृचमसाद्
योपा वा ऽकृद्योता योपायै वा ऽद्रुमाः प्रजाः प्रजायन्ते
तदेन मेतुस्यै योपाया ऽकृचो होतुः प्रजनयति तुस्मा-
होतृचमसात् ॥ २५ ॥ ५ ॥

॥ इति सप्तमप्रपाठके पञ्चमं ब्राह्मणम् [६. ४.] ॥

इत्य मभिषवसाधनाना मर्षा ग्रहण मभिधाय, अथ सोमा-
भिषवप्रयोगं वक्रु मुपकमते— “अथाधिषवणे पर्युपविशन्तीति† ।
‘अधि’ उपरि सुयेते इत्यधिषवणे दाहमये फलके, तथोरुपरि ते
‘उपविशन्ति’ । उपवेगमप्रकारः रुचे द्रिंत्— उत्तरी तावध्वर्यु-

* ‘भुवन्नुवाच’—इति सा०—सम्मतः पाठ इति डा० वेपरः ।

† ‘दिति’—इति तत्, ‘दिति’—इति ग, घ ।

१— इतरेषोऽङ्गं कात्यायनेन, श्री० सू० ६. ४. १ दृष्टम् ।

यजमानौ, पूर्वोऽध्वर्युः, अपरेण परीत्येतरे चय', देवस्य त्वेत्यादिना^१ । 'इतरे' अध्वर्युपुरुषा इत्यर्थः । हिरण्यवन्धनं विधाय, तत् सचरूपत्वेन प्रशंसति— "अथास्यां हिरण्यं वध्नीते द्युं वा इदं न तृतीय मस्तीत्यादिना । 'अस्याम्' अनामिकाङ्गुल्या मित्यर्थः । द्युं वेत्यादि प्रागसकृद् व्याख्यातम्^२ । अत्रेतत्वं हिरण्यस्येत्यं श्रूयते— "आपो वरुणस्य पत्न्य आसन्, ता अग्निरभ्यधायत्, ताः समभवत्, तस्य रेतः परापतत्, तद्धिरण्यं समवदिति^३ । अध्वर्योर्मनुष्यत्वेनानृतरूपत्वात् सत्यभृतस्याग्निरेतस्य हिरण्यस्याचामिषवसमये स्पर्शनेनानृतवाधात् 'सत्येन' 'अंशून्' सोमांशून् 'उपसृशानि', 'सत्येन' 'सोमम्' 'पराहणानि' अभिपुणोमीत्यभिप्रायेण हिरण्यं वध्नीयात् ॥ १ ॥

"अथेति । 'अथ' अंशुप्रहाभिषवार्यम् 'अध्वर्युः' धावाण मादत्ते^४ । अभिषवसाधनस्य चाणोऽग्नमयत्वं विधाय प्रशंसति— "ते वा एत इति । सोमस्य देवत्वममर्यनाय "दिवि चीति । 'हि'-शब्दः "तृतीयस्या मिहो दिवि सोम आसीत्"-इत्यादि^५ श्रुत्यन्तरप्रसिद्धयः । तस्य शुभस्य सोमस्य वृद्धत्वप्रकारः प्राग् वर्णितः^६ । तस्य वृद्धीभूतस्य सोमस्य 'शरीरं' परिदृग्मानाः 'गिरयः', तद्वयवाः

१— का० श्रौ० सू० ८. ४. २, ३, ४, ५ ।

२— १. १. १. ४, ५. २ २३ (१ भा० ६, ४१८ पृ०) ।

३— तै० सं० ५. ५. ४. १ । ४— का० श्रौ० सू० ८. ६. ५ क ।

५— तै० सं० ३. ५. ० २. (१ भा० ३४६ पृ०) ।

६— २५० ४३१ १६क० (७४४ पृ० ५५०) ।

‘अश्वानः’ । अतः ‘एतत्’ एतेन गाव्या मश्वमयत्वकरणेन ‘एन’ सोम समृद्ध कृतवान् भवति । न हि स्वशरीरं स्वस्य बाधक भवति, अतस्तेनाभिषवेनापि समृद्धिरेवेत्यर्थः । किञ्चापरावयविनौ विसृष्टाविदानीं सोमाभिषवव्याजेन सम्बन्धयन् सोम ‘कृत्स्न’ सकलं कृतवान् भवति । किञ्चाभिषवो नामास्य वध, तं कुर्वन्तोऽप्येते अश्वमया गावाणः तदवयवत्वात् ‘न व्रन्ति’ न हि व्रन्ति । ‘अतः’ ‘अस्मात्’ अभिषवस्यास्मात् सोम ‘उदेति’ पुनरुदितो भवति । तथैव ‘सञ्जीवति’ च पुनः सम्यग् जीवोपेतो भवति । “तस्मादिति पुनरुपसहारः ॥ १ ॥

अथ तच्च मन्त्र विधाय व्याचष्टे— “त मादते देवस्य त्वेत्यादिमा^१ । गत मेवैतत् । “पूषा भागदुध इति । “दुहेः कप् घञ”-इति^२ कप् घकारश्च । किं कारणं सविचाद्यभिधानम् ? उच्यते— “वञ्जो वा, एष इति । ‘एष’ गावा प्रक्षेपसाधनत्वसाम्यात् मारव-त्वाच्च ‘वञ्ज’, ‘अतः’ ‘तस्य’ अस्य देव. ‘भक्तां’ स्नामी ‘न मनुय्य’, यत एव मत. ‘त’ गावाणम् ‘एताभि’ सविचादिभि. ‘देवताभि.’ ‘आदत्ते’ अध्वर्यु^३ ॥ १ ॥

“आददे रावागोति” । मन्त्रभागे गावाण सम्बोध्य तं रावा-गोति मन्त्रोऽभिधत्ते । तस्य तयात्वं कृत इत्याशङ्क्य परम्परया भवि-ष्यतीत्युपपादयति— “यदा वा एन मेतेनाभिपुस्तमीत्यादिमा । अभिषवाभावे आश्रय्यमग्नवात्, आश्रय्यभावे दक्षिणामा मन्त्रमग्नेः

१— वा० शं० ६ १०. १ क ।

२— पा० सू० ३ १. ०० ।

३— का० श्रौ० सू० ६. ४ १ क ।

४— वा० शं० ६. १०. १ ग ।

‘आजतीत्य दक्षिणाश्च’ इति ‘एतद्’ द्वयम् ‘एषः’ यावा ‘रासते’ ददाति । अतो रासत इति रावेति, रासतेर्दानार्थात्^१ रावशब्दो निष्पन्न इत्यभिप्रायेण मन्त्रो ‘रावासीति आह’ इत्यर्थः ॥ ४ ॥

गभीर मिम मध्वर मिति^२ । मन्त्रं व्याचष्टे— योऽयम् ‘अध्वरः’ सः ‘यज्ञः’ ‘वै’ एव, उभौ शब्दौ पर्यायावित्यर्थः । यदतिगुम्फितत्वेन महत्, तद् ‘गभीरम्’ इति लोके व्यवह्रियते ; अतो गभीरे महत्त्वदर्शनात् ‘इमम् अध्वरं महान्तं रुधि’ ‘इत्याह’ मन्त्रः । सुपूतम मित्यत्र सुसुततम मिति वक्तव्ये तकारसोपो दीर्घ-
श्चान्दस इत्यभिप्रायेण व्याचष्टे— “सुपूतम मिति सुसुततम मित्ये-
वैतदाहेति । पवि-शब्दस्य वज्रादौ प्रसिद्धत्वात् अत्र सोमार्थ इति व्याचष्टे— “एष वा उत्तमः पविः, यत् सोम इति । पवतिर्गति-
कर्मा^३ । पवति, दग्नापविचे लवतीति पविः सोमः । अथ वा पवि-
वद् वक्तरूपत्वात् पविः सोमः । सोमः ‘इति’ यदक्षि, ‘एषः’ सोमः
‘उत्तमः पविः’ खलु, सोमपानेन प्रवसस्तेन्द्रस्य वृत्रादिवधश्रव-
णाद् । अत्र मधुररमानां वाक्का ये ऊर्ज-मधु-पयः-शब्दाः, तेषां
तात्पर्यतो रस एवार्थ इति व्याचष्टे— “ऊर्जस्त्रन्तं पयस्त्रन्त मित्या-
दिना । अर्धोर्जमधुपयसां रसविशेषरूपत्वात् भामान्यविशेषरूपा-
दिति भावः । नैते माधुर्यार्थतया प्रसिद्धाः, अतः कथं त एवं
मद्गच्छन्त इत्यस्या आशङ्काया अपनोदनाय पुनर्निर्देशः एतः—
“यदाहोर्जस्त्रन्तं मधुमन्तं पयस्त्रन्त मितौति ॥

१— निघण्टो २. २२. ५ दृष्टव्यम् ।

२— वा० सं० ६. ४०. १ ग ।

३— निघ० २. १४. १०८ ।

मन्त्रस्याय मर्थः ।— हे यावन् ! त्वं 'रावासि', अतस्त्वं 'सवितुः
देवस्य' अनुज्ञायां सत्याम् 'अश्विनोर्वाङ्मयां' 'पूष्णो हस्ताभ्याम्'
'आददे' । उक्तो वाङ्मयादिभागः । 'इमम्' 'अध्वर' यज्ञं 'गभीरं'
महान्तं 'हृदि' कुरु । 'इन्द्राय' इन्द्राय 'सुपूतम्' सुहृदिपुत्रं कुरु ।
'उत्तमेन पविता' सोमेन युक्तं चेन्न मध्वरम् ऊर्जादेराश्रयभूत-
रसोपेतं कुर्वन्ति ॥ ५ ॥

“अथ वाचं यच्छतीति । वाग्यमनार्थवादो “देवा ह वा
इत्यादिः, प्राग्व्याख्यातः । वाग्यमनस्यावधिः सूत्रे दर्शितः— “(देवस्य
तेत्यभि मादाय) वाचं यच्छति प्राग्विद्वारात्”—इति^१ ॥ ६ ॥

यदुक्तं सूत्रकृता— “निपाभ्यासु वाचयति उरस्येना निगृह्य
निपाभ्यास्येति^२ । तदिदं भावः— “अथ निपाभ्या आहरति, तास्तेन
वाचयति निपाभ्या स्य देवश्रुत इत्यादिना । 'तासु' आगतासु
'एनं' यजमानं 'निपाभ्या स्य' इत्यादि-मन्त्र^३ 'वाचयति' अध्वर्युः ।
हे आपः ! 'देवश्रुतः' देवेषु प्रसिद्धाः सत्यो यूयं 'निपाभ्याः स्य
इन्द्रेणोरमि गृहीतत्वात् । वक्ष्यति हि— “तद्यदेना उरसि न्यगृ-
हीत, तस्माद्विपाभ्या नाम”—इति^४ । तादृशो यूयं 'मा' मां 'तर्प-
यत' प्रीणयत ॥

सङ्कष्टोक्तं मन्त्रव्यवशोऽभिधत्ते— “मनो म इत्यादिना^५ ।

१— का० श्रौ० सू० ८. ४. ५. ३ ।

२— का० श्रौ० सू० ८. ४. ० ।

३— वा० सं० ६. ३०. २ ।

४— अनुपद मित्रेणोपगृह्यात् पक्षद्वयोः अङ्गो दृष्टव्यम् (१०८ ए०) ।

५— वा० सं० ६. ३१. १ । पूर्वमन्त्रस्यैव हेतोः अर्थः । इह विविधोपासना-
श्रुतः । संदितायान्तु मित्र इत्याय मन्त्र इति मनोवृत्ते ।

‘आत्मान’ शरीरम् । ‘प्रजां’ पुत्रादिकाम् । ‘गणान्’ बन्धुमृत्या-
दीन् । युष्माभिस्तरपिता अस्मदीयाः ‘गणाः’ ‘मा विदधन्’ विदध-
दृणा मा भूवन् । आपः स्वल्पमेव तर्पणसाधनं द्रव्यम्, तर्पयि-
तव्यास्तु बहवः, अतस्तासां तादृशी शक्तिः कुत इत्याशङ्काया माह—
“रसो वा आपस्तास्वेवैता माग्निष माग्नास्ते इति । अपां रसरूप-
त्वात् तास्वस्वेवैतां दृष्टिरूपा माग्निष माग्नास्ते, अतः सारवता
आग्नासनं युक्तम् । मन आदिकं सर्वं मपि सङ्गृह्यानुवदति— “सर्वं
च म इति । आत्मानं मित्यादिर्विविध्यानुवादः ॥

“उपांशुसवने सोमं मिमीत” इन्द्राय त्वा वसुमत इत्यादि-
सूचोक्तं मयं दर्शयति— “य एष उपांशुसवनं, स विवस्त्रानादित्यो
निदानेन, सोऽस्यैव व्यान इति । उपांशुसवार्थः सोमोऽभिषूयते
येन, स ‘उपांशुसवनं’ पाषाणः, ‘सः’ ‘निदानेन’ मूलकारण-
विचारेण विवस्त्रसञ्ज्ञक आदित्य एव ; तस्यैवैतदात्मनावस्थानात् ।
‘स एष’ ‘अस्य’ यज्ञस्य ‘व्यानः’, प्राणापानरूपयोरुपांशुन्तर्यामयो-
र्मध्ये स्थाप्यत्वात् । “अथ यः प्राणापानयोः सन्धिः स व्यान”-इति
श्रुतेरस्य व्यानत्वम् । उपांशुसवनं इति वैदिकी सञ्ज्ञा, व्यवहारार्था,
तदुपांशुसवनेन मिश्रयतीत्येवमर्था ॥ ७ ॥

“तं ममिमिमिमीत इति । ‘तम्’ उपांशुसवनम् ‘अभि’ तस्यो-
परि सोमं ‘मिमिते’ क्रयकालीनमानेन सोमं संकुप्यात् । “प्रन्नि

वा इत्यादि रूपोपांशुसवनपरिमाणार्थवादवद् व्याख्यायमानस्य यावो-
परिभावं प्रशस्येदानीं मानं प्रशंसति— “यदेव मिमीते तस्मा-
न्मात्रा मनुष्येऽस्त्विति । ‘उ’-शब्दोऽप्यर्थः । यापि मात्रा सोमे कृता,
‘तस्मात्’ सोमस्य मितत्वात् ‘मनुष्येषु’ व्यवहारार्थं प्रस्य-कुडुवाढक-
द्रोणादिका ‘मात्रा’ सम्यक्त्वा । “यो चापि”—इत्यत्र उकारः प्रक्षेपः ।
‘अपि च’ ‘या उ’ च ‘अन्या मात्रा’ एकद्वीत्यादिषु व्याप्रयुक्ता, सापि
सोममानप्रयुक्तेत्यर्थः ॥ ८ ॥

सोमोन्माने मन्त्र विधाय व्याचष्टे— “स मिमीत इन्द्राय त्वा
वसुमत इत्यादिना^१ । इन्द्रस्य विशेष्यतया निर्द्देशस्य वसुसद्राणां
तद्विशेषणतया निर्द्देशस्य च प्रयोजनं माह— “इन्द्रो वै यज्ञस्य
देवतेत्यादिना । ‘यज्ञस्य’ सोमयागस्य ‘इन्द्रो देवता’, “प्रातःसुत
मपिबो हर्यश्च माध्यन्दिनं सवनं केवलं ते । समृभुभिः पिवस्व रज-
धेभिः”—इत्यादिमन्त्रात्^२ सवनचयेऽपि इन्द्रस्य प्राधान्यात् “इन्द्रो वै
यज्ञस्य देवता”—इत्युक्तम् । ‘वसुमते रुद्रवते’ इत्यादौ वस्त्रादेरिन्द्र-
शेषत्वप्रतीतेः इन्द्रप्रधानभूतं मुखं भागिनं कृत्वा वस्त्रादौ नपि
‘अन्वाभजति’ पद्माद्भागिनः करोति, इन्द्रस्यानुचरान् कृतवान्
भवतीति यावत् । “इन्द्राय त्वाभिमातिघ्ने”—इत्यत्राभिमातिशब्दः
सपन्नमभिधत्त इत्याह— “सपन्नो वा अभिमाति रिति । “इन्द्राय
त्वाभिमातिघ्ने”—इत्यत्र देवतान्तरसम्बन्धवैधुयं प्रशंसति— “सोम्यो-
द्धारो यथा श्रेष्ठस्येति । यथा धान्यादिभागसमये मुख्यस्य राज्ञो

१— पूर्वलिखिते १-२ टोषण्याविहापि सङ्गच्छेते ।

२— ऋ० सं० ४. ३५. ७ ।

देवो भागः प्रातिस्विकः, १ तं प्रथमं सेवापोद्धृत्य पश्चात् खं खं मंशं विभजन्ति ; एवं रुद्रवस्त्रिन्द्रेभ्यः देवतान्तरसहभाव मन्तरेण केवल उद्धारः कृतो भवति । श्रेष्ठत्वे वीज मभिमातिहन्तृत्वम् । यतोऽयं मभिमातिहः, अत उद्धारार्ह इत्यभिप्रायः ॥ ८ ॥

“श्वेनाथ त्वेति । ‘श्वेनाथ त्वा’-‘अग्नये त्वा’-इति वाक्यद्वयस्य तात्पर्यं माह- “तद् गायत्रौ मिमीत इति । ‘सोमभृते श्वेनाथ’ इति सोमोन्माने कृते गायत्र्यर्थत्वं कथं स्यादित्याशङ्क्य तदुपपादयति- “स यद् गायत्रौ श्वेनो भूत्वा दिवः सोम माहरदिति । अग्न्यर्थमित्यस्य, गायत्र्यर्थत्वं तु स्पष्टत्वाद् ब्राह्मणे उपेक्षितम् । तत्रेत्य मेवावगन्तव्यम्- “अग्नेर्गायत्र्यभवत्”-इतिमन्त्रवर्णात् १ गायत्र्या निदानं मग्निः, अतो जन्यजनकयोरभेदोपचारे गायत्र्यर्था स्यादित्यभिप्रेत्य “तद् गायत्रौ मिमीते”-इत्युक्तम् ॥ १० ॥

सामगतपञ्चसङ्ख्यां प्रशंसति- “अथ यत् पञ्च कृत्वो मिमीत इति । “एकमन्त्राणि कर्माणीति न्यायस्यौत्सर्गिकत्वात् मन्त्राणां पञ्चत्वात्मन मपीति पञ्च कृत्व इत्यर्थमिदम् । गवामयनादिमन्त्रस्य संवत्सरसमितयज्ञत्वं प्रसिद्धम् । ‘तस्मात्’ ‘पञ्च कृत्वः’ मानं प्रशस्तम् । “इन्द्राय त्वा वसुमते रुद्रवत इति पञ्चकृत्वः प्रतिमन्त्रम्”-इति २ सूचम् ॥ ११ ॥

१- प्रातिस्विकः स्वकीयोऽसाधारणः ।

२- “अग्नेर्गायत्र्यभवत् सधुर्वोणिहृषा सविता सम्भूत । अनुष्टुभा सोम उक्थेमं हस्तान् रुद्रस्यतेरुहतो वाध भावत्” अ० सं० १०. ११०. १ ।

३- का० श्रौ० सू० ८. ४. ८ ।

मितस्य सोमस्य समन्त्रक मभिमर्शनं विधत्ते— “त मभि-
मृशति^१ यत्ते सोम दिवि ज्योतिरिति^२ । हे सोम । ‘ते’ तव
‘यत्’ ‘ज्योतिः’ शुक्तिमत्त्वं ‘दिवि’ अस्ति, यत् च ‘पृथिव्यां’ ज्योतिः
वक्षीरूपः सोमः, ‘यद्’ अपि ‘उरौ’ विस्तीर्णं ‘अन्तरिक्षे’ षोडश-
कलात्मकः, ‘तेन’ सर्वेण तव स्वरूपेण सहितं सन् ‘अस्मै’ अभि-
पुण्यते ‘यजमानाय’ ‘राये’ तस्य धनार्थम् ‘उरु हवि’ प्रभूतं कुह ।
तव शरीर मिति शेषः । ‘दात्रे’ हविप्रदात्रे ‘अधिवोच’ यज-
मानेन वचनं अधिवचनम्, मदीयोऽयं सर्वथा अनुयाह्य इति
प्रब्रूहीत्यर्थः ॥

सोमस्य लोकान्तरस्यायंशस्य यत् परिपक्षाभिधानम्, तदा-
ख्यायिकासुखेन प्रशंसति— “यत्र वा एषोऽपि देवानां मित्यादिना ।
‘यत्र’ यत्काले ‘अग्ने’ सृष्टेः प्राक् ‘देवानां’ ‘हविः बभूव’ सोमः,
‘तत्’ तदा अहं ‘सर्वेणात्मना’ ‘देवानां’ ‘हविः’ ‘मा भवम्’ न
भवामि ‘इति’ विचार्य, ‘एषु’ त्रिषु ‘लोकेषु’ स्वाः ‘तनूः’ विन्य-
धत्तं विभज्य स्थापितवान् ॥ १२ ॥

“तद्वै देवा अस्पृखतेति । ‘तद्’ वृत्तान्तं ‘देवाः’ ‘अस्पृखत’ ।
“स्पृ प्रीतिवचनयोः”^१ । बक्षोपलक्षितव्यापारं कृतवन्त, ज्ञातवन्त
इत्यर्थः । ‘ते’ देवाः ‘अस्य’ अग्नेः ‘एताः’ लोकत्रयस्थिताः ‘तनूः’
‘एतेन’ “यत् ते दिवि ज्योतिः”—इत्यादिमन्त्रेण ‘आप्नुवन्’ प्राप्त-

१— का० श्रौ० सू० ८. ४. ८ ।

२— वा० सं० ६. ११. १ ।

२— “स्पृ प्रीतिवचनयोः । प्रीतिवचनयोश्चित्यन्ते । वचनं जीवनं मिति
स्वामी”—इति वि० कौ० शा० म० ११ धा० ।

वन्तः । 'सः' 'वृत्त एव' अविकल एव 'देवानां हविरभवत्' ।
 "तथो एवेत्यादि, दृष्टान्तवाक्यवद् व्याख्येयम् । "तस्मादेवेति
 निगमयति ॥ १३ ॥

अथ निघाभ्योदकैः सोमसेचनं विधत्ते— "अथ निघाभ्याभि-
 रूपसृजतीति' । मिश्रयेदित्यर्थः । मिश्रण माख्यामुखेन प्रशंसति—
 "आपो ह वै वृषं जघ्रुरित्यादिना । 'तेनैव वीर्येण' केनाप्यवधो
 वृत्रोऽस्माभिर्हेत इत्येवमात्मकेन 'एतत्' इदानीं मपि 'आपः' 'स्यन्दन्ते'
 वेगेन गच्छन्ति । यस्मादेवं तस्मात् 'स्यन्दमानाः' 'एना' आपः 'न
 किञ्चन' वस्तु, लोष्टकाष्टपाषाणादिकं 'प्रतिधारयति' प्रतिषध्नाति,
 किन्तु, 'ताः' आपः 'स्य मेव वयं' स्वतन्त्र यथा भवति तथा
 विश्रम्भेण 'चेह' अगच्छन् । तेषां स्वातन्त्र्ये कारणं माह— "कस्मै
 तु वयं तिष्ठेमहि, याभिरस्माभिर्वृत्रो हत इतीति । सर्वस्यापि
 लोकस्य घातको वृत्रः, सोऽप्यस्माभिर्घातितः, अतो 'वयं' 'कस्मै'
 अन्यस्मै 'तिष्ठेमहि' आत्मानं प्रकाशयेमेति । इत्य मर्षां स्वातन्त्र्य
 प्रतिपाद्य, तासां मिन्द्राधीनत्वं प्रतिपादयति— "सर्वं वा इदं
 मिन्द्राय तस्यान मासेति । 'तस्यानम्' इति तिष्ठतेः कानचि'
 रूपम् । कैमुतिकन्यायसिद्ध्यर्थं माह— "अपि योऽयं पवत इति ।
 'योऽयं' दुर्वहत्वेन प्रसिद्धो वायुः 'पवते', योऽपि इन्द्राधीनः
 स्थितवान् किञ्च, किमु वक्तव्यं नेतत् सर्वं मिन्द्रवशे स्थित
 मिति ॥ १४ ॥

“स इन्द्रोऽब्रवीदिति । अथ ‘स इन्द्रः’ एवम् ‘अब्रवीत्’ । ‘यत्’
 ‘किञ्च’ ‘इदं’ भूतजातं ‘मे’ मर्त्यं स्थितम्, अतो यूय मपि
 ‘तिष्ठध्व मेव’ न गच्छत ‘इति’ । अथ तेन तथोक्ताः ‘ताः’ आपः,
 वयं तिष्ठेमहि, ‘नः’ अस्माकं ‘ततः’ ‘कि’ लब्धं ‘स्यात्’ ? ‘इति’ अनु-
 वन् । अथ तासा मिन्द्रः ‘सोमस्य राज्ञः प्रथमभवे’ इतरेभ्यो देवेभ्यः
 प्राक्, अभिषवकाले ‘एव’ ‘वः’ अस्तु ‘इति’ प्रादात् । ‘ताः’ अस्तु
 ‘तथेति’ अङ्गीकृत्य ‘अस्मै’ इन्द्राय ‘अतिष्ठन्त’ ॥

प्रसङ्गात् निपाभ्यशब्दनिर्वचन माह— “तास्तस्याना उरसि
 न्यगृहीत इति । इन्द्रेणोरसि निगृहीतत्वात् ‘निपाभ्याः’ इति तासा
 मपां नाम सम्पन्नम् । “इषहोर्भञ्जन्दसि”—इति^१ इकारस्य भवम् ।
 निपाद्या इत्यर्थः । कर्मणि कृत्यः । तथैवेताः एतद्यजमान उरसि
 निगृहीत इत्यर्थः । अत्र विधिरुचेयो निगृहीयादिति ॥

न चात्र प्रथमभवः श्रूयत इत्याशङ्क्य अभिषवकाले ताभिः
 संसर्गं एव भव इत्याह— “स आसा मेव इति ॥ १५ ॥

उपसर्गं मन्त्र मभिधाय व्याचष्टे— “स उपसृजति श्वाचा स्य
 वृचतुर इत्यादिना^२ । श्वाच-शब्दस्याभिप्राय माह— “शिवा ह्याप
 इति । यद्यपि “श्वाच मिति क्षिप्रनाम^३, “आशु अतनं भवति”—
 इति निरुक्तम्^४, तथाप्यवरसामान्यान्निर्भूयादितिन्यायेन^५ श्वाच-

१— पा० २ २. २ सू० वा० १ ।

२— वा० सं० ६. २४. १ ।

३— निघ० ४. २ १४ ।

४— निघ० ५. १. १ ।

५— “अविद्यमाने सामान्येऽप्यवरवर्गसामान्यान्निर्भूयात् त्वेव न निर्भूयात्”—
 इत्यादि निघ० २. १. १ इत्यर्थम् ।

शब्दविश्लेषणेन शिवशब्दप्रतिभानात् अपा च सर्वाप्यायनरूपत्वेन शिवत्वप्रसिद्धे “शाचा स्वेत्यभ्युक्त मित्यर्थः । यस्मान् ‘एता’ आप ‘वृच मघ्न’ तस्माद् ‘वृचतुर इति मन्त्रो ब्रूते । तुर्वी हिमार्थः^१ । वृच तुर्वन्ति प्रन्तीति वृचतुर । ‘अमृतस्य’ ‘पक्षी’ पालयिष्य । यदि द्यूय ममृता न भवयुः, तर्हि तादृशीना मपां स्वामित्वमेव नोपपद्यत इत्यनया प्रसिद्ध्या ‘अमृता द्याप’-इति ब्राह्मणम् । प्रसिद्धिवाचक हि-शब्द माह— ‘ता देवीर्देवचेति । मन्त्रभागस्य स्पष्टार्थता माह— “नाच तिरोहित मिवास्तीति । इदानीन्तन सोमपानविषयमुपक्रान्तम् “उपहृता” सोमस्य पिवतेति मन्त्राभिधानादायात मिति दृश्यति— ‘उपहृता एव प्रथममेष सोमस्य राज्ञो भवयन्तीति ॥

मन्त्रस्थाय मर्थ सम्यक् ।— हे निषाभ्या आप । द्यूय ‘शाचा स्य’ शिवा भवय, ‘वृचतुर’ वृचस्य हिमका स्य, ‘राध’ धनस्य ‘गूप्ता’ उद्यमयिष्य । “गुरी उद्यमने”^२, ‘ममत्तनिपत्तेत्यादिना’^३ निपातितो गूर्त्त-शब्दः । ‘अमृतस्य’ ‘पक्षी’ पालयिष्य स्य । अतस्मादुद्गच्छिमोपता ‘देवो’ हे ‘देव्य । देवचा’ देवान् प्रति ‘इम यच्च सोमात्मक ‘नयत’ प्रापयत, ‘उपहृता’ अनुज्ञाता सत्यो द्यूय ‘सोमस्य’ सोम पिवतेति मन्त्रार्थः ॥

“शाचा स्वेत्यासिञ्चति निषाभ्या”-इति कात्यायनः ॥ १६ ॥

१— भा० प० ५७० धा० ।

२— तु० धा० १५ धा० ।

३— पा० सू० ८ २ ६१ ।

४— का० आ० सू० ८ ४ १२ ।

यदुक्तं तेन “प्रहरिष्यन् देव्यं मनसा ध्यायेदमुष्मा अहं वज्रं
प्रहरामि, न तुभ्यं सोमेति, अभावे द्रष्टुं माभेरिति प्रहरत्येवं चिः”-
इति, तदिदं माह— “अथ प्रहरिष्यन्नित्यादिना । ‘अमुष्मै’ द्वेष्टे;
अथ सोमशर्मण इति द्वेष्टुर्नाम मनसा गृहीयात्, ‘प्रहरामि’ प्रहि-
पामि, पाषाणरूपं वज्रं मिति शेषः । हे सोम । ‘न तुभ्य मिति’ ।

नैव प्रहरणं चेत् को वध इति, तत्राह— “यो न्वेवं मातुषं
ब्राह्मणं मिति । अत्यन्तदोषाविष्कारणं मितौमं ब्राह्मणं मिति
विशेषितम् । ‘तं’ ब्राह्मणस्य हन्तारं ‘परिचक्षते’ ‘न्वेव’ खल्वेव ।
‘परिख्यानं’ दूष्यत्वेन वर्जनम्, ‘अथ’ ‘किं’, वक्तव्यं मिति शेषः ।
‘एतं’ माहात्म्यवन्तं पुरोवर्तिनं यो हन्ति, तं परिचक्षत इति किमु-
तेत्यर्थः । कैमुतिकन्यायस्य बीजं माह— “देवो हि सोम इति ।
हि-शब्दो “देवो वै सोमः”-इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धिद्योतनायः । अस्तु
तथा, यदि हन्तिः स्यात्, सैवापि कुत इत्यत आह— “गन्ति वा
एन मिति । प्राग् ध्याख्यातं मिव । ‘एते’ शत्रुनामपक्षपूर्वकं मभि-
पुण्यन्तः ‘तं’ सोमं ‘न गन्ति’ । ‘तथा’ द्वेष्टत्वभावनायां सत्यात् ।
‘अतः’ अस्माद्धनसकाशात्, अस्मात् शानादा । ‘तथा’ सति
अभिषोतुरध्वर्याः ‘अनेनसं भवति’ न विद्यते एनः पार्थ यस्य न
अनेनाः, तस्य भावः अनेनसम् ॥

देव्याभावे तत् कथं मित्याग्रह्याह— “यस्य न दिव्यादपि द्रष्टुं
मेव मनसा ध्यायेदिति । अमुष्मै द्रष्टव्यं वज्रं प्रहरामि, हे सोम ।
न तुभ्य मिति ध्यायेदित्यर्थः ॥ १७ ॥

प्रहरण मनुच मन्त्र विधाय व्याचष्टे— “स प्रहरति माभेरित्यादिना^१ । मा भेरिति पद व्याकुर्वन्नेव द्वेयत्वभावनायां यत् प्रयोजन प्रागुक्तम्, तदेव माभेरिति मन्त्रभागस्यापि तत्पर्यं मिति व्याचष्टे— “माभेर्मां सविक्ष्या इति, मा त्व भैषीर्मां सविक्ष्या अमुष्मा अह प्रहरामि, न तुभ्य मित्येवैतदाहेति । ‘एतत्’ माभेरिति मन्त्र-
वाक्यम् । ऊर्क्-शब्दस्यास्यनामसु^२ पाठात् अत्रात्रसारो रसो विवक्षित इति व्याचष्टे— “रस धत्सेत्येवैतदाहेति । “धिपणे वीक्षी” इति मन्त्रभागस्य धिपणफलके अर्थ इति केषाञ्चिदाचार्याणां मतम् तन्मत निराकर्तुं सुदाहरति— ‘इमे एवैतत् फलके आङ्-
रित्यु हैक आङ्गरित्यादिना । प्रथमम् ‘आङ्’-इतिशब्दस्य पदानि ‘धिपणे’-इत्यादीनि । ‘एतत्’ एतस्मिन् वाक्ये ‘इमे’ सोमाधारभूते ‘फलके’ ब्रुवते इत्यर्थः । ‘इति’ अमु मर्थं मेकशाखिम आङ् । ‘तु’ प्रश्ने । ‘किं तच्च’ त्वदभिमतं, विद्यत इति शेषः । विद्यत एवेत्या-
शङ्काह— “योऽप्येते फलके भिन्नादिति । यद्येते च द्वे स्यातां, तर्हि कदाचिदपि भग्नं स्याताम्, अतः किञ्च तच्चेत्यर्थः ॥

इदानीं स्वाभिमत मर्थं सोमपत्तिक दर्शयति— “इमे ह वै द्यावापृथिवी इत्यादिना । अत्र धिपणे अनूद्यते, तयोर्द्वयं माग्रा-
स्यते, तच्च सति ग्रैथिन्यकारणे उपपद्यते, अतस्तत्प्रपत्ति माह—
‘एतस्माद् वज्रादुद्यतात् संरेजेत इति । वज्रवद्विमकात् अभिषवा-
योद्यतग्रन्थमकाशात् ‘इमे द्यावापृथिवी’ ‘संरेजेते’ कल्पते । ‘द्यावा-

पृथिवीभ्याम्' इति चतुर्थीदिवचनम् । 'एतत्' इदानीम्, आभ्या-
मयां 'एनं' यज्ञं 'ग्रमयति' ग्रान्तं करोति, यथासौ उत्सेकावचे-
पाभ्यां द्यावापृथिव्यौ न हिनस्ति तथा करोति । 'तथा' सति,
"धिषणे विद्धि वीरुयेयाम्"—इत्यभिधाने सति 'ग्रान्तः' असौ यज्ञ
इति 'इमे' द्यावापृथिव्यौ 'न हिनस्ति', प्रोत्साहनेन तथोद्दृढत्वस्य
प्राप्तत्वादिति भावः । गत ऊर्गर्थवादः । "पाप्मा हतो न सोम इति
तदस्य सर्वं पाप्मानं हन्तीत्यर्थवादिकं फलं मा मा सन्ताप मिति
च देवताभूतस्य सोमस्याभिषवरूपो वधोऽध्वर्योरेव सम्भावित इति
तस्यैवेति मन्तव्यम् ॥ १८ ॥

यदुक्तं कात्यायनेन— "एवं चिरभिषुणोति"^१—इति, तदिदं चित्तं
विधाय सम्भरणनिपाभोपायनयोः सङ्ख्यायां सप्त समुचित्य प्रशंसति—
"स वै चिरभिषुणोतीत्यादिना । 'चिः सम्भरति' चिः सन्निषीद-
यति । निपाभोपायनम् प्रागपादित्यादिमन्त्रजपः, तत् चतुर्वारं
कर्त्तव्यम् । 'तत्' मिलित्वा 'दश' सम्पद्यन्ते, विराट्छन्दस्य दशा-
चराणि; सोमोऽपि विराट्सम्बन्धौ, "पञ्च हत्वो यजुषा मिमीत,
पञ्चक्षत्वस्त्रिण्यौ मिति दशसङ्ख्याया मितत्वात्, अतो वैराजस्य
सोमस्य समत्वाय अभिषवादिगता दशसङ्ख्या प्रशस्ता । ततोऽपि
सम्भरणचित्तस्य निपाभोपायनचतुष्टयस्य च विधिभिर्द्वादेव
द्रष्टव्यः^२ ॥ १८ ॥

१— का० श्रौ० श्रु० ८. ४. १६ स ।

२— चिरभिषवे प्रथारसङ्ख्या का० श्रौ० ८. ४. १७—१८ सूत्रेषु दृष्ट्या,
इहापि चतुर्नकाख्ये (१. १. १७, १८) किञ्चिद् व्यप्यति ।

अथ निषाभोपायन मनूय प्रशंसति— “अथ यन्निषाभ मुपैति,
यत्र वा एषो ऽग्रे देवानां हविर्बभूवेत्यादिना । “इमां दिशो-
ऽभिदध्याविति । अभिध्यान मैथुनविषय ध्यानम् । अभिध्यानप्रकार
माह— “आभिर्दिग्भिरिति । ‘मिथुनेन’ तद्योगेन, ‘प्रियेण’ दिशा
मभिमतेन, ‘धाम्ना’ मम शरीरेण ‘सस्पृशेयेति’ । यद्वा, ‘दिग्भि
मिथुनेन प्रियेण धाम्ना’ दिशां मिथुनार्हेण प्रियेण धाम्ना शरी-
रेण सस्पृशेयेति व्याख्येयम् । एवहामयमानस्य सोमस्य निषाभो-
पायनेन देवा’ ‘आभिर्दिग्भि’ सह ‘मिथुनेन प्रियेण धाम्ना’
‘समस्पर्शयन्’ सयोग मकारयन् निषाभोपायन मेव सस्पर्श इत्यर्थः ।
“तथो एवैन मिति, दार्ष्टान्तिक वाक्यम् दृष्टान्तवद् व्याख्येयम् ।
यद्वा, पूर्वच सङ्ख्याविधि स, ‘यन्निषाभ मित्यत्र तु यच्छब्द मुपेक्ष्य
विधिरवगन्तव्य ॥ ९० ॥

तत्र मन्त्रे विधाय प्रशंसति— “म उपैति^१ प्रागपागित्या-
दिना^२ । अपास्यतीत्यपाक्, प्रतीची दिक् । “अधरागिति, उदक्-
प्रतियोगिनी दक्षिणा दिगुच्यते^३ ॥ ९१ ॥ ॥ ९२ ॥

अथ सोमस्याभिषवसम्भरणादिप्रसङ्गाद् यज्जनामनिर्वचन दर्श-
यति— “अथ यस्माद् यज्ञो नामेति । ‘यस्मात्’ प्रवृत्तिनिमित्तात्
यज्जस्य ‘यज्ञ’ ‘इति’ ‘नाम’ अभूत् । तस्योत्तरम्— “प्रन्तीत्यादि ।
अभिषवेन हतम् ‘एन सोम’ ‘तन्त्रे’ सम्भरणग्रहणहोमादिना

१— का० श्रौ० सू० ८. ४ ९० ।

२— वा० म० ६ १६ १ ।

३— पा० सू० ४ १ २० दृष्टव्यम् ।

विस्तारयन्तीति यावत्, तदेव तस्य पुनरुत्पादनम् । 'सः' सोमः
'तायमानः' सन् 'जायते', अतो यत् परम्परया आहुतिभावं
गच्छन् 'जायते' पुनः पुनः सम्भवति, अतो यन् जायत इति
'यन्जः' । अतो वस्तुतो 'यन्जः'-इति तस्य 'नाम', 'तद् यज्ञ
इति' परोक्षेण व्यवहरति ॥ १६ ॥

उक्तार्थसंवादत्वेन सोमप्रार्थनारूपं मन्त्रसंवादं दर्शयति—
“तच्चैता मपि वाच सुवाद, त्व मङ्ग प्रगंमिष इति” । 'तत्र' तसि-
अभिषेककाले 'एतां' प्रार्थनारूपां त्वमङ्गेति 'वाचम्' 'उवाद' उक्त-
वान् । हे 'प्रविष्ट !' अतिशयेन बलवन् ! 'अङ्ग' हे इन्द्र ! 'देवः'
'त्वं' 'मर्त्यं' मरणधर्माणं मां सोमं 'प्रगंमिषः' प्रशस्तं कुरु, आहु-
त्यात्मना विस्तारयन् देवात्मना पुनरुत्पादयेत्यर्थः । “ग्रंसु स्तुतौ”,
“निष्वङ्गलं लेटि”-इति सिप्, आहुं धातुक्त्वादिट्, “इत्य
लोपः”-इतीकारलोपः, “लेटोऽडाटौ”-इत्यङागमः । अक्ष्यन्तो
देवः किमिन्द्रप्रार्थनयेति तच्चाह— “हे 'मघवन् !' तत् 'सत्तः'
'अन्यः' 'मर्जिता' सुखयिता 'न अस्ति', यत एवम् अतः 'ते' तुभ्यं

१—“यद्यः कस्यात् ? यस्यात् यनतिकर्मेति नैवाह्ता, दाक्ष्यगो भवतीति
वा, यजुष्यगो भवतीति वा, बहुलप्यानिन इन्द्रोपमन्दर, द्यूयमेन
नयतीति वा”-इति निब० १. ४. १ ।

२— वा० सं० १. १०. १ ।

३— वा० सू० १. १. १४ ।

४— वा० सू० १. १. ८० ।

५— भा० प० ७१८ धा० ।

६— वा० सू० ०. १. ११ ।

७— वा० सू० १. १. ८३ ।

‘दचः’ प्रशमाप्रार्थनारूपम् ‘ब्रवीमि’ । अस्य मन्त्रस्य तात्पर्यं माह—
 “मर्त्या ह वै तद् भवन्नुवाच,^१ त्व मेवेतो जनयितासि नान्यस्तदिति ।
 स्पष्टोऽर्थः ॥ १४ ॥

अथ निषाभ्याभ्योऽङ्गो होलचमसेन ग्रहणम्, तत् प्रशंसति—
 “अथ निषाभ्याभ्यो ग्रहान् विगृह्यते इति^२ । ‘निषाभ्या,’ अभिषव-
 समये सोमोपसर्गाद्योपयुक्ता आप^३ । कथं ताभ्यो ग्रहणं मिति पर-
 स्परयेति दर्शयति— “आपो ह वै वृच जप्पुरित्यादिना । वीर्यवत्य^४
 स्रन्दमाना आप^५, ताभ्यो वसतीवरीणां ग्रहणम्, ताभ्यश्च होल-
 चमसं निषाभ्याणां ग्रहणम्, निषाभ्याभ्यं सकाशात् सोमरसद्वारा
 ग्रहान् विगृह्यते । तदा ‘तेनेव’ वृचवधप्रयुक्तसामर्थ्येनैव ‘एतत्’
 एतेन निषाभ्याभ्यो ‘ग्रहान् विगृह्यते’ । तच्च ग्रहणं होलचमसका-
 शाद् भवति, होलचमसं दृगापविवक्ष्योपरि धारयित्वा, तच्च सोम-
 रसं मामिष्य, धारां सग्राह्यं ग्रहणात् । ‘योषा वै’ स्त्री खलु
 ‘अक्’, सैव ‘होता’, ऋचः शस्त्राद्यवयवरूपायाः होलमयोज्यत्वात्
 अभेदविवक्षया ऋग्धोतेति सामानाधिकरण्यम् । “तदेन मेतस्या
 इति । ‘एतस्यै योषायै’ पठ्यर्थे चतुर्थी^६ । एतस्या योषायाः ऋग्धो-
 लक्षणायाः सम्बन्धितया ‘एनं’ सोमम् ‘एतद्’ एतेन होलचमसाद्
 ग्रहणेन ‘प्रजनयति’ पुनस्त्यादयति । “तस्माद्धोलचमसादिति ।

१— ‘भवन्नुवाच(१)’—इति च ।

२— का० श्रौ० सू० ८. ४. २०, २१, २२ ।

३— या० ३. ४. ६० सू० वा० १ ।

पुनर्निर्गमनम् । तस्मात् निग्राभ्योदकैर्होतृचमसेन घटान् गृही-
यादिति विधिः^१ ॥ २५ ॥ ५ [८. ४.] ॥

इति सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये
तृतीयकाण्डे नवमाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।
पुमर्थाश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेयरः ॥ ८ ॥

ब्रह्माण्डं गोमहसं कनकहयतुलापूरुषौ स्वर्णगर्भन्,
सप्ताब्धीन् पञ्चमीरींस्त्रिदशतल्लताधेनुषौवर्णभृमीः ।
रत्नोत्सां रुक्मवाजिदिपमश्चितरथौ सायणिः सिद्धनाथो,
व्यश्राणीदिश्वचक्रं प्रथितविधिमहाभूतयुक्तं घटश्च ॥
धान्याद्रिं धन्यजन्मा तिलभव मतुलः स्वर्णजं वर्णमुख्यः,
कार्पाशीयं कृपावान् गुडकृत मण्डो राजतं राजपूज्यः ।
आज्योत्थं प्राज्यजन्मा लवणज मनुषः शार्करं चार्कतेजाः,
रत्नाब्जो रत्नरूपं गिरि महत मुदा पाचमात्सिद्धनार्यः ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तक-
 श्रीवीरहरिहरभूपालमाधवधुरन्धरेण
 सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
 माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये
 तृतीयकाण्डे नवमाध्याय समाप्त ॥ ८ ॥

॥ इति तृतायकाण्डे सप्तमः प्रपाठकश्च समाप्तः^१ ॥

॥ इत्यध्वरं नाम तृतीयं काण्डं समाप्तम्^१ ॥

—

१— 'कण्डिकासद्या ११०'—इति क, 'कण्डिका ११०'^१—इति ख,
 "कण्डिकासद्या ११०"—इति ग, घ । तत्र १ ब्रा० ११ क०, २ ब्रा०
 २० क०, ३ ब्रा० १०, ४ ब्रा० ३४ क०, ५ ब्रा० २५ क०, सङ्ग
 नयात्र प्रपाठके ११० कण्डिका सम्पदा ॥

२— "कण्डिकासर्वसद्या ८५८"—इति क, 'अस्मिन् काण्डे कण्डिकासद्या
 ८५८'—इति ख, तद्यैव ग, घ । तत्र प्रथमे प्रपाठके १०४, द्वितीये
 १९८, तृतीये १०२, चतुर्थे १६२, पञ्चमे १२०, षष्ठे ११२, सप्तमे
 ११४, सर्वसङ्गनयात्र काण्डे ८५८ कण्डिका श्रुता इति सिद्धम् ॥